ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला । ग्रन्थाङ्क २०

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्य-स्मृति में आयोजित]

श्रीश्यामार्यवाचक-संकलित चतुर्थ उपाङ्ग

प्रज्ञापना सूत्र

[द्वितीय खण्ड, पद १०-२२]

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, टिप्पणयुक्त]

□

प्रेरणा
उपप्रवर्तक शासनसेवी स्व. स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज

□

आद्य संयोजक तथा प्रधान सम्पादक
स्व० युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

□

अनुवादक—विवेचक—सम्पादक
श्री ज्ञानमुनिजी महाराज
[स्व० जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्रीआत्मारामजी म. के सुशिष्य]

□

प्रकाशक
श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

समर्पण

वर्त्तमान में जिन्होंने अर्द्धमागधी भाषा की अनुपम सेवा की, अर्द्धमागधीव्याकरण और कोश की तथा संस्कृत, गुजराती एवं हिन्दी भाषाओं में अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना कर के जैन साहित्य के भण्डार की श्रीवृद्धि की,

जो सरलता और सौम्यभाव के साकार अवतार थे,

अपने महान् और विशिष्ट व्यक्तित्व एवं वैदुष्य से जिन्होंने जैन-जैनेतर विद्वानों को प्रभावित किया,

उन भारतभूषण शतावधानी स्व. मुनिश्री

रत्नचन्द्रजी स्वामी

की पुण्य-स्मृति में सादर समर्पित

(प्रथम संस्करण से)

प्रकाशकीय

अंग-आगमों में व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के समान ही उपांग-आगमों में प्रज्ञापनासूत्र भी विविध-विषयक एवं विशालकाय है। वर्ण्यविषयों की दृष्टि से भी व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के जैसा ही है। संक्षेप में कहा जाये तो इसमें जैन दर्शन के तात्त्विक विवेचन-चिन्तन-मनन को सारगर्भित शब्दों में समाहित कर दिया है। इसलिए जिज्ञासु पाठकों के स्वाध्याय-अध्ययन-अध्यापन के लिये इस महत्त्वपूर्ण सूत्रग्रन्थ का द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

ग्रन्थ में कुल ३६ अध्ययन हैं। इन सबको एक साथ प्रकाशित किया जाना शक्य नहीं था। अतः प्रथम भाग में १ से ९ अध्याय, द्वितीय भाग में १० से २२ अध्याय और तृतीय भाग में २३ से ३६ अध्याय प्रकाशित किये गये थे। इसी क्रम से द्वितीय संस्करण भी प्रकाशित है। यह द्वितीय भाग है। प्रथम भाग प्रकाशित हो गया है और तृतीय भाग प्रकाशित हो रहा है।

समिति का उद्देश्य आगम-साहित्य का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार एवं पाठक वर्ग को सुगमता से तात्त्विक बोध करने में सहकार देना है। इसीलिये अपने पूर्व प्रकाशित अप्राप्य सूत्र ग्रन्थों के द्वितीय संस्करण प्रकाशित कर रही है एवं प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में इस प्रयास के लिये सहयोग देने वाले सज्जनों का सधन्यवाद आभार मानती है। साथ ही हम यह अपेक्षा करते हैं कि भविष्य में भी इसी प्रकार सहयोग देकर समिति की यशोवृद्धि करेंगे एवं हमें कार्य करने के लिये प्रोत्साहित एवं प्रेरित करते रहेंगे।

रतनचंद मोदी	सायरमल चोरडिया	अमरचंद मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष	महामंत्री	मंत्री

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

प्रज्ञापना सूत्र द्वितीय भाग (प्रथम संस्करण) के अर्थ सहायक

श्री हुक्मीचन्दजी सा. चोरडिया

(प्रथम संस्करण से)

आगम प्रकाशन समिति का एकमात्र उद्देश्य वीतरागवाणी के निर्देशक जैन आगमों को सर्वसाधारण के लिये कम से कम मूल्य में पठन-पाठन के लिए सुलभ करना है। अतएव समिति की न कोई प्रादेशिक सीमाएं हैं और न साम्प्रदायिक। वह सभी अंचलों, प्रान्तों एवं देशों के लिए तथा समस्त गणों, गच्छों एवं सम्प्रदायों के लिए समान है। यही कारण है कि भारत के विभिन्न अंचलों में निवास करने वाले आगमप्रेमी सज्जनों का सहयोग समिति को प्राप्त हो रहा है। तथापि यह उल्लेख करना उचित होगा कि नोखा (चांदावतों) के बृहत् चोरडिया-परिवार का योगदान अतिशय महत्त्वपूर्ण और सराहनीय है। इस परिवार के विभिन्न सदस्यों ने आगम-प्रकाशन के इस भगीरथ-अनुष्ठान में जो आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, वह असाधारण है। इससे पूर्व अनेक आगमों का प्रकाशन इसी परिवार के श्रीमन्तों की आर्थिक सहायता से हुआ है और प्रस्तुत आगम भी इसी परिवार के प्रतिष्ठित सदस्य एवं श्रीमन्त सेठ हुक्मीचन्दजी चोरडिया के विशेष अर्थसहयोग से हो रहा है।

श्री हुक्मीचन्दजी चोरडिया स्व. सेठ जोरावरमलजी सा. के चार सुपुत्रों में सब से छोटे हैं। आप सन् १९५४ से १९५८ तक अपने बड़े भ्राता श्रीमान् दुलीचन्दजी सा., जिनका परिचय हम औपपातिकसूत्र में दे चुके हैं, के साथ भागीदार के रूप में व्यवसाय करते रहे। तत्पश्चात् आपने स्वतन्त्र रूप से फाइनेन्स का व्यवसाय प्रारम्भ किया, जो आज आपकी सूझबूझ और लगन के कारण पूरी तरह फल-फूल रहा है।

श्री हुक्मीचन्दजी सा. युवा हैं और युवकोचित उत्साह से सम्पन्न हैं, पर आपके उत्साह का प्रवाह एक-मुखी नहीं है। वह जैसे व्यवसायोन्मुख है, उसी प्रकार सेवोन्मुख भी है। अपने व्यवसायकेन्द्र मद्रास में चलने वाली शैक्षणिक, साहित्यिक एवं सामाजिक अनेक संस्थाओं के साथ आप विभिन्न रूप से जुड़े हुये हैं और उनके माध्यम से समाजसेवा का पुनीत दायित्व निभा रहे हैं। निम्नलिखित संस्थाओं को आपका सहयोग मिला और मिल रहा है—

(१) जैनभवन
(२) मानव-राहतकोष
(३) श्री एस. एस. जैन एज्यूकेशन सोसाइटी
(४) मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
(५) जैन सेवासमिति, नोखा
(६) श्वे. स्था. जैन महिला संघ
(७) अहिंसा प्रचार संघ
(८) राजस्थानी यूथ एसोसियेशन

आप जैन मेडिकल रिलीफ सोसायटी, श्री गणेशीबाई गर्ल्स हाईस्कूल, श्री देवराज माणकचन्द हॉस्पीटल आदि अनेक संस्थाओं के सदस्य हैं।

इनके अतिरिक्त आपने जनहित की प्रशस्त भावना से 'जोरावरमल हुक्मीचन्दजी चोरडिया ट्रस्ट' स्थापित किया है। 'हुक्मीचन्द चोरड़िया रोलिंग ट्राफी' आपके द्वारा प्रदान की जाती है।

इस प्रकार आपका जीवन सेवामय है। हम आपके दीर्घ और मंगलमय जीवन की कामना करते हैं।

—मन्त्री

आदि-वचन

(प्रथम-संस्करण से)

विश्व के जिन दार्शनिकों—दृष्टाओं/चिन्तकों ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है उन्होंने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनों तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामों से विश्रुत है।

जैनदर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारों—राग-द्वेष आदि को साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है, और विकार जब पूर्णतः निरस्त हो जाते हैं तो आत्मा की शक्तियां ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप में उद्घाटित-उद्भासित हो जाती हैं। शक्तियों का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी, वचन/कथन/प्ररूपणा—"आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-[illegible]हार का सम्यक परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यतः सर्वज्ञ के वचनों/वाणी का संकलन नहीं किया जाता, वह बिखरे सुमनों की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं, संघीय जीवन पद्धति में धर्म-साधना को स्थापित करते हैं, वे धर्मप्रवर्तक/अरिहंत या तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी को उन्हीं के अतिशयसम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर संकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते हैं अर्थात् जिन-वचनरूप सुमनों की मुक्त वृष्टि जब मालारूप में ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत है।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा में "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहंतों के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशांग में समाहित होते हैं और द्वादशांग/आचारांग-सूत्रकृतांग आदि के अंग-उपांग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए हैं। इस द्वादशांगी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशांगी में भी बारहवां अंग विशाल एवं समग्र श्रुतज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एवं श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यतः एकादशांग का अध्ययन साधकों के लिए विहित हुआ तथा इसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नहीं थी, लिखने के साधनों का विकास भी अल्पतम था, तब आगमों/शास्त्रों/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कंठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवतः इसलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दों का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमों का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य, गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणों से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणों के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एवं जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के संरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणों का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम ज्ञान को सुरक्षित एवं संजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमों को लिपि-बद्ध किया गया।

जिनवाणी को पुस्तकारूढ करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुतः आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। संस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) में आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमों की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी; पर लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रों का अन्तिम स्वरूप-संस्कार इसी वाचना में सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ होने के बाद आगमों का स्वरूप मूल रूप में तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-संघों के आन्तरिक मतभेद, स्मृति दुर्बलता, प्रमाद एवं भारतभूमि पर बाहरी आक्रमणों के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारों का विध्वंस आदि अनेकानेक कारणों से आगम ज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एवं विलुप्त होने से नहीं रुकी। आगमों के अनेक महत्त्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विछिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव में, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नहीं होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणों से आगम की पावन धारा संकुचित होती गयी।

विक्रमीय सोलहवीं शताब्दी में वीर लोंकाशाह ने इस दिशा में क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुनः चालू हुआ। किन्तु कुछ काल बाद उसमें भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धान्तिक विग्रह, तथा लिपिकारों का अत्यल्प ज्ञान आगमों की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध में बहुत बड़ा विघ्न बन गया। आगम-अभ्यासियों को शुद्ध प्रतियां मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठकों को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वत्-प्रयासों से आगमों की प्राचीन चूर्णियां, निर्युक्तियां, टीकायें आदि प्रकाश में आईं और उनके आधार पर आगमों का स्पष्ट-सुगम भावबोध सरल भाषा में प्रकाशित हुआ। इससे आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनों को सुविधा हुई। फलतः आगमों के पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढ़ी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कहीं अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़ी है, जनता में आगमों के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि-जागरण में अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानों तथा भारतीय जैनेतर विद्वानों की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते हैं।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय-श्रुत-सेवा में अनेक समर्थ श्रमणों एवं पुरुषार्थी विद्वानों का योगदान रहा है। उनकी सेवायें नींव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हों, पर विस्मरणीय तो कदापि नहीं। स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखों के अभाव में हम अधिक विस्तृत रूप में उनका उल्लेख करने में असमर्थ हैं, पर विनीत व कृतज्ञ तो हैं ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरों का नामोल्लेख अवश्य करना चाहेंगे।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमों —३२ सूत्रों का प्राकृत से खड़ी बोली में अनुवाद किया था। उन्होंने अकेले ही बत्तीस सूत्रों का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष १५ दिन में पूर्ण कर अद्भुत कार्य किया। उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एवं आगमज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वतः परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय में प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगमपठन बहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापंथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमल जी महाराज का संकल्प

मैं जब प्रातःस्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म० के सान्निध्य में आगमों का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलांक की टीकाओं से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कई बार अनुभव किया — यद्यपि यह संस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी है, अब तक उपलब्ध संस्करणों में प्रायः शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूलपाठों में व वृत्ति में कहीं-कहीं अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिए दुरूह तो हैं ही। चूंकि गुरुदेवश्री स्वयं आगमों के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हें आगमों के अनेक गूढ़ार्थ गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अतः वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमों का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्यज्ञान वाले श्रमण-श्रमणी एवं जिज्ञासुजन लाभ उठा सकें। उनके मन की यह तड़प कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियों के कारण उनका यह स्वप्न-संकल्प साकार नहीं हो सका, फिर भी मेरे मन में प्रेरणा बनकर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल में आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज, श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य जैनधर्म-दिवाकर आचार्य श्री आत्मारामजी म०, विद्वद्रत्न श्री घासीलालजी म० आदि मनीषी मुनिवरों ने आगमों की हिन्दी, संस्कृत, गुजराती आदि में सुन्दर विस्तृत टीकायें लिखकर या अपने तत्त्वावधान में लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम-सम्पादन की दिशा में बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य-प्रारम्भ किया था। विद्वानों ने उसे बहुत ही सराहा किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस में व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान में आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान में तेरापंथी सम्प्रदाय में आचार्य श्री तुलसी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व में आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए हैं उन्हें देखकर विद्वानों को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय में काफी मतभेद की गुंजाइश है, तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल" आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगों में वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमों में उनकी कार्यशैली की विशदता एवं मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम-साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, विश्रुत मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमों के आधुनिक सम्पादन की दिशा में स्वयं भी कार्य कर रहे हैं तथा अनेक विद्वानों का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहंगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन में एक संकल्प उठा। आज प्रायः सभी विद्वानों की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कहीं आगमों का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कहीं आगमों की विशाल व्याख्यायें की जा रही हैं। एक पाठक के लिये दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगमज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ मध्यम-मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमों का ऐसा संस्करण होना चाहिये जो सरल हो, सुबोध हो, संक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य में रखकर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि. सं. २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ़ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय में गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलालजी म. की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरों तथा सद्गृहस्थों का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नहीं होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म. "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एवं प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०; स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकुंवरजी म० की सुशिष्याएं महासती दिव्यप्रभाजी, एम. ए., पी-एच. डी.: महासती मुक्तिप्रभाजी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकुंवरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, स्व० पं० श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एवं श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियों का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एवं महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकुंवरजी, महासती श्री झणकारकुंवरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसंग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोढ़ा, स्व० श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप में हो आता है, जिनकी अथक प्रेरणा-प्रयत्नों से आगम समिति अपने कार्य में इतनी शीघ्र सफल हो रही है। चार वर्ष के अल्पकाल में ही पन्द्रह आगम ग्रन्थों का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमों का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियों की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपोपूत आत्माओं के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसंघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-संत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनि-जनों के सद्भाव-सहकार के बल पर यह संकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

□□

विषयानुक्रमणिका

बसवाँ चरमपद

प्राथमिक	३
आठ पृथ्वियों और लोकालोक की चरमाचरमवक्तव्यता	५
परमाणुपुद्गलादि की चरमाचरमादि-वक्तव्यता	१२
संस्थान की अपेक्षा से चरमादि की प्ररूपणा	२८
गति आदि की अपेक्षा से जीवों की चरमाचरम-वक्तव्यता	३५

ग्यारहवाँ भाषापद

प्राथमिक	४४
अवधारिणी एवं चतुर्विध भाषा	४७
विविध पहलुओं से प्रज्ञापनी भाषा की प्ररूपणा	५०
अबोध बालक-बालिका तथा ऊंट आदि की अनुपयुक्त-अपरिपक्व दशा की भाषा	५५
एकवचनादि तथा स्त्रीवचनादि से युक्त भाषा की प्रज्ञापनीयता का निर्णय	५८
विविध दृष्टियों से भाषा का सर्वांगीण स्वरूप	६४
पर्याप्तिका-अपर्याप्तिका भाषा और इनके भेद-प्रभेदों का निरूपण	६६
समस्त जीवों के विषय में भाषक-अभाषक-प्ररूपणा	७१
जीव द्वारा ग्रहणयोग्य भाषाद्रव्यों के विभिन्न रूप	७५
भेद-अभेद रूप में भाषाद्रव्यों के निःसरण तथा ग्रहण-निःसरण संबंधी प्ररूपणा	८५
सोलह वचनों तथा चार भाषाजातों के आराधक-विराधक एवं अल्पबहुत्व की प्ररूपणा	९०

बारहवाँ शरीरपद

प्राथमिक	९४
पांच प्रकार के शरीरों का निरूपण	९६
चौवीस दण्डकवर्त्ती जीवों में शरीरप्ररूपणा	९७
पांचों शरीरों के बद्ध-मुक्त शरीरों का परिमाण	९८
नैरयिकों के बद्ध-मुक्त पंच शरीरों की प्ररूपणा	१०३
भवनवासियों के बद्ध-मुक्त शरीरों का परिमाण	१०६
एकेन्द्रियों के बद्ध-मुक्त शरीरों की प्ररूपणा	१०८
द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रियतिर्यंचों तक बद्ध-मुक्त शरीरों का परिमाण	१११
मनुष्यों के औदारिकादि शरीरों का परिमाण	११३
वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवों के बद्ध-मुक्त औदारिकादि शरीरों की प्ररूपणा	११८

तेरहवाँ परिणामपद

प्राथमिक १२१
परिणाम और उसके दो प्रकार १२२
दशविध जीवपरिणाम और उसके भेद-प्रभेद १२३
नैरयिकों में दशविध परिणामों की प्ररूपणा १२६
असुरकुमारादि भवनवासियों की परिणामसंबंधी प्ररूपणा १२७
एकेन्द्रिय से तिर्यंचपंचेन्द्रिय जीवों तक के परिणाम की प्ररूपणा १२८
मनुष्यों की परिणामसम्बन्धी प्ररूपणा १३०
वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की परिणामसम्बन्धी प्ररूपणा १३१
अजीवपरिणाम और उसके भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा १३२

चौदहवाँ कषायपद

प्राथमिक १३६
कषाय और उसके चार प्रकार १३७
चौवीस दण्डकों में कषाय की प्ररूपणा १३८
कषायों की उत्पत्ति के चार-चार कारण १३९
कषायों के भेद-प्रभेद १४०
कषायों से अष्ट कर्मप्रकृतियों के चयादि की प्ररूपणा १४१

पन्द्रहवाँ इन्द्रियपद

प्रथम उद्देशक
प्राथमिक १४५
प्रथम उद्देशक के चौवीस द्वार १४६
इन्द्रियों की संख्या १४७
प्रथम संस्थानद्वार १४७
द्वितीय-तृतीय बाहल्य-पृथुत्वद्वार १४८
चतुर्थ-पंचम कतिप्रदेशद्वार एवं अवगाढद्वार १५०
अवगाहनादि की दृष्टि से अल्पबहुत्वद्वार १५०
चौवीस दंडकों में संस्थानादि छह द्वारों की प्ररूपणा १५३
सप्तम-अष्टम स्पृष्ट एवं प्रविष्ट द्वार १५९
नौवाँ विषय (-परिमाण) द्वार १६१
दसवाँ अनगारद्वार १६२
ग्यारहवाँ आहारद्वार १६४
बारहवें आदर्शद्वार से अठारहवें वसाद्वार तक की प्ररूपणा १६७
उन्नीसवाँ-बीसवाँ कम्बलद्वार-स्थूणाद्वार १६८
इक्कीस-बाईस-तेईस-चौवीसवाँ थिग्गल-द्वीपोदधि-लोक-अलोकद्वार १६९

द्वितीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक के बारह द्वार १७३
प्रथम इन्द्रियोपचयद्वार १७३
द्वितीय-तृतीय निर्वर्त्तनाद्वार १७४
चतुर्थ-पंचम-षष्ठ लब्धिद्वार, उपयोगद्वार-उपयोगाद्धाद्वार १७५
सातवाँ, आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ इन्द्रिय-अवग्रहण-अवाय-ईहा-अवग्रह द्वार १७७
ग्यारहवाँ द्रव्येन्द्रियद्वार १८१
बारहवाँ भावेन्द्रियद्वार २०२

सोलहवाँ प्रयोगपद

प्राथमिक २०८
प्रयोग और उसके प्रकार २१०
समुच्चयजीवों और चौवीस दंडकों में प्रयोग की प्ररूपणा २१२
समुच्चय जीवों में विभाग से प्रयोगप्ररूपणा २१४
नारकों और भवनपतियों की विभाग से प्रयोगप्ररूपणा २१६
एकेन्द्रियों, विकलेन्द्रियों और तिर्यंच पंचेन्द्रियों की प्रयोगप्ररूपणा २१७
मनुष्यों में विभाग से प्रयोगप्ररूपणा २१९
वाणव्यन्तरादि देवों की विभाग से प्रयोगप्ररूपणा २२६
गतिप्रपात के भेद-प्रभेद एवं उनके स्वरूप का निरूपण २२७

सत्तरहवाँ लेश्यापद

प्रथम उद्देशक

प्राथमिक २३१
प्रथम उद्देशक में वर्णित सप्त द्वार २४१
नारकों में समाहारादि सात द्वारों की प्ररूपणा २४२
असुरकुमारादि में समाहारादि सात द्वारों की-प्ररूपणा २४८
पृथ्वीकायिकों से ति. पं. तक में समाहारादि सात द्वारों की प्ररूपणा २५०
मनुष्य में समाहारादि सात द्वारों की प्ररूपणा २५२
वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिकों की आहारादि-प्ररूपणा २५४
सलेश्य चौवीसदंडकवर्ती जीवों की आहारादि सप्तद्वार-प्ररूपणा २५५
कृष्णादिलेश्याविशिष्ट चौवीसदंडकों में आहारादि सप्तद्वार-प्ररूपणा २५६

द्वितीय उद्देशक

लेश्या के भेदों का निरूपण २६१
चौवीस दण्डकों में लेश्यासम्बंधी प्ररूपणा २६१
सलेश्य अलेश्य जीवों का अल्पबहुत्व २६५
विविध लेश्याविशिष्ट चौवीस दण्डकवर्ती जीवों का अल्पबहुत्व २६६
सलेश्य सामान्य जीवों और चौवीस दण्डकों में ऋद्धिक अल्पबहुत्व २७९

तृतीय उद्देशक

चौबीस दण्डकवर्ती जीवों में उत्पाद-उद्वर्त्तन-प्ररूपणा २८२
लेश्यायुक्त दण्डकवर्ती जीवों में उत्पाद-उद्वर्त्तन-प्ररूपणा २८३
कृष्णादि लेश्या वाले नैरयिकों में अवधिज्ञान-दर्शन से जानने-देखने का तारतम्य २९०
कृष्णादि लेश्यायुक्त जीवों में ज्ञान की प्ररूपणा २९३

चतुर्थ उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक के अधिकारों की गाथा २९५
लेश्या के छह प्रकार २९५
प्रथम परिणामाधिकार २९५
द्वितीय वर्णाधिकार २९९
तृतीय रसाधिकार ३०३
चतुर्थ गन्धाधिकार से नवम गति-अधिकार तक का निरूपण ३०७
दशम परिणामाधिकार ३०८
ग्यारहवें प्रदेशाधिकार से चौदहवें स्थानाधिकार की प्ररूपणा ३०९
पन्द्रहवाँ अल्पबहुत्वद्वार ३१०

पंचम लेश्यापद

लेश्याओं के छह प्रकार ३१४

छठा उद्देशक

लेश्या के छह प्रकार ३१८
मनुष्यों में लेश्याओं की प्ररूपणा ३१८
लेश्या को लेकर गर्भोत्पत्ति सम्बन्धी प्ररूपणा ३२१

अठारहवाँ कायस्थितिपद

प्राथमिक ३२४
कायस्थितिपद के बाईस द्वार ३२६
प्रथम-द्वितीय जीवद्वार-गतिद्वार ३२६
तृतीय-इन्द्रियद्वार ३३०
चतुर्थ कायद्वार ३३४
पंचम योगद्वार ३४१
छठा वेदद्वार ३४३
सातवाँ कषायद्वार ३४७
आठवाँ लेश्याद्वार ३४९
नौवाँ सम्यक्त्वद्वार ३५२
दसवाँ ज्ञानद्वार ३५४
ग्यारहवाँ दर्शनद्वार ३५७
बारहवाँ संयतद्वार ३५८

तेरहवाँ उपयोगद्वार ३५८
चौदहवाँ आहारद्वार ३६०
पन्द्रहवाँ भाषकद्वार ३६३
सोलहवाँ परीतद्वार ३६४
सत्तरहवाँ पर्याप्तद्वार ३६६
अठारहवाँ सूक्ष्मद्वार ३६७
उन्नीसवाँ संज्ञीद्वार ३६८
बीसवाँ भवसिद्धिद्वार ३६९
इक्कीसवाँ अस्तिकायद्वार ३७०
बाईसवाँ चरमद्वार ३७०

उन्नीसवाँ सम्यक्त्वपद

प्राथमिक ३७२
समुच्चय जीवों के विषय में दृष्टि की प्ररूपणा ३७३
चौबीस दण्डकवर्ती जीवों और सिद्धों में सम्यक्त्वप्ररूपणा ३७३

बीसवाँ अन्तक्रियापद

प्राथमिक ३७५
अर्थाधिकार ३७८
प्रथम-अन्तक्रियाद्वार ३७९
द्वितीय-अनन्तरद्वार ३८१
तृतीय-एकसमयद्वार ३८३
चतुर्थ उद्वृत्तद्वार ३८५
असुरकुमारादि की उत्पत्ति की प्ररूपणा ३९०
पंचम तीर्थंकरद्वार ३९९
छठा चक्रिद्वार ४०३
सातवाँ बलदेवत्वद्वार ४०५
अष्टम वासुदेवत्वद्वार ४०५
नवम माण्डलिकत्वद्वार ४०५
दशम रत्नद्वार ४०६
भव्य द्रव्यदेव-उपपात प्ररूपणा ४०७
असंज्ञि-आयुष्यप्ररूपणा ४०९

इक्कीसवाँ अवगाहना-संस्थानपद

प्राथमिक ४१२
अर्थाधिकारप्ररूपणा ४१४
विधि-संस्थान-प्रमाणद्वार ४१४
औदारिकशरीर मे विधिद्वार ४१६

औदारिकशरीर में संस्थानद्वार ४२२
औदारिकशरीरों की संस्थानसंबंधी तालिका ४२७
औदारिकशरीर में प्रमाणद्वार ४२८
वैक्रियशरीर में विधिद्वार ४३५
वैक्रियशरीर में संस्थानद्वार ४४३
वैक्रियशरीर में प्रमाणद्वार ४४६
आहारकशरीर-भेद-स्वामी ४५५
आहारकशरीर में संस्थानद्वार ४५९
आहारकशरीर में प्रमाणद्वार ४५९
तैजसशरीर में विधिद्वार ४५९
तैजसशरीर में संस्थानद्वार ४६१
तैजसशरीर में प्रमाणद्वार ४६२
कार्मणशरीर में विविध-संस्थान-प्रमाणद्वार ४६९
पुद्गलचयनद्वार ४६९
शरीरसंयोगद्वार ४७१
द्रव्य-प्रदेश-अल्पबहुत्वद्वार ४७४
शरीरावगाहना-अल्पबहुत्वद्वार ४७६

बाईसवाँ क्रियापद

प्राथमिक ४७९
क्रिया-भेद-प्रभेदप्ररूपणा ४८२
जीवों के सक्रियत्व-अक्रियत्व की प्ररूपणा ४८४
जीवों की प्राणातिपातादिक्रिया तथा विषय की प्ररूपणा ४८५
क्रियाहेतुक कर्मप्रकृतिबन्ध की प्ररूपणा ४८९
जीवादि के कर्मबन्ध को लेकर क्रियाप्ररूपणा ४९१
जीवादि में एकत्व और पृथक्त्व से क्रियाप्ररूपणा ४९३
चौवीस दण्डकों में क्रियाप्ररूपणा ४९९
जीवादि में क्रियाओं के सद्भाव की प्ररूपणा ४९९
जीवादि में आयोजिताक्रिया की प्ररूपणा ५०३
जीव में क्रियाओं के स्पृष्ट-अस्पृष्ट होने की चर्चा ५०४
प्रकारान्तर से क्रियाओं के भेद और उनके स्वामित्व की प्ररूपणा ५०५
चौवीस दण्डकों में क्रियाओं की प्ररूपणा ५०६
जीव आदि में पापस्थानों से विरति की प्ररूपणा ५१०
पापस्थानविरत जीवों के कर्मप्रकृतिबन्ध की प्ररूपणा ५११
पापस्थानविरत जीवादि में क्रियाभेद निरूपण ५१५
आरम्भिकी आदि क्रियाओं का अल्पबहुत्व ५१८

□□

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

१.	श्रीमान् सागरमलजी बेताला	अध्यक्ष	इन्दौर
२.	,, रतनचन्दजी मोदी	कार्यवाहक अध्यक्ष	ब्यावर
३.	,, धनराजजी विनायकिया	उपाध्यक्ष	ब्यावर
४.	,, एम० पारसमलजी चोरडिया	उपाध्यक्ष	मद्रास
५.	,, हुक्मीचन्दजी पारख	उपाध्यक्ष	जोधपुर
६.	,, दुलीचन्दजी चोरड़िया	उपाध्यक्ष	मद्रास
७.	,, जसराजजी पारख	उपाध्यक्ष	दुर्ग
८.	,, जी० सायरमलजी चोरड़िया	महामन्त्री	मद्रास
९.	,, अमरचन्दजी मोदी	मन्त्री	ब्यावर
१०.	,, ज्ञानराजजी मूथा	मन्त्री	पाली
११.	,, ज्ञानचन्दजी विनायकिया	सह-मन्त्री	ब्यावर
१२.	,, जंवरीलालजी शिशोदिया	कोषाध्यक्ष	ब्यावर
१३.	,, आर० प्रसन्नचन्द्रजी चोरड़िया	कोषाध्यक्ष	मद्रास
१४.	,, श्री माणकचन्दजी संचेती	परामर्शदाता	जोधपुर
१५.	,, एस० सायरमलजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
१६.	,, मोतीचन्दजी चोरड़िया	,,	मद्रास
१७.	,, मूलचन्दजी सुराणा	,,	नागौर
१८.	,, तेजराजजी भण्डारी	,,	महामन्दिर
१९.	,, भंवरलालजी गोठी	,,	मद्रास
२०.	,, प्रकाशचन्दजी चोपड़ा	,,	ब्यावर
२१.	,, जतनराजजी मेहता	,,	मेड़तासिटी
२२.	,, लनसुखचन्दजी बोहरा	,,	दुर्ग
२३.	,, चन्दनमलजी चोरड़िया	,,	मदास
२४.	,, सुमेरमलजी मेड़तिया	,,	जोधपुर
२५.	,, आसूलालजी बोहरा	,,	महामन्दिर

सिरिसामज्जवायग-विरइयं

चउत्थं उवंगं

पण्णवणासुत्तं

[बिइयं खंडं]

श्रीमत्-शामार्य वाचक-विरचित

चतुर्थ उपांग

प्रज्ञापनासूत्र

[द्वितीय खण्ड]

दसमं चरिमपयं

दसवाँ चरमपद

प्राथमिक

- यह प्रज्ञापनासूत्र का दसवाँ 'चरमपद' है।
- जगत् में जीव हैं, अजीव हैं एवं अजीवों में भी रत्नप्रभादि पृथ्वियां, देवलोक, लोक, अलोक एवं परमाणु-पुद्गल, स्कन्ध, संस्थान आदि हैं; इनमें कोई चरम (अन्तिम) होता है, कोई अचरम (मध्य में) होता है। इसलिए किसको एकवचनान्त चरम या अचरम कहना, किसे बहुवचनान्त चरम या अचरम कहना, अथवा किसे चरमान्तप्रदेश या अचरमान्तप्रदेश कहना? यह विचार प्रस्तुत पद में किया गया है। वृत्तिकार ने चरम और अचरम आदि शब्दों का रहस्य खोलकर समझाया है कि ये शब्द सापेक्ष हैं, दूसरे की अपेक्षा रखते हैं।
- इस दृष्टि से सर्वप्रथम रत्नप्रभादि आठ पृथ्वियों और सौधर्मादि, लोक, अलोक आदि के चरम-अचरम के ६ विकल्प उठाकर चर्चा की गई है। इसके उत्तर में ६ ही विकल्पों का इसलिए निषेध किया गया है, जब रत्नप्रभादि को अखण्ड एक मानकर विचार किया जाये तो उक्त विकल्पों में से एक रूप भी वह नहीं हैं, किन्तु उसकी विवक्षा असंख्यात प्रदेशावगाढ़रूप हो और उसे अनेक अवयवों में विभक्त माना जाए तो वह नियम से 'अचरम- अनेकचरमरूप चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश रूप है।' इस उत्तर का भी रहस्य वृत्तिकार ने खोला है।[1]
- इसके पश्चात् चरम आदि पूर्वोक्त ६ पदों के अल्पबहुत्व का विचार किया है। वह भी रत्नप्रभादि आठ पृथ्वियों, लोक-अलोक आदि के चरमादि का द्रव्यार्थिक, प्रदेशार्थिक एवं द्रव्य-प्रदेशार्थिक तीनों नयों से विचारणा की गई है।
- इसके पश्चात् चरम, अचरम और अवक्तव्य इन तीनों पदों के एकवचनान्त, बहुवचनान्त ६ पदों पर से असंयोगी, द्विकसंयोगी, त्रिकसंयोगी २६ भंग (विकल्प) बना कर एक परमाणु पुद्गल, द्विप्रदेशी से अनन्तप्रदेशी तक स्कन्ध आदि की अपेक्षा से गहन चर्चा की गई है कि इन २६ भंगों में से किसमें कितने भंग पाए जाते हैं और क्यों?
- इसके बाद परिमण्डल आदि ५ संस्थानों, उनके प्रभेदों, उनके प्रदेशों तथा उनकी अवगाहना और उनके चरमादि की चर्चा की गई है।

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ), पृ. १९३
   (ख) पण्णवणासुत्तं भा. २ प्रस्तावना, पृ. ८४
   (ग) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक २२९

✤ तदनन्तर गति, स्थिति, भव, भाषा, श्वासोच्छ्वास, आहार, वर्ण, भाव गन्ध, रस और स्पर्श इन ११ बातों की अपेक्षा से चौवीस दण्डकों के जीवों के चरम-अचरम आदि का विचार किया गया है। अर्थात्—गति आदि की अपेक्षा से कौन जीव चरम है, अचरम है? इत्यादि विषयों पर गंभीर विचार किया गया है।[1]

✤✤

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. २ प्रस्तावना, पृ. ८२-८४
(ख) प्रज्ञापना मलय. वृत्ति, पत्रांक २२९ से २४६ तक

दसमं चरिमपयं

दसवाँ चरमपद

आठ पृथ्वियों और लोकालोक की चरमाचरमवक्तव्यता

७७४. कति णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ पुढवीओ पण्णत्ताओ । तं जहा- रयणप्पभा १ सक्करप्पभा २ वालुयप्पभा ३ पंकप्पभा ४ धूमप्पभा ५ तमप्पभा ६ तमतमप्पभा ७ ईसीपब्भारा ८ ।

[७७४ प्र.] भगवन् ! पृथ्वियां कितनी कही गई हैं ?

[७७४ उ.] गौतम ! आठ पृथ्वियां कही गई हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) रत्नप्रभा, (२) शर्करप्रभा, (३) बालुकाप्रभा, (४) पंकप्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तमःप्रभा, (७) तमस्तमःप्रभा और (८) ईषत्प्राग्भारा ।

७७५. इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं चरिमा अचरिमा चरिमाइं अचरिमाइं चरिमंतपदेसा अचरिमंतपदेसा ?

गोयमा ! इमा णं रतणप्पभा पुढवी नो चरिमा नो अचरिमा नो चरिमाइं नो अचरिमाइं नो चरिमंतपदेसा नो अचरिमंतपदेसा, णियमा अचरिमं च चरिमाणि य चरिमंतपदेसा च अचरिमंतपएसा य ।

[७७५ प्र.] भगवन् ! क्या यह रत्नप्रभापृथ्वी चरम है, अचरम है, अनेक चरमरूप (बहुवचनान्त चरम) है, अनेक अचरमरूप (बहुवचनान्त अचरम) है, चरमान्त बहुप्रदेशरूप है अथवा अचरमान्त बहुप्रदेशरूप है ?

[७७५ उ.] गौतम ! यह रत्नप्रभापृथ्वी न तो चरम है, न ही अचरम है, न अनेक चरमरूप और न अनेक अचरमरूप है तथा न चरमान्त अनेकप्रदेशरूप है और न अचरमान्त अनेकप्रदेशरूप है, किन्तु नियमतः (वह एक ही पृथ्वी) अचरम और अनेकचरमरूप है तथा चरमान्त अनेकप्रदेशरूप और अचरमान्त अनेकप्रदेशरूप है ।

७७६. एवं जाव अहेसत्तमा पुढवी । सोहम्मादी जाव अणुत्तरविमाणा एवं चेव । ईसीपब्भारा वि एवं चेव । लोगे वि एवं चेव । एवं अलोगे वि ।

[७७६] यों (रत्नप्रभापृथ्वी की तरह) यावत् अधःसप्तमी (तमस्तमःप्रभा) पृथ्वी तक इसी प्रकार प्ररूपणा करनी चाहिए । सौधर्मादि से लेकर यावत् अनुत्तर विमान तक की वक्तव्यता भी इसी प्रकार समझ लेनी चाहिए । ईषत्प्राग्भारापृथ्वी की वक्तव्यता भी इसी तरह (रत्नप्रभापृथ्वी के समान) कह लेनी चाहिए । लोक के विषय में भी ऐसा ही कहना चाहिए और अलोक (अलोकाकाश) के विषय में भ इसी तरह (कहना चाहिए ।)

विवेचना आठ पृथ्वियों और लोकालोक की चरमाचरम सम्बन्धी वक्तव्यता—प्रस्तुत तीन सूत्रों में से प्रथम सूत्र में रत्नप्रभादि आठ पृथ्वियों का नामोल्लेख करके द्वितीय सूत्र में रत्नप्रभापृथ्वी के चरम-अचरम आदि के सम्बन्ध में प्ररूपणा की गई है तथा तृतीय सूत्र में शेष पृथ्वियों, सौधर्म से अनुत्तर विमान तक के देवलोक एवं लोकालोक के चरम-अचरमादि की वक्तव्यता से सम्बन्धित अतिदेश दिया गया है।

चरम, अचरम की शास्त्रीय परिभाषा वैसे तो चरम का अर्थ अन्तिम है और अचरम का अर्थ है जो अन्तिम न हो, मध्य में हो। परन्तु यहाँ समग्र लोक के रत्नप्रभादि विविध खण्डों तथा अलोक की अपेक्षा से चरम-अचरम आदि का विचार किया गया है। इसलिए चरमादि यहाँ पारिभाषिक शब्द हैं, इसी दृष्टि से वृत्तिकार ने इनका अर्थ किया है। **चरम** का अर्थ है– पर्यन्तवर्ती यानी अन्त में स्थित। चरम शब्द यहाँ सापेक्ष है, अर्थात् दूसरे की अपेक्षा रखता है। उससे कोई पहले हो, तभी किसी दूसरे को 'चरम' कहा जा सकता है। जैसे—पूर्वशरीरों की अपेक्षा से चरम (अन्तिम) शरीर (पूर्वभवों की अपेक्षा से अन्तिम भव को चरमभव) कहा जाता है। जिससे पहले कुछ न हो, उसे चरम नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार **'अचरम'** शब्द का अर्थ है—जो चरम= अन्तवर्ती न हो, अर्थात् मध्यवर्ती हो। यह पद भी सापेक्ष है, क्योंकि जब कोई अन्त में हो, तभी उसकी अपेक्षा से बीच वाले को 'अचरम' कहा जा सकता है। जिसके आगे-पीछे दूसरा कोई न हो, उसे 'अचरम यानी मध्यवर्ती (बीच में स्थित) नहीं कहा जा सकता। जैसे चरम शरीर एवं तथाविध अन्य शरीरों की अपेक्षा से मध्यवर्ती शरीर को अचरम शरीर कहा जाता है। जिस प्रकार यहाँ दो प्रश्न एकवचन के आधार पर किये गए हैं, उसी प्रकार दो प्रश्न बहुवचन को लेकर किए गए हैं। **'चरिमाइं अचिरिमाइं'** दोनों चरम और अचरम के बहुवचनान्त रूप हैं। उनका अर्थ होता है अनेक चरमरूप और अनेक अचरमरूप। ये चारों प्रश्न तो रत्नप्रभादि पृथ्वियों को तथाविध एकत्वपरिणाम विशिष्ट एक द्रव्य मान कर किये गये हैं। इसके पश्चात् दो प्रश्न उसके प्रदेशों को लक्ष्य करके किए गए हैं—**'चरिमंतपदेसा,' 'अचरिमंतपदेसा'** (चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशा)। अर्थ होता है—चरमरूप अन्तप्रदेशों वाली और अचरमरूप अन्तप्रदेशों वाली। इसका अर्थ हुआ क्या रत्नाप्रभा पृथ्वी चरमान्त बहुप्रदेशरूप है, अथवा अचरमान्त बहुप्रदेशरूप है? इसका स्पष्ट अर्थ हुआ क्या अन्त के प्रदेश रत्नप्रभापृथ्वी हैं, अथवा मध्य के प्रदेश रत्नप्रभापृथ्वी हैं? पूर्ववत् चरमान्त और अचरमान्त ये दोनों शब्द सापेक्ष हैं। न ही अकेले कोई प्रदेश चरमान्त हो सकते हैं, और न ही अचरमान्त।

पूर्वोक्त छह प्रश्नों का उत्तर—गौतम स्वामी के पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर भगवान् पहले निषेधात्मकरूप से देते हैं—यह रत्नप्रभापृथ्वी चरम नहीं है, क्योंकि वह तो द्रव्य की अपेक्षा एक और अखण्डरूप है। उसे चरम नहीं कहा जा सकता (चरमत्व तो सापेक्ष है, रत्नप्रभापृथ्वी से पहले कोई हो तो उसकी अपेक्षा से उसे चरम कहा जाए। मगर ऐसा कोई दूसरा नहीं, क्योंकि रत्नप्रभापृथ्वी तो एक अखण्ड और निरपेक्ष है, जिसके विषय में तुमने (गौतमस्वामी ने) प्रश्न किया है। इसी प्रकार पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार रत्नप्रभापृथ्वी अचरम भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि अचरमत्व अर्थात् मध्यवर्तित्व भी किसी दूसरे की अपेक्षा रखता है, इसलिए सापेक्ष है। यहाँ कोई दूसरा ऐसा है नहीं, जिसकी अपेक्षा से रत्नप्रभापृथ्वी को अचरम कहा जाए। इसके पश्चात् किये हुए बहुवचनात्मक

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २२९

प्रश्नों का भी भगवान् निषेधरूप में उत्तर देते हैं—रत्नप्रभापृथ्वी न अनेक चरम है और न ही अनेक अचरमरूप है। क्योंकि पूर्वकथनानुसार जब रत्नप्रभापृथ्वी एकत्वविशिष्ट चरम और अचरम नहीं है तो बहुत्वविशिष्ट चरम-अचरम भी कैसे हो सकती है ? अर्थात् रत्नप्रभापृथ्वी न तो बहुत चरम द्रव्यरूप है और न ही बहुत अचरमद्रव्यरूप है।

इसी प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी को न तो चरमान्तप्रदेशों के रूप के कह सकते हैं और न ही अचरमान्तप्रदेशों के रूप में कह सकते हैं। क्योंकि जब रत्नप्रभापृथ्वी में चरमत्व और अचरमत्व संभव ही नहीं है, तब उसे चरमप्रदेश या अचरमप्रदेश भी नहीं कहा जा सकता।[1] प्रश्न होता है कि रत्नप्रभापृथ्वी चरम, अचरम आदि पूर्वोक्त छह विकल्पों वाली नहीं है तो क्या है ? उसे किस रूप में कहना और समझना चाहिए ? भगवान् ने इसके उत्तर में कहा—'रत्नप्रभापृथ्वी अचरम और अनेक चरमरूप (चरमाणि) है तथा चरमान्तप्रदेश और अचरमान्त प्रदेशरूप है। इसका आशय यह है कि जब एक और अखण्डरूप में विवक्षित रत्नप्रभापृथ्वी के विषय में प्रश्न किया जाए तो वह पूर्वोक्त छह भंगों में से किसी भी भंग में नहीं आ सकती, किन्तु जब रत्नप्रभापृथ्वी को असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ और अनेक अवयवों में विभक्त मानकर प्रश्न किया जाए तो उसे अचरम और अनेक चरम रूप (चरमाणि) कहा जा सकता है। क्योंकि रत्नप्रभापृथ्वी □ इसी प्रकार के आकार में स्थित है। ऐसी स्थिति में इसके प्रान्तभागों में विद्यमान प्रत्येक खण्ड तथाविध-विशिष्ट एकत्वपरिणाम परिणत हैं, उन खण्डों को अनेक चरम रूप (चरमाणि) कहा जा सकता है और जो उन प्रान्त-भागों के मध्य में बड़ा खण्ड है, उसे तथाविध-एकत्वपरिणाम होने से एक मान लिया जाए तो वह 'अचरम' है। इस प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी प्रान्तवर्ती अनेक खण्डों और मध्यवर्ती एक महाखण्ड का सम्मिलित समुदायरूप है, ऐसा न मानने पर रत्नप्रभापृथ्वी के अभाव का प्रसंग आ जाएगा।

इस प्रकार एक ही पृथ्वी को अवयव-अवयवीरूप में मान लेने पर जैसे उसे अचरम—अनेक चरम रूप (चरमाणि) अर्थात् अखण्ड और एक निर्वचनविषय कहा जा सकता है, उसी प्रकार प्रदेशों की विवक्षा करने पर उसे 'चरमान्त अनेकप्रदेशरूपा' तथा 'अचरमान्त अनेकप्रदेशरूपा' भी कहा जा सकता है, क्योंकि इसके बाह्यखण्डों में रहे हुए प्रदेश चरमान्तप्रदेश कहलाते हैं और मध्यवर्ती एक महाखण्ड में रहे हुए प्रदेश 'अचरमान्तप्रदेश' कहलाते हैं।

इस प्रकार मुख्यतया एकान्तदुर्नय का निराकरण करने वाले भगवान् के उत्तर से रत्नप्रभा आदि वस्तुएँ अवयव-अवयवीरूप हैं, अवयव और अवयवी में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है,[2] यह अनेकान्त सिद्धान्त सूचित हो गया।

इस प्रकार जैसे रत्नप्रभापृथ्वी के विषय में प्रश्न और निर्वचन का (युक्तिपूर्वक विश्लेषण) करके प्ररूपणा की गई, वैसी ही प्ररूपणा शर्कराप्रभापृथ्वी से लेकर तमस्तमःपृथ्वी तक तथा सौधर्म से लेकर अनुत्तर विमान तक एवं ईषत्प्राग्भारापृथ्वी और लोक के विषय भी प्रश्न एवं उत्तर का युक्तिपूर्वक विश्लेषण करके करनी चाहिए। अलोक के विषय में भी इसी प्रकार प्रश्नोत्तररूप सूत्र बनाकर प्ररूपणा करनी चाहिए। अलोक के लिए लोक के निष्कुटों में प्रविष्ट जो खण्ड हैं, वे चरम हैं, शेष अन्य सब अचरम हैं तथा चरमखण्डगतप्रदेश चरमान्तप्रदेश हैं एवं अचरमखण्डगत प्रदेश अचरमान्तप्रदेश हैं।[3]

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक २२९

२. वही मलय. वृत्ति, पत्रांक २२९

चरमाचरमादि पदों का अल्पबहुत्व

७७७. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए अचरिमस्स य चरिमाण य चरिमंतपएसाण य अचरिमंतपएसाण य दव्वट्ठाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए दव्वट्ठयाए एगे अचरिमे, चरिमाइं असंखेज्जगुणाइं, अचरिमं च चरिमाणि य दो वि विसेसाहियाइं । पदेसट्ठयाए- सव्वत्थोवा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए चरिमंतपदेसा, अचरिमंतपएसा असंखेज्जगुणा, चरिमंतपएसा य अचरिमंतपएसा य दो वि विसेसाहिया । दव्वट्ठपदेसट्ठयाए--सव्वत्थोवा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए दव्वट्ठयाए एगे अचरिमे, चरिमाइं असंखेज्जगुणाइं, अचरिमं च चरिमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, पएसट्ठयाए चरिमंतपएसा असंखेज्जगुणा, अचरिमंतपएसा असंखेज्जगुणा, चरिमंतपएसा य अचरिमंतपएसा य दो वि विसेसाहिया ।

[७७७ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के अचरम और बहुवचनान्त चरम, चरमान्तप्रदेशों तथा अचरमान्तप्रदेशों में द्रव्यों की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से और द्रव्य-प्रदेश (दोनों) की अपेक्षा से कौन, किससे अल्प हैं, बहुत हैं, तुल्य हैं अथवा विशेषाधिक हैं ?

[७७७ उ.] गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से इस रत्नप्रभापृथ्वी का एक अचरम सबसे कम है। उसकी अपेक्षा (बहुवचनान्त) चरम (चरमाणि) असंख्यातगुणे हैं। अचरम और (बहुवचनान्त) चरम, ये दोनों विशेषाधिक हैं। प्रदेशों की अपेक्षा से इस रत्नप्रभापृथ्वी के 'चरमान्तप्रदेश' सबसे कम हैं। (उनकी अपेक्षा) अचरमान्तप्रदेश असंख्यातगुणे हैं। चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश, ये दोनों विशेषाधिक हैं। द्रव्य और प्रदेशों की अपेक्षा से सबसे कम इस रत्नप्रभापृथ्वी का एक अचरम है। (उसकी अपेक्षा) असंख्यातगुणे (बहुवचनान्त) चरम हैं। अचरम और (बहुवचनान्त) चरम, ये दोनों ही विशेषाधिक हैं। (उनसे) प्रदेशापेक्षया चरमान्तप्रदेश असंख्यातगुणे हैं, (उनसे) असंख्यातगुणे अचरमान्तप्रदेश हैं। चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश, ये दोनों विशेषाधिक हैं।

७७८. एवं जाव अहेसत्तमा । सोहम्मस्स । जाव लोगस्स य एवं चेव ।

[७७८] इसी प्रकार (शर्कराप्रभापृथ्वी से लेकर) नीचे की सातवीं (तमस्तमः) पृथ्वी तक तथा सौधर्म से लेकर लोक (अच्युत, नौ ग्रैवेयक, पंच अनुत्तर विमान, ईषत्प्राग्भारापृथ्वी एवं लोक) तक पूर्वोक्त प्रकार से अचरम, (बहुवचनान्त) चरमों, चरमान्तप्रदेशों तथा अचरमान्तप्रदेशों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करनी चाहिए।

७७९. अलोगस्स णं भंते ! अचरिमस्स य चरिमाण य चरिमंतपएसाण य अचरिमंतपएसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे अलोगस्स दव्वट्ठयाए—एगे अचरिमे, चरिमाइं असंखेज्जगुणाइं, अचरिमं च चरिमाणि य दो वि विसेसाहियाइं पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा अलोगस्स चरिमंतपदेसा, अचरिमंतपदेसा अणंतगुणा, चरिमंतपदेसा य अचरिमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया । दव्वट्ठपदेसट्ठयाए—सव्वत्थोवे

अलोगस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरिमे, चरिमाइं असंखेज्जगुणाइं, अचरिमं च चरिमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, चरिमंतपदेसा असंखेज्जगुणा, अचरिमंतपदेसा अणंतगुणा, चरिमंतपएसा य अचरिमंतपएसा य दो वि विसेसाहिया ।

[७७९ प्र.] भगवन् ! अलोक के अचरम, चरमों, चरमान्तप्रदेशों और अचरमान्तप्रदेशों में से द्रव्य की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से एवं द्रव्य-प्रदेशों की अपेक्षा से कौन किनसे अल्प हैं, बहुत हैं, तुल्य हैं, अथवा विशेषाधिक हैं ?

[७७९ उ.] गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से -सबसे कम अलोक का एक अचरम है। (उसकी अपेक्षा) असंख्यातगुणे (बहुवचनान्त) चरम हैं। अचरम और (बहुवचनान्त) चरम, ये दोनों विशेषाधिक हैं। प्रदेशों की अपेक्षा से सबसे कम अलोक के चरमान्तप्रदेश हैं, (उनसे) अनन्तगुणे अचरमान्त प्रदेश हैं। चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश, ये दोनों विशेषाधिक हैं। द्रव्य और प्रदेशों की अपेक्षा से—सबसे कम अलोक का एक अचरम है। (उससे) बहुवचनान्त चरम असंख्यातगुणे हैं। अचरम और (बहुवचनान्त) चरम, ये दोनों विशेषाधिक हैं। (उनसे) चरमान्तप्रदेश असंख्यातगुणे हैं, (उनसे भी) अनन्तगुणे अचरमान्तप्रदेश हैं। चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश, ये दोनों विशेषाधिक हैं।

७८०. लोगालोगस्स णं भंते ! अचरिमस्स य चरिमाण य चरिमंतपएसाण य अचरिमंतपएसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे लोगालोगस्स दव्वट्ठयाए—एगमेगे अचरिमे, लोगस्स चरिमाइं असंखेज्जगुणाइं, अलोगस्स चरिमाइं विसेसाधियाइं, लोगस्स य अलोगस्स य अचरिमं च चरिमाणि य दो वि विसेसाधियाइं। पदेसट्ठयाए -सव्वत्थोवा लोगस्स चरिमंतपदेसा, अलोगस्स चरिमंतपदेसा विसेसाहिया, लोगस्स अचरिमंतपदेसा असंखेज्जगुणा, अलोगस्स अचरिमंतपदेसा अणंतगुणा, लोगस्स य अलोगस्स य चरिमंतपदेसा य अचरिमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया। दव्वट्ठपदेसट्ठयाए—सव्वत्थोवे लोगालोगस्स दव्वट्ठयाए एगमेगे अचरिमे, लोगस्स चरिमाइं असंखेज्जगुणाइं, अलोगस्स चरिमाइं विसेसाहियाइं लोगस्स य अलोगस्स य अचरिमं च चरिमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, लोगस्स चरिमंतपएसा असंखेज्जगुणा, अलोगस्स चरिमंतपएसा विसेसाहिया, लोगस्स अचरिमंतपएसा असंखेज्जगुणा, अलोगस्स अचरिमंतपएसा अणंतगुणा, लोगस्स य अलोगस्स य चरिमंतपएसा य अचरिमंतपएसा य दो वि विसेसाहिया, सव्वदव्वा विसेसाहिया, सव्वपएसा अणंतगुणा, सव्वपज्जवा अणंतगुणा।

[७८० प्र.] भगवन् ! लोकालोक के अचरम, (बहुवचनान्त) चरमों, चरमान्तप्रदेशों और अचरमान्तप्रदेशों में द्रव्य की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से, द्रव्य और प्रदेशों की अपेक्षा से कौन, किनसे अल्प हैं, बहुत हैं, तुल्य हैं, अथवा विशेषाधिक हैं ?

[७८० उ.] गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से—सबसे कम लोकालोक का एक-एक अचरम है। (उसकी अपेक्षा) लोक के (बहुवचनान्त) चरम असंख्यातगुणे हैं, अलोक के (बहुवचनान्त) चरम विशेषाधिक हैं, लोक और अलोक का अचरम और (बहुवचनान्त) चरम, ये दोनों विशेषाधिक हैं। प्रदेशों की अपेक्षा से—सबसे थोड़े लोक के चरमान्तप्रदेश हैं, अलोक के चरमान्तप्रदेश विशेषाधिक

हैं, (उनसे) लोक के अचरमान्तप्रदेश असंख्यातगुणे हैं, (उनसे) अलोक के अचरमान्तप्रदेश अनन्तगुणे हैं। लोक और अलोक के चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश, ये दोनों विशेषाधिक हैं। द्रव्य और प्रदेशों की अपेक्षा से—सबसे कम लोक-अलोक का एक-एक अचरम है, (उसकी अपेक्षा) लोक के (बहुवचनान्त) चरम असंख्यातगुणे हैं, (उनसे) अलोक के (बहुवचनान्त) चरम विशेषाधिक हैं। लोक और अलोक का अचरम और (बहुवचनान्त) चरम, ये दोनों विशेषाधिक हैं। लोक के चरमान्तप्रदेश (उनसे) असंख्यातगुणे हैं, (उनसे) अलोक के चरमान्तप्रदेश विशेषाधिक हैं, (उनसे) लोक के अचरमान्तप्रदेश असंख्यातगुणे हैं, उनसे अलोक के अचरमान्तप्रदेश अनन्तगुणे हैं, लोक और अलोक के चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश, ये दोनो विशेषाधिक हैं। उनकी—लोक और अलोक के चरम और अचरम प्रदेशों की—अपेक्षा सब द्रव्य (मिलकर) विशेषाधिक हैं। (उनकी अपेक्षा) सर्व प्रदेश अनन्तगुणे हैं (और उनकी अपेक्षा भी) सर्व पर्याय अनन्तगुणे हैं।

विवेचन—चरमाचरमादि पदों का अल्पबहुत्व—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ७७७ से ७८० तक) में रत्नप्रभादि आठ पृथ्वियों के, सौधर्म से अनुत्तर विमान तक के देवलोकों के, लोक अलोक एवं लोकालोक के चरम, अचरम आदि चार भेदों के अल्पबहुत्व का द्रव्य, प्रदेशों तथा द्रव्यप्रदेश की अपेक्षा अल्पबहुत्व का विचार किया गया है।

रत्नप्रभा से लोक तक के अल्पबहुत्व की मीमांसा—द्रव्य की अपेक्षा से रत्नप्रभापृथ्वी का एक अचरम सबसे कम है, क्योंकि तथाविध एकस्कन्धरूप (एकत्व) परिणाम-परिणत होने के कारण अचरमखण्ड एक है, अतएव वह सबसे अल्प है। उसकी अपेक्षा (अनेक) चरमखण्ड (चरमाणि) असंख्यातगुणे अधिक हैं, क्योंकि वे असंख्यात हैं। अब यह प्रश्न उठा कि अचरम और अनेक चरम, ये दोनों मिलकर क्या चरमों के बराबर हैं या विशेषाधिक? शास्त्रकार इसका समाधान देते हैं कि अचरम और अनेक चरम ये दोनों विशेषाधिक हैं। इसका तात्पर्य यह है कि एक अचरम द्रव्य को चरम द्रव्यों में सम्मिलित कर दिया जाए तो चरमों की संख्या एक अधिक हो जाती है, इस कारण इनका समुदाय विशेषाधिक होता है।

प्रदेशों की दृष्टि से चिन्तन किया जाए तो चरमान्तप्रदेश सबसे कम हैं, क्योंकि चरमखण्ड मध्यम (अचरम) खण्डों की अपेक्षा अतिसूक्ष्म होते हैं। यद्यपि चरमखण्ड असंख्यातगुणे हैं, तथापि उनके प्रदेश मध्य (अचरम) खण्ड के प्रदेशों की अपेक्षा सबसे थोड़े हैं। उनकी अपेक्षा अचरमान्तप्रदेश असंख्यातगुणे होते हैं। एक अचरमखण्ड चरमखण्डों के समुदाय की अपेक्षा क्षेत्र से असंख्यातगुणा होता है। चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश दोनों मिलकर अचरमान्तप्रदेशों से विशेषाधिक होते हैं। इसका कारण यह कि चरमान्तप्रदेश अचरमान्तप्रदेशों की अपेक्षा असंख्यातवें भागप्रमाण होते हैं। ऐसी स्थिति में अचरमान्तप्रदेशों में चरमान्तप्रदेश सम्मिलित कर देने पर भी वे अचरमान्तप्रदेश से विशेषाधिक ही होते हैं।

द्रव्य और प्रदेश दोनों की दृष्टि से विचार किया जाय तो पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार रत्नप्रभापृथ्वी का अचरम एक होने से वह सबसे थोड़ा है। उसकी अपेक्षा बहुवचनान्त चरम (अनेक चरम) असंख्यातगुणे अधिक हैं। उनकी अपेक्षा अचरम और अनेक चरम दोनों विशेषाधिक हैं और उनकी अपेक्षा भी चरमान्तप्रदेश असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि यद्यपि अचरमखण्ड असंख्यातप्रदेशों से अवगाढ़

होता है, तथापि द्रव्य की अपेक्षा से वह एक है, जबकि चरमखण्डों में प्रत्येक (खण्ड) असंख्यातप्रदेशी होता है, अतः चरम और अचरम द्रव्य के समुदाय की अपेक्षा चरमान्तप्रदेश असंख्यातगुणे हैं। उनकी अपेक्षा भी अचरमान्तप्रदेश (पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार) असंख्यातगुणे हैं। उनमें भी चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश, दोनों मिलकर (पूर्ववत्) विशेषाधिक होते हैं।

रत्नप्रभापृथ्वी के चरमाचरमादि के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की तरह ही शर्कराप्रभा से लेकर लोक तक के चरमाचरमादि का अल्पबहुत्व समझना चाहिए।[1]

अलोक के चरम-अचरमादि का अल्पबहुत्व—द्रव्य की अपेक्षा से—सबसे कम अलोक का अचरम है, इसकी अपेक्षा चरमखण्ड असंख्यातगुणे हैं, अचरम और चरम खण्ड दोनों मिलकर विशेषाधिक हैं। प्रदेशों की दृष्टि से—सबसे कम अलोक के चरमान्तप्रदेश हैं, क्योंकि निष्कुट प्रदेशों में ही उनका सद्भाव होता है। इन चरमान्तप्रदेशों, की अपेक्षा अचरमान्तप्रदेश अनन्तगुणे हैं, क्योंकि अलोक अनन्त है। चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश दोनों मिलकर विशेषाधिक हैं, क्योंकि चरमान्तप्रदेश अचरमान्तप्रदेशों के अनन्तवें भागमात्र होते हैं। उन्हें अचरमान्तप्रदेशों में सम्मिलित कर देने पर भी वे सब मिलकर अचरमान्तप्रदेशों से विशेषाधिक ही होते हैं। द्रव्य और प्रदेश दोनों की दृष्टि से-सबसे कम अलोक का एक अचरम है। उसकी अपेक्षा चरमखण्ड असंख्यातगुणे हैं। अचरम और चरम खण्ड दोनों मिलकर विशेषाधिक हैं, उनकी अपेक्षा चरमान्तप्रदेश असंख्यातगुणे हैं और उनसे भी अचरमान्तप्रदेश अनन्तगुणे हैं। चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश दोनों मिल कर विशेषाधिक हैं।[2]

लोकालोक के चरमाचरमादि का अल्पबहुत्व—द्रव्य की अपेक्षा—सबसे कम लोक और अलोक का एक-एक अचरम = अचरमखण्ड है, क्योंकि वह एक ही है। उसकी अपेक्षा लोक के चरमखण्ड संख्यातगुणे हैं। उससे अलोक के चरमखण्ड विशेषाधिक हैं। उनसे लोक का और अलोक का अचरमखण्ड एवं (बहुत) चरमखण्ड मिलकर विशेषाधिक हैं। प्रदेशों की अपेक्षा—सब से कम लोक के चरमान्तप्रदेश हैं, उनसे अलोक के चरमान्त प्रदेश विशेषाधिक हैं। उनसे लोक के अचरमान्त प्रदेश असंख्यातगुणे हैं। उनसे अलोक के अचरमान्त प्रदेश अनन्तगुणित हैं। उनसे लोक के और अलोक के चरमान्त प्रदेश और अचरमान्त प्रदेश दोनों मिलकर विशेषाधिक हैं। द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ की अपेक्षा—सबसे कम लोक और अलोक का द्रव्यापेक्षया एक-एक अचरमखंड है। उससे लोक के चरमखंड असंख्यातगुणित हैं। उनसे अलोक के चरमखंड विशेषाधिक हैं। उनसे लोक और अलोक के अचरमखंड और अचरमखंड दोनों मिलकर विशेषाधिक हैं, इत्यादि।

वास्तव में लोक के चरमखंड असंख्यात हैं, फिर भी पृथ्वी की स्थापना □इस प्रकार की होने से वे आठ माने जाते हैं। वे इस प्रकार हैं एक-एक चारों दिशाओं में और एक-एक चारों विदिशाओं में अलोक के चरमखंड अलोक की स्थापना की परिकल्पना के आधार पर बारह माने जाते हैं। यह बारह संख्या आठ से न तो दुगुनी है, और न ही तिगुनी है अतः यह विशेषाधिक ही कही जा सकती है। अलोक के चरमखंडों की अपेक्षा लोक का और अलोक का अचरम और उनके चरमखंड,

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २३१

२. वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक २३२

दोनों मिलकर विशेषाधिक होते हैं, क्योंकि पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार लोक के चरमखण्ड आठ हैं और अचरमखण्ड एक ही है, दोनों मिल कर नौ होते हैं। इसी प्रकार अलोक के भी चरम और अचरमखण्ड मिल कर १३ हैं। इन दोनों को मिला दिया जाए तो बाईस होते हैं। यह बाईस की संख्या बारह से दुगुनी, तिगुनी आदि नहीं है, अतः विशेषाधिक ही है।

प्रदेशों की दृष्टि से—सबसे कम लोक के चरमान्तप्रदेश हैं, क्योंकि उसमें आठ ही प्रदेश हैं। उनकी अपेक्षा अलोक के चरमान्तप्रदेश विशेषाधिक हैं। उनसे लोक के अचरमान्तप्रदेश असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि अचरम क्षेत्र बहुत अधिक है, इस कारण उसके प्रदेश भी बहुत अधिक हैं। उनकी अपेक्षा अलोक के अचरमान्तप्रदेश अनन्तगुणे हैं, क्योंकि वह क्षेत्र अनन्तगुणा है। उनकी अपेक्षा भी लोक और अलोक के चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश दोनों विशेषाधिक हैं क्योंकि अलोक के अचरमान्तप्रदेशों में लोक के चरमान्तप्रदेशों को, अचरमान्तप्रदेशों को तथा अलोक के चरमान्तप्रदेशों को मिला देने पर भी वे सब असंख्यात ही होते हैं और असंख्यात, अनन्त राशि की अपेक्षा कम ही है, अतएव उन्हें उनमें सम्मिलित कर देने पर भी वे अलोक के अचरमान्तप्रदेशों से विशेषाधिक ही होते हैं।

द्रव्य और प्रदेशों की दृष्टि से अल्पबहुत्व का पूर्वोक्त युक्ति से स्वयं विचार कर लेना चाहिए। लोक के चरमखण्डों की अपेक्षा से अलोक के चरमखण्ड विशेषाधिक हैं और उनकी अपेक्षा लोक और अलोक का अचरम और उनके चरमखण्ड दोनों मिलकर विशेषाधिक हैं। इसका कारण पूर्ववत् है। उनकी अपेक्षा लोक के चरमान्तप्रदेश असंख्यातगुणे हैं, उनसे अलोक के चरमान्तप्रदेश विशेषाधिक हैं। उनकी अपेक्षा लोक के अचरमान्तप्रदेश असंख्यातगुणे हैं। उनकी अपेक्षा अलोक के अचरमान्तप्रदेश अनन्तगुणे हैं। युक्ति पूर्ववत् है। उनकी अपेक्षा लोक और अलोक के चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश दोनों मिलकर विशेषाधिक हैं। लोक अलोक के चरम और अचरमप्रदेशों की अपेक्षा सब द्रव्य मिलकर विशेषाधिक हैं, क्योंकि अनन्तानन्तसंख्यक जीवों, परमाणु आदि, तथा अनन्त परमाण्वात्मक स्कन्ध पर्यन्त सब पृथक् पृथक् भी (प्रत्येक) अनन्त-अनन्त हैं और वे सभी द्रव्य हैं। समस्त द्रव्यों की अपेक्षा सब प्रदेश अनन्तगुणे हैं और सब प्रदेशों की अपेक्षा सर्व पर्याय अनन्तगुणे हैं, क्योंकि प्रदेश के स्वपरपर्याय अनन्त हैं।[1] यह सब स्पष्ट है।

परमाणुपुद्गलादि की चरमाचरमादि वक्तव्यता

७८१. परमाणुपोग्गले णं भंते! किं चरिमे १ अचरिमे २ अवत्तव्वए ३ ? चरिमाइं ४ अचरिमाइं ५ अवत्तव्वयाइं ६ ? उदाहु चरिमे य अचरिमे य ७ उदाहु चरिमे य अचरिमाइं च ८ उदाहु चरिमाइं च अचरिमे य ९ उदाहु चरिमाइं च अचरिमाइं च १० ? पढमा चउभंगी।

उदाहु चरिमे च अवत्तव्वए य ११ उदाहु चरिमे य अवत्तव्वयाइं च १२ उदाहु चरिमाइं च अवत्तव्वए य १३ उदाहु चरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४ ? बीया चउभंगी।

उदाहु अचरिमे य अवत्तव्वए य १५ उदाहु अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च १६ उदाहु अचरिमाइं च अवत्तव्वए य १७ उदाहु अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८ ? तइया चउभंगी।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २३२

उदाहु चरिमे य अचरिमे य अवत्तव्वए य १९ उदाहु चरिमे य अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च २० उदाहु चरिमे य अचरिमाइं च अवत्तव्वए य २१ उदाहु चरिमे य अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ उदाहु चरिमाइं च अचरिमे य अवत्तव्वए य २३ उदाहु चरिमाइं च अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च २४ उदाहु चरिमाइं च अचरिमाइं च अवत्तव्वए य २५ उदाहु चरिमाइं च अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च २६ ? एवं एते छव्वीसं भंगा ।

गोयमा ! परमाणुपोग्गले नो चरिमे १ नो अचरिमे २ नियमा अवत्तव्वए [०] ३, सेसा भंगा पडिसेहेयव्वा ।

[७८१ प्र.] भगवन् परमाणुपुद्गल क्या १. चरम है ? २. अचरम है ?, ३. अवक्तव्य है ?, ४. अथवा (बहुवचनान्त) अनेक चरमरूप है ?, ५. अनेक अचरमरूप है ?, ६. बहुत अवक्तव्यरूप है ? अथवा ७. चरम और अचरम है ? ८. या एक चरम और अनेक अचरमरूप है ?, ९. अथवा अनेक चरमरूप और एक अचरम है ? १०. या अनेक चरमरूप और अनेक अचरमरूप है ? यह प्रथम चतुर्भंगी हुई ॥१॥

अथवा (क्या परमाणुपुद्गल) ११. चरम और अवक्तव्य है ? १२. अथवा एक चरम और बहुत अवक्तव्यरूप है ? या १३. अनेक चरमरूप और एक अवक्तव्यरूप है ? अथवा १४. अनेक चरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप है ? यह द्वितीय चतुर्भंगी हुई ॥२॥

अथवा (परमाणुपुद्गल) १५. अचरम और अवक्तव्य है ? अथवा १६. एक अचरम और बहुअवक्तव्यरूप है ? या १७. अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्यरूप है ? अथवा १८. अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप है ? यह तृतीय चतुर्भंगी हुई ॥३॥

अथवा (परमाणुपुद्गल) १९. एक चरम, एक अचरम और एक अवक्तव्य है ? या २०. एक चरम, एक अचरम और बहुत अवक्तव्यरूप हैं ? अथवा २१. एक चरम, अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्यरूप है ? अथवा २२. एक चरम, अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्य हैं ? अथवा २३. अनेक चरमरूप, एक अचरम और एक अवक्तव्य है ? अथवा २४. अनेक चरमरूप, एक अचरम और अनेक अवक्तव्य है ? या २५. अनेक चरमरूप, अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्य है ? अथवा २६. अनेक चरमरूप, अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्य हैं ? इस प्रकार ये छव्वीस भंग हैं ।

[७८१ उ.] हे गौतम ! परमाणुपुद्गल (उपर्युक्त छव्वीस भंगों में से) चरम नहीं, अचरम नहीं, (किन्तु) नियम से अवक्तव्य [०] है । शेष (तेईस) भंगों का भी निषेध करना चाहिए ।

७८२. दुपएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ।

गोयमा ! दुपएसिए खंधे सिय चरिमे [०|०] १ नो अचरिमे २ सिय अवत्तव्वए [००] ३, सेसा भंगा पडिसेहेयव्वा ।

[७८२ प्र.] भगवन् ! द्विप्रदेशिक स्कन्ध के विषय में (मेरी इसी प्रकार की छव्वीस भंगात्मक) पृच्छा है, (उसका क्या समाधान है ?)

[७८२ उ.] गौतम ! द्विप्रदेशिक स्कन्ध १. कथंचित् चरम |००| है, २. अचरम नहीं है, ३. कथंचित् अवक्तव्य |००| है। शेष तेईस भंगों का निषेध करना चाहिए।

७८३. तिपएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा।

गोयमा ! तिपएसिए खंधे सिय चरिमे |००|० १ नो अचरिमे २ सिय अवत्तव्वए |०|० ३ नो चरिमाइं ४ णो अचरिमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६, नो चरिमे य अचरिमे य ७ नो चरिमे य अचरिमाइं ८ सिय चरिमाइं च अचरिमे य |०|०|० ९ नो चरिमाइं च अचरिमाइं च १० सिय चरिमे य अवत्तव्वए य |००|० ११ सेसा (१५) भंगा पडिसेहेयव्वा।

[७८३ प्र.] भगवन् ! त्रिप्रदेशिक स्कन्ध के विषय में (मेरी उपर्युक्त प्रकार की) पृच्छा है, (उसका समाधान क्या है ?)

[७८३ उ.] गौतम ! त्रिप्रदेशिक स्कन्ध १. कथञ्चित् चरम |०००| है, २. अचरम नहीं है, ३. कथंचित् अवक्तव्य |०|० है, ४. वह न तो अनेक चरमरूप है, ५. न अनेक अचरमरूप है, ६. न अनेक अवक्तव्यरूप है, ७. न एक चरम और एक अचरम है, ८. न एक चरम और अनेक अचरमरूप है, ९. कथंचित् अनेक चरमरूप और एक अचरम |००|० है, १०. (वह) अनेक चरमरूप और अनेक अचरमरूप नहीं है, (किन्तु) ११. कथंचित् एक चरम और एक अवक्तव्य |०|० है। शेष पन्द्रह भंगों का निषेध करना चाहिए।

७८४. चउपएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा।

गोयमा ! चउपएसिए णं खंधे सिय चरिमे |००|००| १ नो अचरिमे २ सिय अवत्तव्वए |०|० ३ नो चरिमाइं ४ नो अचरिमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६, नो चरिमे य अचरिमे य ७ नो चरिमे य अचरिमाइं च ८ सिय चरिमाइं च अचरिमे य |०|००|० ९ सिय चरिमाइं च अचरिमाइं च |०|०|०|० १०, सिय चरिमे य अवत्तव्वए य |००|० ११ सिय चरिमे य अवत्तव्वयाइं च |०|०|० १२ नो चरिमाइं च अवत्तव्वए य १३ नो चरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४, नो अचरिमे य अवत्तव्वए य १५ नो अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च १६ नो अचरिमाइं च अवत्तव्वए य १७ नो अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८, नो चरिमे य अचरिमे य अवत्तव्वए य १९ नो चरिमे य अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च २० नो चरिमे य अचरिमाइं च अवत्तव्वए य २१ नो चरिमे य अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ सिय चरिमाइं च अचरिमे य अवत्तव्वए य |०|०|० २३, सेसा (३) भंगा पडिसेहेयव्वा।

[७८४ प्र.] भगवन् ! चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध के विषय में (मेरी पूर्ववत्) पृच्छा है, (उसका क्या समाधान है ?)

[७८४ उ.] गौतम ! चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध १. कथंचित् चरम है, २. अचरम नहीं है, ३. कथंचित् अवक्तव्य है। ४. (वह) न तो अनेक चरमरूप है, ५. न अनेक अचरमरूप है, ६. न ही अनेक अवक्तव्यरूप है, ७. न (वह) चरम और अचरम है, ८. न एक चरम और अनेक अचरमरूप है, (किन्तु) ९. कथञ्चित् अनेक चरमरूप और एक अचरम है, १०. कथंचित् अनेक चरमरूप और अनेक अचरमरूप है, ११. कथंचित् एक चरम और एक अवक्तव्य है (और) १२. कथंचित् एक चरम और अनेक अवक्तव्यरूप है, १३. (वह) न तो अनेक चरमरूप और एक अवक्तव्य है, १४. न अनेक चरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप है, १५. न एक अचरम और एक अवक्तव्य है, १६. न एक अचरम और अनेक अवक्तव्यरूप है, १७. न अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्य है, १८. न अनेक अचरमरूप और न अनेक अवक्तव्यरूप है (और) १९. न (ही वह) एक चरम, एक अचरम और एक अवक्तव्य है, २०. न एक चरम, एक अचरम और अनेक अवक्तव्यरूप है, २१. न एक चरम, अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्य है, २२. न एक चरम, अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप है, (किन्तु) २३. कथंचित् अनेक चरमरूप, एक अचरम और एक अवक्तव्य है। शेष (तीन) भंगों का निषेध करना चाहिए।

७८५. पंचपएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा।

गोयमा ! पंचपएसिए णं खंधे सिय चरिमे १ नो अचरिमे २ सिय अवत्तव्वए ३ नो चरिमाइं ४ नो अचरिमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६, सिय चरिमे य अचरिमे य ७ नो चरिमे य अचरिमाइं च ८ सिय चरिमाइं अचरिमे य ९ सिय चरिमाइं च अचरिमाइं च १०, सिय चरिमे य अवत्तव्वए य ११, सिय चरिमे य अवत्तव्वयाइं च १२ सिय चरिमाइं च अवत्तव्वए १३ नो चरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४, णो अचरिमे य अवत्तव्वए य १५ नो अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च १६ नो अचरिमाइं च अवत्तव्वए य १७ नो अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८, नो चरिमे य अचरिमे य अवत्तव्वए य १९ नो चरिमे य अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च २० नो चरिमे य अचरिमाइं च अवत्तव्वए य २१ नो चरिमे य अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ सिय चरिमाइं च अचरिमे य अवत्तव्वए य २३ सिय चरिमाइं च

अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च 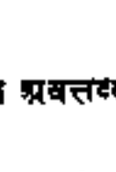 २४ सिय चरिमाइं च अचरिमाइं च अवत्तव्वए य 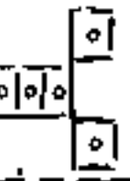

२५ नो चरिमाइं च अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च २६ ।

[७८५ प्र.] भगवन् ! पञ्चप्रदेशिक स्कन्ध के विषय में (मेरी पूर्ववत्) पृच्छा है; (उसका क्या समाधान है ?)

[७८५ उ.] गौतम ! पंचप्रदेशिक स्कन्ध १. कथंचित् चरम 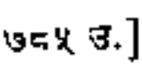 है, २. अचरम नहीं है, ३. कथंचित् अवक्तव्य 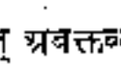 है, (किन्तु वह) ४ न तो अनेक चरमरूप है, ५. न अनेक अचरमरूप है, ६. न ही अनेक अवक्तव्यरूप है (किन्तु) ७. कथञ्चित् चरम और अचरम 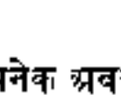 है, (वह) ८. एक चरम और अनेक चरमरूप नहीं है, (किन्तु) ९. कथंचित् अनेक चरमरूप और एक अचरम है, १०. कथंचित् अनेक चरमरूप और अनेक अचरमरूप 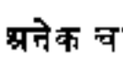 है, ११. कथंचित् एक चरम और एक अवक्तव्य 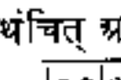 है, १२. कथंचित् एक चरम और अनेक अवक्तव्यरूप 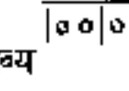 है, (तथा) १३. कथंचित् अनेक चरमरूप और एक अवक्तव्य है, (किन्तु वह) १४. न तो अनेक चरमरूप और न अनेक अवक्तव्यरूप है, १५. न एक अचरम और एक अवक्तव्य है, १६. न एक अचरम और अनेक अवक्तव्यरूप है, १७. न अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्य है, १८. न अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप है, १९. (तथा) न एक चरम, एक अचरम और एक अवक्तव्यरूप है, २०. न एक चरम, एक अचरम और अवक्तव्यरूप है, २१ न एक चरम अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्य रूप है २२. (और) न एक चरम, अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप है, (किन्तु) २३. कथंचित् अनेक चरमरूप, एक अचरम और एक अवक्तव्य है, २४. कथंचित् अनेक चरमरूप, एक अचरम और अनेक अवक्तव्यरूप 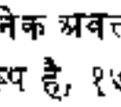 है, तथा २५. कथंचित् अनेक अचरमरूप, अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्य 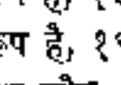 है; (किन्तु) २६. अनेक चरमरूप, अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप नहीं है ।

७८६. छप्पएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ।

गोयमा ! छप्पएसिए णं खंधे सिय चरिमे 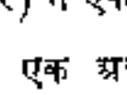 १ नो अचरिमे २ सिय अवत्तव्वए 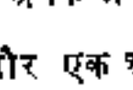

३ नो चरिमाइं ४ नो अचरिमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६, सिय चरिमे य अचरिमे य ७ सिय चरिमे य अचरिमाइं च 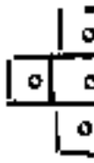 ८ सिय चरिमाइं च अचरिमे य ९ सिय चरिमाइं च अचरिमाइं च 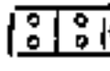 १०, सिय चरिमे य अवत्तव्वए य 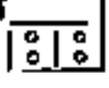 ११ सिय चरिमे य अवत्तव्वयाइं च 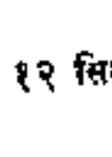 १२ सिय चरिमाइं च अवत्तव्वए य १३ सिय चरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च 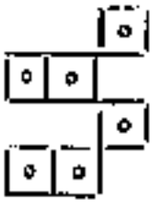 १४, नो अचरिमे य अवत्तव्वए य १५ नो अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च १६ नो अचरिमाइं च अवत्तव्वए य १७ नो अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८, सिय चरिमे य अचरिमे य अवत्तव्वए य 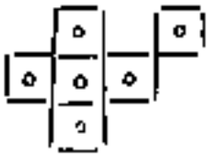 १९ नो चरिमे य अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च २० नो चरिमे य अचरिमाइं च अवत्तव्वए य २१ नो चरिमे य अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ सिय चरिमाइं च अचरिमे य अवत्तव्वए य 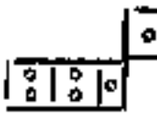 २३ सिय चरिमाइं च अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च 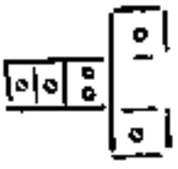 २४ सिय चरिमाइं च अचरिमाइं च अवत्तव्वए य 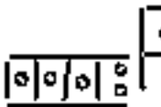 २५ सिय चरिमाइं च अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च 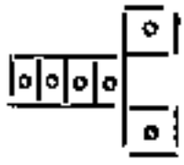 २६ ।

[७८६ प्र.] भगवन् ! षट्प्रदेशिक स्कन्ध के विषय में (मेरी पूर्ववत्) पृच्छा है, (उसका क्या समाधान है ?)

[७८६ उ.] गौतम ! षट्प्रदेशिक स्कन्ध १. कथंचित् चरम 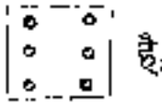 है, २. अचरम नहीं है, ३. कथंचित् अवक्तव्य 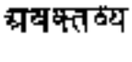 है, (किन्तु) ४. न तो (वह) अनेक चरमरूप है, ५. न अनेक अचरमरूप है, ६. (और) न ही अनेक अवक्तव्यरूप है, (किन्तु) ७. कथंचित् चरम और अचरम है,

८. कथंचित् एक चरम और अनेक अचरमरूप 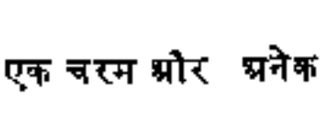 है, ९. कथंचित् अनेक चरम और एक अचरम है, १०. कथंचित् अनेक चरमरूप और अनेक अचरमरूप 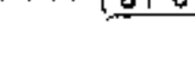 है, ११. कथञ्चित् एक चरम और अवक्तव्य है, १२. कथंचित् एक चरम और अनेक अवक्तव्यरूप 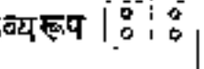 है, १३. कथंचित् अनेक चरमरूप और एक अवक्तव्य है, १४. कथंचित् अनेक चरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप 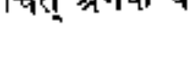 है, (किन्तु) १५. न तो एक अचरम और एक अवक्तव्य है, १६. न एक अचरम और अनेक अवक्तव्यरूप है, १७. न अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्य है, (और) १८. न ही अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप है, (किन्तु) १९. कथंचित् एक चरम, एक अचरम और एक अवक्तव्य 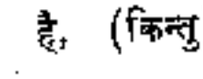 है, २०. न एक चरम एक अचरम और अनेक अवक्तव्यरूप है, २१. न एक चरम, अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्य है, २२. न ही एक चरम, अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप है, (किन्तु) २३. कथंचित् अनेक चरमरूप, एक अचरम और एक अवक्तव्य 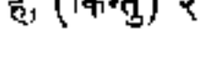 है, २४. कथंचित् अनेक चरमरूप, एक अचरम और अनेक अवक्तव्यरूप 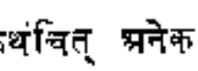 है, २५. कथंचित् अनेक चरमरूप, अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्य 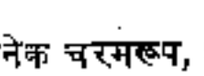 है, और २६. कथंचित् अनेक चरमरूप, अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप है।

७८७. सत्तपएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा।

गोयमा ! सत्तपएसिए णं खंधे सिय चरिमे 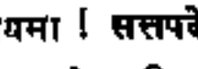 १ नो अचरिमे २ सिए अवत्तव्वए ३ नो चरिमाइं ४ नो अचरिमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६, सिय चरिमे य अचरिमे य ७ सिय चरिमे य अचरिमाइं च ८ सिय चरिमाइं च अचरिमे य

९ सिय चरिमाइं च अचरिमाइं च 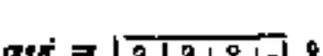 १०. सिय चरिमे य अवत्तव्वए य ११ सिय चरिमे य अवत्तव्वयाइं च 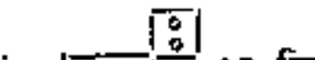 १२ सिय चरिमाइं च अवत्तव्वए य १३ सिय चरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च 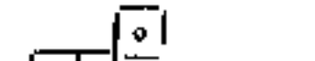 १४, नो अचरिमे य अवत्तव्वए य १५ नो अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च १६ नो अचरिमाइं च अवत्तव्वय य १७ नो अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८, सिय चरिमे अचरिमे य अवत्तव्वए य 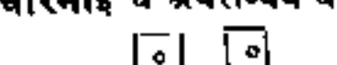 १९ सिय चरिमे य अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च २० सिय चरिमे य अचरिमाइं च अवत्तव्वए य २१ नो चरिमे य अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ सिय चरिमाइं च अचरिमे य अवत्तव्वए य 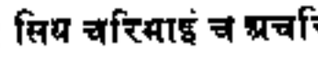 २३ सिय चरिमाइं च अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च २४ सिय चरिमाइं च अचरिमाइं च अवत्तव्वएय २५ सिय चरिमाइं च अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च २६।

[७८७ प्र.] भगवन् ! सप्तप्रदेशिक स्कन्ध के विषय में (मेरी पूर्ववत्) पृच्छा है, (उसका समाधान क्या है ?)

[७८७ उ.] गौतम ! सप्तप्रदेशिक स्कन्ध १. कथंचित् चरम 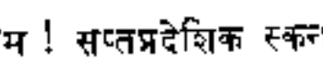 है, २. अचरम नहीं है, ३. कथंचित् अवक्तव्य 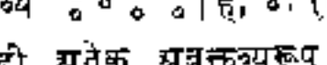 है, ४. (किन्तु वह) अनेक चरमरूप नहीं है, ५. न अनेक अचरमरूप है और ६. न ही अनेक अवक्तव्यरूप है, (किन्तु) ७. कथंचित् चरम और अचरम 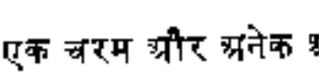 है, ८. कथंचित् एक चरम और अनेक अचरमरूप है, ९. कथंचित् अनेक चरमरूप और एक अचरम 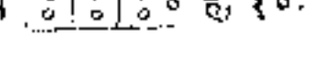 है, १०. कथंचित् अनेक चरमरूप और अनेक अचरमरूप 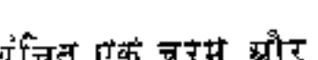 है, ११. कथंचित् एक चरम और एक अवक्तव्य 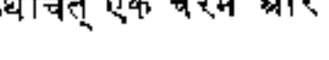 है, १२. कथंचित् एक

चरम और अनेक अवक्तव्यरूप 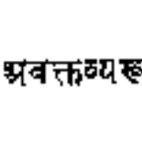 है, १३. कथंचित् अनेक चरमरूप और एक अवक्तव्य 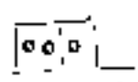 है, १४. कथंचित् अनेक चरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप है, (किन्तु) १५. न तो (वह) एक अचरम और एक अवक्तव्य है, १६. न एक अचरम और अनेक अवक्तव्य है, १७. न अनेक अचरम और एक अवक्तव्य है और १८. न ही अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप है, (किन्तु) १९. कथंचित् एक चरम, एक अचरम और एक अवक्तव्य 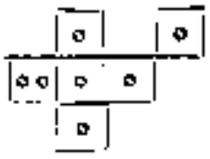 है, २०. कथंचित् एक चरम, एक अचरम और अनेक अवक्तव्यरूप 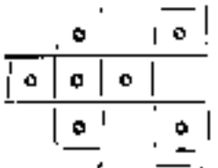 है, २१. कथंचित् एक चरम, अनेक चरमरूप और एक अवक्तव्य 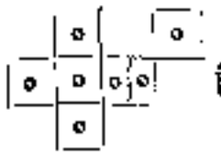 है, २२. एक चरम, अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप नहीं है, २३. कथंचित् अनेक चरमरूप, एक अचरम और एक अवक्तव्य 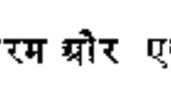 है, २४. कथंचित् अनेक चरमरूप एक अचरम और अनेक अवक्तव्यरूप 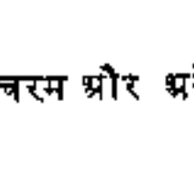 है, २५. कथंचित् अनेक चरमरूप, अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्य 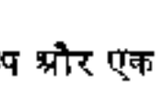 है, (और) २६. कथंचित् अनेक चरमरूप, अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप 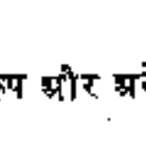 है।

७८८. अट्ठपवेसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा।

गोयमा ! अट्ठपवेसिए खंधे सिय चरिमे 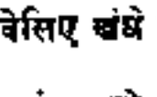 १ णो अचरिमे २ सिय अवत्तव्वए 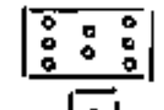 ३ नो चरिमाइं ४ नो अचरिमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६, सिय चरिमे य अचरिमे य 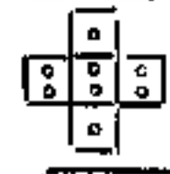 ७ सिय चरिमे य अचरिमाइं च 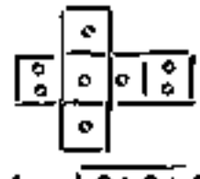 ८ सिय चरिमाइं च अचरिमे य ९ सिय चरिमाइं च अचरिमाइं च 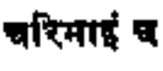 १०, सिय चरिमे य अवत्तव्वए य

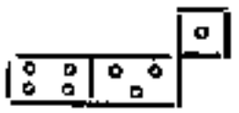 ११ सिय चरिमे य अवत्तव्वयाइं च 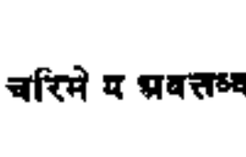 १२ सिय चरिमाइं च अवत्तव्वए य 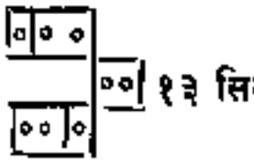 १३ सिय चरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च 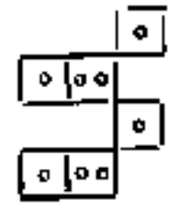 १४ नो अचरिमे य अवत्तव्वए य १५ नो अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च १६ नो अचरिमाइं च अवत्तव्वए य १७ नो अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८, सिय चरिमे य अचरिमे य अवत्तव्वए य 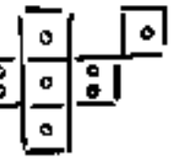 १९ सिय चरिमे य अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च 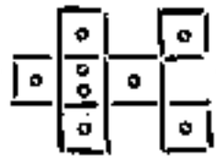 २० सिय चरिमे य अचरिमाइं च अवत्तव्वए य 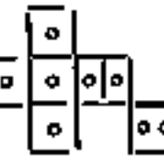 २१ सिय चरिमे य अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च 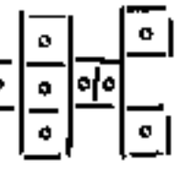 २२ सिय चरिमाइं च अचरिमे य अवत्तव्वए य 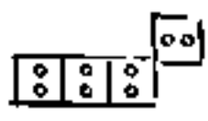 २३ सिय चरिमाइं च अचरिमे य अवत्तव्वयाइं च 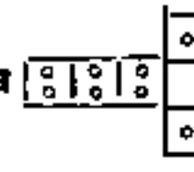 २४ सिय चरिमाइं च अचरिमाइं च अवत्तव्वए य 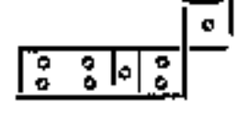 २५ सिय चरिमाइं च अचरिमाइं च अवत्तव्वयाइं च 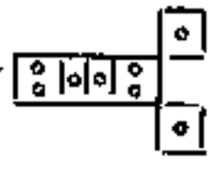 २६ ।

[७८८ प्र.] भगवन् ! अष्टप्रदेशिक स्कन्ध के विषय में (मेरी पूर्ववत्) पृच्छा है, इसका क्या समाधान है ?

[७८८ उ.] गौतम ! अष्टप्रदेशिक स्कन्ध १. कथंचित् चरम 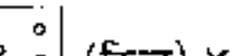 है, २. अचरम नहीं है, ३. कथंचित् अवक्तव्य है, 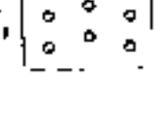 (किन्तु) ४. न तो अनेक चरमरूप है, ५. न अनेक अचरमरूप है (और) ६. न ही अनेक अवक्तव्यरूप है, ७. कथंचित् एक चरम और एक अचरम 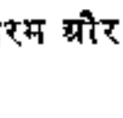 है, ८. कथंचित् एक चरम और अनेक अचरमरूप 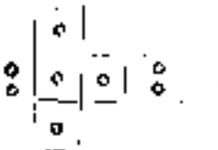 है, ९. कथंचित् अनेक चरमरूप और एक अचरम 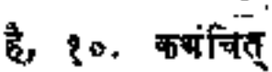 है, १०. कथंचित् अनेक चरमरूप और अनेक अचरमरूप

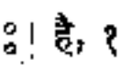 है, ११. कथंचित् चरम और अवक्तव्य 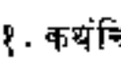 है, १२. कथंचित् एक चरम और अनेक अवक्तव्यरूप 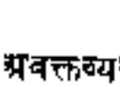 है, १३. कथंचित् अनेक चरमरूप और एक अवक्तव्यरूप 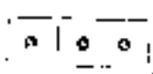 है, १४. कथंचित् अनेक चरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप 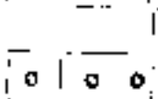 है, (किन्तु) १५. न तो (वह) एक अचरम और एक अवक्तव्य है, १६. न एक अचरम और अनेक अवक्तव्यरूप है, १७. न अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्यरूप है, (और) १८. न ही अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप है, (किन्तु) १९. कथंचित् चरम, अचरम और अवक्तव्यरूप 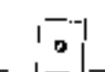 है, २०. कथंचित् एक चरम, एक अचरम और अनेक अवक्तव्यरूप 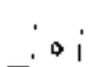 है, २१. कथंचित् एक चरम, अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्य 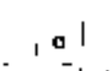 है, २२. कथंचित् एक चरम, अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप 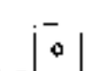 है, २३. कथंचित् अनेक चरमरूप, एक अचरम और एक अवक्तव्य है, २४. कथंचित् अनेक चरमरूप, एक अचरम और अनेक अवक्तव्यरूप 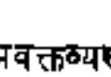 है, २५. कथंचित् अनेक चरमरूप, अनेक अचरमरूप और एक अवक्तव्य है, और २६. कथंचित् अनेक चरमरूप, अनेक अचरमरूप और अनेक अवक्तव्यरूप 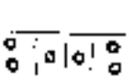 है।

७८९. संखेज्जपएसिए असंखेज्जपएसिए अणंतपएसिए खंधे जहेव अट्ठपदेसिए तहेव पत्तेयं भाणियव्वं।

[७८९] संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी प्रत्येक स्कन्ध के विषय में, जैसे अष्टप्रदेशी स्कन्ध के सम्बन्ध में कहा, उसी प्रकार कहना चाहिए।

७९०. परमाणुम्मि य ततिओ पढमो ततिओ य होति दुपदेसे ।
पढमो ततिओ नवमो एगत्तसत्तो य तिपदेसे ॥१८५॥
पढमो ततिओ नवमो दसमो एक्कारसो य बारसमो ।
भंगा चउप्पदेसे तेवीसइमो य बोद्धव्वो ॥१८६॥
पढमो ततिओ सत्तम नव दस एक्कार बार तेरसमो ।
तेवीस चउव्वीसो पणुवीसइमो य पंचमए ॥१८७॥
बि चउत्थ पंच छट्ठं पणरस सोलं च सत्तरऽट्ठारं ।
बीसेक्कवीस बावीसगं च वज्जेज्ज छट्ठम्मि ॥१८८॥
बि चउत्थ पंच छट्ठं पण्णर सोलं च सत्तरऽट्ठारं ।
बावीसइमविहूणा सत्तपदेसम्मि खंधम्मि ॥१८९॥
बि चउत्थ पंच छट्ठं पण्णर सोलं च सत्तरऽट्ठारं ।
एते वज्जिय भंगा सेसा सेसेसु खंधेसु ॥१९०॥

[७९०. संग्रहणीगाथाओं का अर्थ--] परमाणुपुद्गल में तृतीय (अवक्तव्य) भंग होता है। द्विप्रदेशीस्कन्ध में प्रथम (चरम) और तृतीय (अवक्तव्य) भंग होते हैं। त्रिप्रदेशीस्कन्ध में प्रथम, तीसरा, नौवाँ और ग्यारहवां भंग होता है। चतुःप्रदेशीस्कन्ध में पहला, तीसरा, नौवाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ, बारहवाँ और तेईसवाँ भंग समझना चाहिए। पंचप्रदेशीस्कन्ध में प्रथम, तृतीय, सप्तम, नवम, दशम, एकादश, द्वादश, त्रयोदश, तेईसवाँ चौवीसवाँ और पच्चीसवाँ भंग जानना चाहिए ॥१८५, १८६, १८७॥ षट्प्रदेशीस्कन्ध में द्वितीय, चतुर्थ, पंचम, छठा, पन्द्रहवाँ, सोलहवाँ, सत्रहवाँ, अठारहवाँ, बीसवाँ, इक्कीसवाँ और बाईसवाँ छोड़कर, शेष भंग होते हैं ॥१८८॥ सप्तप्रदेशीस्कन्ध में दूसरे, चौथे, पाँचवें, छठे, पन्द्रहवें सोलहवें, सत्रहवें, अठारहवें और बाईसवें भंग के सिवाय शेष भंग होते हैं ॥१८९॥

शेष सब स्कन्धों (अष्टप्रदेशी से लेकर संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी स्कन्धों) में दूसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा, पन्द्रहवाँ, सोलहवाँ, सत्रहवाँ, अठारहवाँ, इन भंगों को छोड़कर, शेष भंग होते हैं ॥१९०॥

विवेचन —परमाणु से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक की चरमाचरमादि संबन्धी वक्तव्यता—प्रस्तुत दस सूत्रों में परमाणुपुद्गल, द्विप्रदेशी से अष्टप्रदेशी स्कन्ध तथा संख्यात-असंख्यात-अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के चरम, अचरम और अवक्तव्य भंगों की प्ररूपणा की गई है।

छब्बीस भंगों की अपेक्षा से चरम, अचरम और अवक्तव्य का विचार—प्रस्तुत छब्बीस भंग इस प्रकार हैं--**असंयोगी ६ भंग** --१. चरम, २.अचरम, ३. अवक्तव्य, (एकवचनान्त), (बहुवचनान्त) ४. अनेक चरम, ५. अनेक अचरम, ६. अनेक अवक्तव्य। **द्विकसंयोगी तीन चतुर्भंगी १२ भंग— प्रथम चतुर्भंगी** --७ एक चरम और एक अचरम, ८. एक चरम--अनेक अचरम, ९. अनेक चरम— एक अचरम, १० अनेक चरम-- अनेक अचरम। **द्वितीय चतुर्भंगी**--११. एक चरम—एक अवक्तव्य, १२. एक चरम--अनेक अवक्तव्य, १३. अनेक चरम- एक अवक्तव्य, १४. अनेकचरम अनेक अवक्तव्य। **तृतीय चतुर्भंगी**—१५. एक अचरम—एक अवक्तव्य, १६. एक अचरम—अनेक अवक्तव्य, १७. अनेक

अचरम— एक अवक्तव्य, और १८. अनेक अचरम—अनेक अवक्तव्य। त्रिकसंयोगी—८ भंग—१९. एक चरम, एक अचरम, एक अवक्तव्य, २०. एक चरम, एक अचरम, अनेक अवक्तव्य, २१. एक चरम, अनेक अचरम, एक अवक्तव्य, २२. एक चरम, अनेक अचरम, अनेक अवक्तव्य, २३. अनेक चरम, एक अचरम, एक अवक्तव्य, २४. अनेक चरम, एक अचरम, अनेक अवक्तव्य, २५. अनेक चरम, अनेक अचरम, एक अवक्तव्य, २६. अनेक चरम, अनेक अचरम, अनेक अवक्तव्य।[1]

परमाणुपुद्गल अवक्तव्य ही क्यों? भगवान् ने उपर्युक्त २६ भंगों में से परमाणुपुद्गल को केवल तृतीय भंग **नियमतः अवक्तव्य** बताया है, शेष पच्चीस भंग उसमें घटित नहीं होते। इसका कारण यह है कि चरमत्व दूसरे की अपेक्षा रखता है, यहाँ किसी दूसरे की विवक्षा न होने से अपेक्षणीय कोई दूसरा पदार्थ है नहीं। इसके अतिरिक्त एक परमाणुपुद्गल सांश (अनेक अंशों—अवयवों वाला) भी नहीं है, जिससे की अंशों की अपेक्षा से उसके चरमत्व की कल्पना की जा सके, परमाणु तो निरंश—निरवयव है। परमाणु अचरम (मध्यम) भी नहीं है, क्योंकि निरवयव होने से उसका मध्यभाग होता नहीं है। इसी कारण परमाणु को नियम से अवक्तव्य कहा गया है। अर्थात्—न तो उसे चरम कहा जा सकता है, न ही अचरम। जो चरम या अचरम शब्द से वक्तव्य कहने योग्य—न हो, वह अवक्तव्य होता है।

द्विप्रदेशीस्कन्ध में दो भंग—द्विप्रदेशीस्कन्ध में केवल प्रथम (एक चरम) और तृतीय (एक अवक्तव्य), ये दो भंग ही घटित होते हैं, शेष चौवीस भंग नहीं। इसको चरम कहने का कारण यह है कि द्विप्रदेशीस्कन्ध जब दो आकाशप्रदेशों में समश्रेणि में स्थित होकर अवगाढ़ होता है तब उसके दो परमाणुओं में से एक परमाणु की अपेक्षा चरम होता है, दूसरा परमाणु भी प्रथम परमाणु की अपेक्षा चरम होता है। इस कारण द्विप्रदेशीस्कन्ध चरम कहलाता है, किन्तु द्विप्रदेशीस्कन्ध अचरम नहीं कहलाता, क्योंकि समस्त द्रव्यों का भी केवल अचरमत्व सम्भव नहीं है। द्विप्रदेशीस्कन्ध कथंचित् अवक्तव्य तब होता है, जब वह एक ही आकाशप्रदेश में अवगाढ़ होता है, उस समय वह विशेष प्रकार के एकत्वपरिणाम से परमाणुवत् परिणत होता है। इस कारण द्विप्रदेशीस्कन्ध को उस समय चरम या अचरम कहने का कोई कारण नहीं होता। इसलिए उसे न चरम कहा जा सकता है और न अचरम, उसे उस समय '**अवक्तव्य**' ही कहा जा सकता है।

त्रिप्रदेशीस्कन्ध में चार भंग—त्रिप्रदेशीस्कन्ध में प्रथम भंग—'चरम' और तृतीय भंग 'अवक्तव्य' पूर्वोक्त द्विप्रदेशी की युक्ति के अनुसार समझना चाहिए। फिर नौवाँ भंग—'दो चरम और एक अचरम' पाया जाता है। जब त्रिप्रदेशीस्कन्ध समश्रेणि में स्थित तीन आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ होता है, तब उसके आदि और अन्त के दो परमाणु पर्यन्तवर्ती होने के कारण चरम (द्वय) होते हैं और मध्यम परमाणु मध्यवर्ती होने के कारण अचरम होता है। अतः त्रिप्रदेशीस्कन्ध कथंचित् दो चरम और एक अचरमरूप कहा जाता है। इसमें दसवाँ भंग—'बहुत चरम और बहुत अचरम' घटित नहीं हो सकता, क्योंकि तीन प्रदेशों वाले स्कन्ध में (बहुवचनान्त) अनेक चरम और अनेक अचरम नहीं हो सकते। ग्यारहवाँ भंग उसमें घटित होता है। वह इस प्रकार है कथंचित् चरम और अवक्तव्य। जब त्रिप्रदेशीस्कन्ध समश्रेणी और विश्रेणी में $\begin{vmatrix} 0 & 0 \\ 0 & \end{vmatrix}$। इस प्रकार अवगाढ़ होता है, तब उसके दो परमाणु समश्रेणी में स्थित होने के कारण दो प्रदेशों में अवगाढ़ द्विप्रदेशी स्कन्ध के समान चरम कहे जा सकते हैं और एक परमाणु विश्रेणी में स्थित होने के कारण चरम

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र म. वृत्ति, प. २४० (ख) पण्णवणासुत्तं भा. १, (मूलपाठ-टिप्पण) पृ. १९९ से २०१

और अचरम शब्दों द्वारा व्यवहार के योग्य न होने से 'अवक्तव्य' होता है। इस प्रकार त्रिप्रदेशी स्कन्ध में पहला, तीसरा, नौवाँ और ग्यारहवाँ, ये चार भंग होते हैं, शेष २२ भंग नहीं पाए जाते।

चतुष्प्रदेशीस्कन्ध में सात भंग—इसमें पहला और तीसरा, नौवाँ और ग्यारहवाँ भंग तो द्विप्रदेशी एवं त्रिप्रदेशी स्कन्ध में उक्त युक्ति के अनुसार समझ लेना चाहिए। इसके पश्चात् दसवाँ भंग भी चतुष्प्रदेशी स्कन्ध में घटित होता है वह इस प्रकार है—दो चरम और दो अचरम। क्योंकि जब चतुःप्रदेशी स्कन्ध समश्रेणी में स्थित चार आकाशप्रदेशों में |०|० ०|०| इस प्रकार अवगाहन करता है, तब आदि और अन्त में अवगाढ़ दो परमाणु (प्रदेश), दोनों चरम होते हैं और बीच के दो परमाणु अचरम (द्वय) कहलाते हैं। इस कारण इसे कथंचित् 'दो चरम और दो अचरम' कहा जा सकता है। इसी प्रकार बारहवाँ भंग—कथंचित् चरम और दो अवक्तव्यरूप—भी उसमें घटित होता है। वह इस प्रकार जब चतुष्प्रदेशात्मक स्कन्ध चार आकाशप्रदेशों में अवगाहना करता है, तब इस प्रकार की स्थापना |०|०० |०| के अनुसार उसके दो परमाणु समश्रेणी में स्थित दो आकाशप्रदेशों में होते हैं, और दो परमाणु विश्रेणी में स्थित दो आकाशप्रदेशों में होते हैं। ऐसी स्थिति में समश्रेणी में स्थित दो परमाणु द्विप्रदेशावगाढ़ द्विप्रदेशी स्कन्ध के समान 'चरम' होते हैं और विश्रेणी में स्थित दो परमाणु अकेले परमाणु के समान चरम या अचरम शब्दों से कहने योग्य न होने से अवक्तव्यरूप होते हैं। अतएव समग्र चतुष्प्रदेशीस्कन्ध कथंचित् एक चरम और दो (अनेक) अवक्तव्यरूप कहा जा सकता है। इसके पश्चात् तेईसवाँ भंग इसमें घटित होता है। वह इस प्रकार जब चतुष्प्रदेशी स्कन्ध चार आकाशप्रदेशों में इस प्रकार की स्थापना |०|०|०| |०| के अनुसार अवगाहना करता है, तब तीन परमाणु तो समश्रेणी में स्थित तीन आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ होते हैं और एक परमाणु विश्रेणी में स्थित आकाशप्रदेश में रहता है। ऐसी स्थिति में समश्रेणी में स्थित तीन परमाणुओं में से आदि और अन्त के परमाणु पर्यन्तवर्ती होने के कारण चरम होते हैं और बीच का परमाणु अचरम होता है तथा विश्रेणी में स्थित एक परमाणु चरम या अचरम कहलाने योग्य न होने से अवक्तव्य होता है। इस प्रकार समग्र चतुष्प्रदेशीस्कन्ध दो (अनेक) चरमरूप, एक अचरम और एक अवक्तव्यरूप कहलाता है। इस प्रकार पहला, तीसरा, नौवाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ, बारहवाँ और तेईसवाँ, इन ७ भंगों के सिवाय शेष ११ भंग इसमें नहीं पाये जाते।

पंचप्रदेशी स्कन्ध में ग्यारह भंग—पांच प्रदेशों वाले स्कन्ध में चरमादि ११ भंग पाये जाते हैं। पहला, तीसरा, नौवाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ, बारहवाँ और तेईसवाँ, ये सात भंग तो पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार समझ लेने चाहिए। इसमें सातवाँ भंग कथंचित् एक चरम और एक अचरम इस प्रकार घटित होता है, जब पंचप्रदेशात्मक स्कन्ध पांच आकाशप्रदेशों में इस प्रकार की स्थापना |०|०|०|०|०| के अनुसार अवगाहन करके रहता है, तब उभय पर्यन्तवर्ती चार परमाणु एकसम्बन्धिपरिणाम से परिणत होने से एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और एक समान स्पर्श वाले होने के कारण उनके लिए एकत्व का व्यपदेश (कथन) होने से वे 'चरम' कहे जा सकते हैं, किन्तु बीच का परमाणु मध्यवर्ती होने के कारण 'अचरम' होता है। इस प्रकार पंचप्रदेशी स्कन्ध कथंचित उभयरूप 'चरम और

अचरम' कहलाता है। इसमें तेरहवाँ भंग—कथंचित् दो चरम एवं अवक्तव्य घटित होता है। वह इस प्रकार—जब कोई पंचप्रदेशी स्कन्ध इस प्रकार की स्थापना 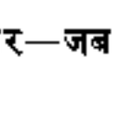 के अनुसार पंच-प्रदेशावगाढ़ होकर पांच आकाशप्रदेशों में अवगाहन करता है, तब उनमें से दो परमाणु ऊपर समश्रेणी में स्थित दो आकाशप्रदेशों से अवगाढ़ होते हैं, इसी प्रकार से दो परमाणु नीचे समश्रेणी में स्थित दो आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ होते हैं और एक परमाणु अन्त में बीचोंबीच स्थित होता है। ऐसी स्थिति में ऊपर के दो परमाणु द्विप्रदेशीगाढ़ द्व्यणुकस्कन्ध की तरह 'चरम' तथैव नीचे के दो परमाणु भी 'चरम' इस प्रकार चार चरम और एक परमाणु, अकेले परमाणु के समान अवक्तव्य होने से समग्र पंचप्रदेशी स्कन्ध कथंचित् अनेक चरम और एक अवक्तव्य' कहा जा सकता है। पंचप्रदेशी स्कन्ध में चौबीसवाँ भंग—कथंचित् अनेक चरम, एक अचरम और अनेक अवक्तव्यरूप भी घटित होता है। वह इस प्रकार—जब पंचप्रदेशीस्कन्ध इस प्रकार की स्थापना 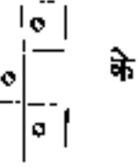 के अनुसार पांच आकाशप्रदेशों में समश्रेणी और विश्रेणी में अवगाहन करके रहता है, तब उनमें से तीन परमाणु समश्रेणी में स्थित तीन आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ होते हैं और दो परमाणु विश्रेणी में स्थित दो आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ होते हैं। ऐसी स्थिति में आदि-अन्तप्रदेशवर्ती दो परमाणु तो चरम कहलाते हैं, मध्यवर्ती परमाणु 'अचरम कहलाता है तथा विश्रेणी में स्थित दो अकेले-अकेले परमाणु दो अवक्तव्य कहलाते हैं। इस प्रकार इनका समूहरूप पंचप्रदेशीस्कन्ध दो चरम, दो अचरम, दो अवक्तव्यरूप कहा जा सकता है। इसी प्रकार २५ वाँ भंग—कथंचित् अनेक चरम, अनेक अचरम और एक अवक्तव्य भी घटित हो सकता है। वह इस प्रकार जब पंचप्रदेशी-स्कन्ध पांच आकाशप्रदेशों में 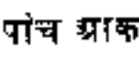 इस प्रकार की स्थापना के अनुसार समश्रेणी और विश्रेणी में अवगाहन करके रहता है, तब चार परमाणु चार आकाशप्रदेशों में समश्रेणी में स्थित होते हैं और एक परमाणु विश्रेणीस्थ होकर रहता है। ऐसी स्थिति में उक्त चार आकाशप्रदेशों में से दो आदि-अन्तप्रदेशवर्ती 'चरम' तथा दो मध्यवर्ती 'अचरम कहलाते हैं और एक जो अकेला परमाणु विश्रेणीस्थ है, वह अवक्तव्य है। इस प्रकार समग्र पंचप्रदेशीस्कन्ध को दो चरम, दो दो चरम और एक अवक्तव्यरूप कहा जा सकता है। यों पहला, तीसरा, सातवाँ, नौवाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ, बारहवाँ, तेरहवाँ, तेईसवाँ, चौवीसवाँ और पच्चीसवाँ, ये ११ भंग पंचप्रदेशीस्कन्ध में होते हैं, शेष १५ भंग इसमें नहीं होते।

षट्प्रदेशीस्कन्ध में पन्द्रह भंग—इसमें ११ भंग तो पंचप्रदेशीस्कन्ध में उक्त हैं, वे पूर्वयुक्ति के अनुसार समझ लेने चाहिए। शेष चार भंग इस प्रकार हैं—आठवाँ चौदहवाँ, उन्नीसवाँ और छब्बीसवाँ भंग। आठवाँ भंग है—एक चरम और दो (अनेक) अचरमरूप। वह इस प्रकार घटित होता है—जब कोई षट्प्रदेशीस्कन्ध छह आकाशप्रदेशों में इस प्रकार की स्थापना 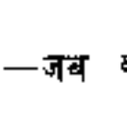 के अनुसार समश्रेणी से एकाधिक अवगाहन करता है, तब समश्रेणी में स्थित चार परमाणु पहले कहे

अनुसार 'चरम' और मध्यवर्ती दो परमाणु अचरम कहलाते हैं। दोनों का समूहरूप षट्प्रदेशीस्कन्ध भी कथंचित् एक चरम और दो अचरमरूप कहा जा सकता है। चौदहवाँ भंग—'दो चरम और दो अवक्तव्य' इस प्रकार घटित होता है—जब कोई षट्प्रदेशी स्कन्ध, इस प्रकार की स्थापना

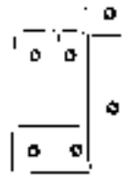

के अनुसार छह आकाशप्रदेशों में समश्रेणी और विश्रेणी से अवगाहन करता है, तब उनमें से दो परमाणु तो समश्रेणी में स्थित आकाशप्रदेशों में ऊपर और दो नीचे रहते हैं, एक परमाणु दोनों श्रेणियों के मध्यभाग की समश्रेणी में स्थित प्रदेश में रहता है, और एक परमाणु दोनों के ऊपर विश्रेणी में रहता है। ऐसी स्थिति में ऊपर के दो परमाणु और नीचे के दो परमाणु भी 'चरम' कहलाते हैं, ये दोनों चरम 'अनेक चरम' कहलाए तथा दोनों अलग-अलग रहे हुए दोनों परमाणु दो अवक्तव्य कहलाये। इन सबका समुदायरूप षट्प्रदेशीस्कन्ध कथंचित् अनेक चरमरूप, अनेक अवक्तव्यरूप कहा जा सकता है। उन्नीसवाँ भंग—चरम-अचरम-अवक्तव्य भी इसमें घटित हो सकता है। वह इस प्रकार-जब षट्प्रदेशी स्कन्ध छह आकाशप्रदेशों में, इस स्थापना के अनुसार

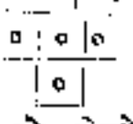

एक परिक्षेप से विश्रेणीस्थ एकाधिक को अवगाहन करता है, तब एकवेष्टक (एक को घेरने वाले) चार परमाणु पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार 'चरम' होते हैं, मध्यवर्ती एक अचरम और विश्रेणीस्थ एक परमाणु अवक्तव्य होता है। इनके समूहरूप षट्प्रदेशात्मकस्कन्ध को चरम-अचरम-अवक्तव्य कहा जा सकता है। षट्प्रदेशीस्कन्ध में २६ वाँ भंग—अनेक चरम-अनेक अचरम-अनेक अवक्तव्यरूप भी घटित होता है। उसकी युक्ति इस प्रकार है—जब षट्प्रदेशीस्कन्ध इस स्थापना के अनुसार

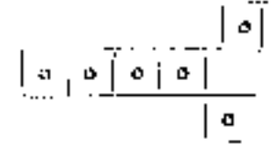

छह आकाशप्रदेशों में समश्रेणी से और विश्रेणी से अवगाहन करता है, तब आदि और अन्त के प्रदेशावगाढ़ दो चरम तथा मध्यप्रदेशावगाढ़ दो अचरम एवं विश्रेणीस्थ दो प्रदेशों में पृथक्-पृथक् अवगाढ़ एकाकी परमाणु होने से दोनों अवक्तव्य कहलाते हैं। इस प्रकार समुदितरूप से षट्प्रदेशीस्कन्ध को कथंचित् अनेक चरम-अनेक अचरम-अनेक अवक्तव्यरूप कहा जा सकता है। इस प्रकार षट्प्रदेशीस्कन्ध में पूर्वोक्त १५ भंग होते हैं, शेष ११ भंग इसमें नहीं होते।

सप्तप्रदेशीस्कन्ध में १७ भंग—इस स्कन्ध में पूर्वोक्त षट्प्रदेशीस्कन्ध में कहे गए १५ भंग तो उसी प्रकार हैं। उनका विश्लेषण पूर्वोक्त युक्तियों के अनुसार कर लेना चाहिये। इस स्कन्ध में दो भंग विशेष हैं। वे हैं—बीसवाँ और इक्कीसवाँ भंग। सप्तप्रदेशीस्कन्ध में बीसवाँ भंग—कथंचित् एक चरम एक अचरम-अनेक (दो) अवक्तव्य। वह इस प्रकार घटित होता है—जब सात आकाश प्रदेशों में उसका अवगाहन होता है, तब उसकी स्थापना के अनुसार

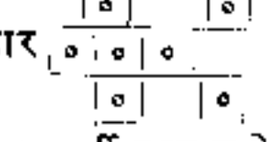

समश्रेणी में स्थित उभयपर्यन्तवर्ती दो-दो परमाणुओं के कारण वह 'चरम' है, मध्यवर्ती परमाणु के कारण 'अचरम'

है और विश्रेणी में स्थित पृथक्-पृथक् दो परमाणुओं के कारण वह अनेक अवक्तव्य भी है। इस प्रकार इन तीनों के समुदितरूप में सप्तप्रदेशीस्कन्ध को एक चरम, एक अचरम एवं अनेक अवक्तव्य-रूप कहा जा सकता है। इसमें २१ वाँ भंग कथंचित् एक चरम, अनेक अचरम और एक अवक्तव्य-रूप भी घटित होता है। वह इस प्रकार—जब सात आकाशप्रदेशों में उसका अवगाहन होता है, तब उसकी स्थापना के अनुसार 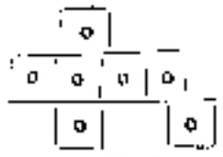 समश्रेणी में स्थित उभयपर्यन्तवर्ती एक-एक परमाणु की अपेक्षा से वह 'चरम' है, मध्यवर्ती दो परमाणुओं की अपेक्षा से वह अनेक अचरमरूप है और विश्रेणी में स्थित एक परमाणु के कारण वह अवक्तव्य है। इन तीनों के समुदायरूप सप्तप्रदेशी स्कन्ध को एक चरम, अनेक अचरम, एक अवक्तव्य कहा जा सकता है। यों सप्तप्रदेशी स्कन्ध में १७ भंगों के सिवाय शेष ९ भंग नहीं पाए जाते।[1]

अष्टप्रदेशीस्कन्ध में १८ भंग इस स्कन्ध में १७ भंग तो सप्तप्रदेशी स्कन्ध में जो बताए गए हैं, वे ही हैं। केवल २२ वाँ भंग—एक चरम, अनेक (दो) अचरम और अनेक (दो) अवक्तव्य अधिक है। २२ वाँ भंग इस प्रकार घटित होता है—आठ आकाशप्रदेशों में जब अष्टप्रदेशीस्कन्ध अवगाहन करता है, तब उसकी स्थापना 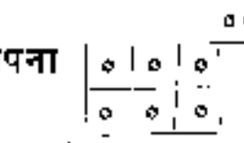 के अनुसार समश्रेणी में स्थित पर्यंतवर्ती परमाणुओं की अपेक्षा से चरम, मध्यवर्ती दो परमाणुओं की अपेक्षा से दो अचरम एवं विश्रेणी में स्थित दो परमाणुओं के कारण दो अवक्तव्य होते हैं। इन तीनों के समुदायरूप अष्टप्रदेशीस्कन्ध का एक चरम, अनेक अचरम तथा अनेक अवक्तव्यरूप कहा जा सकता है। इस प्रकार अष्टप्रदेशीस्कन्ध में १८ भंग होते हैं, शेष ८ भंग इसमें नहीं पाये जाते।[2]

असंख्येयप्रदेशात्मक लोक में अनन्तानन्त स्कन्धों का अवगाहन कैसे—यहाँ एक शंका उपस्थित होती है कि समग्र लोक तो असंख्यात प्रदेशात्मक है, उसमें असंख्यात प्रदेशात्मक और अनन्त प्रदेशात्मक स्कन्धों का अवगाहन कैसे हो जाता है? इसका समाधान है, लोक का माहात्म्य ही ऐसा है कि केवल ये दो स्कन्ध नहीं, बल्कि अनन्तानन्त द्विप्रदेशीस्कन्ध से लेकर अनन्तानन्त संख्यातप्रदेशी, अनन्तानन्त असंख्यातप्रदेशी और अनन्तानन्त अनन्तप्रदेशी स्कन्ध इसी एक लोक में ही अवगाढ़ होकर उसी तरह रहते हैं, जिस तरह एक भवन में एक दीपक की तरह हजारों दीपकों की प्रभा के परमाणु रहते हैं।[3]

संस्थान की अपेक्षा से चरमादि की प्ररूपणा

७९१. कति णं भंते ! संठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच संठाणा पण्णत्ता। तं जहा—परिमंडले १ वट्टे २ तंसे ३ चउरंसे ४ आयते ५।

[७९१ प्र.] भगवन् ! संस्थान कितने कहे गए हैं ?

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र म. वृत्ति, पृ. २४० (ख) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. १९९ से २०१

२. प्रज्ञापना. म. वृत्ति, पत्रांक २३४ से २३९ तक

३. वही, म. वृत्ति, पत्रांक २४२

[७९१ उ.] गौतम ! पांच संस्थान कहे गए हैं। वे इस प्रकार—१. परिमण्डल, २. वृत्त, ३. त्र्यस्र, ४. चतुरस्र और ५. आयत।

७९२. परिमंडला णं भंते ! संठाणा किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता ?

गोयमा ! णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा, अणंता। एवं जाव आयता।

[७९२ प्र.] भगवन् ! परिमण्डलसंस्थान संख्यात हैं, असंख्यात हैं अथवा अनन्त हैं ?

[७९२ उ.] गौतम ! (वे) संख्यात नहीं, असंख्यात नहीं, (किन्तु) अनन्त हैं।

इसी प्रकार (वृत्त से लेकर) यावत् आयत (तक के विषय में समझना चाहिए।)

७९३. परिमंडले णं भंते ! संठाणे किं संखेज्जपएसिए असंखेज्जपएसिए अणंतपएसिए ?

गोयमा ! सिय संखेज्जपएसिए सिय असंखेज्जपएसिए सिय अणंतपएसिए। एवं जाव आयते।

[७९३ प्र.] भगवन् ! परिमण्डलसंस्थान संख्यातप्रदेशी है, असंख्यातप्रदेशी है अथवा अनन्तप्रदेशी है ?

[७९३ उ.] गौतम ! (वह) कदाचित् संख्यातप्रदेशी है, कदाचित् असंख्यातप्रदेशी है और कदाचित् अनन्तप्रदेशी है। इसी प्रकार (वृत्त से लेकर) आयत (तक के विषय में समझ लेना चाहिए।)

७९४. परिमंडले णं भंते ! संठाणे संखेज्जपदेसिए किं संखेज्जपदेसोगाढे असंखेज्जपएसोगाढे अणंतपएसोगाढे ?

गोयमा ! संखेज्जपएसोगाढे, णो असंखेज्जपएसोगाढे णो अणंतपएसोगाढे। एवं जाव आयते।

[७९४ प्र.] भगवन् ! संख्यातप्रदेशी परिमण्डलसंस्थान संख्यातप्रदेशों में अवगाढ़ होता है, असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ होता है अथवा अनन्त प्रदेशों में अवगाढ़ होता है ?

[७९४ उ.] गौतम ! (संख्यातप्रदेशी परिमण्डलसंस्थान) संख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ होता है, किन्तु न तो असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ होता है और न अनन्त प्रदेशों में अवगाढ़। इसी प्रकार आयतसंस्थान तक (के विषय में कहना चाहिए।)

७९५. परिमंडले णं भंते ! संठाणे असंखेज्जपदेसिए किं संखेज्जपदेसोगाढे असंखिज्जपदेसोगाढे अणंतपएसोगाढे ?

गोयमा ! सिय संखेज्जपएसोगाढे सिय असंखेज्जपदेसोगाढे, णो अणंतपदेसोगाढे। एवं जाव आयते।

[७९५ प्र.] भगवन् ! असंख्यातप्रदेशी परिमण्डलसंस्थान संख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ होता है, असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ होता है अथवा अनन्त प्रदेशों में अवगाढ़ होता है ?

[७९५ उ.] गौतम ! (असंख्यातप्रदेशी परिमण्डलसंस्थान) कदाचित् संख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ होता है और कदाचित् असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ होता है, किन्तु अनन्त प्रदेशों में अवगाढ़ नहीं होता।

इसी प्रकार (वृत्त से लेकर) आयत संस्थान तक (के विषय में कहना चाहिए।)

७९६. परिमंडले णं भंते ! संठाणे अणंतपएसिए किं संखेज्जपएसोगाढे असंखेज्जपएसोगाढे अणंतपएसोगाढे ?

गोयमा ! सिय संखेज्जपएसोगाढे असंखेज्जपएसोगाढे, नो अणंतपएसोगाढे । एवं जाव आयते ।

[७९६ प्र.] भगवन् ! अनन्तप्रदेशी परिमण्डलसंस्थान संख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ होता है, असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ होता है, अथवा अनन्त प्रदेशों में अवगाढ़ होता है ?

[७९६ उ.] गौतम ! (अनन्तप्रदेशी परिमण्डलसंस्थान) कदाचित् संख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ होता है और कदाचित् असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ होता है, (किन्तु) अनन्त प्रदेशों में अवगाढ़ नहीं होता ।

इसी प्रकार (वृत्तसंस्थान से लेकर) आयतसंस्थान तक (के विषय में समझना चाहिए ।)

७९७. परिमंडले णं भंते ! संठाणे संखेज्जपदेसिए संखेज्जपएसोगाढे किं चरिमे अचरिमे चरिमाइं अचरिमाइं चरिमंतपदेसा अचरिमंतपदेसा ?

गोयमा ! परिमंडले णं संठाणे संखेज्जपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे नो चरिमे नो अचरिमे नो चरिमाइं नो अचरिमाइं नो चरिमंतपदेसा नो अचरिमंतपएसा, नियमा अचरिमं च चरिमाणि य चरिमंतपदेसा य अचरिमंतपदेसा य । एवं जाव आयते ।

[७९७ प्र.] भगवन् ! संख्यातप्रदेशी एवं संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलसंस्थान चरम है, अचरम है, (बहुवचनान्त) अनेक चरमरूप है, अनेक अचरमरूप है, चरमान्तप्रदेश है अथवा अचरमान्त प्रदेश है ?

[७९७ उ.] गौतम ! संख्यातप्रदेशी और संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलसंस्थान, न तो चरम है, न अचरम है, न (बहुवचनान्त) चरम है, न (बहुवचनान्त) अचरम है, न चरमान्तप्रदेश है और न ही अचरमान्तप्रदेश है, किन्तु नियम से अचरम, (बहुवचनान्त) अनेक चरमरूप, चरमान्त-प्रदेश और अचरमान्तप्रदेश है ।

इसी प्रकार (संख्यातप्रदेशी संख्यातप्रदेशावगाढ़ वृत्तसंस्थान से लेकर) आयतसंस्थान तक (के विषय में कहना चाहिए ।)

७९८. परिमंडले णं भंते ! संठाणे असंखेज्जपएसिए संखेज्जपदेसोगाढे किं चरिमे० पुच्छा ।

गोयमा ! असंखेज्जपएसिए संखेज्जपएसोगाढे जहा संखेज्जपएसिए (सु. ७९७) । एवं जाव आयते ।

[७९८ प्र.] भगवन् ! असंख्यातप्रदेशी और संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलसंस्थान क्या चरम है, अचरम है, (बहुवचनान्त) अनेक चरम, अनेक अचरमरूप है, चरमान्तप्रदेश है, अथवा अचरमान्तप्रदेश है ?

[७९८ उ.] गौतम ! असंख्यातप्रदेशी एवं संख्यातप्रदेशों में अवगाढ़ परिमण्डलसंस्थान के विषय में (सू. ७९७ में उल्लिखित) संख्यातप्रदेशी के समान ही समझना चाहिए ।

इसी प्रकार (असंख्यातप्रदेशी संख्यातप्रदेशावगाढ़ वृत्तसंस्थान से लेकर) यावत् आयतसंस्थान तक समझना चाहिए ।

७९९. परिमंडले णं भंते ! संठाणे असंखेज्जपदेसिते असंखेज्जपएसोगाढे किं चरिमे० पुच्छा ।

गोयमा ! असंखेज्जपदेसिए असंखेज्जपदेसोगाढे नो चरिमे जहा संखेज्जपदेसोगाढे (सु. ७९८) । एवं जाव आयते ।

[७९९ प्र.] भगवन् ! असंख्यातप्रदेशी एवं असंख्यातप्रदेशों में अवगाढ़ परिमण्डलसंस्थान चरम है, अचरम है, अनेक चरमरूप है, अनेक अचरमरूप है, चरमान्तप्रदेश है अथवा अचरमान्त प्रदेश है ?

[७९९ उ.] गौतम ! असंख्यातप्रदेशी एवं असंख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलसंस्थान चरम नहीं है, इत्यादि समग्र प्ररूपणा सू. ७९८ में उल्लिखित संख्यातप्रदेशावगाढ़ की तरह समझना चाहिए । इसी प्रकार (की प्ररूपणा) यावत् आयतसंस्थान तक (करनी चाहिए ।)

८००. परिमंडले णं भंते ! संठाणे अणंतपएसिए संखेज्जपएसोगाढे किं चरिमे० पुच्छा ।

गोयमा ! तहेव (सु. ७९७) जाव आयते ।

[८०० प्र.] भगवन् ! अनन्तप्रदेशी और संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलसंस्थान चरम है, अचरम है, (इत्यादि पूर्ववत्) पृच्छा (का क्या समाधान ?)

[८०० उ.] गौतम ! इसकी प्ररूपणा सू. ७९७ के अनुसार संख्यातप्रदेशी संख्यातप्रदेशावगाढ़ के समान यावत् आयतसंस्थान पर्यन्त समझनी चाहिए ।

८०१. अणंतपदेसिए असंखेज्जपदेसोगाढे जहा संखेज्जपदेसोगाढे (सु. ८००) । एवं जाव आयते ।

[८०१] जैसे (सू. ८०० में) अनन्तप्रदेशी संख्यातप्रदेशावगाढ़ (परिमण्डलादि संस्थानों के चरमाचरमादि के विषय में कहा,) उसी प्रकार अनन्तप्रदेशी असंख्यातप्रदेशावगाढ़ (परिमण्डलादि के विषय में) यावत् आयतसंस्थान (तक कहना चाहिए ।)

८०२. परिमंडलस्स णं भंते ! संठाणस्स संखेज्जपएसियस्स संखेज्जपएसोगाढस्स अचरिमस्स य चरिमाण य चरिमंतपदेसाण य अचरिमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ।

गोयमा ! सव्वत्थोवे परिमंडलस्स संठाणस्स संखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरिमे १ चरिमाइं संखेज्जगुणाइं २ अचरिमं च चरिमाणि य दो वि विसेसाहियाइं ३ । पदेसट्ठयाए—सव्वत्थोवा परिमंडलस्स संठाणस्स संखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स चरिमंतपदेसा १ अचरिमंतपदेसा संखेज्जगुणा २ चरिमंतपदेसा य अचरिमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया ३ । दव्वट्ठ-पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे परिमंडलस्स संठाणस्स संखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरिमे १ चरिमाइं संखेज्जगुणाइं २ अचरिमं च चरिमाणि य दो वि विसेसाहियाइं ३ चरिमंतपदेसा संखेज्जगुणा ४ अचरिमंतपएसा संखेज्जगुणा ५ चरिमंतपदेसा य अचरिमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया ६ । एवं वट्ट-तंस-चउरंस-आयएसु वि जोएअव्वं ।

[८०२ प्र.] भगवन् ! संख्यातप्रदेशी संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलसंस्थान के अचरम, अनेक

चरम, चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश में से द्रव्य की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से और द्रव्य-प्रदेश इन दोनों की अपेक्षा से कौन किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[८०२ उ.] गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा संख्यातप्रदेशी संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डल-संस्थान का एक अचरम सबसे अल्प है (उसकी अपेक्षा) अनेक चरम संख्यातगुणे अधिक हैं, अचरम और बहुवचनान्त चरम, ये दोनों (मिलकर) विशेषाधिक हैं। प्रदेशों की अपेक्षा—संख्यातप्रदेशी संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलसंस्थान के चरमान्तप्रदेश सबसे थोड़े हैं, (उनकी अपेक्षा) अचरमान्त-प्रदेश संख्यातगुणे अधिक हैं, उनसे चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश दोनों (मिलकर) विशेषाधिक हैं। द्रव्य और प्रदेशों की अपेक्षा—संख्यातप्रदेशी-संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलसंस्थान का एक अचरम सबसे अल्प है, (उसकी अपेक्षा) अनेक चरम संख्यातगुणे हैं, (उनसे) एक अचरम और अनेक चरम, ये दोनों (मिलकर) विशेषाधिक हैं, (उनकी अपेक्षा) चरमान्तप्रदेश संख्यातगुणे हैं, (उनसे) अचरमान्तप्रदेश संख्यातगुणे हैं, (उनसे) चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश ये दोनों (मिलकर) विशेषाधिक हैं।

इसी प्रकार की योजना वृत्त, त्र्यस्र, चतुरस्र और आयत संस्थान के (चरमादि के अल्पबहुत्व के) विषय में कर लेनी चाहिए।

८०३. परिमंडलस्स णं भंते ! संठाणस्स असंखेज्जपएसियस्स संखेज्जपएसोगाढस्स अचरिमस्स य चरिमाण य चरिमंतपएसाण य अचरिमंतपएसाण य दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे परिमंडलस्स संठाणस्स असंखेज्जपएसियस्स संखेज्जपएसोगाढस्स दव्वट्ठयाए—एगे अचरिमे १ चरिमाइं संखेज्जगुणाइं २ अचरिमं च चरिमाणि य दो वि विसेसाहियाइं ३। पएसट्ठ-याए—सव्वत्थोवा परिमंडलस्स संठाणस्स असंखेज्जपएसियस्स संखेज्जपएसोगाढस्स चरिमंतपएसा १ अचरिमंतपएसा संखेज्जगुणा २ चरिमंतपएसा य अचरिमंतपएसा य दो वि विसेसाहिया ३। दव्वट्ठ-पएसट्ठयाए—सव्वत्थोवे परिमंडलस्स संठाणस्स असंखेज्जपएसियस्स संखेज्जपएसोगाढस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरिमे १ चरिमाइं संखेज्जगुणाइं २ अचरिमं च चरिमाणि य दो वि विसेसाहियाइं ३ चरिमंतपएसा संखेज्जगुणा ४ अचरिमंतपएसा संखेज्जगुणा ५ चरिमंतपएसा य अचरिमंतपएसा य दो वि विसेसाहिया ६। एवं जाव आयते।

[८०३ प्र.] भगवन् ! असंख्यातप्रदेशी एवं संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलसंस्थान के अचरम, अनेक चरम, चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश में से द्रव्य की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से तथा द्रव्य और प्रदेशों की अपेक्षा से कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

[८०३ उ.] गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा—असंख्यातप्रदेशी एवं संख्यातप्रदेशावगाढ़ परि-मण्डलसंस्थान का एक अचरम सबसे थोड़ा है, (उसकी अपेक्षा) अनेक चरम संख्यातगुणे अधिक हैं, (उनसे) एक अचरम और अनेक चरम, ये दोनों विशेषाधिक हैं। प्रदेशों की अपेक्षा—असंख्यात-प्रदेशी संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलसंस्थान के चरमान्तप्रदेश, सबसे कम हैं, (उनकी अपेक्षा) अचरमान्तप्रदेश संख्यातगुणे हैं, (उनसे) चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश, ये दोनों (मिलकर) विशेषाधिक हैं। द्रव्य और प्रदेशों की अपेक्षा—असंख्यातप्रदेशी संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डल-

संस्थान का एक अचरम सबसे कम है, (उसकी अपेक्षा) अनेक चरम संख्यातगुणे अधिक हैं, (उनसे) एक अचरम और बहुत चरम, ये दोनों (मिलकर) विशेषाधिक हैं, (उनकी अपेक्षा) अचरमान्त-प्रदेश संख्यातगुणे हैं, (उनसे) अचरमान्तप्रदेश संख्यातगुणे हैं, (उनसे) चरमान्तप्रदेश और अचरमान्त-प्रदेश, ये दोनों (मिलकर) विशेषाधिक हैं।

इसी प्रकार आयत तक के (चरमादि के अल्पबहुत्व के) विषय में (कथन करना चाहिए।)

८०४. परिमंडलस्स णं भंते ! संठाणस्स असंखेज्जपदेसियस्स असंखेज्जपएसोगाढस्स अचरिमस्स य चरिमाण य चरिमंतपएसाण य अचरिमंतपएसाण य दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! जहा रयणप्पभाए अप्पाबहुयं (सु. ७७७) तहेव णिरवसेसं भाणियव्वं एवं जाव आयते।

[८०४ प्र.] भगवन् ! असंख्यातप्रदेशी एवं असंख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलसंस्थान के अचरम अनेक चरम, चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश में से द्रव्य की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से और द्रव्य एवं प्रदेशों की अपेक्षा से कौन, किससे, अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

[८०४ प्र.] गौतम ! जैसे रत्नप्रभा पृथ्वी के चरमादि का अल्पबहुत्व (सू. ७७७ में) प्रतिपादित किया गया है, वह सारा उसी प्रकार कहना चाहिए। इसी प्रकार (की प्ररूपणा) आयतसंस्थान तक (समझनी चाहिए।)

८०५. परिमंडलस्स णं भंते ! संठाणस्स अणंतपएसियस्स संखेज्जपएसोगाढस्स अचरिमस्स य ४ दव्वट्ठयाए ? कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! जहा संखेज्जपएसियस्स संखेज्जपएसोगाढस्स (सु.८०२)। णवरं संकमे अणंतगुणा। एवं जाव आयते।

[८०५ प्र.] भगवन् ! अनन्तप्रदेशी एवं संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलसंस्थान के अचरम, अनेक चरम, चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश में से द्रव्य की अपेक्षा, प्रदेशों की अपेक्षा एवं द्रव्य और प्रदेशों की अपेक्षा से कौन, किससे, अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

[८०५ उ.] गौतम ! जैसे (सू. ८०२ में) संख्यातप्रदेशावगाढ़ संख्यातप्रदेशी परिमण्डल-संस्थान के चरमादि के अल्पबहुतत्व के विषय में कहा, वैसे ही इसके विषय में कहना चाहिए। विशेष यह है कि संक्रम में अनन्तगुणे हैं।

इसी प्रकार (वृत्तसंस्थान से लेकर) आयतसंस्थान तक कहना चाहिए।

८०६. परिमंडलस्स णं भंते ! संठाणस्स अणंतपएसियस्स असंखेज्जपएसोगाढस्स अचरिमस्स य ४ ?

जहा रयणप्पभाए (सु. ७७७)। णवरं संकमे अणंतगुणा। एवं जाव आयते।

[८०६ प्र.] भगवन् ! अनन्तप्रदेशी एवं असंख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डल संस्थान के अचरम, अनेक चरम, चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश में से द्रव्य की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से तथा द्रव्य और प्रदेशों की अपेक्षा से कौन, किससे अल्प, बहुत, तुल्य और विशेषाधिक है ?

[८०६ उ.] गौतम ! जैसे (सू. ७७७ में) रत्नप्रभापृथ्वी के चरम, अचरम आदि के विषय में अल्पबहुत्व कहा गया है, उसी प्रकार अनन्तप्रदेशी एवं असंख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलसंस्थान के चरम, अचरम आदि के अल्पबहुत्व के विषय में समझ लेना चाहिए। विशेषता यह है कि संक्रम में अनन्तगुणा है।

इसी प्रकार (वृत्तसंस्थान से लेकर) यावत् आयतसंस्थान (के चरमादि के अल्पबहुत्व के विषय में समझ लेना चाहिए।).

विवेचन—विशिष्ट परिमंडलादि के चरमादि के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा—प्रस्तुत सोलह सूत्रों (सू. ७९१ से ८०६ तक) में परिमण्डलादि संस्थानों के संख्यातप्रदेशिकादि तथा संख्यातप्रदेशावगाढ़ादि विविध रूपों का प्रतिपादन करके उनके अचरम-चरमादि के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

संख्यातप्रदेशी आदि संस्थानों के अवगाहन की प्ररूपणा—संख्यातप्रदेशी परिमण्डल आदि संस्थान संख्यातप्रदेशों में ही अवगाढ़ होता है, असंख्यातप्रदेशों में या अनन्तप्रदेशों में अवगाढ़ नहीं होता, क्योंकि संख्यातप्रदेशी परिमंडल आदि संस्थानों के प्रदेश संख्यात ही होते है। असंख्यातप्रदेशी परिमण्डल आदि संस्थानों का कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात प्रदेशों में अवगाह होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है, किन्तु उसका अनन्तप्रदेशों में अवगाह होना विरुद्ध है। इसी प्रकार अनन्तप्रदेशी परिमंडलादि संस्थानों का अवगाह भी कदाचित् संख्यातप्रदेशों में और कदाचित् असंख्यातप्रदेशों में होता है, किन्तु अनन्तप्रदेशों में नहीं; क्योंकि अनन्तप्रदेशी परिमंडलादि संस्थान का अनन्त आकाशप्रदेशों में अवगाह नहीं हो सकता। सैद्धान्तिक दृष्टि से समग्र लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात ही हैं, अनन्त नहीं और लोकाकाश के बाहर पुद्गलों की गति या स्थिति हो नहीं सकती। अतः अनन्तप्रदेशी परिमंडलादि संस्थान या तो संख्यातप्रदेशों में अवगाहन करता है या असंख्यातप्रदेशों में अनन्तप्रदेशों में उसका अवगाह सम्भव नहीं है।[1]

पंचविशेषणविशिष्ट परिमण्डलादि संस्थानों का चरमादि की दृष्टि से स्वरूपविचार—प्रस्तुत ५ सूत्रों (७९७ से ८०१ तक) में निम्नोक्त पांच विशेषणों से युक्त परिमंडलसंस्थानादि का चरमादि ६ की दृष्टि से विचार किया गया है—

१. संख्यातप्रदेशी संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलादि संस्थान
२. असंख्यातप्रदेशी संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलादि संस्थान
३. असंख्यातप्रदेशी असंख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलादि संस्थान
४. अनन्तप्रदेशी संख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलादि संस्थान
५. अनन्तप्रदेशी असंख्यातप्रदेशावगाढ़ परिमण्डलादि संस्थान

चरमादि ६ पद वे ही हैं, जिनको लेकर रत्नप्रभापृथ्वी के चरमादि स्वरूप का विचार किया गया था और उपर्युक्त विशेषणविशिष्ट सभी परिमण्डलादि संस्थानों के चरमादिस्वरूप विषयक प्रश्न का उत्तर भी वही है, जो रत्नप्रभा के चरमादिविषयक प्रश्नों का उत्तर है। वह है ये चरम, अचरम, अनेक चरम, अनेक अचरम चरमान्तप्रदेश या अचरमान्तप्रदेश नहीं हैं; किन्तु रत्नप्रभा-

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २४४

पृथ्वी के समान इन संस्थानों की अनेक अवयवों के अविभागात्मक रूप में विवक्षा की जाए तो ये प्रत्येक एक अचरम हैं, अनेक चरमरूप हैं तथा प्रदेशों की विवक्षा की जाए तो चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश हैं।[1]

पूर्वोक्त पांच विशेषणों से युक्त परिमण्डलादि का अचरमादिचार की दृष्टि से अल्पबहुत्व—संख्यातप्रदेशी संख्यातप्रदेशावगाढ़ आदि पूर्वोक्त पांच विशेषणों से युक्त परिमण्डल आदि ५ संस्थानों के अचरम, अनेकचरम, चरमान्तप्रदेश एवं अचरमान्तप्रदेश, इन चारों के अल्पबहुत्व का विचार किया है—द्रव्य, प्रदेश तथा द्रव्य-प्रदेश दोनों की दृष्टि से। इन पांचों में से तीसरे और पांचवें को छोड़ कर बाकी के अचरमादि चार की अपेक्षा से अल्पबहुत्व का उत्तर प्रायः एक-सा ही है, जैसे– द्रव्य की अपेक्षा से एक अचरम सबसे अल्प है, उनसे अनेक चरम संख्यातगुणे हैं, उनसे एक अचरम और अनेक चरम दोनों मिलकर विशेषाधिक हैं। प्रदेशों की अपेक्षा—सबसे कम चरमान्तप्रदेश हैं, अचरमान्तप्रदेश उनसे संख्यातगुणे अधिक हैं, उनसे चरमान्तप्रदेश और अचरमान्तप्रदेश दोनों मिलकर विशेषाधिक हैं तथा द्रव्य और प्रदेश की अपेक्षा से भी अल्पबहुत्व का क्रम और निर्देश इसी प्रकार है।

शेष दो (असंख्यातप्रदेशी—असंख्यातप्रदेशावगाढ़ तथा अनन्तप्रदेशी—असंख्यातप्रदेशावगाढ़) के अचरमादि चार की दृष्टि से अल्पबहुत्व का विचार रत्नप्रभापृथ्वी के चरमादिविषयक अल्पबहुत्व के समान है। इसमें दो जगह अन्तर पड़ता है, पूर्व में जहाँ अनेक चरम और अचरमान्तप्रदेश को उपर्युक्त में संख्यातगुणा बताया है, वहाँ यहाँ पर अनेक चरम और अचरमान्तप्रदेश को असंख्यातगुणा अधिक बताया गया है। शेष सब पूर्ववत् ही है।

एक अचरम से अनेक चरम को संख्यातगुण अधिक इसलिए बताया है कि समग्ररूप से परिमण्डलादि संस्थान संख्यातप्रदेशात्मक होते हैं।

'संक्रम में अनन्तगुणा' का तात्पर्य—जब क्षेत्रविषयक चिन्तन से द्रव्यचिन्तन के प्रति संक्रमण अर्थात् परिवर्तन होता है, तब बहुवचनान्त चरम अनन्तगुणे होते हैं। उसकी वक्तव्यता इस प्रकार है– सबसे कम एक अचरम है, क्षेत्रतः बहुवचनान्त चरम असंख्यातगुणे हैं और द्रव्यतः अनन्तगुणे हैं। उनसे अचरम और बहुवचनान्त चरम दोनों मिलकर विशेषाधिक हैं। इस प्रकार की अल्पबहुत्व-विषयक विशेषता केवल दो प्रकार के परिमण्डलादि संस्थानों में है—(१) अनन्तप्रदेशी-संख्यातप्रदेशावगाढ़ संस्थान में और अनन्तप्रदेशी-असंख्यातप्रदेशावगाढ़ संस्थान में।[2]

गति आदि की अपेक्षा से जीवों की चरमाचरमवक्तव्यता

८०७. जीवे णं भंते ! गतिचरिमेणं किं चरिमे अचरिमे ?

गोयमा ! सिय चरिमे सिय अचरिमे।

[८०७ प्र.] भगवन् ! जीव गतिचरम (की अपेक्षा से) चरम है अथवा अचरम है ?

[८०७ उ.] गौतम ! (जीव गतिचरम की अपेक्षा से) कथंचित् (कोई) चरम है, कथंचित् (कोई) अचरम है।

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ) पृ. २०२-२०३
(ख) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २४४

२. (क) प्रज्ञापनासूत्र प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ३, पृ. २०२ से २०४ तक
(ख) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक २४४

८१२. [१] **णेरइए णं भंते ! भवचरिमेणं किं चरिमे अचरिमे ?**

गोयमा ! सिय चरिमे सिय अचरिमे ।

[८१२-१ प्र.] भगवन् ! (एक) नैरयिक भवचरम की दृष्टि से चरम है या अचरम ?

[८१२-१ उ.] गौतम ! (भवचरम की दृष्टि से एक नैरयिक) कथंचित् चरम है और कथंचित् अचरम है ।

[२] एवं निरन्तरं जाव वेमाणिए ।

[८१२-२] (यों) लगातार (एक) वैमानिक तक इसी प्रकार (कहना चाहिए ।)

८१३. [१] **णेरइया णं भंते ! भवचरिमेणं किं चरिमा अचरिमा ?**

गोयमा ! चरिमा वि अचरिमा वि ।

[८१३-१ प्र.] भगवन् ! (अनेक) नैरयिक भवचरम की दृष्टि से चरम हैं या अचरम हैं ?

[८१३-१ उ.] गौतम ! (अनेक नैरयिक जीव भवचरम की अपेक्षा से) चरम भी हैं और अचरम भी हैं ।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिया ।

[८१३-२] लगातार (अनेक) वैमानिक देवों तक इसी प्रकार समझना चाहिए ।

८१४. [१] **णेरइए णं भंते ! भासाचरिमेणं किं चरिमे अचरिमे ?**

गोयमा ! सिय चरिमे सिय अचरिमे ।

[८१४-१ प्र.] भगवन् ! भाषाचरम की अपेक्षा से (एक) नैरयिक चरम है या अचरम ?

[८१४-१ उ.] गौतम ! (भाषाचरम की दृष्टि से) एक नैरयिक कथंचित् चरम है तथा कथंचित् अचरम है ।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिए ।

[८१४-२] इसी तरह लगातार (एक) वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए ।

८१५. [१] **णेरइया णं भंते भासाचरिमेणं किं चरिमा अचरिमा ?**

गोयमा ! चरिमा वि अचरिमा वि ।

[८१५-१ प्र.] भगवन् ! भाषाचरम की अपेक्षा से (अनेक) नैरयिक चरम हैं अथवा अचरम हैं ?

[८१५-१ उ.] गौतम ! (वे भाषाचरम की दृष्टि से) चरम भी हैं और अचरम भी हैं ।

[२] एवं एगिंदियवज्जा निरंतरं जाव वेमाणिया ।

[८१५-२] एकेन्द्रिय जीवों को छोड़कर वैमानिक देवों तक लगातार इसी प्रकार (कथन करना चाहिए ।)

८१६. [१] णेरइए णं भंते ! आणापाणुचरिमेणं किं चरिमे अचरिमे ?

गोयमा ! सिय चरिमे सिय अचरिमे ।

[८१६-१ प्र.] भगवन् ! (एक) नैरयिक आनापान (श्वासोच्छ्वास)-चरम की अपेक्षा से चरम है या अचरम ?

[८१६-१ उ.] गौतम ! (आनापानचरम की दृष्टि से एक) नैरयिक कथंचित् चरम है, कथंचित् अचरम है ।

[२] एवं णिरंतरं जाव वेमाणिए ।

[८१६-२] इसी प्रकार लगातार (एक) वैमानिक पर्यन्त (प्ररूपणा करनी चाहिए ।)

८१७. [१] णेरइया णं भंते ! आणापाणुचरिमेणं किं चरिमा अचरिमा ?

गोयमा ! चरिमा वि अचरिमा वि ।

[८१७-१ प्र.] भगवन् ! (अनेक) नैरयिक आनापानचरम की अपेक्षा से चरम हैं या अचरम ?

[८१७-१ उ.] गौतम ! (आनापानचरम की दृष्टि से) चरम भी हैं और अचरम भी हैं ।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिया ।

[८१७-२] इसी प्रकार अविच्छिन्नरूप से (अनेक) वैमानिक देवों तक (प्ररूपणा करनी चाहिए ।)

८१८. [१] णेरइए णं भंते ! आहारचरिमेणं किं चरिमे अचरिमे ?

गोयमा ! सिय चरिमे सिय अचरिमे ।

[८१८-१ प्र.] भगवन् ! आहारचरम की अपेक्षा से (एक) नैरयिक चरम है अथवा अचरम ?

[८१८-१ उ.] गौतम ! (आहारचरम की दृष्टि से एक नैरयिक) कथंचित् चरम है और कथंचित् अचरम है ।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिए ।

[८१८-२] लगातार (एक) वैमानिक पर्यन्त इसी प्रकार (कहना चाहिए ।)

८१९. [१] नेरइया णं भंते ! आहारचरिमेणं किं चरिमा अचरिमा ?

गोयमा ! चरिमा वि अचरिमा वि ।

[८१९-१ प्र.] भगवन् ! (अनेक) नैरयिक आहारचरम की दृष्टि से चरम हैं अथवा अचरम हैं ?

[८१९-१ उ.] गौतम ! (अनेक नैरयिक आहारचरम की दृष्टि से) चरम भी हैं और अचरम भी हैं ।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिया ।

[८१९-२] वैमानिक देवों तक निरन्तर इसी प्रकार (प्ररूपणा करनी चाहिए ।)

८२०. [१] णेरइए णं भंते ! भावचरिमेणं किं चरिमे अचरिमे ?

गोयमा ! सिय चरिमे सिय अचरिमे ।

[८२०-१ प्र.] भगवन् ! (एक) नैरयिक भावचरम की अपेक्षा से चरम है अथवा अचरम ?

[८२०-१ उ.] गौतम ! (एक नैरयिक भावचरम की अपेक्षा से) कथंचित् चरम और कथञ्चित् अचरम है ।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिए ।

[८२०-२] इसी प्रकार लगातार (एक) वैमानिक पर्यन्त (कथन करना चाहिए ।)

८२१. [१] णेरइया णं भंते ! भावचरिमेणं किं चरिमा अचरिमा ?

गोयमा ! चरिमा वि अचरिमा वि ।

[८२१-१ प्र.] भगवन् (अनेक) नैरयिक भावचरम की अपेक्षा से चरम हैं या अचरम हैं ?

[८२१-१ उ.] गौतम ! (अनेक नैरयिक भावचरम की अपेक्षा से) चरम भी हैं और अचरम भी हैं ।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिया ।

[८२१-२] इसी प्रकार लगातार (अनेक) वैमानिकों तक (प्रतिपादन करना चाहिए ।)

८२२. [१] णेरइए णं भंते ! वण्णचरिमेणं किं चरिमे अचरिमे ?

गोयमा ! सिय चरिमे सिय अचरिमे ।

[८२२-१ प्र.] भगवन् ! (एक) नैरयिक वर्णचरम की अपेक्षा से चरम है अथवा अचरम है ?

[८२२-१ उ.] गौतम ! (एक नैरयिक वर्णचरम की दृष्टि से) कथंचित् चरम है और कथंचित् अचरम है ।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिए ।

[८२२-२] इसी प्रकार निरन्तर (एक) वैमानिक पर्यन्त (कहना चाहिए ।)

८२३. [१] णेरइया णं भंते ! वण्णचरिमेणं किं चरिमा अचरिमा ?

गोयमा ! चरिमा वि अचरिमा वि ।

[८२३-१ प्र.] भगवन् ! (अनेक) नैरयिक वर्णचरम की अपेक्षा से चरम हैं या अचरम हैं ?

[८२३-१ उ.] गौतम ! (अनेक नैरयिक वर्णचरम की अपेक्षा से) चरम भी हैं और अचरम भी हैं ।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिया ।

[८२३-२] इसी प्रकार लगातार (अनेक) वैमानिक देवों तक (कथन करना चाहिए ।)

८२४. [१] **णेरइए णं भंते ! गंधचरिमेणं किं चरिमे अचरिमे ?**
गोयमा ! सिय चरिमे सिय अचरिमे ।

[८२४-१ प्र.] भगवन् ! (एक) नैरयिक गन्धचरम की अपेक्षा से चरम है अथवा अचरम है ?

[८२४-१ उ.] गौतम ! (एक नैरयिक गन्धचरम की दृष्टि से) कथंचित् चरम है और कथंचित् अचरम है ।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिए ।

[८२४-२] लगातार (एक) वैमानिक पर्यन्त इसी प्रकार (प्ररूपणा करनी चाहिए ।)

८२५. [१] **णेरइया णं भंते ! गंधचरिमेणं किं चरिमा अचरिमा ?**
गोयमा ! चरिमा वि अचरिमा वि ।

[८२५-१ प्र.] भगवन् ! गन्धचरम की अपेक्षा से (अनेक) नैरयिक चरम हैं अथवा अचरम हैं ?

[८२५-१ उ.] गौतम ! (अनेक नैरयिक गन्धचरम की अपेक्षा से) चरम भी हैं और अचरम भी हैं ।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिया ।

[८२५-२] इसी प्रकार अविच्छिन्नरूप से वैमानिक देवों तक (प्ररूपणा करनी चाहिए ।)

८२६. [१] **णेरइए णं भंते ! रसचरिमेणं किं चरिमे अचरिमे ?**
गोयमा ! सिय चरिमे सिय अचरिमे ।

[८२६-१ प्र.] भगवन् ! (एक) नैरयिक रसचरम की अपेक्षा से चरम है या अचरम है ?

[८२६-१ उ.] गौतम ! (एक नैरयिक रसचरम की अपेक्षा से) कथंचित् चरम है और कथंचित् अचरम है ।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिए ।

[८२६-२] निरन्तर (एक) वैमानिक पर्यन्त इसी प्रकार (प्रतिपादन करना चाहिए ।)

८२७. [१] **नेरइया णं भंते ! रसचरिमेणं किं चरिमा अचरिमा ?**
गोयमा ! चरिमा वि अचरिमा वि ।

[८२७-१ प्र.] भगवन् ! (अनेक) नैरयिक रसचरम की अपेक्षा से चरम हैं अथवा अचरम ?

[८२७-१ उ.] गौतम ! (वे रसचरम की दृष्टि से) चरम भी हैं और अचरम भी हैं ।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिया ।

[८२७-२] इसी प्रकार लगातार वैमानिक देवों तक (कहना चाहिए ।)

८२८. [१] **णेरइए णं भंते ! फासचरिमेणं किं चरिमे अचरिमे ?**
गोयमा ! सिय चरिमे सिय अचरिमे ।

[८२८-१ प्र.] भगवन् ! (एक) नैरयिक स्पर्शचरम की अपेक्षा से चरम है अथवा अचरम है ?

[८२८-१ उ.] गौतम ! (एक नैरयिक स्पर्शचरम की दृष्टि से) कथंचित् चरम और कथंचित् अचरम है।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिए।

[८२८-२] लगातार (एक) वैमानिक पर्यन्त इसी प्रकार (निरूपण करना चाहिए।)

८२९. [१] णेरइया णं भंते ! फासचरिमेणं किं चरिमा अचरिमा ?
गोयमा ! चरिमा वि अचरिमा वि।

[८२९-१ प्र.] भगवन् ! (अनेक)नैरयिक स्पर्शचरम की अपेक्षा से चरम हैं अथवा अचरम हैं ?

[८२९-१ उ.] गौतम ! (स्पर्शचरम की अपेक्षा से अनेक नैरयिक) चरम भी हैं और अचरम भी हैं।

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणिया।

संगहणिगाहा
गति ठिति भवे य भासा आणापाणुचरिमे य बोद्धव्वे।
आहारा भावचरिमे वण्ण रसे गंध फासे य ॥१९१॥
॥ पण्णवणाए भगवईए दसमं चरिमपयं समत्तं ॥

[८२९-२] इसी प्रकार (की प्ररूपणा) लगातार (अनेक) वैमानिक देवों तक (करनी चाहिए।

[**संग्रहणीगाथार्थ** -] १. गति, २. स्थिति, ३. भव, ४. भाषा, ५. आनापान (श्वासोच्छ्वास), ६. आहार, ७. भाव, ८. वर्ण, ९. गन्ध, १०. रस और ११. स्पर्श, (इन ग्यारह द्वारों की अपेक्षा से जीवों की चरम-अचरम प्ररूपणा) समझनी चाहिए ॥१९१॥

विवेचन - गति आदि ग्यारह की अपेक्षा से जीवों के चरमाचरमत्व का निरूपण प्रस्तुत २३ सूत्रों (सू. ८०७ से ८२९ तक) में गति आदि ग्यारह द्वारों की अपेक्षा से चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के चरम-अचरम का निरूपण किया गया है।

गतिचरम आदि पदों की व्याख्या—(१) **गतिचरम-गतिअचरम**—गतिपर्यायरूप चरम को गतिचरम कहते हैं। प्रश्न के समय जो जीव मनुष्यगति में विद्यमान है और उसके पश्चात् फिर कभी किसी गति में उत्पन्न नहीं होगा, अपितु मुक्ति प्राप्त कर लेगा, इस प्रकार उस जीव की वह मनुष्य-गति चरम अर्थात् अन्तिम है, वह गतिचरम है, जो जीव पृच्छाकालिक गति के पश्चात् पुनः किसी गति में उत्पन्न होगा, वही गति जिसकी अन्तिम नहीं है, वह गति-अचरम है। सामान्यतया गतिचरम मनुष्य ही हो सकता है, क्योंकि मनुष्यगति से ही मुक्ति प्राप्त होती है। इस दृष्टि से तद्भवमोक्षगामी जीव गतिचरम है, शेष गति-अचरम हैं। विशेष की दृष्टि से विचार किया जाय तो जो जीव जिस गति

में अन्तिम बार है, वह उस गति की अपेक्षा से गतिचरम है। जैसे--पृच्छा के समय कोई जीव नरकगति में विद्यमान है, किन्तु नरक से निकलने के बाद फिर कभी नरकगति में उत्पन्न नहीं होगा, उसे (विशेषापेक्षया) 'नरकगतिचरम' कहा जा सकता है, किन्तु सामान्यतया उसे 'गतिचरम' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नरकगति से निकलने पर उसे दूसरी गति में जन्म लेना ही पड़ेगा। अतएव सामान्य गतिचरम मनुष्य ही होता है। सामान्य जीव विषयक जो गतिचरम सूत्र है, वहाँ सामान्यदृष्टि से मनुष्य को ही कथंचित् गतिचरम समझना चाहिए। परन्तु यहाँ आगे के जितने भी सूत्र हैं, वे विशेषदृष्टि को लेकर हैं, इसलिए गतिचरम का अर्थ हुआ—जो जीव जिस गतिपर्याय से निकल कर पुनः उसमें उत्पन्न नहीं होगा, वह उस गति की अपेक्षा से गतिचरम है और जो पुनः उसमें उत्पन्न होगा, वह उस गति की अपेक्षा से गतिअचरम है।[1]

(२) **स्थिति-चरम-अचरम**—स्थितिपर्याय रूप चरम को स्थितिचरम कहते हैं। जो नारक जीव पृच्छा के समय जिस स्थिति (आयु) का अनुभव कर रहा है, वह स्थिति अगर उसकी अन्तिम है, फिर कभी उसे वह स्थिति प्राप्त नहीं होगी तो वह नारक स्थिति की अपेक्षा चरम कहलाता है। यदि भविष्य में फिर कभी उसे उस स्थिति का अनुभव करना पड़ेगा, तो वह स्थिति-अचरम है।[2]

(३) **भव-चरम-अचरम**- भवपर्यायरूप चरम भवचरम है। अर्थात्—पृच्छाकाल में जिस नारक आदि जीव का वह वर्तमान भव अन्तिम है, वह भवचरम है और जिसका वह भव अन्तिम नहीं है, वह भव-अचरम है। बहुत-से नारक ऐसे भी हैं, जो वर्तमान नारकभव के पश्चात् पुनः नारकभव में उत्पन्न नहीं होंगे, वे भवचरम हैं, किन्तु जो नारक भविष्य में पुनः नारकभव में उत्पन्न होंगे, वे भव-अचरम हैं।

(४) **भाषा-चरम-अचरम**—जो जीव भाषा की दृष्टि से चरम हैं, अर्थात् जिन्हें यह भाषा अन्तिम रूप में मिली है, फिर कभी नहीं मिलेगी, वे भाषाचरम हैं, जिन्हें फिर भाषा प्राप्त होगी, वे भाषा-अचरम हैं। एकेन्द्रिय जीव भाषा रहित होते हैं, क्योंकि उन्हें जिह्वेन्द्रिय प्राप्त नहीं होती, इसलिए वे भाषाचरम या भाषा-अचरम की कोटि में परिगणित नहीं होते।

(५) **आन-प्राण (श्वासोच्छ्वास)-चरम-अचरम** -आनप्राणपर्यायरूप चरम आनप्राणचरम कहलाता है। पृच्छा के समय जो जीव उस भव में अन्तिम श्वासोच्छ्वास ले रहा होता है, उसके बाद उस भव में फिर श्वासोच्छ्वास नहीं लेगा, वह श्वासोच्छ्वासचरम है, उससे भिन्न जो हैं, वे श्वासोच्छ्वास-अचरम हैं।

(६) **आहार-चरम-अचरम**– आहारपर्यायरूप चरम को आहारचरम कहते हैं। सामान्यतया आहारचरम मुक्त मनुष्य होते हैं। विशेषतया उस गति या भव की दृष्टि से जो अन्तिम आहार ले रहा हो, वह उस गति या भव की अपेक्षा आहारचरम है, जो उससे भिन्न हो, वह आहार-अचरम है।

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति., पत्रांक २४५
२. वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक २४५-२४६

(७) **भाव-चरम-अचरम** औदयिक आदि पांच भावों के अर्थ में यहाँ भाव शब्द है। औदयिक आदि भावों में से कोई भाव जिस जीव के लिए अन्तिम हो, फिर कभी अथवा वर्तमान गति में फिर कभी वह भाव नहीं प्राप्त होगा, तब उस जीव को भावचरम कहा जायेगा, इसके विपरीत भाव-अचरम है।

(८-११) **वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-चरम-अचरम**—जिस जीव के लिए वर्ण, गन्ध, रस या स्पर्श अन्तिम हो, फिर उसे प्राप्त न हो, वह वर्णादि-चरम है, जिसे पुनः वर्णादि प्राप्त हो रहे हैं, होंगे भी, वह वर्णादि-अचरम है। इन ग्यारह द्वारों के माध्यम से एकवचन और बहुवचन के रूप में नारकों से लेकर वैमानिकों तक के चरम-अचरम विषयक प्रश्नों के उत्तर एक से हैं। एकवचनात्मक नारकादि जीव कथंचित् चरम है, कथंचित् अचरम है, अर्थात् कोई नारक आदि चरम होता है, कोई अचरम। इसी प्रकार बहुवचनात्मक नारकादि जीव चरम भी हैं और अचरम भी हैं।[1]

॥ प्रज्ञापनासूत्र : दसवां चरमपद समाप्त ॥

---

१. (क) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ३, पृ. २१९ से २३१
(ख) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक २४६

एक्कारसमं भासापयं

ग्यारहवाँ भाषापद

प्राथमिक

- यह प्रज्ञापनासूत्र का ग्यारहवाँ 'भाषापद' है।

- भाषापर्याप्त जीवों को अपने मनोभाव प्रकट करने के लिए भाषा एक मुख्य माध्यम है, इसके बिना विचारों का आदान-प्रदान, शास्त्रीय एवं व्यावहारिक अध्ययन तथा ज्ञानोपार्जन में कठिनता होती है। मन के बाद 'वचन' बहुत बड़ा साधन है जीव के लिए। इससे कर्मबन्धन और कर्मक्षय दोनों ही हो सकते हैं, आराधना भी हो सकती है, विराधना भी। इस हेतु से शास्त्रकार ने भाषापद की रचना की है।

- प्रस्तुत भाषापद में विशेषरूप से यह विचार किया गया है कि भाषा क्या है? वह अवधारिणी-अवबोधबीज है या नहीं? अवधारणी है तो ऐसी अवधारणी भाषा सत्यादि चार प्रकार की भाषाओं में से कौन-सी है? यदि चारों प्रकार की है, तो कैसे है? विरोधनी भाषा कौन-सी है? भाषा का मूल स्रोत क्या है? यदि जीव है तो क्यों? भाषा की उत्पत्ति कहाँ से और कैसे होती है? भाषा की आकृति कैसी है? भाषा का उद्भव और अन्त किस योग से व कहाँ होता है? भाषाद्रव्य में पुद्गलों का ग्रहण और निर्गमन किस-किस योग से होता है? भाषा का भाषणकाल कितना है? भाषा मुख्यतया कितने प्रकार की है? प्रस्तुत चार प्रकार की भाषाओं में भगवान् द्वारा अनुमत भाषाएँ कितनी हैं? तथा भाषाओं में प्रतिनियतरूप से समझी जा सके, ऐसी पर्याप्तिका कौन-कौन-सी हैं तथा इससे विपरीत अपर्याप्तिका कौन-कौन-सी हैं?

- फिर पर्याप्तिका के सत्या और मृषा इन दो भेदों के प्रत्येक के जनपदसत्यादि तथा क्रोधनिःसृतादि रूप से क्रमशः दस-दस प्रकार बताए गए हैं। तदनन्तर अपर्याप्तिका के सत्यामृषा और असत्यमृषा ये दो भेद बताकर इनके क्रमशः दस और बारह भेद बताए गये हैं। तत्पश्चात् समस्त जीवों में कौन-कौन भाषक हैं, कौन अभाषक? तथा नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक पूर्वोक्त चार भाषाओं में कौन-कौन-सी भाषा बोलते हैं? इसका स्पष्टीकरण किया गया है।

- प्रस्तुत पद में बीच में और अन्त में व्यक्ति और जाति की दृष्टि से स्त्री-पुरुष-नपुंसक वचन, स्त्री-पुरुष-नपुंसक-आज्ञापनी, स्त्री-पुरुष-नपुंसक प्रज्ञापनी भाषा, प्रज्ञापनी-सत्या है या अप्रज्ञापनी (मृषा) है? विशिष्ट संज्ञानवान् के अतिरिक्त नवजात अबोध शिशुओं या अपरिपक्वावस्था में उष्ट्रादि पशुओं द्वारा बोली जाने वाली भाषा क्या सत्य है? तत्पश्चात् पुनः पुरुषवाचक

एकवचन-बहुवचन, स्त्रीवाचक एकवचन-बहुवचन, नपुंसकवाचक एकवचन-बहुवचन शब्दों के प्रयोग वाली भाषा प्रज्ञापनी (सत्या) है या मृषा ? तथा सोलह प्रकार के वचन, भाषा के चार प्रकार तथा इन्हें उपयोगपूर्वक बोलने वालों तथा उपयोगरहित बोलने वाले जीवों में से आराधक-विराधक कौन-कौन हैं ? एवं सत्यभाषक, असत्यभाषक, मिश्रभाषक और व्यवहारभाषक, इन चारों में से कौन, किससे अल्प, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक है ? इन सब पर विशद चर्चा की गई है ।

✣ भाषा के योग्य अर्थात् भाषा-वर्गणा के द्रव्य (पुद्गल) अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक होते हैं तथा वह स्कन्ध भी क्षेत्र की दृष्टि से असंख्यातप्रदेश में स्थित हो तभी भाषायोग्य होता है, अन्यथा नहीं । काल की दृष्टि से भाषा के पुद्गल एक समय से लेकर असंख्यात समय तक की स्थिति वाले होते हैं, अर्थात् उन पुद्गलों की भाषारूप में परिणति एक समय तक भी रहती है और अधिक से अधिक असंख्यात समयों तक भी रहती है । भाषा के लिए ग्रहण किये गए पुद्गलों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के जो प्रकार हैं, वे प्रत्येक भाषापुद्गलों में एकसरीखे नहीं होते, उनमें पुद्गलों के सभी प्रकारों का समावेश हो जाता है । अर्थात् पुद्गल का रस, गन्धादि रूप में कोई भी परिणाम भाषायोग्यपुद्गलों में न हो, ऐसा सम्भव नहीं है । हाँ, स्पर्शों में विरोधी स्पर्शों में से एक ही स्पर्श होता है, इसलिए प्रत्येक भाषापुद्गल में दो से लेकर चार स्पर्शों तक के पुद्गल होते हैं । ग्रहण किये गए भाषा के पुद्गल भाषा के रूप में परिणत होकर बाहर निकलते हैं, इसमें सिर्फ दो समय जितना काल व्यतीत होता है; क्योंकि प्रथम समय में ग्रहण और द्वितीय समय में उसका निसर्ग होता है । इस प्रकार जीव द्वारा ग्रहण किये जाने वाले भाषा-द्रव्यों के अनेक विकल्पों की सांगोपांग चर्चा है ।

✣ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शादिविशिष्ट जिन भाषाद्रव्यों को जीव भाषा के रूप में ग्रहण करता है, वे स्थित होते हैं या अस्थित ? यदि स्थित होते हैं तो आत्मस्पृष्ट होते हैं या नहीं ? इसका तात्पर्य यह है कि पुद्गल तो समग्र लोकाकाश में भरे हैं, परन्तु आत्मा तो शरीरप्रमाण ही है । ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि जीव चाहे जहाँ से भाषापुद्गलों को ग्रहण करता है या आत्मा के साथ स्पर्श में आए हुए पुद्गलों को ही ग्रहण करता है ? इसके साथ ही अन्य समाधान भी किये गये हैं—(१) जीव आत्मस्पृष्ट भाषापुद्गलों का ही ग्रहण करता है । (२) आत्मा के प्रदेशों का अवगाहन आकाश के जितने प्रदेशों में है, उन्हीं प्रदेशों में रहे हुए भाषापुद्गलों का ग्रहण होता है । (३) उस-उस आत्मप्रदेश से जो भाषापुद्गल निरन्तर हों, अर्थात् आत्मा के उस-उस प्रदेश में अव्यवहित रूप से जो भाषापुद्गल होते हैं, उनका ग्रहण होता है । (४) चाहे वे पुद्गल छोटे स्कन्ध के रूप में हों या बादर रूप में हों, उनका ग्रहण होता है । (५) ऐसे ग्रहण किये जाने वाले भाषा द्रव्य ऊर्ध्व, अधः या तिर्यग् दिशा में स्थित होते हैं । (६) इन भाषाद्रव्यों का जीव आदि में, मध्य में और अन्त में भी ग्रहण करता है । (७) तथा उन्हें वह आनुपूर्वी (क्रम से) ग्रहण करता है, जो आसन्न (निकट) हो उसे ग्रहण करता है तथा (८) छह ही दिशाओं में से आए हुए भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है । (९) जीव अमुक समय तक सतत बोलता रहे तो उसे निरन्तर भाषाद्रव्य ग्रहण करना पड़ता है । (१०) यदि बोलना

सतत चालू न रखे तो सान्तर ग्रहण करता है। (११) भाषा लोक के अन्त तक जाती है। इसलिए भाषारूप में गृहीत पुद्गलों का निर्गमन दो प्रकार से होता है (१) जिस प्रमाण में वे ग्रहण किये हों, उन सब पुद्गलों के पिण्ड का उसी रूप में (ज्यों-का-त्यों) निर्गमन होता है, अर्थात् वक्ता भाषावर्गणा के पुद्गलों के पिण्ड को अखण्डरूप में ही बाहर निकालता है, वह पिण्ड अमुक योजन जाने के बाद ध्वस्त हो जाता है, (उसका भाषारूप परिणमन समाप्त हो जाता है)। (२) वक्ता यदि गृहीत पुद्गलों को भेद (विभाग) करके निकालता है तो वे पिण्ड सूक्ष्म हो जाते हैं, शीघ्र ध्वस्त नहीं होते, प्रत्युत सम्पर्क में आने वाले अन्य पुद्गलों को वासित (भाषारूप में परिणत) कर देते हैं। इस कारण अनन्तगुणे बढ़ते-बढ़ते वे लोक के अन्त का स्पर्श करते हैं।

✣ भाषा पुद्गलों का ऐसा भेदन खण्ड, प्रतर, चूर्णिका, अनुतटिका और उत्करिका, यों पांच प्रकार से होता है, यह दृष्टान्त तथा अल्पबहुत्व के साथ बताया है।[1]

✣✣

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १ (ख) पण्णवणासुत्तं भा. २, भाषापद की प्रस्तावना ८४ से ८८ तक
(ग) विशेषा. गा. ३७८ (घ) प्रज्ञापना. म. वृ. पत्र २६५ (ङ) आवश्यक निर्युक्ति गा. ७

एक्कारसमं भासापयं

ग्यारहवाँ भाषापद

अवधारिणी एवं चतुर्विध भाषा

८३०. से णूणं भंते ! मण्णामीति ओहारिणी भासा ? चिंतेमीति ओहारिणी भासा ? अह मण्णामीति ओहारिणी भासा ? अह चिंतेमीति ओहारिणी भासा ? तह मण्णामीति ओहारिणी भासा ? तह चिंतेमीति ओहारिणी भासा ?

हंता गोयमा ! मण्णामीति ओहारिणी भासा, चिंतेमीति ओहारिणी भासा, अह मण्णामीति ओहारिणी भासा, अह चिंतेमीति ओहारिणी भासा, तह मण्णामीति ओहारिणी भासा, तह चिंतेमीति ओहारिणी भासा ।

[८३० प्र.] भगवन् ! मैं ऐसा मानता हूँ कि भाषा अवधारिणी (पदार्थ का अवधारण अवबोध कराने वाली) है; मैं (युक्ति से) ऐसा चिन्तन करता हूँ कि भाषा अवधारिणी है; (भगवन् !) क्या मैं ऐसा मानूँ कि भाषा अवधारिणी है ? क्या मैं (युक्ति द्वारा) ऐसा चिन्तन करूं कि भाषा अवधारिणी है ?; (भगवन् ! पहले मैं जिस प्रकार मानता था) उसी प्रकार (अब भी) ऐसा मानूँ कि भाषा अवधारिणी है ? तथा उसी प्रकार मैं (युक्ति से) ऐसा चिन्तन करूं कि भाषा अवधारिणी है ?

[८३० उ.] हाँ, गौतम ! (तुम्हारा मनन-चिन्तन सत्य है ।) तुम मानते हो कि भाषा अवधारिणी है, तुम (युक्ति से) चिन्तन करते (सोचते) हो कि भाषा अवधारिणी है, (यह मैं अपने केवलज्ञान से जानता हूँ ।), इसके पश्चात् भी तुम मानो कि भाषा अवधारिणी है, अब तुम (निःसन्देह होकर) चिन्तन करो कि भाषा अवधारिणी है; (मैं भी केवलज्ञान के द्वारा ऐसा ही जानता हूँ, तुम्हारा जानना और सोचना यथार्थ और निर्दोष है ।) (अतएव) तुम उसी प्रकार (पूर्वमननवत्) मानो कि भाषा अवधारिणी है तथा उसी प्रकार (पूर्वचिन्तनवत्) सोचो कि भाषा अवधारिणी है ।

८३१. ओहारिणी णं भंते ! भासा किं सच्चा मोसा सच्चामोसा असच्चामोसा ?

गोयमा ! सिय सच्चा, सिय मोसा, सिय सच्चामोसा, सिय असच्चामोसा ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति ओहारिणी णं भासा सिय सच्चा सिय मोसा सिय सच्चामोसा सिय असच्चामोसा ?

गोयमा ! आराहणी सच्चा १ विराहणी मोसा २ आराहणविराहणी सच्चामोसा ३ जा णेव आराहणी णेव विराहणी णेव आराहणविराहणी असच्चामोसा णाम सा चउत्थी भासा ४ से एतेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ ओहारिणी णं भासा सिय सच्चा सिय मोसा सिय सच्चामोसा सिय असच्चामोसा ।

[८३१ प्र.] भगवन् ! अवधारिणी भाषा क्या सत्य है, मृषा (असत्य) है, सत्यामृषा (मिश्र) है, अथवा असत्यामृषा (न सत्य, न असत्य) है ?

[८३१ उ.] गौतम ! वह (अवधारिणी भाषा) कदाचित् सत्य होती है, कदाचित् मृषा होती है, कदाचित् सत्यामृषा होती है और कदाचित् असत्यामृषा (भी) होती है।

[प्र.] भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहते हैं कि (अवधारिणी भाषा) कदाचित् सत्य, कदाचित् मृषा, कदाचित् सत्यामृषा और कदाचित् असत्यामृषा (भी) होती है ?

[उ.] गौतम ! (जो) आराधनी (भाषा है, वह) सत्य है, (जो) विराधनी (भाषा है, वह) मृषा है, (जो) आराधनी-विराधनी (उभयरूपा भाषा है, वह) सत्यामृषा है, और जो न तो आराधनी (भाषा) है, न विराधनी है और न ही आराधनी-विराधनी है, वह चौथी असत्यामृषा नाम की भाषा है। हे गौतम ! इस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि अवधारिणी भाषा कदाचित् सत्य, कदाचित् मृषा, कदाचित् सत्यामृषा और कदाचित् असत्यामृषा होती है।

विवेचन—भाषा की अवधारिणिता एवं चतुर्विधता का निर्णय—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ८३०-८३१) में से प्रथम सूत्र में श्री गौतमस्वामी ने स्वमनन-चिन्तनानुसार भाषा की अवधारिणिता का भगवान् से निर्णय कराया है तथा दूसरे सूत्र में अवधारिणी भाषा के चार प्रकारों का भी निर्णय भगवान् द्वारा कराया है।

'भाषा' और 'अवधारिणी' की व्याख्या—भाषा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है—जो भाषी जाए अर्थात् बोली जाए, वह भाषा है।[1] इसकी शास्त्रीय परिभाषा है भाषा के योग्य द्रव्यों (पुद्गलों) को ग्रहण करके उसे भाषा के रूप में परिणत करके (मुख आदि से) निकाला जाने वाला द्रव्यसंघात भाषा है।[2] 'भाषा अवधारिणी है'—इसका अर्थ हुआ—भाषा अवबोध कराने वाली है अवबोध की बीजभूत (कारण) है,[3] क्योंकि अवधारिणी का अर्थ है जिसके द्वारा पदार्थ का अवधारण—बोध या निश्चय होता है।

प्रथम सूत्र का हार्द प्रथम सूत्र (८३०) में श्री गौतमस्वामी ने भाषा की अवधारिणिता के सम्बन्ध में अपने मन्तव्य की सत्यता का भगवान् से निर्णय कराने हेतु एक ही प्रश्न को छह बार विविध पहलुओं से दोहराया है। उसका तात्पर्य इस प्रकार है—(१) भगवन् ! मैं ऐसा मानता हूँ कि भाषा अवबोधकारिणी है, (२) मैं (युक्ति से भी) ऐसा चिन्तन करता हूँ कि भाषा अवधारिणी है। इस प्रकार श्री गौतमस्वामी, भगवान् के समक्ष अपना मन्तव्य प्रकट करके उसकी यथार्थता का निर्णय कराने हेतु पुनः इन दो प्रश्नों को प्रस्तुत करते हैं—(३) भगवन् ! क्या मैं ऐसा मानूं कि भाषा अवधारिणी है ? (४) भगवन् ! क्या मैं (युक्ति से) ऐसा चिन्तन करूं कि भाषा अवधारिणी है ? अर्थात् क्या मेरा यह मानना और सोचना निर्दोष है ? इसी मन्तव्य पर भगवान् से सत्यता की पक्की मुहरछाप लगवाने हेतु श्री गौतमस्वामी पुनः इन्हीं दो प्रश्नों को दूसरे रूप में प्रस्तुत करते

---

१. 'भाष्यते इति भाषा'

२. 'तद्योग्यतया परिणामितनिसृज्यमानद्रव्यसंहतिः, एष पदार्थः।'

३. अवधारयते—अवगम्यतेऽर्थोऽनयेत्यवधारिणी—अवबोधबीजभूता इत्यर्थः।

हैं—(५-६) जैसे मैं पहले मानता और विचारता था कि भाषा अवधारिणी है, अब भी मैं उसी प्रकार मानता और विचारता हूँ कि भाषा अवधारिणी है। तात्पर्य यह है कि मेरे इस समय के मनन और चिन्तन में तथा पूर्वकालिक मनन और चिन्तन में कोई अन्तर नहीं है। भगवान् ! क्या मेरा यह मनन और चिन्तन निर्दोष एवं युक्तियुक्त है?

भगवान् का जो उत्तर है, उसमें **'मण्णामि' 'चिंतेमि'** इत्यादि उत्तमपुरुषवाचक क्रियापद प्राकृतभाषा की शैली तथा आर्षप्रयोग होने के कारण मध्यमपुरुष के अर्थ में प्रयुक्त समझना चाहिए। इस दृष्टि से भगवान् के द्वारा इन्हीं पूर्वोक्त छह वाक्यों में दोहराये हुए उत्तर का अर्थ इस प्रकार होता है 'हाँ, गौतम ! (तुम्हारा मनन-चिन्तन सत्य है।) तुम मानते हो तथा युक्तिपूर्वक सोचते हो कि भाषा अवधारिणी है, यह मैं भी अपने केवलज्ञान से जानता हूँ। इसके पश्चात् भी तुम यह मानो कि भाषा अवधारिणी है, तुम यह निःसन्देह होकर चिंतन करो कि भाषा अवधारिणी है; अतएव (तुमने पहले जैसा माना और सोचा था) उसी तरह मानो और सोचो कि भाषा अवधारिणी है, इसमें जरा भी शंका मत करो।[1]

सत्या, मृषा, सत्यामृषा और असत्यामृषा की व्याख्या—**सत्या**=सत्पुरुषों—मुनियों अथवा शिष्ट जनों के लिए जो हितकारिणी हो, अर्थात् इहलोक एवं परलोक की आराधना करने में सहायक होने से मुक्ति प्राप्त करने वाली हो, वह सत्या भाषा है; क्योंकि भगवदाज्ञा के सम्यक् आराधक होने से सन्त-मुनिगण ही सत्यपुरुष हैं, उनके लिए यह हितकारिणी है। अथवा सन्त अर्थात् मूल गुण और उत्तरगुण, जो कि जगत् में मुक्तिपद को प्राप्त कराने के कारण होने से परमशोभन हैं, उनके लिए जो हितकारिणी हो अथवा सत् यानी विद्यमान भगवदुपदिष्ट जीवादि पदार्थों की यथावस्थित प्ररूपणा करने में जो उपयुक्त यानी अनुकूल हो या साधिका हो वह **सत्या** है। **मृषा**—सत्यभाषा से विपरीत स्वरूप वाली हो, वह **मृषा** है। **सत्यामृषा**—जिसमें सत्य और असत्य दोनों मिश्रित हों, अर्थात् जिसमें कुछ अंश सत्य हो, और कुछ अंश असत्य हो—वह सत्यामृषा या मिश्र भाषा है। **असत्यामृषा** जो भाषा इन तीनों प्रकार की भाषाओं में समाविष्ट न हो सके, अर्थात् जिसे सत्य, असत्य या उभयरूप न कहा जा सके, अथवा जिसमें इन तीनों में से किसी भी भाषा का लक्षण घटित न हो सके, वह असत्यामृषा है। इस भाषा का विषय—आमन्त्रण करना (बुलाना या सम्बोधित करना) अथवा आज्ञा देना आदि है।[2]

सत्या आदि चारों भाषाओं की पहिचान—आराधनी हो, वह सत्या—जिसके द्वारा मोक्षमार्ग की आराधना की जाए, वह आराधनी भाषा है। किसी भी विषय में शंका उपस्थित होने पर वस्तुतत्त्व की स्थापना की बुद्धि से जो सर्वज्ञमतानुसार बोली जाती है, जैसे कि आत्मा का सद्भाव है, वह स्वरूप से सत् है, पररूप से असत् है, द्रव्यार्थिकनय से नित्य है, पर्यायार्थिकनय से अनित्य है, इत्यादि रूप से यथार्थ वस्तुस्वरूप का कथन करने वाली होने से भी आराधनी है। जो आराधनी हो, उस भाषा को सत्याभाषा समझनी चाहिए। **जो विराधनी हो, वह मृषा**—जिसके

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २४७

२. 'सच्चा हिया सयामिह संतो मुणयो गुणा पयत्था वा।
तव्विवरीया भोसा, मीसा जा तदुभयसहावा॥ १॥
अणहिगया जा तीसुवि सद्दो च्चिय केवलो असच्चमुसा॥ —प्रज्ञापना. म. वृ., प. २४८

द्वारा मुक्तिमार्ग की विराधना हो, वह विराधनी भाषा है। विपरीत वस्तुस्थापना के आशय से सर्वज्ञमत के प्रतिकूल जो बोली जाती है, जैसे कि—आत्मा नहीं है, अथवा आत्मा एकान्त नित्य है या एकान्त अनित्य है, इत्यादि । अथवा जो भाषा सच्ची होते हुए भी परपीड़ा-जनक हो, वह भाषा विराधनी है। इस प्रकार रत्नत्रयरूप मुक्तिमार्ग की विराधना करने वाली हो वह भी विराधनी है। विराधनी भाषा को मृषा समझना चाहिए। **जो आराधनी-विराधनी उभयरूप हो, वह सत्यामृषा**—जो भाषा आंशिक रूप से आराधनी और आंशिक रूप से विराधनी हो, वह आराधनी-विराधनी कहलाती है। जैसे—किसी ग्राम या नगर में पांच बालकों का जन्म हुआ, किन्तु किसी के पूछने पर कह देना 'इस गाँव या नगर में आज दसेक बालकों का जन्म हुआ है।' 'पांच बालकों का जो जन्म हुआ' उतने अंश में यह भाषा संवादिनी होने से आराधनी है, किन्तु पूरे दस बालकों का जन्म न होने से उतने अंश में यह भाषा विसंवादिनी होने से विराधनी है। इस प्रकार स्थूल व्यवहारनय के मत से यह भाषा आराधनी-विराधनी हुई। इस प्रकार की भाषा 'सत्यामृषा' है। **जो न आराधनी हो, न विराधनी, वह असत्यामृषा** जिस भाषा में आराधनी के लक्षण भी घटित न होते हों तथा जो विपरीतवस्तुस्वरूप कथन के अभाव का तथा परपीड़ा का कारण न होने से जो भाषा विराधनी भी न हो तथा जो भाषा आंशिक संवादी और आंशिक विसंवादी भी न होने से आराधन-विराधनी भी न हो, ऐसी भाषा असत्यामृषा समझनी चाहिए। ऐसी भाषा प्रायः आज्ञापनी या आमंत्रणी होती है, जैसे—मुने ! प्रतिक्रमण करो। स्थण्डिल का प्रतिलेखन करो आदि।[1]

विविध पहलुओं से प्रज्ञापनी भाषा की प्ररूपणा

८३२. अह भंते ! गाओ मिया पसू पक्खी पण्णवणी णं एसा भासा ? ण एसा भासा मोसा ?

हंता गोयमा ! गाओ मिया पसू पक्खी पण्णवणी णं एसा भासा, ण एसा भासा मोसा ।

[८३२ प्र.] भगवन् ! अब यह बताइए कि 'गायें,' 'मृग', 'पशु' (अथवा) 'पक्षी' क्या यह भाषा (इस प्रकार का कथन) प्रज्ञापनी भाषा है ? यह भाषा मृषा (तो) नहीं है ?

[८३२ उ.] हाँ, गौतम ! 'गायें,' 'मृग,' 'पशु' (अथवा) 'पक्षी' यह (इस प्रकार की) भाषा प्रज्ञापनी है। यह भाषा मृषा नहीं है ।

८३३. अह भंते ! जा य इत्थिवयू (ऊ) जा य पुमवयू जा य णपुंसगवयू पण्णवणी णं एसा भासा ? ण एसा भासा मोसा ?

हंता गोयमा ! जा य इत्थिवयू जा य पुमवयू जा य णपुंसगवयू पण्णवणी णं एसा भासा, ण एसा भासा मोसा ।

[८३३ प्र.] भगवन् ! इसके पश्चात् यह प्रश्न है कि यह जो स्त्रीवचन है और जो पुरुष-वचन है, अथवा जो नपुंसकवचन है, क्या यह प्रज्ञापनी भाषा है ? यह भाषा मृषा नहीं है ?

[८३३ उ.] हाँ, गौतम ! यह जो स्त्रीवचन है और जो पुरुषवचन है, अथवा जो नपुंसक-वचन है, यह भाषा प्रज्ञापनी है और यह भाषा मृषा नहीं है ।

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक २४७-२४८

८३४. अह भंते ! जा य इत्थिआणमणी जा य पुमआणमणी जा य णपुंसगआणमणी पण्णवणी णं एसा भासा ? ण एसा भासा मोसा ?

हंता गोयमा ! जा य इत्थिआणमणी जा य पुमआणमणी जा य णपुंसगआणमणी पण्णवणी णं एसा भासा, ण एसा भासा मोसा ।

[८३४ प्र.] भगवन् ! यह जो स्त्री-आज्ञापनी है और जो पुरुष-आज्ञापनी है, अथवा जो नपुंसक-आज्ञापनी है, क्या यह प्रज्ञापनी भाषा है । यह भाषा मृषा नहीं है ?

[८३४ उ.] हाँ, गौतम ! यह जो स्त्री-आज्ञापनी है और जो पुरुष-आज्ञापनी है, अथवा जो नपुंसक-आज्ञापनी है, यह भाषा प्रज्ञापनी है । यह भाषा मृषा नहीं है ।

८३५. अह भंते ! जा य इत्थीपण्णवणी जा य पुमपण्णवणी जा य णपुंसगपण्णवणी पण्णवणी णं एसा भासा ? ण एसा भासा मोसा ?

हंता गोयमा ! जा य इत्थीपण्णवणी जा य पुमपण्णवणी जा य णपुंसगपण्णवणी पण्णवणी णं एसा भासा, ण एसा भासा मोसा ।

[८३५ प्र.] भगवन् ! यह जो स्त्री-प्रज्ञापनी है और जो पुरुष-प्रज्ञापनी है, अथवा जो नपुंसक-प्रज्ञापनी है, क्या यह प्रज्ञापनी भाषा है ? यह भाषा मृषा नहीं है ?

[८३५ उ.] हाँ, गौतम ! यह जो स्त्री-प्रज्ञापनी है और जो पुरुष-प्रज्ञापनी है, अथवा जो नपुंसक-प्रज्ञापनी है, यह प्रज्ञापनी भाषा है और यह भाषा मृषा नहीं है ।

८३६. अह भंते ! जा जाईइ इत्थिवयू जाईइ पुमवयू जाईइ णपुंसगवयू पण्णवणी णं एसा भासा ? ण एसा भासा मोसा ?

हंता गोयमा ! जाईइ इत्थिवयू जाईइ पुमवयू जाईइ णपुंसगवयू पण्णवणी णं एसा भासा, न एसा भासा मोसा ।

[८३६ प्र.] भगवन् ! जो जाति में स्त्रीवचन है, जाति में पुरुषवचन है और जाति में नपुंसकवचन है, क्या यह प्रज्ञापनी भाषा है ? यह भाषा मृषा नहीं है ?

[८३६ उ.] हाँ, गौतम ! जाति में स्त्रीवचन, जाति में पुरुषवचन, अथवा जाति में नपुंसक वचन, यह प्रज्ञापनी भाषा है और यह भाषा मृषा नहीं है ।

८३७. अह भंते ! जाईइ इत्थिआणमणी जाईइ पुमआणमणी जाईइ णपुंसगाणमणी पण्णवणी णं एसा भासा ? ण एसा भासा मोसा ?

हंता गोयमा ! जाईइ इत्थीआणमणी जाईइ पुमआणमणी जाईइ णपुंसगाणमणी पण्णवणी णं एसा भासा, ण एसा भासा मोसा ।

[८३७ प्र.] भगवन् ! अब प्रश्न यह है कि जाति में जो स्त्री-आज्ञापनी है, जाति में जो पुरुष-आज्ञापनी है अथवा जाति में जो नपुंसक-आज्ञापनी है, क्या यह प्रज्ञापनी भाषा है ? यह भाषा मृषा नहीं है ?

[८३७ उ.] हाँ, गौतम ! जाति में जो स्त्री-आज्ञापनी है, जाति में जो पुरुष-आज्ञापनी है, या जाति में जो नपुंसक-आज्ञापनी है, यह प्रज्ञापनी भाषा है और यह भाषा मृषा (असत्य) नहीं है।

८३८. अह भंते ! जाईइ इत्थिपण्णवणी जाईइ पुमपण्णवणी जाईइ णपुंसगपण्णवणी पण्णवणी णं एसा भासा ? ण एसा भासा मोसा ?

हंता गोयमा ! जाईइ इत्थिपण्णवणी जाईइ पुमपण्णवणी जाईइ णपुंसगपण्णवणी पण्णवणी णं एसा भासा, ण एसा भासा मोसा।

[८३८ प्र.] भगवन् ! इसके अनन्तर प्रश्न है जाति में जो स्त्री-प्रज्ञापनी है, जाति में जो पुरुष-प्रज्ञापनी है, अथवा जाति में जो नपुंसक-प्रज्ञापनी है, क्या यह भाषा प्रज्ञापनी है ? यह भाषा मृषा तो नहीं है ?

[८३८ उ.] हाँ, गौतम ! जाति में जो स्त्री-प्रज्ञापनी है, जाति में जो पुरुष-प्रज्ञापनी है, अथवा जाति में जो नपुंसक-प्रज्ञापनी है, यह प्रज्ञापनी भाषा है और यह भाषा मृषा नहीं है।

विवेचन—विविध पहलुओं से प्रज्ञापनी भाषा की प्ररूपणा—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. ८३२ से ८३८ तक) में विविध पशु पक्षी नाम-प्रज्ञापना, स्त्री आदि वचन-निरूपण, स्त्री आदि आज्ञापनी, स्त्री आदि प्रज्ञापनी, जाति में स्त्री आदि वचन प्रज्ञापक, जाति में स्त्री आदि आज्ञापनी तथा जाति में स्त्री आदि प्रज्ञापनी, इन विविध पहलुओं से प्रज्ञापनी सत्यभाषा का प्रतिपादन किया गया है।

'प्रज्ञापनी' भाषा का अर्थ जिससे अर्थ (पदार्थ) का प्रज्ञापन प्ररूपण या प्रतिपादन किया जाए, उसे 'प्रज्ञापनी भाषा' कहते हैं। इसे प्ररूपणीया या अर्थप्रतिपादिनी भी कह सकते हैं।

सप्तसूत्रोक्त प्रज्ञापनी भाषा किस-किस प्रकार की और सत्य क्यों ?—(१) सू. ८३२ में निरूपित गाय आदि शब्द जातिवाचक हैं, जैसे—गाय कहने से गोजाति का बोध होता है और जाति में स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों लिंगों वाले आ जाते हैं। इसलिए गो आदि शब्द त्रिलिंगी होते हुए भी इस प्रकार एक लिंग में उच्चारण की जाने वालों भाषा पदार्थ का कथन करने के लिए प्रयुक्त होने से प्रज्ञापनी है तथा यह यथार्थ वस्तु का कथन करने वाली होने से सत्य है, क्योंकि शब्द चाहे किसी भी लिंग का हो, यदि वह जातिवाचक है तो देश, काल और प्रसंग के अनुसार उस जाति के अन्तर्गत वह तीनों लिंगों वाले अर्थों का बोधक होता है। यह भाषा न तो परपीड़ाजनक है, न किसी को धोखा देने आदि के उद्देश्य से बोली जाती है। इस कारण यह प्रज्ञापनी भाषा मृषा नहीं कही जा सकती। (२) इसी प्रकार (सू. ८३३ में प्ररूपित) शाला, माला आदि स्त्रीवचन (स्त्रीवाचक भाषा), घट, पट आदि पुरुषवचन (पुरुषवाचक भाषा) तथा धनं, वनं आदि नपुंसकवचन (नपुसकवाचक भाषा) है, परन्तु इन शब्दों में स्त्रीत्व, पुरुषत्व या नपुंसत्क के लक्षण घटित नहीं होते। जैसे कि कहा है—जिसके बड़े-बड़े स्तन और केश हों, उसे स्त्री समझना चाहिए, जिसके सभी अंगों में रोम हों, उसे पुरुष कहते हैं तथा जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों के लक्षण घटित न हों, उसे नपुंसक जानना चाहिए।

स्त्री आदि के उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार शाला, माला आदि स्त्रीलिंगवाचक, घट-पट आदि पुरुषलिंगवाचक और धनं वनं आदि नपुंसकलिंगवाचक शब्दों में, इनमें से स्त्री आदि का कोई भी लक्षण घटित नहीं होता। ऐसी स्थिति में किसी शब्द को स्त्रीलिंग, किसी को पुरुषलिंग और किसी

को नपुंसकलिंग कहना क्या प्रज्ञापनी भाषा है और क्या यह सत्य है ? मिथ्या नहीं ? भगवान् ने इसका उत्तर हाँ में दिया है। किसी भी शब्द का प्रयोग किया जाता है तो वह शब्द पूर्वोक्त स्त्री, पुरुष या नपुंसक के लक्षणों का वाचक नहीं होता। विभिन्न लिंगों वाले शब्दों के लिंगों की व्यवस्था शब्दानुशासन या गुरु की उपदेशपरम्परा से होती है। इस प्रकार शाब्दिक व्यवहार की अपेक्षा से यथार्थ वस्तु का प्रतिपादन करने के कारण यह भाषा प्रज्ञापनी है। इसका प्रयोग न तो किसी दूषित आशय से किया जाता है और न ही इनसे किसी को पीड़ा उत्पन्न होती है। अतः इस प्रकार की प्रज्ञापनी भाषा सत्य है, मिथ्या नहीं। (३) सूत्र ८३४ के अनुसार प्रश्न का आशय यह है कि जिस भाषा से किसी स्त्री या किसी पुरुष या किसी नपुंसक को आज्ञा दी जाए, ऐसी क्रमशः स्त्री-आज्ञापनी, पुरुष-आज्ञापनी या नपुंसक-आज्ञापनी भाषा क्या प्रज्ञापनी है और सत्य है ? क्योंकि प्रज्ञापनी भाषा ही सत्य होती है, जबकि यह तो आज्ञापनी भाषा है, सिर्फ आज्ञा देने में प्रयुक्त होती है। जिसे आज्ञा दी जाती है, वह तदनुसार क्रिया करेगा ही, यह निश्चित नहीं है। कदाचित् न भी करे। जैसे—कोई श्रावक किसी श्राविका से कहे—'प्रतिदिन सामायिक करो,' या श्रावक अपने पुत्र से कहे—'यथासमय धर्म की आराधना करो,' या श्रावक किसी नपुंसक से कहे—'नौ तत्त्वों का चिन्तन किया करो,' ऐसी आज्ञा देने पर जिसे आज्ञा दी गई है, वह यदि उस आज्ञानुसार क्रिया न करे तो ऐसी स्थिति में आज्ञा देने वाले की भाषा क्या प्रज्ञापनी और सत्य कहलाएगी ? भगवान् का उत्तर इस प्रकार है कि जो भाषा किसी स्त्री, पुरुष, या नपुंसक के लिए आज्ञात्मक है, वह आज्ञापनी भाषा प्रज्ञापनी है, मृषा नहीं है। तात्पर्य यह है कि आज्ञापनी भाषा दो प्रकार की है -परलोकबाधिनी और परलोकबाधा-अनुत्पादक। इनमें से जो भाषा स्वपरानुग्रहबुद्धि से, बिना किसी शठता के, किसी पारलौकिक फल की सिद्धि के लिए अथवा किसी विशिष्ट इहलौकिक कार्यसिद्धि के लिए विनेय स्त्री, पुरुष, नपुंसक जनों के प्रति बोली जाती है, वह भाषा परलोकबाधिनी नहीं होती, यही साधुवर्ग के लिए प्रज्ञापनी भाषा है और सत्य है; किन्तु इससे भिन्न प्रकार की जो भाषा होती है, वह स्व-पर-संक्लेश उत्पन्न करती है, परलोकबाधिनी है, अतएव अप्रज्ञापनी है और मृषा है। (४) सू. ८३५ के प्रश्न का आशय यह है कि यह जो स्त्रीप्रज्ञापनी—स्त्री के लक्षण बतलाने वाली, पुरुषप्रज्ञापनी—पुरुष के लक्षण बतलाने वाली तथा नपुंसकप्रज्ञापनी नपुंसक के लक्षण बतलाने वाली भाषा है, क्या यह प्रज्ञापनी भाषा है और सत्य है ? मृषा नहीं है ? इसका तात्पर्य यह है कि 'खट्वा', 'घटः' और 'वनम्' आदि क्रमशः स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग के शब्द हैं। ये शब्द व्यवहारबल से अन्यत्र भी प्रयुक्त होते हैं। इनमें से खट्वा (खाट) में विशिष्ट स्तन और केश आदि के लक्षण घटित नहीं होते, इसी तरह 'घटः' शब्द में पुरुष के लक्षण घटित नहीं होते और न 'वनम्' में नपुंसक के लक्षण घटित होते हैं, फिर भी इन तीनों में से स्त्रीलिंगी शब्द 'खट्वा' खट्वा पदार्थ का वाचक होता है, पुल्लिंगी शब्द 'घटः' घट पदार्थ का वाचक होता है तथा नपुंसकलिंगी 'वनम्' शब्द वन पदार्थ का वाचक होता है। ऐसी स्थिति में स्त्री आदि के लक्षण न होने पर भी स्त्रीलक्षण आदि कथन करने वाली भाषा प्रज्ञापनी एवं सत्य है या नहीं ? यह संशय उत्पन्न होता है।

भगवान् का उत्तर यह है कि जो भाषा-स्त्रीप्रज्ञापनी है, पुरुषप्रज्ञापनी है या नपुंसकप्रज्ञापनी है, वह भाषा प्रज्ञापनी है, मृषा नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि स्त्री आदि के लक्षण दो प्रकार के होते हैं—एक शाब्दिक व्यवहार के अनुसार, दूसरे वेद के अनुसार। शाब्दिक व्यवहार की अपेक्षा से किसी भी लिंग वाले शब्द का प्रयोग शब्दानुशासन के नियमानुसार या उस भाषा के व्यवहारानुसार करना प्रज्ञापनी भाषा है और वह सत्य है। इसी प्रकार वेद (रमणाभिलाषा) के अनुसार प्रतिपादन करना

इष्ट हो, तब स्त्री आदि के लक्षणानुसार उस-उस लिंग के शब्द का प्रयोग करना, वास्तविक अर्थ का निरूपण करना है, ऐसी भाषा प्रज्ञापनी होती है, मृषा नहीं होती। (५) सूत्र ८३६ के प्रश्न का आशय यह है कि जो जाति (सामान्य) के अर्थ में स्त्रीवचन (स्त्रीलिंग शब्द) है, जैसे—सत्ता तथा जाति के अर्थ में जो पुरुषवचन (पुल्लिग शब्द) है, जैसे भावः एवं जाति के अर्थ में जो नपुंसकवचन है, जैसे सामान्यम्, क्या यह भाषा प्रज्ञापनी और सत्य है, मृषा नहीं है ? इसका तात्पर्य यह कि जाति का अर्थ यहाँ सामान्य है। सामान्य का न तो लिंग के साथ कोई सम्बन्ध है और न ही संख्या (एकवचन, बहुवचन आदि) के साथ। अन्यतीर्थिकों ने तो वस्तुओं का लिंग और संख्या के साथ सम्बन्ध स्वीकार किया है। अतः यदि केवल जाति में एकवचन और नपुंसकलिंग संगत हो तो उसमें त्रिलिंगता संभव नहीं है, किन्तु जातिवाचक शब्द तीनों लिंगों में प्रयुक्त होते हैं, जैसे सत्ता आदि। ऐसी स्थिति में शंका होती है कि इस प्रकार की जात्यात्मक त्रिलिंगी भाषा प्रज्ञापनी एवं सत्य है या नहीं ? भगवान् का उत्तर है—जातिवाचक जो स्त्रीवचन, पुरुषवचन और नपुंसकवचन है, (जैसे—सत्ता, भावः और सामान्यम्), यह भाषा प्रज्ञापनी है, मृषा नहीं है, क्योंकि यहाँ जाति शब्द सामान्य का वाचक है। वह अन्यतीर्थीय-परिकल्पित एकान्तरूप से एक, निरवयव और निष्क्रिय नहीं है, क्योंकि ऐसा मानना प्रमाणबाधित है। वस्तुतः वस्तु का समान परिणमन ही सामान्य है और समानपरिणाम अनेकधर्मात्मक होता है। धर्म परस्पर भी और धर्मी से भी कथंचित् अभिन्न होते हैं। अतएव जाति में भी त्रिलिंगता सम्भव है। इस कारण यह भाषा प्रज्ञापनी है और मृषा नहीं है। (६) सूत्र ८३७ में प्ररूपित प्रश्न का आशय इस प्रकार है कि जो भाषा जाति की अपेक्षा से स्त्री-आज्ञापनी (स्त्री-आदेशदायिनी) होती है, जैसे कि 'यह क्षत्रियाणी ऐसा करे' तथा जो भाषा जाति की अपेक्षा से पुरुष-आज्ञापनी होती है, जैसे कि—'यह क्षत्रिय ऐसा करे', इसी प्रकार जो भाषा नपुंसक-आज्ञापनी (नपुंसक को आदेश देने वाली) है, क्या यह भाषा प्रज्ञापनी है ? यह भाषा मृषा तो नहीं है ? तात्पर्य यह है कि जिसके द्वारा किसी स्त्री आदि को कोई आज्ञा दी जाए, वह आज्ञापनीभाषा है। किन्तु जिसे आज्ञा दी जाए, वह उस आज्ञा के अनुसार क्रिया-सम्पादन करे ही, यह निश्चित नहीं है। अगर न करे तो वह आज्ञापनीभाषा अप्रज्ञापनी तथा मृषा कही जाए या नहीं ? इस शंका का निवारण करते हुए भगवान् कहते हैं हाँ, गौतम ! जाति की अपेक्षा से स्त्री, पुरुष, नपुंसक को आज्ञादायिनी आज्ञापनी भाषा प्रज्ञापनी ही है और वह मृषा नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि परलोकसम्बन्धी बाधा न पहुँचाने वाली जो आज्ञापनी भाषा स्वपरानुग्रह-बुद्धि से अभीष्ट कार्य को सम्पादन करने में समर्थ विनीत स्त्री आदि विनेय जनों को आज्ञा देने के लिए बोली जाती है, जैसे—'हे साध्वी ! आज शुभनक्षत्र है, अतः अमुक अंग का या श्रुतस्कन्ध का अध्ययन करो।' ऐसी आज्ञापनी भाषा प्रज्ञापनी है, निर्दोष है, सत्य है, किन्तु जो भाषा आज्ञापनी तो हो, किन्तु पूर्वोक्त तथ्य से विपरीत हो, अर्थात्—स्वपरपीडा-जनक हो तो वह भाषा अप्रज्ञापनी है और मृषा है। (७) सूत्र ८३८ में प्ररूपित प्रश्न का आशय यह है कि जो भाषा जाति की अपेक्षा स्त्रीप्रज्ञापनी हो, अर्थात् स्त्री के लक्षण (स्वरूप) का प्रतिपादन करने वाली हो, जैसे कि स्त्री स्वभाव से तुच्छ होती है, उसमें गौरव की बहुलता होती है, उसकी इन्द्रियां चंचल होती हैं, वह धैर्य रखने में दुर्बल होती है, तथा जो भाषा जाति की अपेक्षा से पुरुषप्रज्ञापनी यानी पुरुष के लक्षण (स्वरूप) का निरूपण करने वाली हो, यथा पुरुष स्वाभाविक रूप से गंभीर आशयवाला, विपत्ति आ पड़ने पर भी कायरता धारण न करने वाला होता है तथा धैर्य का परित्याग नहीं करता इत्यादि। इसी प्रकार जो भाषा जाति की अपेक्षा से नपुंसक के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली होती है, जैसे—नपुंसक स्वभाव से क्लीब होता है और वह मोहरूपी

वड़वानल की ज्वालाओं से जलता रहता है, इत्यादि। तात्पर्य यह है कि यद्यपि स्त्री, पुरुष और नपुंसक जाति के गुण नहीं होते हैं जो ऊपर बता आए हैं, तथापि कहीं किसी में अन्यथा भाव भी देखा जाता है। जैसे कोई स्त्री भी गंभीर आशयवाली और उत्कृष्ट सत्वशालिनी होती है, इसके विपरीत कोई पुरुष भी प्रकृति से तुच्छ, वर्षणशिल और जरा-सी विपत्ति आ पड़ने पर कायरता धारण करते देखे जाते हैं और कोई नपुंसक भी कम मोहवाला और सत्ववान् होता है। अतएव यह शंका उपस्थित होती है कि पूर्वोक्त प्रकार की भाषा प्रज्ञापनी समझी जाए या मृषा समझी जाए? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि जो स्त्रीप्रज्ञापनी या नपुंसकप्रज्ञापनी भाषा है, वह प्रज्ञापनी अर्थात् सत्य भाषा है, मृषा नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि जातिगण गुणों का निरूपण बाहुल्य को लेकर किया जाता है, एक-एक व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं। यही कारण है कि जब किसी समग्र जाति के गुणों का निरूपण करना होता है तो निर्मल बुद्धि वाले प्ररूपणकर्ता 'प्रायः' शब्द का प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं—'प्रायः ऐसा समझना चाहिए।' जहाँ 'प्रायः' शब्द का प्रयोग नहीं होता, वहाँ भी उसे प्रसंगवश समझ लेना चाहिए। अतः कदाचित् कहीं किसी व्यक्ति में जाति गुण से विपरीत पाई जाए तो भी बहुलता के कारण कोई दोष न होने से वह भाषा प्रज्ञापनी है, मृषा नहीं।

अबोध बालक-बालिका तथा ऊंट आदि की अनुपयुक्त—अपरिपक्व दशा की भाषा

८३९. अह भंते! मंदकुमारए वा मंदकुमारिया वा जाणइ बुयमाणे अहमेसे बुयामि अहमेसे बुयामीति?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे, णऽण्णत्थ सण्णिणो।

[८३९ प्र.] भगवन्! अब प्रश्न यह है कि क्या मन्द कुमार (अबोध नवजात शिशु) अथवा मन्द कुमारिका (अबोध बालिका) बोलती हुई ऐसा जानती है कि मैं बोल रही हूँ?

[८३९ उ.] गौतम! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है, सिवाय संज्ञी (अवधिज्ञानी, जातिस्मरण विशिष्ट पटु मन वाले) के।

८४०. अह भंते! मंदकुमारए वा मंदकुमारिया वा जाणइ आहारमाहारेमाणे अहमेसे आहारमाहारेमि अहमेसे आहारमाहारेमि त्ति?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे, णऽण्णत्थ सण्णिणो।

[८४० प्र.] भगवन्! क्या मन्द कुमार अथवा मन्द कुमारिका आहार करती हुई जानती है कि मैं इस आहार को करती हूँ?

[८४० उ.] गौतम! संज्ञी (अवधिज्ञानी आदि पूर्वोक्त) को छोड़ कर यह अर्थ समर्थ नहीं है।

८४१. अह भंते! मंदकुमारए वा मंदकुमारिया वा जाणइ अयं मे अम्मा-पियरो २?

गोयमा! णो इणट्ठे, समट्ठे, णऽण्णत्थ सण्णिणो।

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २४९ से २५२ तक
(ख) 'प्रज्ञाप्यतेऽर्थोऽनयेति प्रज्ञापनी, अर्थप्रतिपादनी, प्ररूपणीयेति यावत्
(ग) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ३, पृ. २४७ से २६० तक

[८४१ प्र.] भगवन् ! क्या मन्द कुमार अथवा मन्द कुमारिका यह जानती है कि ये मेरे माता-पिता हैं ?

[८४१ उ.] गौतम ! संज्ञी (पूर्वोक्त अवधिज्ञानी आदि) को छोड़कर यह अर्थ समर्थ नहीं है।

८४२. अह भंते ! मंदकुमारए वा मंदकुमारिया वा जाणइ अयं मे अतिराउले अयं मे अतिराउले त्ति ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, णऽण्णत्थ सण्णिणो।

[८४२ प्र.] भगवन् ! मन्द कुमार अथवा मन्द कुमारिका क्या यह जानती है कि यह मेरे स्वामी (अधिराज) का घर (कुल) है ?

[८४२ उ.] गौतम ! सिवाय संज्ञी (पूर्वोक्त अवधिज्ञानादि संज्ञायुक्त) के यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है।

८४३. अह भंते ! मंदकुमारए वा मंदकुमारिया वा जाणइ अयं मे भट्टिदारए अयं मे भट्टिदारए त्ति ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, णऽण्णत्थ सण्णिणो।

[८४३ प्र.] भगवन् ! क्या मन्द कुमार या मन्द कुमारिका यह जानती है कि यह मेरे भर्ता (स्वामी) का दारक (पुत्र) है।

[८४३ उ.] गौतम ! संज्ञी को छोड़कर यह अर्थ समर्थ नहीं है।

८४४. अह भंते ! उट्टे गोणे खरे घोडए अए एलए जाणइ भुयमाणे अहमेसे भुयामि अहमेसे भुयामि ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, णऽण्णत्थ सण्णिणो।

[८४४ प्र.] भगवन् ! इसके पश्चात् प्रश्न है कि ऊंट, बैल, गधा, घोड़ा, बकरा और भेड़ (इनमें से प्रत्येक) क्या बोलता हुआ यह जानता है कि मैं यह बोल रहा हूँ ? मैं यह बोल रहा हूँ ?

[८४४ उ.] गौतम ! संज्ञी (विशिष्ट ज्ञानवान् या जातिस्मरणज्ञानी) को छोड़ कर यह अर्थ (अन्य किसी ऊंट आदि के लिए) शक्य नहीं है।

८४५. अह भंते ! उट्टे जाव एलए जाणइ आहारेमाणे अहमेसे आहारेमि अहमेसे आहारेमि त्ति ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, णऽण्णत्थ सण्णिणो।

[८४५ प्र.] भगवन् ! (अब यह बताएँ कि) उष्ट्र से लेकर यावत् एलक (भेड़) तक (इनमें से प्रत्येक) आहार करता हुआ यह जानता है कि मैं यह आहार करता हूँ, मैं यह आहार कर रहा हूँ ?

[८४५ उ.] गौतम ! सिवाय संज्ञी के, यह अर्थ समर्थ नहीं है।

८४६. अह भंते ! उट्टे गोणे खरे घोडए अए एलए जाणइ अयं मे अम्मा-पियरो २ त्ति ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, णऽण्णत्थ सण्णिणो ।

[८४६ प्र.] भगवन् ! ऊँट, बैल, गधा, घोड़ा, अज और एलक (भेड़) क्या यह जानता है कि ये मेरे माता-पिता हैं ।

[८४६ उ.] गौतम ! सिवाय संज्ञी के यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

८४७. अह भंते ! उट्टे जाव एलए जाणइ अयं मे अतिराउले २ ?

गोयमा ! जाव णऽण्णत्थ सण्णिणो ।

[८४७ प्र.] भगवन् ! ऊँट, बैल, गधा, घोड़ा, बकरा और भेड़ा (या भेड़) क्या यह जानता है कि यह मेरे स्वामी का घर है ?

[८४७ उ.] गौतम ! संज्ञी को छोड़ कर, यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है ।

८४८. अह भंते ! उट्टे जाव एलए जाणइ अयं मे भट्टिदारए २ ?

गोयमा ! जाव णऽण्णत्थ सण्णिणो ।

[८४८ प्र.] भगवन् ! ऊँट से (लेकर) यावत् एलक (भेड़) तक (का जीव) क्या यह जानता है कि यह मेरे स्वामी का पुत्र है ?

[८४८ उ.] गौतम ! सिवाय संज्ञी (पूर्वोक्त विशिष्ट ज्ञानवान्) के (अन्य के लिए) यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है ।

विवेचन—**अबोध बालक-बालिका तथा ऊँट आदि के अनुपयुक्त-अपरिपक्व दशा की भाषा का निर्णय**—प्रस्तुत दस सूत्रों (सू. ८३९ से ८४८ तक) में से पांच सूत्र अबोध कुमार-कुमारिका से सम्बन्धित हैं और पांच सूत्र ऊँट आदि पशुओं से सम्बन्धित हैं ।

पंचसूत्री का निष्कर्ष—अवधिज्ञानी, जातिस्मरणज्ञानी या विशिष्टक्षयोपशम वाले नवजात शिशु (बच्चा या बच्ची) के सिवाय अन्य कोई भी अबोध शिशु बोलता हुआ यह नहीं जानता कि मैं यह बोल रहा हूँ; वह आहार करता हुआ भी यह नहीं जानता कि मैं यह आहार कर रहा हूँ; वह यह जानने में भी समर्थ नहीं होता कि ये मेरे माता-पिता हैं; यह मेरे स्वामी का घर है, अथवा यह मेरे स्वामी का पुत्र है ।

उष्ट्र आदि से सम्बन्धित पंचसूत्री का निष्कर्ष—उष्ट्रादि के सम्बन्ध में भी शास्त्रकार ने पूर्वोक्त पंचसूत्री जैसी भाषा की पुनरावृत्ति की है, इसलिए इस पंचसूत्री का भी निष्कर्ष यही है कि विशिष्ट ज्ञानवान् या जातिस्मरणज्ञानी (संज्ञी) के सिवाय किसी भी ऊँट आदि को इन या ऐसी अन्य बातों का बोध नहीं होता । वृत्तिकार ने उष्ट्रादि की पंचसूत्री के सम्बन्ध में एक विशेष बात सूचित की है कि प्रस्तुत पंचसूत्री में ऊँट आदि अति शैशवावस्था वाले ही समझना चाहिए, परिपक्व वय वाले नहीं; क्योंकि परिपक्व अवस्था वाले ऊँट आदि को तो इन बातों का परिज्ञान होना सम्भव है ।[1]

१. (क) पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ) भा. १, पृ. २१०-२११
(ख) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २५२

भाषा के सन्दर्भ में ही यह दशसूत्री : एक स्पष्टीकरण—इससे पूर्व सूत्रों में भाषाविषयक निरूपण किया गया था। अतः इन दस सूत्रों में भी परोक्षरूप से भाषा से सम्बन्धित कुछ विशेष बातों की प्ररूपणा की गई है। इस दससूत्री पर से फलित होता है कि भाषा दो प्रकार की होती है—एक सम्यक् प्रकार से उपयुक्त (उपयोग वाले) संयत की भाषा और दूसरी अनुपयुक्त (उपयोगशून्य) असंयत जन की भाषा। जो पूर्वापरसम्बन्ध को समझ कर एवं श्रुतज्ञान के द्वारा अर्थों का विचार करके बोलता है, वह सम्यक् प्रकार से उपयुक्त कहलाता है वह जानता है कि मैं यह बोल रहा हूँ, किन्तु जो इन्द्रियों की अपटुता (अविकास) के कारण अथवा वात आदि के विषम या विकृत हो जाने से, चैतन्य का विघात हो जाने से विक्षिप्तचित्तता, उन्माद, पागलपन या नशे की दशा में पूर्वापर-सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता; अतएव जैसे-तैसे मानसिक कल्पना करके बोलता है, वह अनुपयुक्त कहलाता है। उस स्थिति में वह यह भी नहीं जानता कि मैं क्या बोल रहा हूँ? क्या खा रहा हूँ? कौन मेरे माता-पिता हैं? मेरे स्वामी का घर कौनसा है? तथा मेरे स्वामी का पुत्र कौनसा है? अतः ऐसी अनुपयुक्त दशा (मन्द या विकृत चैतन्यावस्था) में वह जो कुछ भी बोलता है, वह भाषा सत्य नहीं है ऐसा शास्त्रकार का आशय प्रतीत होता है। यही बात उष्ट्रादि के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।[1]

'मन्द कुमार, मन्द कुमारिका' की भाषा की व्याख्या—बालक आदि भी बोलते देखे जाते हैं, परन्तु उनकी भाषा, पूर्वोक्त चार भेदों में से कौन-सी है; इसी शंका को लेकर श्रीगौतम स्वामी के ये प्रश्न हैं। मन्द कुमार का अर्थ—सरल आशय वाला, नवजात शिशु या अबोध नन्हा बच्चा, जिसका बोध (समझ) अभी परिपक्व नहीं है, जो अभी तुतलाता हुआ बोलता है, जिसे पदार्थों का बहुत ही कम ज्ञान है। इसी प्रकार की मन्द कुमारिका भी अबोध शिशु है। इस प्रकार के अबोध शिशु के सम्बन्ध में प्रश्न है कि जब वह भाषायोग्य पुद्गलों को ग्रहण करके एवं उन्हें भाषा के रूप में परिणत करके वचन रूप में उत्सर्ग करता है, तब क्या उसे मालूम रहता है कि मैं यह बोल रहा हूँ, या मैं यह खा रहा हूँ, या ये मेरे माता-पिता हैं, अथवा यह मेरे स्वामी का घर है, या यह मेरे स्वामी का पुत्र है? भगवान् कहते हैं—सिवाय संज्ञी के, ऐसा होना शक्य नहीं है। यद्यपि वह अबोध शिशु भाषा और मन की पर्याप्ति से पर्याप्त है, फिर भी उसका मन अभी तक अपटु (अविकसित) है। मन की अपटुता के कारण उसका क्षयोपशम भी मन्द होता है। श्रुतज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम प्रायः मनोरूप करण की पटुता के आश्रय से उत्पन्न होता है, यही शास्त्रसम्मत एवं लोकप्रत्यक्ष है।

संज्ञी की व्याख्या—यहाँ संज्ञी शब्द का अर्थ समनस्क अभिप्रेत नहीं है, किन्तु संज्ञा से युक्त है। संज्ञा का अर्थ है—अवधिज्ञान, जातिस्मरणज्ञान या मन की विशिष्ट पटुता। जो शिशु या जो उष्ट्रादि शैशवावस्था में होते हुए भी इस प्रकार की विशिष्ट संज्ञा से युक्त (संज्ञी) होते हैं, वे तो इन बातों को जानते हैं।[2]

एकवचनादि तथा स्त्रीवचनादि से युक्त भाषा की प्रज्ञापनिता का निर्णय

८४९. **अह भंते ! मणुस्से महिसे आसे हत्थी सीहे वग्घे वगे दीविए अच्छे तरच्छे परस्सरे रासभे सियाले विराले सुणए कोलसुणए कोकंतिए ससए चित्तए चिल्ललए जे यावऽण्णे तहप्पगारा सव्वा सा एगवयू ?**

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २५२-२५३

२. वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक २५२-२५३

हंता गोयमा ! मणुस्से जाव चिल्ललए जे यावऽण्णे तहप्पगारा सव्वा सा एगवयू ।

[८४९ प्र.] भगवन् ! मनुष्य, महिष (भैंसा), अश्व, हाथी, सिंह, व्याघ्र, वृक (भेड़िया), द्वीपिक (दीपड़ा), ऋक्ष (रीछ=भालू), तरक्ष, पाराशर (गेंडा), रासभ (गधा), सियार, विडाल (बिचाव), शुनक, (कुत्ता=श्वान), कोलशुनक (शिकारी कुत्ता), कोकन्तिकी (लोमड़ी), शशक (खरगोश), चीता (चित्रक) और चिल्ललक (अन्य हिंस्र पशु), ये और इसी प्रकार के जो (जितने) भी अन्य जीव हैं, क्या वे सब एकवचन हैं ?

[८४९ उ.] हाँ गौतम ! मनुष्य से लेकर चिल्ललक तक तथा ये और अन्य जितने भी इसी प्रकार के प्राणी हैं, वे सब एकवचन हैं ।

८५०. अह भंते ! मणुस्सा जाव चिल्ललगा जे यावऽण्णे तहप्पगारा सव्वा सा बहुवयू ?

हंता गोयमा ! मणुस्सा जाव चिल्ललगा सव्वा सा बहुवयू ।

[८५० प्र.] भगवन् ! मनुष्यों (बहुत-से मनुष्य) से लेकर बहुत चिल्ललक तथा ये और इसी प्रकार के जो अन्य प्राणी हैं, वे सब क्या बहुवचन हैं ?

[८५० उ.] हाँ गौतम ! मनुष्यों (बहुत से मनुष्य) से लेकर बहुत चिल्ललक तक तथा अन्य इसी प्रकार के प्राणी, ये सब बहुवचन हैं ।

८५१. अह भंते ! मणुस्सी महिसी वलवा हत्थिणिया सीही वग्घी वगी दीविया अच्छी तरच्छी परस्सरी सियाली विराली सुणिया कोलसुणिया कोक्कंतिया ससिया चित्तिया चिल्ललिया जा यावऽण्णा तहप्पगारा सव्वा सा इत्थिवयू ?

हंता गोयमा ! मणुस्सी जाव चिल्ललिया जा यावऽण्णा तहप्पगारा सव्वा सा इत्थिवयू ।

[८५१ प्र.] भगवन् ! मानुषी (स्त्री), महिषी (भैंस), वडवा (घोड़ी), हस्तिनी (हथिनी), सिंही (सिंहनी), व्याघ्री, वृकी (भेड़िनी), द्वीपिनी, रीछनी, तरक्षी, पराशरा (गेंडी), रासभी (गधी), शृगाली (सियारनी), बिल्ली, कुत्ती (कुतिया), शिकारी कुत्ती, कोकन्तिका (लोमड़ी), शशकी (खरगोशनी), चित्रकी (चित्ती), चिल्ललिका, ये और अन्य इसी प्रकार के (स्त्रीजाति विशिष्ट) जो भी (जीव) हैं, क्या वे सब स्त्रीवचन हैं ?

[८५१ उ.] हाँ, गौतम ! मानुषी से (लेकर) यावत् चिल्ललिका, ये और अन्य इसी प्रकार के जो भी (जीव) हैं, वे सब स्त्रीवचन हैं ।

८५२. अह भंते ! मणुस्से जाव चिल्ललए जे यावऽन्ने तहप्पगारा सव्वा सा पुमवयू ?

हंता गोयमा ! मणुस्से महिसे आसे हत्थी सीहे वग्घे वगे दीविए अच्छे तरच्छे परस्सरे सियाले विराले सुणए कोलसुणए कोक्कंतिए ससए चित्तए चिल्ललए जे यावऽण्णे तहप्पगारा सव्वा सा पुमवयू ।

[८५२ प्र.] भगवन् ! मनुष्य से लेकर यावत् चिल्ललक तक तथा जो अन्य भी इसी प्रकार के प्राणी (नर जीव) हैं, क्या वे सब पुरुषवचन (पुल्लिंग) हैं ?

[८५२ उ.] हाँ, गौतम ! मनुष्य, महिष, (भैंसा), अश्व, हाथी, सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, दीपड़ा रीछ तरक्ष, पाराशर (गेंडा), सियार, विडाल, (बिलाव), कुत्ता, शिकारीकुत्ता, कोकन्तिक, (लोमड़ा), शशक (खरगोश), चीता और चिल्ललक तथा ये और इसी प्रकार के अन्य जो भी प्राणी हैं, वे सब पुरुषवचन (पुल्लिग) हैं।

८५३. अह भंते ! कंसं कंसोयं परिमंडलं सेलं थूभं जालं थालं तारं रूवं अच्छि मच्छं कुंडं पउमं वुद्धं दहियं णवणीयं आसणं सयणं भवणं विमाणं छत्तं चामरं भिंगारं अंगणं निरंगणं आभरणं रयणं जे यावऽण्णे तहप्पगारा सव्वं तं णपुंसगवयू ?

हंता गोयमा ! कंसं जाव रयणं जे यावऽण्णे तहप्पगारा सव्वं तं णपुंसगवयू ।

[८५३ प्र.] भगवन् ! कांस्य (कांसा), कंसोक (कसोल), परिमण्डल, शैल, स्तूप, जाल, स्थाल, तार, रूप, अक्षि, (नेत्र), पर्व (पोर), कुण्ड, पद्म, दुग्ध (दूध), दधि (दही), नवनीत (मक्खन), आसन, शयन, भवन, विमान, छत्र, चामर, भृंगार, अंगन (आंगन), निरंगन (निरंजन), आभरण (आभूषण) और रत्न, ये और इसी प्रकार के अन्य जितने भी (शब्द) हैं, वे सब क्या (संस्कृत-प्राकृत भाषानुसार) नपुंसकवचन (नपुंसकलिंग) हैं ?

[८५३ उ.] हाँ, गौतम ! कांस्य से लेकर रत्न तक (तथा) इसी प्रकार के अन्य जितने भी (शब्द) हैं, वे सब नपुंसकवचन हैं।

८५४. अह भंते ! पुढवीति इत्थीवयू आउ त्ति पुमवयू, धण्णे त्ति णपुंसगवयू, पण्णवणी णं एसा भासा ? ण एसा भासा मोसा ?

हंता गोयमा ! पुढवी त्ति इत्थिवयू आउ त्ति पुमवयू, धण्णे त्ति णपुंसगवयू पण्णवणी णं एसा भासा, ण एसा भासा मोसा ।

[८५४ प्र.] भगवन् ! पृथ्वी यह (शब्द) स्त्रीवचन (स्त्रीलिंग) है, आउ (पानी) यह (शब्द) पुरुषवचन (पुल्लिग) है और धान्य, यह (शब्द) नपुंसकवचन (नपुंसकलिंग) है, क्या यह भाषा प्रज्ञापनी है ? क्या यह भाषा मृषा नहीं है ?

[८५४ उ.] हाँ गौतम ! पृथ्वी, यह (शब्द) स्त्रीवचन है, अप् (पानी) यह (प्राकृत में) पुरुषवचन है और धान्य, यह (शब्द) नपुंसकवचन है। यह भाषा प्रज्ञापनी है, यह भाषा मृषा नहीं है।

८५५. अह भंते ! पुढवीति इत्थीआणमणी आउ त्ति पुमआणमणी धण्णे त्ति नपुंसगाणमणी पण्णवणी णं एसा भासा ? ण एसा भासा मोसा ?

हंता गोयमा ! पुढवीति इत्थिआणमणी, आउ त्ति पुमआणमणी, धण्णे त्ति णपुंसगआणमणी, पण्णवणी णं एसा भासा, ण एसा भासा मोसा ।

[८५५ प्र.] भगवन् ! पृथ्वी, यह (भाषा) स्त्री-आज्ञापनी है, अप् यह (भाषा) पुरुष-आज्ञापनी है और धान्य, यह (भाषा) नपुंसक-आज्ञापनी है, क्या यह भाषा प्रज्ञापनी है ? क्या यह भाषा मृषा नहीं है ?

[८५५ उ.] हाँ, गौतम ! पृथ्वी, यह (जो) स्त्री-आज्ञापनी (भाषा) है, अप्, यह (जो) पुरुष-आज्ञापनी (भाषा) है और धान्य, यह (जो) नपुंसक-आज्ञापनी (भाषा) है, यह भाषा प्रज्ञापनी है, यह भाषा मृषा नहीं है।

८५६. अह भंते ! पुढवीति इत्थिपण्णवणी आउ त्ति पुमपण्णवणी धण्णे त्ति णपुंसगपण्णवणी आराहणी णं एसा भासा ? ण एसा भासा मोसा ?[1]

हंता गोयमा ! पुढवीति इत्थिपण्णवणी आउ त्ति पुमपण्णवणी धण्णे त्ति णपुंसगपण्णवणी आराहणी णं एसा भासा, ण एसा भासा मोसा ।

[८५६ प्र.] भगवन् ! पृथ्वी, यह (जो) स्त्री-प्रज्ञापनी (भाषा) है, अप्, यह (जो) पुरुष-प्रज्ञापनी (भाषा) है और धान्य, यह (जो) नपुंसक-प्रज्ञापनी (भाषा) है, क्या यह भाषा आराधनी है ? क्या यह भाषा मृषा नहीं है ।

[८५६ उ.] हाँ, गौतम ! पृथ्वी, यह (जो) स्त्री-प्रज्ञापनी (भाषा) है, अप्, यह (जो) पुरुष-प्रज्ञापनी (भाषा) है और धान्य, यह (जो) नपुंसक-प्रज्ञापनी (भाषा) है, यह भाषा आराधनी है। यह भाषा मृषा नहीं है ।

८५७. इच्चेवं भंते ! इत्थिवयणं वा पुमवयणं वा णपुंसगवयणं वा वयमाणे पण्णवणी णं एसा भासा ? ण एसा भासा मोसा ?

हंता गोयमा ! इत्थिवयणं वा पुमवयणं वा णपुंसगवयणं वा वयमाणे पण्णवणी णं एसा भासा, ण एसा भासा मोसा ।

[८५७ प्र.] भगवन् ! इसी प्रकार स्त्रीवचन या पुरुषवचन अथवा नपुंसकवचन बोलते हुए (व्यक्ति की) क्या यह भाषा प्रज्ञापनी है ? क्या यह भाषा मृषा नहीं है ?

[८५७ उ.] हाँ, गौतम ! स्त्रीवचन, पुरुषवचन, अथवा नपुंसकवचन बोलते हुए (व्यक्ति की) यह भाषा प्रज्ञापनी है, यह भाषा मृषा नहीं है।

विवेचन—एकवचनादि तथा स्त्रीवचनादि विशिष्ट भाषा की प्रज्ञापनिता का निर्णय—
प्रस्तुत नौ सूत्रों (सू. ८४९ से ८५७ तक) में प्रज्ञापनी भाषा के विषय में वचन, लिंग, आज्ञापन, प्रज्ञापन आदि की अपेक्षा से निर्णयात्मक विचार प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत नौ सूत्रोक्त प्रश्नोत्तरों की व्याख्या (१) सू. ८४९ में प्ररूपित प्रश्न का आशय यह है कि मनुष्य से चिल्ललक तक के तथा इसी प्रकार के अन्य शब्द एकत्ववाचक होने से क्या एकवचन हैं ? अर्थात् —इस प्रकार की भाषा क्या एकत्वप्रतिपादिका भाषा है ? तात्पर्य यह है कि वस्तु धर्म-धर्मिसमुदायात्मक होती है, और प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म पाए जाते हैं। 'मनुष्य' कहने से धर्म-धर्मिसमुदायात्मक सकल (अखण्ड), परिपूर्ण वस्तु की प्रतीति होती है, ऐसा ही व्यवहार भी देखा जाता है ,किन्तु एक पदार्थ के लिए एकवचन का और बहुत-से पदार्थों के लिए बहुवचन का प्रयोग होता है। इस दृष्टि से यहाँ 'मनुष्य', इस प्रकार का एकवचन का प्रयोग किया गया है, जबकि

---

१ ग्रन्थाग्रम् ४०००।

एकत्वविशिष्ट मनुष्य से मनुष्यगत अनेक धर्मों का बोध होता है। लोक में तो एकवचन के द्वारा व्यवहार होता है। ऐसी स्थिति में क्या मनुष्य आदि के लिए एकत्वप्रतिपादिका भाषा के रूप में एकवचनान्त प्रयोग समीचीन है ?

भगवान् का उत्तर है– मनुष्य से लेकर चिल्ललक तक तथा इसी प्रकार के अन्य जितने भी शब्द हैं, वह सब एकत्ववाचक भाषा है। तात्पर्य यह है कि शब्दों की प्रवृत्ति विवक्षा के अधीन है और विवक्षा वक्ता के विभिन्न प्रयोजनों के अनुसार कभी और कहीं एक प्रकार की होती है, तो कभी और कहीं उससे भिन्न प्रकार की, अतः विवक्षा अनियत होती है। उदाहरणार्थ—किसी एक ही व्यक्ति को उसका पुत्र पिता के रूप में विवक्षित करता है, तब वह व्यक्ति पिता कहलाता है तथा वही पुत्र उसे अपने अध्यापक के रूप में विवक्षित करता है, तब वही व्यक्ति 'उपाध्याय' कहलाने लगता है। इसी प्रकार यहाँ भी जब धर्मों को गौण करके धर्मी को प्रधानरूप से विवक्षा की जाती है तब धर्मी होने से एकवचन का ही प्रयोग होता है। उस समय समस्त धर्म, धर्मी के अन्तर्गत हो जाते हैं। इस कारण सम्पूर्ण वस्तु की प्रतीति हो जाती है। किन्तु जब धर्मी (मनुष्य) को गौण-रूप में विवक्षा की जाती है और धर्मों की प्रधानरूप से विवक्षा की जाती है, तब धर्म बहुत होने के कारण धर्मी एक होने पर भी बहुवचन का प्रयोग होता है। निष्कर्ष यह है कि जब धर्मी से धर्मों को अभिन्न मान कर एकत्व की विवक्षा की जाती है तब एकवचन का प्रयोग होता है और जब धर्मी को गौण करके अनेक धर्मों की प्रधानता से विवक्षा की जाती है तब बहुवचन का प्रयोग होता है। यहाँ भी अनन्तधर्मात्मक वस्तु मनुष्य आदि भी धर्मी के एक होने से एकवचन द्वारा प्रतिपादित की जा सकती है। इसलिए यह भाषा एकत्वप्रतिपादिका है। (२) सूत्र ८५० में प्ररूपित प्रश्न का आशय यह है कि 'मनुष्याः' से 'चिल्ललकाः' तक तथा इसी प्रकार के अन्य बहुवचनान्त जो शब्द हैं, वह सब क्या बहुत्वप्रतिपादक वाणी है ? इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य आदि पूर्वोक्त शब्द जातिवाचक है और जाति का अर्थ है—सामान्य। सामान्य के लिए कहा जाता है कि वह एक होता है तथा नित्य, निरवयव, अक्रिय और सर्वव्यापी होता है। ऐसी स्थिति में ये जातिवाचक शब्द बहुवचनान्त कैसे हो सकते हैं ? जबकि इन शब्दों का प्रयोग बहुवचन में देखा गया है। यही इस पृच्छा का कारण है। भगवान् के उत्तर का आशय यह है कि 'मनुष्याः' से लेकर 'चिल्ललकाः' तक जो बहुवचनान्त शब्द है, वह सब बहुत्वप्रतिपादिका वाणी है। इसका कारण यह है कि यद्यपि पूर्वोक्त 'मनुष्याः' आदि शब्द जातिवाचक हैं, तथापि जाति सदृश परिणामरूप होती है और सदृश परिणाम विसदृश परिणाम का अविनाभावी होता है; अर्थात् सामान्यपरिणाम और असमानपरिणाम या सदृशता और विसदृशता साथ-साथ ही रहते हैं और दोनों में कथंचित् अभेद भी है। अतः जब असमानपरिणाम से युक्त समानपरिणाम की प्रधानता से विवक्षा की जाती है और असमानपरिणाम प्रत्येक व्यक्ति (विशेष) में भिन्न-भिन्न होता है; अतएव जब उसका कथन किया जाता है, तब बहुवचन-प्रयोग संगत ही है, जैसे—'घटाः' इत्यादि बहुवचन के समान। जब केवल एक ही समानपरिणाम की प्रधानता से विवक्षा की जाती है, और असमानपरिणाम को गौण कर दिया जाता है, तब सर्वत्र समानपरिणाम एक ही होता है, अतएव उसके प्रतिपादन करने में एकवचन का प्रयोग भी संगत है, जैसे—'सर्व घट पृथुबुध्नोदराकार (मोटा और गोल पेट के आकार का) होता है।' यहाँ 'मनुष्याः' इत्यादि शब्दप्रयोगों में असमानपरिणाम से युक्त समानपरिणाम की ही प्रधानता से विवक्षा की गई है और असमानपरिणाम अनेक होता है। इस

कारण यहाँ बहुवचन का प्रयोग उचित है। (३) सूत्र ८५१ में प्ररूपित प्रश्न का आशय यह है कि 'मानुषी से लेकर 'चिल्ललिका' तक तथा इसी प्रकार के अन्य 'आ' एवं 'ई' अन्त वाले जितने भी शब्द हैं, क्या वे सब स्त्रीवचन हैं? अर्थात्—यह सब क्या स्त्रीत्व की प्रतिपादिका भाषा है? इस पृच्छा का तात्पर्य यह है कि यहाँ सर्व वस्तु त्रिलिंगी है। जैसे—यह '(अयं) मृत्रूपः' (मिट्टी के रूप में परिणत) है, यहाँ पुल्लिग है, '(इयं) मृत्परिणति घटाकार परिणति है' यहाँ स्त्रीलिंग है, और '(इदं) वस्तु' है, यहाँ नपुंसकलिंग है। इस प्रकार यहाँ एक ही वाच्य को तीनों लिंगों के प्रतिपादक वचनों द्वारा प्रतिपादित किया गया है। ऐसी स्थिति में केवल एक स्त्रीलिंग मात्र का प्रतिपादक शब्द तीनों लिंगों के द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु का यथार्थरूप में वाचक कैसे हो सकता है? 'नरसिंह' शब्द में केवल 'नर' शब्द या केवल 'सिंह' शब्द दोनों --नर एवं सिंह - का वाचक नहीं हो सकता, किन्तु लोकव्यवहार में स्त्रीलिंगी शब्द अपने-अपने वाच्य के वाचक देखे जाते हैं। अतः प्रश्न होता है कि क्या इस प्रकार के सभी वचन स्त्रीत्व के प्रतिपादक होते हैं? भगवान् का उत्तर 'हाँ' में है। मानुषी से लेकर चिल्लिका तक तथा इसी प्रकार के अन्य 'आ' 'ई' अन्त वाले शब्द स्त्रीवचन हैं, अर्थात्— स्त्रीलिंग-विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादक हैं। इसका भावार्थ इस प्रकार है--यद्यपि वस्तु अनेक धर्मात्मक होती है, तथापि शब्दशास्त्र का न्याय यह है कि जिस धर्म से विशिष्ट वस्तु का प्रतिपादन करना इष्ट होता है, उसे मुख्य करके उसी धर्म से विशिष्ट धर्मी का प्रतिपादन किया जाता है, उसके सिवाय शेष जो भी धर्म होते हैं, उन्हें गौण करके अविवक्षित कर दिया जाता है। जैसे—किसी पुरुष में पुरुषत्व भी है, शास्त्रज्ञता भी है, दातृत्व, भोक्तृत्व, जनत्व तथा अध्यापकत्व भी है, फिर भी जब उसका पुत्र उसे आता देखता है तो कहता है—पिताजी आ रहे हैं; उसका शिष्य कहता है—उपाध्याय आ रहे हैं; वैसे ही यहाँ भी मानुषी आदि सभी शब्द यद्यपि त्रिलिंगात्मक हैं, तथापि योनि, मृदुता, अस्थिरता, चपलता आदि (स्त्रीत्व) की प्रधानता से विवक्षा करके, उससे विशिष्ट धर्मों को प्रधान करके जब (मानुषी आदि) धर्मी का प्रतिपादन किया जाता है, तब मानुषी आदि भाषा स्त्रीवाक्— अर्थात्—स्त्रीत्व-प्रतिपादिका भाषा कहलाती है। (४-५) सूत्र ८५२ एवं ८५३ में प्ररूपित प्रश्नों के कारण भी पूर्ववत् समझना चाहिए कि —(४) मनुष्य से लेकर चिल्ललक तक शब्द तथा इसी प्रकार के अन्य शब्द क्या पुरुषवाक् हैं—अर्थात् क्या यह सब पुल्लिगप्रतिपादक भाषा है? तथा (५) कांस्य से लेकर रत्न तक के शब्द तथा इसी प्रकार के अन्य शब्द क्या नपुंसकवचन हैं, अर्थात् —क्या यह सब नपुंसकलिंग प्रतिपादक भाषा है? इनके उत्तर का भी आशय पूर्ववत् ही समझना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि यद्यपि मनुष्य आदि शब्द तथा कांस्यादि शब्द त्रिलिंगात्मक हैं, फिर भी प्रधानरूप से पुंस्त्व धर्म अथवा नपुंसकत्व धर्म की विवक्षा के कारण इन्हें क्रमशः पुल्लिग (पुरुषवचन) तथा नपुंसकलिंग (नपुंसकवचन) कहा जाता है। (६) सूत्र ८५४ के प्रश्नोत्तर का निष्कर्ष यह है कि 'पृथ्वी' यह स्त्रीवाक् (स्त्रीलिंग विशिष्ट अर्थ की प्रतिपादिका भाषा) है, 'अप' शब्द पुवाक् (पुल्लिगविशिष्ट अर्थ की प्रतिपादिका भाषा) है तथा 'धान्यं' शब्द नपुंसकवाक् (नपुंसकलिंगविशिष्ट अर्थ की प्रतिपादिका भाषा) है, यह भाषा प्रज्ञापनी अर्थात् सत्य है, मृषा नहीं है, क्योंकि यह सत्य अर्थ का प्रतिपादन करती है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि 'आऊ' (अप्=जल) शब्द प्राकृत भाषा के व्याकरणानुसार पुल्लिग है, संस्कृत भाषा के अनुसार तो वह स्त्रीलिंग ही है। (७) सू. ८५५ में प्ररूपित प्रश्न का आशय है कि 'पृथ्वी' कुरु, पृथ्वीमानय' (पृथ्वी को बनाओ, पृथ्वी लाओ), इस प्रकार जो स्त्री (स्त्रीलिंग की) आज्ञापनी भाषा है; आपः आनय (पानी लाओ), इस प्रकार जो पुरुष (पुल्लिग की) आज्ञापनी भाषा है तथा धान्यं आनय (धान्य लाओ) इस प्रकार की जो नपुंसक (नपुंसकलिंग की)

अज्ञापनी भाषा है, क्या यह भाषा प्रज्ञापनी है ? मृषा नहीं है ? भगवान् ने इसका स्वीकृतिसूचक उत्तर दिया है, जिसका आशय यह है कि पूर्वोक्त तीनों स्थानों पर क्रमशः स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग की ही विवक्षा होने से, अन्य धर्मों को गौण करके, उन्हीं से विशिष्ट पृथ्वी, अप् एवं धान्यरूप धर्मों का यह भाषा प्रतिपादन करती है। (८) सू. ८५६ में प्ररूपित प्रश्न का आशय यह है कि 'पृथ्वी' इस प्रकार की स्त्रीप्रज्ञापनी (स्त्रीत्वस्वरूप की प्ररूपणी), 'आप' इस प्रकार की पुरुष-प्रज्ञापनी (पुंस्त्वस्वरूप-प्ररूपणी) तथा 'धान्यं' इस प्रकार की नपुंसक-प्रज्ञापनी (नपुंसकत्वरूप-प्ररूपणी) भाषा क्या आराधनी (मुक्तिमार्ग की अविरोधिनी) भाषा है। यह भाषा मृषा तो नहीं है ? अर्थात्—इस प्रकार कहने वाले साधक को मिथ्याभाषण का प्रसंग तो नहीं होता ? भगवान् ने इसके उत्तर में कहा कि यह भाषा आराधनी (मोक्षमार्ग के आराधन के योग्य) भाषा है, यह मृषा नहीं है; क्योंकि यह भाषा शाब्दिक व्यवहार की अपेक्षा से यथार्थ वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करने वाली है। (९) सू. ८५७ में प्ररूपित प्रश्न समुच्चयरूप से अतिदेशात्मक है। उसका आशय यह है कि पूर्वोक्त प्रकार से अन्य भी स्त्रीलिंगप्रतिपादक को स्त्रीवचन, पुल्लिंगप्रतिपादक को पुरुषवचन तथा नपुंसकलिंग-प्रतिपादक को नपुंसकवचन के रूप में कहे जाने पर क्या वक्ता की वह भाषा प्रज्ञापनी (सत्य) है, मृषा नहीं है ? भगवान् इसका उत्तर भी स्वीकृतिसूचक देते हैं। जिसका आशय है कि यह प्रज्ञापनी है, शाब्दिक (शब्दानुशासन के) व्यवहार के अनुसार इसमें कोई दोष नहीं है। दोष तो तभी होता है, जब वस्तुस्वरूप कुछ और हो और कथन अन्य रूप में किया जाये। जिस वस्तु का जैसा वस्तुस्वरूप है, उसे वैसा ही कहा जाए तो उसमें क्या दोष है ?[1]

विविध दृष्टियों से भाषा का सर्वांगीण स्वरूप

८५८. भासा णं भंते ! किमादीया किंपहवा किंसंठिया किंपज्जवसिया ?

गोयमा ! भासा णं जीवादीया सरीरपहवा वज्जसंठिया लोगंतपज्जवसिया पण्णत्ता।

[८५८ प्र.] भगवन् ! भाषा की आदि (मूल कारण) क्या है ? (कहाँ से है ?) (भाषा का) प्रभव (उत्पत्ति)—स्थान क्या है ? (भाषा) का आकार कैसा है ? भाषा का पर्यवसान (अन्त) कहाँ होता है ?

[८५८ उ.] गौतम ! भाषा की आदि (मूल कारण) जीव है। (उसका) प्रभव (उत्पाद-स्थान) शरीर है। (भाषा) वज्र के आकार की है। लोक के अन्त में उसका पर्यवसान (अन्त) होता है, ऐसा कहा गया है।

८५९. भासा कओ य पहवति ? कतिहिं च समएहिं भासती भासं ?।
भासा कतिप्पगारा ? कति वा भासा अणुमयाओ ? ॥१९२॥
सरीरप्पहवा भासा, दोहि य समएहिं भासती भासं।
भासा चउप्पगारा, दोण्णि य भासा अणुमयाओ ॥१९३॥

[८५९-प्रश्नात्मक गाथार्थ] भाषा कहाँ से उद्भूत होती है ? भाषा कितने समयों में बोली जाती है ? भाषा कितने प्रकार की है ? और कितनी भाषाएँ अनुमत हैं ? ॥१९२॥

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २४५-२४५
(ख) प्रज्ञापनासूत्र प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ३, पृ. २८० से २९३ तक

[८५९-उत्तरात्मक गाथार्थ] भाषा का उद्भव (उत्पत्ति) शरीर से होता है। भाषा दो समयों में बोली जाती है। भाषा चार प्रकार की है, उनमें से दो भाषाएँ (भगवान् द्वारा बोलने के लिए) अनुमत हैं॥१९३॥

विवेचन—विविध दृष्टियों से भाषा का सर्वांगीण स्वरूप—प्रस्तुत दो सूत्रों में भाषा के आदि कारण, उत्पत्तिस्थान, आकार, अन्त, बोलने के समय, प्रकार, अनुमतियोग्य प्रकार आदि का निरूपण किया गया है।

भाषा का मौलिक कारण—भाषा के उपादान कारण के अतिरिक्त उसका (आदि) मूल कारण क्या है? यह प्रथम प्रश्न है। उत्तर यह है कि अवबोधबीज भाषा का मूलकारण जीव है, क्योंकि जीव के तथाविध उच्चारणादि प्रयत्न के बिना अवबोधबीज भाषा की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने कहा है—[1] औदारिक, वैक्रिय और आहारक, इन तीनों शरीरों में जीव से सम्बद्ध जीव-(आत्म) प्रदेश होते हैं, जिनसे जीव भाषा द्रव्यों को ग्रहण करता है। तत्पश्चात् ग्रहणकर्त्ता (वह भाषक जीव) उस भाषा को बोलता है अर्थात् गृहीत भाषाद्रव्यों का त्याग करता है।

भाषा का प्रभव—उत्पत्ति कहाँ से?—इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि भाषा शरीर-प्रभवा है अर्थात् औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर से भाषा की उत्पत्ति होती है, क्योंकि इन तीनों में से किसी एक शरीर के सामर्थ्य से भाषाद्रव्य का निर्गम होता है।

भाषा का संस्थान आकार—भाषा वज्रसंस्थिता बताई गई है, जिसका तात्पर्य यह कि भाषा का आकार वज्रसदृश होता है; क्योंकि जीव के विशिष्ट प्रयत्न द्वारा निःसृष्ट (निकले हुए) भाषा के द्रव्य सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाते हैं और लोक वज्र के आकार का है। अतएव भाषा भी वज्राकृति कही गई है।

भाषा का पर्यवसान कहाँ?—भाषा का अन्त लोकान्त (लोक के सिरे) में होता है। अर्थात् जहाँ लोक का अन्त है वहीं भाषा का अन्त है; क्योंकि लोकान्त से आगे गतिसहायक धर्मास्तिकाय का अभाव होने से भाषाद्रव्यों का गमन असम्भव है; ऐसा मैंने एवं शेष तीर्थंकरों ने प्ररूपित किया है।

भाषा का उद्भव किस योग से?—यहाँ प्रथम गाथा में प्रश्न किया गया है कि भाषा का उद्भव (उत्पत्ति) किस योग से होता है? काययोग से, वचनयोग से या मनोयोग से? उत्तर में—पूर्ववत् 'सरीरप्पहवा (शरीरप्रभवा)' कहा गया है, किन्तु वृत्तिकार इसका अर्थ करते हैं—**काययोग-प्रभवा**; क्योंकि प्रथम काययोग से भाषा के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके, उन्हें भाषारूप में परिणत करके फिर वचनयोग से उन्हें निकालता—उच्चारण करता है। इस कारण भाषा को 'काययोगप्रभवा' कहना उचित है। आचार्य भद्रबाहुस्वामी कहते हैं—जीव कायिकयोग से (भाषा योग्य पुद्गलों को) ग्रहण करता है तथा वाचिकयोग से (उन्हें) निकालता है।[2]

---

१. 'तिविहंमि सरीरंमि, जीवपएसा हवंति जीवस्स।
जेहिं उ गेण्हइ गहणं, तो भासइ भासओ भासं॥'
—प्रज्ञापना. मलय वृत्ति, पत्रांक २५६ में उद्धृत

२. 'गिण्हइ य काइएणं, निसरइ तह वाइएण जोगेणं।'
—प्रज्ञापना म. वृ. पत्रांक २५७ में उद्धृत

भाषा का भाषणकाल—जीव दो समयों में भाषा बोलता है, क्योंकि वह एक समय में भाषा योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और दूसरे समय में उन्हें भाषारूप में परिणत करके छोड़ता (निकालता) है।

भाषा के प्रकार—इससे पूर्व भाषा के चार प्रकार स्वरूपसहित बताए जा चुके हैं—सत्या, मृषा (असत्या), सत्यामृषा (मिश्र) और असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा।

अनुमत भाषाएँ भगवान् द्वारा दो प्रकार की भाषा बोलने की अनुमति साधुवर्ग को दी गई है—सत्याभाषा और असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा। इसका फलितार्थ यह हुआ कि भगवान् ने मिश्र (सत्यामृषा) भाषा और मृषा (असत्य) भाषा बोलने की अनुज्ञा नहीं दी है, क्योंकि ये दोनों भाषाएँ यथार्थ वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन नहीं करतीं, अतएव ये मोक्ष की विरोधनी हैं।[1]

पर्याप्तिका-अपर्याप्तिका भाषा और इनके भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा

८६०. कतिविहा णं भंते ! भासा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा भासा पण्णत्ता। तं जहा पज्जत्तिया य अपज्जत्तिया य।

[८६० प्र.] भगवन् ! भाषा कितने प्रकार की कही गई है ?

[८६० उ.] गौतम ! भाषा दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—पर्याप्तिका और अपर्याप्तिका।

८६१. पज्जत्तिया णं भंते ! भासा कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा सच्चा य मोसा य।

[८६१ प्र.] भगवन् ! पर्याप्तिका भाषा कितने प्रकार की कही गई है ?

[८६१ उ.] गौतम ! पर्याप्तिका भाषा दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—सत्या और मृषा।

८६२. सच्चा णं भंते ! भासा पज्जत्तिया कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता। तं जहा—जणवयसच्चा १ सम्मतसच्चा २ ठवणासच्चा ३ णामसच्चा ४ रूवसच्चा ५ पडुच्चसच्चा ६ ववहारसच्चा ७ भावसच्चा ८ जोगसच्चा ९ ओवम्मसच्चा १०।

जणवय १ सम्मत २ ठवणा ३ णामे ४ रूवे ५ पडुच्चसच्चे ६ य।
ववहार ७ भाव ८ जोगे ९ दसमे ओवम्मसच्चे १० य ॥१९४॥

[८६२ प्र.] भगवन् ! सत्या-पर्याप्तिका भाषा कितने प्रकार की कही गई है ?

[८६२ उ.] गौतम ! दस प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—(१) जनपदसत्या,

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २५६, २५७

(२) सम्मतसत्या, (३) स्थापनासत्या, (४) नामसत्या, (५) रूपसत्या, (६) प्रतीत्यसत्या (७) व्यवहारसत्या, (८) भावसत्या, (९) योगसत्या और (१०) औपम्यसत्या।

[संग्रहणीगाथार्थ—] (दस प्रकार के सत्य)—(१) जनपदसत्य, (२) सम्मतसत्य, (३) स्थापनासत्य, (४) नामसत्य, (५) रूपसत्य, (६) प्रतीत्यसत्य, (७) व्यवहारसत्य, (८) भावसत्य, (९) योगसत्य और (१०) दसवाँ औपम्यसत्य। ॥१९४॥

८६३. मोसा णं भंते ! भासा पज्जत्तिया कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता। तं जहा—कोहणिस्सिया १ माणणिस्सिया २ मायाणिस्सिया ३ लोभणिस्सिया ४ पेज्जणिस्सिया ५ दोसणिस्सिया ६ हासणिस्सिया ७ भयणिस्सिया ८ अक्खाइया-णिस्सिया ९ उवघायणिस्सिया १०।

कोहे १ माणे २ माया ३ लोभे ४ पेज्जे ५ तहेव दोसे ६ य।
हास ७ भए ८ अक्खाइय ९ उवघाइयणिस्सिया १० दसमा ॥१९५॥

[८६३ प्र.] भगवन् ! मृषा-पर्याप्तिका भाषा कितने प्रकार की कही गई है ?

[८६३ उ.] गौतम ! (वह) दस प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है—(१) क्रोध-निःसृता, (२) माननिःसृता, (३) मायानिःसृता, (४) लोभनिःसृता, (५) प्रेयनिःसृता (रागनिःसृता), (६) द्वेषनिःसृता, (७) हास्यनिःसृता, (८) भयनिःसृता, (९) आख्यायिकानिःसृता और (१०) उपघातनिःसृता।

[संग्रहणीगाथार्थ—] क्रोधनिःसृत, माननिःसृत, मायानिःसृत, लोभनिःसृत, प्रेय (राग)-निःसृत, तथा द्वेषनिःसृत, हास्यनिःसृत, भयनिःसृत, आख्यायिकानिःसृत और दसवाँ उपघातनिःसृत असत्य। ॥१९५॥

८६४. अपज्जत्तिया णं भंते ! भासा कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा— सच्चामोसा य असच्चामोसा य।

[८६४ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्तिका भाषा कितने प्रकार की कही गई है ?

[८६४ उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—सत्या-मृषा और असत्यामृषा।

८६५. सच्चामोसा णं भंते ! भासा अपज्जत्तिया कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता। तं जहा—उप्पण्णमिस्सिया १ विगयमिस्सिया २ उप्पण्णविगय-मिस्सिया ३ जीवमिस्सिया ४ अजीवमिस्सिया ५ जीवाजीवमिस्सिया ६ अणंतमिस्सिया ७ परित्त-मिस्सिया ८ अद्धामिस्सिया ९ अद्धद्धामिस्सिया १०।

[८६५ प्र.] भगवन् ! सत्यामृषा-अपर्याप्तिका भाषा कितने प्रकार की कही गई है ?

[८६५ उ.] गौतम ! (वह) दस प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है—(१) उत्पन्न-मिश्रिता, (२) विगतमिश्रिता, (३) उत्पन्न-विगतमिश्रिता, (४) जीवमिश्रिता, (५) अजीवमिश्रिता,

(६) जीवाजीवमिश्रिता, (७) अनन्त-मिश्रिता, (८) परित्त (प्रत्येक)-मिश्रिता, (९) अद्धामिश्रिता और (१०) अद्धद्धामिश्रिता।

८६६. असच्चामोसा णं भंते ! भासा अपज्जत्तिया कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुवालसविहा पण्णत्ता। तं जहा

आमंतणि १ आणवणी २ जायणि ३ तह पुच्छणी ४ य पण्णवणी ५।
पच्चक्खाणी भासा ६ भासा इच्छाणुलोमा ७ य ॥१९६॥
अणभिग्गहिया भासा ८ भासा य अभिग्गहम्मि बोद्धव्वा ९।
संसयकरणी भासा १० वोयडा ११ अव्वोयडा १२ चेव ॥१९७॥

[८६६ प्र.] भगवन् ! असत्यामृषा-अपर्याप्तिका भाषा कितने प्रकार की कही गई है ?

[८६६ उ.] गौतम ! (वह) बारह प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—

[गाथार्थ—] (१) आमंत्रणी, (२) आज्ञापनी, (३) याचनी, (४) पृच्छनी, (५) प्रज्ञापनी, (६) प्रत्याख्यानी भाषा, (७) इच्छानुलोमा भाषा, (८) अनभिगृहीता भाषा, (९) अभिगृहीता भाषा, (१०) संशयकरणी भाषा, (११) व्याकृता और (१२) अव्याकृता भाषा ॥१९६-१९७॥

विवेचन—पर्याप्तिका-अपर्याप्तिका भाषा और इनके भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा— प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. ८६० से ८६६ तक) में भाषा के मूल दो भेद—पर्याप्तिक, अपर्याप्तक के भेद प्रभेदों का निरूपण किया गया है।

पर्याप्तिका-अपर्याप्तिका की व्याख्या—पर्याप्तिका—वह भाषा है, जो प्रतिनियत रूप में समझी जा सके। पर्याप्तिका भाषा सत्या और मृषा, ये दो ही होती हैं, क्योंकि ये दो भाषाएँ ही प्रतिनियत-रूप से अवधारित की जा सकती हैं। **अपर्याप्तिका** भाषा वह है, जो मिश्रितप्रतिरूप अथवा मिश्रित-प्रतिषेधरूप होने के कारण प्रतिनियतरूप में अवधारित न की जा सके। अर्थात्—ठीक तरह से निश्चित न की जा सकने के कारण जिसे सत्य या असत्य दोनों में से किसी एक कोटि में रखा न जा सके। अपर्याप्तिका भाषाएँ दो हैं—सत्यामृषा और असत्यामृषा। ये दोनों ही प्रतिनियतरूप में अवधारित नहीं की जा सकती।

दशविध सत्यपर्याप्तिका भाषा की व्याख्या—(१) **जनपदसत्या**—विभिन्न जनपदों (प्रान्तों या प्रदेशों) में जिस शब्द का जो अर्थ इष्ट है, उस इष्ट अर्थ का बोध कराने वाली होने के कारण व्यवहार का हेतु होने से जो सत्य मानी जाती है। जैसे कोंकण आदि प्रदेशों में पय को 'पिच्चम्' कहते हैं। **सम्मतसत्या**— जो समस्तलोक में सम्मत होने के कारण सत्यरूप में प्रसिद्ध है। जैसे—शैवाल, कुमुद (चन्द्रविकासी कमल) और कमल (सूर्यविकासी कमल) ये सब पंकज हैं—कीचड़ में ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु 'पंकज' शब्द से जनसाधारण 'कमल' अर्थ ही समझते हैं। शैवाल आदि को कोई पंकज नहीं कहता। अतएव कमल को 'पंकज' कहना सम्मतसत्य भाषा है। (३) **स्थापनासत्या**—तथाविध (विशेष प्रकार के) अंकादि के विन्यास तथा मुद्रा आदि के ऊपर रचना (छाप) देखकर जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह स्थापनासत्य भाषा है। जैसे '१' अंक के आगे दो बिन्दु देखकर कहना—यह सौ (१००) है, तीन बिन्दु देखकर कहना—यह एक हजार (१०००) है।

अथवा मिट्टी, चांदी, सोना आदि पर अमुक मुद्रा (मुहरछाप) अंकित देखकर माष, कार्षापण, मुहर (गिन्नी), रुपया आदि कहना। (४) **नामसत्या** - केवल नाम के कारण ही जो भाषा सत्य मानी जाती है, वह नामसत्या कहलाती है। जैसे—कोई व्यक्ति अपने कुल की वृद्धि नहीं करता, फिर भी उसका नाम 'कुलवर्द्धन' कहा जाता है। (५) **रूपसत्या**—जो भाषा केवल अमुक रूप (वेशभूषा आदि) से ही सत्य है। जैसे—किसी व्यक्ति ने दम्भपूर्वक साधु का रूप (स्वांग) बना लिया हो, उसे, 'साधु' कहना रूपसत्या भाषा है। (६) **प्रतीत्यसत्या**—जो किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा से सत्य हो। जैसे—अनामिका अंगुली को 'कनिष्ठा' (सबसे छोटी) अंगुली की अपेक्षा से दीर्घ कहना, और मध्यमा की अपेक्षा से ह्रस्व कहना प्रतीत्यसत्या भाषा है। (७) **व्यवहारसत्या**—व्यवहार से—लोकविवक्षा से जो सत्य हो वह व्यवहारसत्य भाषा है। जैसे—किसी ने कहा—'पहाड़ जल रहा है' यहाँ पहाड़ के साथ घास की अभेदविवक्षा करके ऐसा कहा गया है। अतः लोकव्यवहार की अपेक्षा से ऐसा बोलने वाले साधु की भाषा भी व्यवहारसत्या होती है। (८) **भावसत्या**—भाव से अर्थात्—वर्ण आदि (की उत्कटता) को लेकर जो भाषा बोली जाती हो, वह भावसत्या भाषा है। अर्थात्—जो भाव जिस पदार्थ में अधिकता से पाया जाता है, उसी के आधार पर भाषा का प्रयोग करना भावसत्या भाषा है। जैसे—बलाका (बगुलों की पंक्ति) में पांचों वर्ण होने पर भी उसे श्वेत कहना। (९) **योगसत्या**—योग का अर्थ है—सम्बन्ध, संयोग; उसके कारण जो भाषा सत्य मानी जाए। जैसे—छत्र के योग से किसी को छत्री कहना, भले ही शब्दप्रयोगकाल में उसके पास छत्र न हो। इसी प्रकार किसी को दण्ड के योग से दण्डी कहना। (१०) **औपम्यसत्या**—उपमा से जो भाषा सत्य मानी जाए। जैसे—गौ के समान गवय (रोझ) होता है। इस प्रकार की उपमा पर आश्रित भाषा औपम्यसत्या कहलाती है।

दशविध पर्याप्तिका मृषाभाषा की व्याख्या—(१) **क्रोधनिःसृता**—क्रोधवश मुंह से निकली हुई भाषा, (२) **माननिःसृता**—पहले अनुभव न किये हुए ऐश्वर्य का, अपना आत्मोत्कर्ष बताने के लिए कहना कि हमने भी एक समय ऐश्वर्य का अनुभव किया था, यह कथन मिथ्या होने से माननिःसृता है। (३) **मायानिःसृता**—परवंचना आदि के अभिप्राय से निकली हुई वाणी। (४) **लोभनिःसृता**—लोभवश, झूठा तौल-नाप करके पूछने पर कहना यह तौल-नाप ठीक प्रमाणोपेत है, ऐसी भाष लोभनिःसृता है। (५) **प्रेय (राग) निःसृता**—किसी के प्रति अत्यन्त रागवश कहना—'मैं तो आपका दास हूँ', ऐसी भाषा प्रेयनिःसृता है। (६) **द्वेषनिःसृता** द्वेषवश तीर्थंकरादि का अवर्णवाद करना। (७) **हास्यनिःसृता**—हंसी-मजाक में झूठ बोलना। (८) **भयनिःसृता**—भय से निकली हुई भाषा। जैसे—चोरों आदि के डर से कोई अंटसंट या ऊटपटांग बोलता है, उसकी भाषा भयनिःसृता है। (९) **आख्यायिकानिःसृता**—किसी कथा-कहानी के कहने में असम्भव वस्तु का कथन करना। (१०) **उपघात-निःसृता**—दूसरे के हृदय को उपघात (आघात-चोट) पहुँचाने की दृष्टि से मुख से निकाली हुई भाषा। जैसे—किसी पर अभ्याख्यान लगाना कि 'तू चोर है।' अथवा किसी को अंधा या काना कहना।

दशविध सत्यामृषा भाषा की व्याख्या—(१) **उत्पन्नमिश्रिता**—अनुत्पन्नों (जो उत्पन्न नहीं हुए हैं) के साथ संख्यापूर्ति के लिए उत्पन्नों को मिश्रित करके बोलना। जैसे—किसी ग्राम या नगर में कम या अधिक शिशुओं का जन्म होने पर भी कहना कि आज इस ग्राम या नगर में दस शिशुओं का जन्म हुआ है। (२) **विगतमिश्रिता**—विगत का अर्थ है—मृत। जो विगत न हो, वह अविगत है।

अविगतों (जीवितों) के साथ विगतों (मृतों) की संख्या की पूर्ति हेतु मिला कर कहना। जैसे—किसी ग्राम या नगर में कम या अधिक वृद्धों के मरने पर भी ऐसे कहना कि आज इस ग्राम या नगर में बारह बूढ़े मर गए। यह भाषा विगतमिश्रिता सत्यामृषा है। (३) **उत्पन्नविगतमिश्रिता**—उत्पन्नों (जन्मे हुओं) और मृतकों (मरे हुओं) की संख्या नियत होने पर भी उसमें गड़बड़ करके कहना। (४) **जीवमिश्रिता**—शंख आदि की ऐसी राशि हो, जिसमें बहुत-से जीवित हों और कुछ मृत हों, उस एक राशि को देख कर कहना कि कितनी बड़ी जीवराशि है, यह जीवमिश्रिता सत्यामृषा भाषा है, क्योंकि यह भाषा जीवित शंखों की अपेक्षा सत्य है और मृत शंखों की अपेक्षा से मृषा। (५) **अजीवमिश्रिता**—बहुत-से मृतकों और थोड़े-से जीवित शंखों की एक राशि को देखकर कहना कि 'कितनी बड़ी मृतकों की राशि है', इस प्रकार की भाषा अजीवमिश्रिता सत्यामृषा भाषा कहलाती है, क्योंकि यह भाषा भी मृतकों की अपेक्षा से सत्य और जीवितों की अपेक्षा मृषा है। (६) **जीवाजीवमिश्रिता**—उसी पूर्वोक्त राशि को देखकर, संख्या में विसंवाद होने पर भी नियतरूप से निश्चित कह देना कि इसमें इतने मृतक हैं, इतने जीवित हैं। यहाँ जीवों और अजीवों की विद्यमानता सत्य है, किन्तु उनकी संख्या निश्चित कहना मृषा है। अतएव यह जीवाजीवमिश्रिता सत्यामृषा भाषा है। (७) **अनन्तमिश्रिता**—मूली, गाजर आदि अनन्तकाय कहलाते हैं, उनके साथ कुछ प्रत्येकवनस्पतिकायिक भी मिले हुए हैं, उन्हें देख कर कहना कि 'ये सब अनन्तकायिक हैं', यह भाषा अनन्तमिश्रिता सत्यामृषा है। (८) **प्रत्येकमिश्रिता**—प्रत्येक वनस्पतिकाय का संघात अनन्तकायिक के साथ ढेर करके रखा हो, उसे देखकर कहना कि 'यह सब प्रत्येकवनस्पतिकायिक है'; इस प्रकार की भाषा प्रत्येकमिश्रिता सत्यामृषा है। (९) **अद्धामिश्रिता**—अद्धा कहते हैं—काल को। यहाँ प्रसंग अद्धा से दिन या रात्रि अर्थ ग्रहण करना चाहिए, जिसमें दोनों का मिश्रण करके कहा जाए। जैसे—अभी दिन विद्यमान है, फिर भी किसी से कहा—उठ, रात पड़ गई। अथवा अभी रात्रि शेष है, फिर भी कहना उठ, सूर्योदय हो गया। (१०) **अद्धाद्धामिश्रिता**—अद्धाद्धा कहते हैं—दिन या रात्रि काल के एक देश (अंश) को। जिस भाषा के द्वारा उन कालांशों का मिश्रण करके बोला जाए। जैसे—अभी पहला पहर चल रहा है, फिर भी कोई व्यक्ति किसी को जल्दी करने की दृष्टि से कहे कि 'चल, मध्याह्न हो गया है', ऐसी भाषा अद्धाद्धामिश्रिता है।

बारह प्रकार की असत्यामृषा भाषा की व्याख्या—(१) **आमंत्रणी**—सम्बोधनसूचक भाषा। जैसे—हे देवदत्त !। (२) **आज्ञापनी**—जिसके द्वारा दूसरे को किसी प्रकार की आज्ञा दी जाए। जैसे—'तुम यह कार्य करो।' आज्ञापनी भाषा दूसरे को कार्य में प्रवृत्त करने वाली होती है। (३) **याचनी**—किसी वस्तु की याचना करने (मांगने) के लिए प्रयुक्त की जाने वाली भाषा। जैसे—मुझे दीजिए। (७) **पृच्छनी**—किसी संदिग्ध या अनिश्चित वस्तु के विषय में किसी विशिष्ट ज्ञाता से जिज्ञासावश पूछना कि 'इस शब्द का अर्थ क्या है ?' (५) **प्रज्ञापनी**—विनीत शिष्यादि जनों के लिए उपदेशरूप भाषा। जैसे—जो प्राणिहिंसा से निवृत्त होते हैं, वे दूसरे जन्म में दीर्घायु होते हैं।[1] (६) **प्रत्याख्यानी**—जिस भाषा के द्वारा अमुक वस्तु का प्रत्याख्यान कराया जाए या प्रकट किया जाए। जैसे—आज तुम्हारे एक प्रहर तक आहार करने का प्रत्याख्यान है। अथवा किसी के द्वारा याचना करने पर कहना कि 'मैं यह वस्तु तुम्हें नहीं दे सकता।' (७) **इच्छानुलोमा**—जो भाषा इच्छा

१. 'पाणिवहाउ नियत्ता हवंति दीहाउया अरोगा य। एमाई पण्णत्ता पण्णवणी वीयरागेहिं॥

—प्रज्ञापना. म. वृ., प. २५९

के अनुकूल हो, अर्थात् -वक्ता के इष्ट अर्थ का समर्थन करने वाली हो। इसके अनेक प्रकार हो सकते हैं—(१) जैसे कोई किसी गुरुजन आदि से कहे—'आपकी अनुमति (इच्छा) हो तो मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ।' (२) कोई व्यक्ति किसी साथी से कहे—'आपकी इच्छा हो तो यह कार्य कीजिए', (३) आप यह कार्य कीजिए, इसमें मेरी अनुमति है। (या ऐसी मेरी इच्छा है)। इस प्रकार की भाषा इच्छानुलोमा कहलाती है। (८) **अनभिगृहीता**—जो भाषा किसी नियत अर्थ का अवधारण न कर पाती हो, वक्ता की जिस भाषा में कार्य का कोई निश्चित रूप न हो, वह अनभिगृहीता भाषा है। जैसे किसी के सामने बहुत-से कार्य उपस्थित हैं, अतः वह अपने किसी बड़े या अनुभवी से पूछता है—'इस समय मैं कौन-सा कार्य करूँ ?' इस पर वह उत्तर देता है—'जो उचित समझो, करो।' ऐसी भाषा से किसी विशिष्ट कार्य का निर्णय नहीं होता, अतः इसे अनभिगृहीता भाषा कहते हैं। (९) **अभिगृहीता** -जो भाषा किसी नियत अर्थ का निश्चय करने वाली हो, जैसे—'इस समय अमुक कार्य करो, दूसरा कोई कार्य न करो।' इस प्रकार की भाषा 'अभिगृहीता' है। (१०) **संशयकरणी**—जो भाषा अनेक अर्थों को प्रकट करने के कारण दूसरे के चित्त में संशय उत्पन्न कर देती हो। जैसे—किसी ने किसी से कहा—'सैन्धव ले आओ।' सैन्धव शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, जैसे—घोड़ा, नमक, वस्त्र और पुरुष। 'सैन्धव' शब्द को सुनकर यह संशय उत्पन्न होता है कि यह नमक मंगवाता है, या घोड़ा आदि। यह संशयकरणी भाषा है। (११) **व्याकृता** जिस भाषा का अर्थ स्पष्ट हो, जैसे—यह घड़ा है। (१२) **अव्याकृता**—जिस भाषा का अर्थ अत्यन्त ही गूढ़ हो, अथवा अव्यक्त (अस्पष्ट) अक्षरों का प्रयोग करना अव्याकृता भाषा है, क्योंकि वह भाषा ही समझ में नहीं आती।

यह बारह प्रकार की अपर्याप्ता असत्यामृषा भाषा है। यह भाषा पूर्वोक्त सत्या, मृषा और मिश्र इन तीनों भाषाओं के लक्षण से विलक्षण होने के कारण न तो सत्य कहलाती है, न असत्य और न ही सत्यामृषा। यह भाषा केवल व्यवहारप्रवर्त्तक है, जो साधुजनों के लिए भी बोलने योग्य मानी गई है।[1]

समस्त जीवों के विषय में भाषक-अभाषक प्ररूपणा

८६७. जीवा णं भंते ! किं भासगा अभासगा ?

गोयमा ! जीवा भासगा वि अभासगा वि।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति जीवा भासगा वि अभासगा वि ?

गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—संसारसमावण्णगा य असंसारसमावण्णगा य। तत्थ णं जे ते असंसारसमावण्णगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं अभासगा। तत्थ णं जे ते संसारसमावण्णगा ते णं दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सेलेसिपडिवण्णगा य असेलेसिपडिवण्णगा य। तत्थ णं जे ते सेलेसिपडिवण्णगा ते णं अभासगा। तत्थ णं जे ते असेलेसिपडिवण्णगा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—एगिंदिया य अणेगिंदिया य। तत्थ णं जे ते एगिंदिया ते णं अभासगा। तत्थ णं जे ते अणेगिंदिया ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा -पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य। तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं अभासगा। तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा ते णं भासगा। से एतेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति जीवा भासगा वि अभासगा वि।

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २५७ से २५९ तक

(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका सहित भा. ३, पृ. ३०३ से ३२० तक

[८६७ प्र.] भगवन् ! जीव भाषक हैं या अभाषक ?

[८६७ उ.] गौतम ! जीव भाषक भी हैं और अभाषक भी हैं।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि जीव भाषक भी हैं और अभाषक भी हैं ?

[उ.] गौतम ! जीव दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार –संसारसमापन्नक और असंसार-समापन्नक। उनमें से जो असंसारसमापन्नक जीव हैं, वे सिद्ध हैं और सिद्ध अभाषक होते हैं तथा उनमें जो संसारसमापन्नक (संसारी) जीव हैं, वे(भी)दो प्रकार के हैं- शैलेशीप्रतिपन्नक और अशैलेशी-प्रतिपन्नक। उनमें जो शैलेशीप्रतिपन्नक हैं, वे अभाषक हैं। उनमें जो अशैलेशीप्रतिपन्नक हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार--एकेन्द्रिय (स्थावर) और अनेकेन्द्रिय (त्रस)। उनमें से जो एकेन्द्रिय हैं, वे अभाषक हैं। उनमें से जो अनेकेन्द्रिय हैं, वे दो प्रकार के हैं। वे इस प्रकार—पर्याप्तक और अपर्याप्तक। जो अपर्याप्तक हैं, वे अभाषक हैं। जो पर्याप्तक हैं, वे भाषक हैं। हे गौतम ! इसी हेतु से ऐसा कहा जाता है कि जीव भाषक भी हैं और अभाषक भी हैं।

८६८. नेरइया णं भंते ! किं भासगा अभासगा ?

गोयमा ! नेरइया भासगा वि अभासगा वि।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति नेरइया भासगा वि अभासगा वि ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य, तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं अभासगा, तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा ते णं भासगा, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ नेरइया भासगा वि अभासगा वि।

[८६८ प्र.] भगवन् ! नैरयिक भाषक हैं या अभाषक।

[८६८ उ.] गौतम ! नैरयिक भाषक भी हैं, अभाषक भी।

[प्र.] भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहते हैं कि नैरयिक भाषक भी हैं और अभाषक भी ?

[उ.] गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—पर्याप्तक और अपर्याप्तक। इनमें जो अपर्याप्तक हैं, वे अभाषक हैं और जो पर्याप्तक हैं, वे भाषक हैं। हे गौतम ! इसी हेतु से ऐसा कहा जाता है कि नैरयिक भाषक भी हैं और अभाषक भी।

८६९. एवं एगिंदियवज्जाणं णिरंतरं भाणियव्वं।

[८६९.] इसी प्रकार एकेन्द्रियों को छोड़कर (द्वीन्द्रियों से लेकर वैमानिक देवों पर्यन्त) निरन्तर (लगातार) सभी के विषय में समझ लेना चाहिए।

विवेचन समस्त जीवों के विषय में भाषक-अभाषक-प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. ८६७ से ८६९ तक) में समुच्चय जीवों की भाषकता-अभाषकता का विश्लेषण करके नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौबीस दण्डकवर्ती संसारी जीवों की भाषकता-अभाषकता का निरूपण किया गया है।

एकेन्द्रिय जीव अभाषक क्यों—जिह्वेन्द्रिय से रहित होने के कारण एकेन्द्रिय जीव अभाषक ही होते हैं।[1]

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ) प्र. २१४-२१५, (ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ३, पृ. ३२७

चतुर्विध भाषाजात एवं समस्त जीवों में उसकी प्ररूपणा

८७०. कति णं भंते ! भासज्जाता पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि भासज्जाता पण्णत्ता । तं जहा—सच्चमेगं भासज्जातं १ बितियं मोसं २ ततियं सच्चामोसं ३ चउत्थं असच्चामोसं ४ ।

[८७० प्र.] भगवन् ! भाषाजात (भाषा के प्रकार— रूप) कितने कहे गए हैं ?

[८७० उ.] गौतम ! चार भाषाजात कहे गए हैं । वे इस प्रकार हैं—(१) एक सत्य भाषा-जात, (२) दूसरा मृषा भाषाजात, (३) तीसरा सत्यामृषा भाषाजात और (४) चौथा असत्यामृषा भाषाजात ।

८७१. जीवा णं भंते ! किं सच्चं भासं भासंति ? मोसं भासं भासंति ? सच्चामोसं भासं भासंति ? असच्चामोसं भासं भासंति ?

गोयमा ! जीवा सच्चं पि भासं भासंति, मोसं पि भासं भासंति, सच्चामोसं पि भासं भासंति, असच्चामोसं पि भासं भासंति ।

[८७१ प्र.] भगवन् ! जीव क्या सत्यभाषा बोलते हैं, मृषाभाषा बोलते हैं, सत्यामृषा भाषा बोलते हैं अथवा असत्यामृषा भाषा बोलते हैं ?

[८७१ उ.] गौतम ! जीव सत्यभाषा भी बोलते हैं, मृषाभाषा भी बोलते हैं सत्या-मृषा भाषा भी बोलते हैं और असत्यामृषा भाषा भी बोलते हैं ।

८७२. णेरइया णं भंते ! किं सच्चं भासं भासंति जाव किं असच्चामोसं भासं भासंति ?
गोयमा ! णेरइया णं सच्चं पि भासं भासंति जाव असच्चामोसं पि भासं भासंति ।

[८७२ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक सत्यभाषा बोलते हैं, मृषाभाषा बोलते हैं, सत्यामृषा भाषा बोलते हैं , अथवा असत्यामृषा भाषा बोलते हैं ।

[८७२ उ.] गौतम ! नैरयिक सत्यभाषा भी बोलते हैं, मृषाभाषा भी बोलते हैं, सत्यामृषा भाषा भी बोलते हैं और असत्यामृषा भाषा भी बोलते हैं ।

८७३. एवं असुरकुमारा जाव थणियकुमारा ।

[८७३] इसी प्रकार असुरकुमारों से लेकर यावत् स्तनितकुमारों तक (की भाषा के विषय के समझ लेना चाहिए ।)

८७४. बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिया य णो सच्चं णो मोसं णो सच्चामोसं भासं भासंति, असच्चामोसं भासं भासंति ।

[८७४] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव न तो सत्यभाषा (बोलते हैं) , न मृषाभाषा (बोलते हैं) और न ही सत्यामृषा भाषा बोलते हैं, (किन्तु वे) असत्यामृषा भाषा बोलते हैं ।

८७५. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! किं सच्चं भासं भासंति ? जाव (सु.८७१) किं असच्चामोसं भासं भासंति ?

गोयमा ! पंचेंदियतिरिक्खजोणिया णो सच्चं भासं भासंति, णो मोसं भासं भासंति, णो सच्चामोसं भासं भासंति, एगं असच्चामोसं भासं भासंति, णऽण्णत्थ सिक्खापुव्वगं उत्तरगुणलद्धिं वा पडुच्च सच्चं भासं भासंति, मोसं पि भासं भासंति, सच्चामोसं पि भासं भासंति, असच्चामोसं पि भासं भासंति ।

[८७५ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीव क्या सत्यभाषा बोलते हैं ? यावत् क्या (वे) असत्यामृषा भाषा बोलते हैं ?

[८७५ उ.] गौतम ! पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव, न तो सत्यभाषा बोलते हैं, न मृषा भाषा बोलते हैं और न ही सत्यामृषा भाषा बोलते हैं, वे सिर्फ एक असत्यामृषा भाषा बोलते हैं; सिवाय शिक्षापूर्वक अथवा उत्तरगुणलब्धि की अपेक्षा से (तैयार हुए पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों के, जो कि) सत्यभाषा भी बोलते हैं, मृषाभाषा भी बोलते हैं, सत्यामृषा भाषा भी बोलते हैं तथा असत्यामृषा भाषा भी बोलते हैं ।

८७६. मणुस्सा जाव वेमाणिया एए जहा जीवा (८७१) तहा भाणियव्वा ।

[८७६] मनुष्यों से लेकर (वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क) वैमानिकों तक की भाषा के विषय में औधिक जीवों की भाषाविषयकप्ररूपणा के समान (सूत्र ८७१ के अनुसार) कहना चाहिए ।

विवेचन—चतुर्विध भाषाजात एवं समस्त जीवों में उसकी प्ररूपणा प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. ८७० से ८७६ तक) में चार प्रकार की भाषाओं का निरूपण करके समुच्चय जीव एवं चौवीस दण्डकों के अनुसार नैरयिकों से वैमानिकों तक के जीवों में से कौन, कौन-कौनसी भाषा बोलते हैं ? इसकी संक्षिप्त प्ररूपणा की गई है ।

द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियों एवं तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों की भाषाविषयक प्ररूपणा—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों में केवल असत्यामृषा के सिवाय शेष तीनों भाषाओं का जो निषेध किया गया है, उसका कारण यह है कि उनमें न तो सम्यग्ज्ञान होता है और न ही परवंचना आदि का अभिप्राय हो सकता है । इसी प्रकार तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों में सिवाय कुछ अपवादों के केवल असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा के अतिरिक्त शेष तीनों भाषाओं का निषेध किया गया है, इसका कारण यह है कि वे न तो सम्यक् रूप से, यथावस्थित वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करने के अभिप्राय से बोलते हैं और न ही दूसरों को धोखा देने या ठगने के आशय से बोलते हैं, किन्तु कुपित अवस्था में या दूसरों को मारने की कामना से जब भी वे बोलते हैं, तब इसी एक ही रूप से बोलते हैं । अतएव उनकी भाषा असत्यामृषा होती है । शास्त्रकार इनके विषय में कुछ अपवाद भी बताते हैं, वह यह है कि शुक (तोता), सारिका (मैना) आदि किन्हीं विशिष्ट तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों को यदि प्रशिक्षित (Trained) किया जाय, अथवा संस्कारित किया जाय तथा विशिष्ट प्रकार का क्षयोपशम होने से किन्हीं को जातिस्मरणज्ञानादि रूप किसी उत्तरगुण की लब्धि हो जाए, अथवा विशिष्ट व्यवहारकौशलरूप लब्धि प्राप्त हो जाए तो

वे सत्यभाषा भी बोलते हैं, असत्यभाषा भी बोलते हैं और सत्यामृषा (मिश्र) भाषा भी बोलते हैं। अर्थात्-वे चारों ही प्रकार की भाषा बोलते हैं।

जीव द्वारा ग्रहणयोग्य भाषाद्रव्यों के विभिन्नरूप

८७७. [१] **जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं भासत्ताए गेण्हति ताइं किं ठियाइं गेण्हति ? अठियाइं गेण्हति ?**

गोयमा ! ठियाइं गेण्हति, णो अठियाइं गेण्हति।

[८७७-१ प्र.] भगवन् ! जीव जिन द्रव्यों को भाषा के रूप में ग्रहण करता है, सो स्थित (गमनक्रियारहित) द्रव्यों को ग्रहण करता है या अस्थित (गमन क्रियावान्) द्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-१ उ.] गौतम ! (वह) स्थित द्रव्यों को ग्रहण करता है, अस्थित द्रव्यों को ग्रहण नहीं करता।

[२] **जाइं भंते ! ठियाइं गेण्हति ताइं किं दव्वओ गेण्हति ? खेत्तओ गेण्हति ? कालओ गेण्हति ? भावओ गेण्हति ?**

गोयमा ! दव्वओ वि गेण्हति, खेत्तओ वि गेण्हति, कालओ वि गेण्हति, भावओ वि गेण्हति।

[८७७-२ प्र.] भगवन् ! (जीव) जिन स्थित द्रव्यों को (भाषा के रूप में) ग्रहण करता है, उन्हें क्या (वह) द्रव्य से ग्रहण करता है, क्षेत्र से ग्रहण करता है, काल से ग्रहण करता है, अथवा भाव से ग्रहण करता है ?

[८७७-२ उ.] गौतम ! (वह उन स्थित द्रव्यों को) द्रव्यतः भी ग्रहण करता है, क्षेत्रतः भी ग्रहण करता है, कालतः भी ग्रहण करता है और भावतः भी ग्रहण करता है।

[३] **जाइं दव्वओ गेण्हति ताइं किं एगपएसियाइं गिण्हति दुपएसियाइं गेण्हति जाव अणंतपएसियाइं गेण्हति ?**

गोयमा ! णो एगपएसियाइं गेण्हति जाव णो असंखेज्जपएसियाइं गेण्हति, अणंतपएसियाइं गेण्हति।

[८७७-३ प्र.] भगवन् ! (जीव) जिन (स्थित द्रव्यों) को द्रव्यतः ग्रहण करता है, क्या वह उन एकप्रदेशी (द्रव्यों) को ग्रहण करता है, द्विप्रदेशी को ग्रहण करता है ? यावत् अनन्तप्रदेशी द्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-३ उ.] गौतम ! (जीव) न तो एकप्रदेशी द्रव्यों को ग्रहण करता है, यावत् न असंख्येयप्रदेशी द्रव्यों को ग्रहण करता है, (किन्तु) अनन्तप्रदेशी द्रव्यों को ग्रहण करता है।

[४] **जाइं खेत्तओ ताइं किं एगपएसोगाढाइं गेण्हति दुपएसोगाढाइं गेण्हति जाव असंखेज्जपएसोगाढाइं गेण्हति ?**

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २६०

गोयमा ! णो एगपएसोगाढाइं गेण्हति जाव णो संखेज्जपएसोगाढाइं गेण्हति, असंखेज्जपएसोगाढाइं गेण्हति ।

[८७७-४ प्र.] जिन (स्थित द्रव्यों को जीव) क्षेत्रतः ग्रहण करता है, क्या (वह जीव) एकप्रदेशावगाढ द्रव्यों को ग्रहण करता है, द्विप्रदेशावगाढ़ द्रव्यों को ग्रहण करता है, यावत् असंख्येयप्रदेशावगाढ़ द्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-४ उ.] गौतम ! (वह) न तो एकप्रदेशावगाढ़ द्रव्यों को ग्रहण करता है, यावत् न संख्यातप्रदेशावगाढ़ द्रव्यों को ग्रहण करता है, (किन्तु) असंख्यातप्रदेशावगाढ़ द्रव्यों को ग्रहण करता है ।

[५] जाइं कालओ गेण्हति ताइं किं एगसमयट्ठितीयाइं गेण्हति दुसमयट्ठितीयाइं गेण्हति जाव असंखेज्जसमयट्ठितीयाइं गेण्हति ?

गोयमा ! एगसमयट्ठितीयाइं पि गेण्हति, दुसमयट्ठितीयाइं पि गेण्हति, जाव असंखेज्जसमयट्ठितीयाइं पि गेण्हति ।

[८७७-५ प्र.] (जीव) जिन (स्थित द्रव्यों) को कालतः ग्रहण करता है, क्या (वह) एक समय की स्थिति वाले द्रव्यों को ग्रहण करता है, दो समय की स्थिति वाले द्रव्यों को ग्रहण करता है ? यावत् असंख्यात समय की स्थिति वाले द्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-५ उ.] गौतम ! (वह) एक समय की स्थिति वाले द्रव्यों को भी ग्रहण करता है, दो समय की स्थिति वाले द्रव्यों को भी ग्रहण करता है, यावत् असंख्यात समय की स्थिति वाले द्रव्यों को भी ग्रहण करता है ।

[६] जाइं भावओ गेण्हति ताइं किं वण्णमंताइं गेण्हति गंधमंताइं गेण्हति रसमंताइं गेण्हति फासमंताइं गेण्हति ?

गोयमा ! वण्णमंताइं पि गेण्हति जाव फासमंताइं पि गेण्हति ।

[८७७-६ प्र.] (जीव) जिन (स्थित द्रव्यों) को भावतः ग्रहण करता है, क्या वह वर्ण वाले द्रव्यों को ग्रहण करता है, गन्ध वाले द्रव्यों को ग्रहण करता है, रस वाले द्रव्यों को ग्रहण करता है अथवा स्पर्श वाले द्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-६ उ.] गौतम ! (वह) वर्ण वाले द्रव्यों को भी ग्रहण करता है, गन्ध वाले द्रव्यों को भी यावत् स्पर्श वाले द्रव्यों को भी ग्रहण करता है ।

[७] जाइं भावओ वण्णमंताइं गेण्हति ताइं किं एगवण्णाइं गेण्हति जाव पंचवण्णाइं गेण्हति ?

गोयमा ! गहणदव्वाइं पडुच्च एगवण्णाइं पि गेण्हति जाव पंचवण्णाइं पि गेण्हति, सव्वग्गहणं पडुच्च णियमा पंचवण्णाइं गेण्हति, तं जहा— कालाइं नीलाइं लोहियाइं हालिद्दाइं सुक्किलाइं ।

[८७७-७ प्र.] भावतः जिन वर्णवान् (स्थित) द्रव्यों को (जीव) ग्रहण करता है क्या (वह) एक वर्ण वाले द्रव्यों को ग्रहण करता है, यावत् पांच वर्ण वाले द्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-७ उ.] गौतम ! ग्रहण (ग्राह्य) द्रव्यों की अपेक्षा से (वह) एक वर्ण वाले द्रव्यों को

भी ग्रहण करता है, यावत् पांच वर्ण वाले द्रव्यों को भी ग्रहण करता है। (किन्तु) सर्वग्रहण की अपेक्षा से (वह) नियमतः पांच वर्णों वाले द्रव्यों को ग्रहण करता है। जैसे कि—काले, नीले, लाल, पीले और शुक्ल (सफेद)।

[८] जाइं वण्णओ कालाइं गेण्हति ताइं किं एगगुणकालाइं गेण्हति जाव अणंतगुणकालाइं गेण्हति ?

गोयमा ! एगगुणकालाइं पि गेण्हति जाव अणंतगुणकालाइं पि गेण्हति। एवं जाव सुक्किलाइं पि।

[८७७-८ प्र.] भगवन् ! वर्ण से काले जिन (स्थित द्रव्यों) को (जीव) ग्रहण करता है, क्या (वह) उन एकगुण काले द्रव्यों को ग्रहण करता है ? अथवा यावत् अनन्तगुण काले द्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-८ उ.] गौतम ! (वह) एकगुणकृष्ण (भाषाद्रव्यों) को भी ग्रहण करता है और यावत् अनन्तकृष्ण (भाषाद्रव्यों) को भी ग्रहण करता है। इसी प्रकार यावत् शुक्ल वर्ण तक के ग्राह्य भाषाद्रव्यों के ग्रहण के विषय में भी कहना चाहिए।

[९] जाइं भावओ गंधमंताइं गेण्हति ताइं किं एगगंधाइं गेण्हति दुगंधाइं गेण्हति ?

गोयमा ! गहणदव्वाइं पडुच्च एगगंधाइं पि गेण्हति दुगंधाइं पि गेण्हति, सव्वग्गहणं पडुच्च नियमा दुगंधाइं गेण्हति।

[८७७-९ प्र.] भावतः जिन गन्धवान् भाषाद्रव्यों को (जीव) ग्रहण करता है, क्या (वह) एक गन्ध वाले द्रव्यों को ग्रहण करता है ? या दो गन्ध वाले द्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-९ उ.] गौतम ! ग्रहण द्रव्यों की अपेक्षा से (वह) एक गन्ध वाले (भाषाद्रव्यों को) भी ग्रहण करता है, तथा दो गन्ध वाले (द्रव्यों को) भी ग्रहण करता है; (किन्तु) सर्वग्रहण की अपेक्षा से नियमतः दो गन्ध वाले द्रव्यों को ग्रहण करता है।

[१०] जाइं गंधओ सुब्भिगंधाइं गेण्हति ताइं किं एगगुणसुब्भिगंधाइं गेण्हति जाव अणंतगुणसुब्भिगंधाइं गेण्हति ?

गोयमा ! एगगुणसुब्भिगंधाइं पि गेण्हति जाव अणंतगुणसुब्भिगंधाइं पि गेण्हति। एवं दुब्भिगंधाइं पि गेण्हति।

[८७७-१० प्र.] (भगवन् !) गन्ध से सुगन्ध वाले जिन (भाषाद्रव्यों) को (जीव) ग्रहण करता है, क्या (वह) एकगुण सुगन्ध वाले (भाषाद्रव्यों को) ग्रहण करता है, (अथवा) यावत् अनन्तगुण सुगन्ध वाले (भाषाद्रव्यों को) ग्रहण करता है ?

[८७७-१० उ.] गौतम ! (वह) एकगुण सुगन्ध वाले (भाषाद्रव्यों को) भी ग्रहण करता है, यावत् अनन्तगुण सुगन्ध वाले (भाषाद्रव्यों को) भी ग्रहण करता है। इसी तरह वह एकगुण दुर्गन्ध वाले (भाषाद्रव्यों को) भी ग्रहण करता है, यावत् अनन्तगुण दुर्गन्ध वाले (भाषाद्रव्यों को) भी ग्रहण करता है।

[११] जाइं भावतो रसमंताइं गेण्हति ताइं किं एगरसाइं गेण्हति ? जाव किं पंचरसाइं गेण्हति ?

गोयमा ! गहणदव्वाइं पडुच्च एगरसाइं पि गेण्हति जाव पंचरसाइं पि गेण्हति, सव्वगहणं पडुच्च णियमा पंचरसाइं गेण्हति ।

[८७७-११प्र.] भावतः रस वाले जिन भाषाद्रव्यों को जीव ग्रहण करता है, क्या वह एक रस वाले (भाषाद्रव्यों को) ग्रहण करता है, (अथवा) यावत् पांच रस वाले (द्रव्यों को) ग्रहण करता है ?

[८७७-११ उ.] गौतम ! ग्रहणद्रव्यों की अपेक्षा से (वह) एक रस वाले (भाषाद्रव्यों को) भी ग्रहण करता है, यावत् पांच रस वाले द्रव्यों को भी ग्रहण करता है; किन्तु सर्वग्रहण की अपेक्षा से नियमतः पांच रस वाले भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है ।

[१२] जाइं रसतो तित्तरसाइं गेण्हति ताइं किं एगगुणतित्तरसाइं गेण्हति जाव अणंतगुण-तित्तरसाइं गेण्हति ?

गोयमा ! एगगुणतित्तरसाइं पि गेण्हति जाव अणंतगुणतित्तरसाइं पि गेण्हति । एवं जाव महुरो रसो ।

[८७७-१२ प्र.] रस से तिक्त (तीखे) रस वाले जिन (भाषाद्रव्यों) को ग्रहण करता है, क्या (वह) उन एकगुण तिक्तरस वाले (भाषाद्रव्यों को) ग्रहण करता है, यावत् (अथवा) अनन्तगुण तिक्तरस वाले (भाषाद्रव्यों को) ग्रहण करता है ?

[८७७-१२ उ.] गौतम ! (वह) एकगुण तिक्तरस वाले (भाषाद्रव्यों को) भी ग्रहण करता है, यावत् अनन्तगुण तिक्तरस वाले (द्रव्यों को) भी ग्रहण करता है । इसी प्रकार यावत् मधुर रस वाले भाषाद्रव्यों के ग्रहण के विषय में कहना चाहिए ।

[१३] जाइं भावतो फासमंताइं गेण्हति ताइं किं एगफासाइं गेण्हति, जाव अट्ठफासाइं गेण्हति ?

गोयमा ! गहणदव्वाइं पडुच्च णो एगफासाइं गिण्हति, दुफासाइं गिण्हति जाव चउफासाइं पि गेण्हति, णो पंचफासाइं गेण्हति, जाव णो अट्ठफासाइं पि गेण्हति । सव्वगहणं पडुच्च णियमा चउफासाइं गेण्हति । तं जहा—सीयफासाइं गेण्हति, उसिणफासाइं गेण्हति, णिद्धफासाइं गेण्हति, लुक्ख-फासाइं गेण्हति ।

[८७७-१३ प्र.] भावतः जिन स्पर्श वाले भाषाद्रव्यों को (जीव) ग्रहण करता है, (तो) क्या (वह) एक स्पर्श वाले (भाषाद्रव्यों को) ग्रहण करता है, (अथवा) यावत् आठ स्पर्श वाले भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-१३ उ.] गौतम ! ग्रहणद्रव्यों की अपेक्षा से एक स्पर्श वाले द्रव्यों को ग्रहण नहीं करता, दो स्पर्श वाले भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है, यावत् चार स्पर्श वाले द्रव्यों को ग्रहण करता है, किन्तु पांच स्पर्श वाले द्रव्यों को ग्रहण नहीं करता, यावत् आठ स्पर्श वाले भाषाद्रव्यों को ग्रहण नहीं करता । सर्वग्रहण की अपेक्षा से नियमतः चार स्पर्श वाले (चतुःस्पर्शी) भाषाद्रव्यों को (वह)

ग्रहण करता है; वे चार स्पर्श वाले द्रव्य इस प्रकार हैं—शीतस्पर्श वाले (द्रव्यों को) ग्रहण करता है, उष्णस्पर्श वाले (द्रव्यों को) ग्रहण करता है, स्निग्ध (चिकने) स्पर्श वाले (द्रव्यों को) ग्रहण करता है, और रूक्षस्पर्श वाले (द्रव्यों को) ग्रहण करता है।

[१४] जाइं फासओ सीयाइं गेण्हति ताइं किं एगगुणसीयाइं गेण्हति जाव अणंतगुणसीयाइं गेण्हति ?

गोयमा ! एगगुणसीयाइं पि गेण्हति जाव अणंतगुणसीयाइं पि गेण्हति। एवं उसिण-णिद्ध-लुक्खाइं जाव अणंतगुणाइं पि गिण्हति।

[८७७-१४ प्र.] स्पर्श से जिन शीतस्पर्श वाले भाषाद्रव्यों को (जीव) ग्रहण करता है, क्या (वह) एकगुण शीतस्पर्श वाले (भाषाद्रव्यों को) ग्रहण करता है (अथवा) यावत् अनन्तगुण शीत-स्पर्श वाले (भाषाद्रव्यों को) ग्रहण करता है ?

[८७७-१४ उ.] गौतम ! (वह) एकगुण शीत द्रव्यों को भी ग्रहण करता है, यावत् अनन्त-गुण शीतस्पर्श वाले (भाषाद्रव्यों को) भी ग्रहण करता है। इसी प्रकार उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श वाले (भाषाद्रव्यों के ग्रहण करने के विषय में), अनन्तगुण उष्णादि स्पर्श वाले द्रव्यों को भी ग्रहण करता है (तक कहना चाहिए।)

[१५] जाइं भंते ! जाव अणंतगुणलुक्खाइं गेण्हति ताइं किं पुट्ठाइं गेण्हति अपुट्ठाइं गेण्हति ?

गोयमा ! पुट्ठाइं गेण्हति, णो अपुट्ठाइं गेण्हति।

[८७७-१५ प्र.] भगवन् ! जिन एकगुण कृष्णवर्ण से लेकर अनन्तगुण रूक्षस्पर्श तक के (भाषा) द्रव्यों को (जीव) ग्रहण करता है, क्या (वह) उन स्पृष्ट द्रव्यों को ग्रहण करता है, अथवा अस्पृष्ट द्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-१५ उ.] गौतम ! (वह) स्पृष्ट भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है, अस्पृष्ट द्रव्यों को ग्रहण नहीं करता।

[१६] जाइं भंते ! पुट्ठाइं गेण्हति ताइं किं ओगाढाइं गेण्हति अणोगाढाइं गिण्हति ?

गोयमा ! ओगाढाइं गेण्हति, णो अणोगाढाइं गेण्हति।

[८७७-१६ प्र.] भगवन् ! जिन स्पृष्ट द्रव्यों को जीव ग्रहण करता है, क्या वह अवगाढ द्रव्यों को ग्रहण करता है, अथवा अनवगाढ द्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-१६ उ.] गौतम ! वह अवगाढ द्रव्यों को ग्रहण करता है, अवगाढ द्रव्यों को ग्रहण नहीं करता।

[१७] जाइं भंते ! ओगाढाइं गेण्हति ताइं किं अणंतरोगाढाइं गेण्हति, परंपरोगाढाइं गेण्हति ?

गोयमा ! अणंतरोगाढाइं गेण्हति, णो परंपरोगाढाइं गेण्हति।

[८७७-१७ प्र.] भगवन् ! (जीव) जिन अवगाढ द्रव्यों को ग्रहण करता है, क्या (वह) उन अनन्तरावगाढ द्रव्यों को ग्रहण करता है, अथवा परम्परावगाढ द्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-१७ उ.] गौतम ! (वह) अनन्तरावगाढ द्रव्यों को ग्रहण करता है, किन्तु परम्परावगाढ द्रव्यों को ग्रहण नहीं करता ।

[१८] जाइं भंते ! अणंतरोगाढाइं गेण्हति ताइं किं अणूइं गेण्हति ? बादराइं गेण्हति ?

गोयमा ! अणूइं पि गेण्हइ बादराइं पि गेण्हति ।

[८७७-१८ प्र.] भगवन् (जीव) जिन अनन्तरावगाढ द्रव्यों को ग्रहण करता है, क्या (वह) अणुरूप द्रव्यों को ग्रहण करता है, अथवा बादर द्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-१८ उ.] गौतम ! (वह) अणुरूप द्रव्यों को भी ग्रहण करता है और बादर द्रव्यों को भी ग्रहण करता है ।

[१९] जाइं भंते ! अणूइं पि गेण्हति बायराइं पि गेण्हति ताइं किं उड्ढं गेण्हति ? अहे गेण्हति ? तिरियं गेण्हति ?

गोयमा ! उड्ढं पि गिण्हति, अहे वे गिण्हति, तिरियं पि गेण्हति ।

[८७७-१९ प्र.] भगवन् जिन अणुद्रव्यों को (जीव) ग्रहण करता है, क्या उन्हें (वह) ऊर्ध्व (दिशा में) स्थित द्रव्यों को ग्रहण करता है, अधः (नीचे) दिशा अथवा तिर्यक् दिशा में स्थित द्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-१९ उ.] गौतम ! (वह) अणुद्रव्यों को ऊर्ध्व दिशा में, अधः (नीचे) दिशा में और तिरछी दिशा में स्थित द्रव्यों को ग्रहण करता है ।

[२०] जाइं भंते ! उड्ढं पि गेण्हति अहे वि गेण्हति तिरियं पि गेण्हति ताइं किं आइं गेण्हति ? मज्झे गेण्हति ? पज्जवसाणे गेण्हति ?

गोयमा ! आइं पि गेण्हति, मज्झे वि गेण्हति, पज्जवसाणे वि गेण्हति ।

[८७७-२० प्र.] भगवन् ! (जीव) जिन (अणुद्रव्यों) को ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् दिशा में स्थित द्रव्यों को ग्रहण करता है, क्या वह उन्हें आदि (प्रारम्भ) में ग्रहण करता है, मध्य में ग्रहण करता है, अथवा अन्त में ग्रहण करता है ?

[८७७-२० उ.] गौतम ! वह उन (ऊर्ध्वादिगृहीत द्रव्यों) को आदि में भी ग्रहण करता है, मध्य में भी ग्रहण करता है और पर्यवसान (अन्त) में भी ग्रहण करता है ।

[२१] जाइं भंते ! आइं पि गेण्हति मज्झे वि गेण्हति पज्जवसाणे वि गेण्हति ताइं किं सविसए गेण्हति ? अविसए गेण्हति ?

गोयमा ! सविसए गेण्हति, णो अविसए गेण्हति ।

[८७७-२१ प्र.] जिन (भाषा) को जीव आदि, मध्य और अन्त में ग्रहण करता है,

क्या वह उन स्वविषयक (स्पृष्ट, अवगाढ एवं अनन्तरावगाढ) द्रव्यों को ग्रहण करता है अथवा अविषयक (अस्वगोचर) द्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[८७७-२१उ.] गौतम ! वह स्वविषयक (स्वगोचर)द्रव्यों को ग्रहण करता है, किन्तु अविषयक (अस्वगोचर) द्रव्यों को ग्रहण नहीं करता ।

[२२] जाइं भंते ! सविसए गेण्हति ताइं किं आणुपुव्विं गेण्हति ? अणाणुपुव्विं गेण्हति ?

गोयमा ! आणुपुव्विं गेण्हति, णो अणाणुपुव्विं गेण्हति ।

[८७७-२२ प्र.] भगवन् ! जिन स्वविषयक द्रव्यों को जीव ग्रहण करता है, क्या वह उन्हें आनुपूर्वी से ग्रहण करता है, अथवा अनानुपूर्वी से ग्रहण करता है ?

[८७७-२२ उ.] गौतम ! (वह उन स्वगोचर द्रव्यों को) आनुपूर्वी से ग्रहण करता है, अनानुपूर्वी से ग्रहण नहीं करता ।

[२३] जाइं भंते ! आणुपुव्विं गेण्हति ताइं किं तिदिसिं गेण्हति जाव छद्दिसिं गेण्हति ?

गोयमा ! णियमा छद्दिसिं गेण्हति ।

पुट्ठोगाढ अणंतर अणु य तह बायरे य ऊड्ढमहे ।
आदि विसयाऽऽणुपुव्विं णियमा तह छद्दिसिं चेव ॥१९८॥

[८७७-२३ प्र.] भगवन् ! जिन द्रव्यों को जीव आनुपूर्वी से ग्रहण करता है, क्या उन्हें तीन दिशाओं से ग्रहण करता है, यावत् (अथवा) छह दिशाओं से ग्रहण करता है ?

[८७७-२३ उ.] गौतम ! (वह) उन द्रव्यों को नियमतः छह दिशाओं से ग्रहण करता है ।

[संग्रहणीगाथार्थ -] स्पृष्ट अवगाढ, अनन्तरावगाढ, अणु तथा बादर, ऊर्ध्व, अधः, आदि, स्वविषयक, आनुपूर्वी तथा नियम से छह दिशाओं से (भाषायोग्य द्रव्यों को जीव ग्रहण करता है ।)

८७८. जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं भासत्ताए गेण्हति ताइं किं संतरं गेण्हति ? निरंतरं गेण्हति ?

गोयमा ! संतरं पि गेण्हति निरंतरं पि गेण्हति । संतरं गिण्हमाणे जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जसमए अंतरं कट्टु गेण्हति । निरंतरं गिण्हमाणे जहण्णेणं दो समए, उक्कोसेणं असंखेज्जसमए अणुसमयं अविरहियं निरंतरं गेण्हति ।

[८७८ प्र.] भगवन् ! जिन द्रव्यों को जीव भाषा के रूप में ग्रहण करता है, क्या (वह) उन्हें सान्तर (बीच-बीच में कुछ समय का व्यवधान डाल कर या बीच-बीच में रुक कर) ग्रहण करता है या निरन्तर (लगातार) ग्रहण करता रहता है ?

[८७८ उ.] गौतम ! वह उन द्रव्यों को सान्तर भी ग्रहण करता है और निरन्तर भी ग्रहण करता है । सान्तर ग्रहण करता हुआ (जीव) जघन्यतः एक समय का तथा उत्कृष्टतः असंख्यात समय का अन्तर करके ग्रहण करता है और निरन्तर ग्रहण करता हुआ जघन्य दो समय तक और उत्कृष्ट असंख्यात समय तक प्रतिसमय बिना विरह (विराम) के लगातार ग्रहण करता है ।

८७९. जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं भासत्ताए गहियाइं णिसिरति ताइं किं संतरं णिसिरति णिरंतरं णिसिरति ?

गोयमा ! संतरं णिसिरति, णो णिरंतरं णिसिरति । संतरं णिसिरमाणे एगेणं समएणं गेण्हइ एगेणं समएणं णिसिरति, 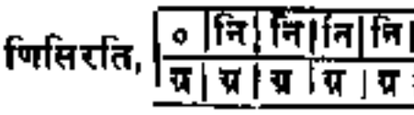 एएणं गहण-णिसिरणोवाएणं जहण्णेणं दुसमइयं उक्कोसेणं असंखेज्जसमइयं अंतोमुहुत्तियं गहण-णिसिरणोवायं (णिसिरणं) करेति ।

[८७९ प्र.] भगवन् ! जिन द्रव्यों को जीव भाषा के रूप में ग्रहण करके निकालता है (त्यागता है), क्या वह उन्हें सान्तर निकालता है या निरन्तर निकालता है ?

[८७९ उ.] गौतम ! (वह उन्हें) सान्तर निकालता है, निरन्तर नहीं निकालता (त्यागता) । सान्तर निकालता हुआ जीव एक समय में (उन भाषायोग्य द्रव्यों को) ग्रहण करता है और एक समय से निकालता (त्यागता) है। इस ग्रहण और निःसरण के उपाय से जघन्य दो समय के और उत्कृष्ट असंख्यात समय के अन्तर्मुहूर्त तक ग्रहण और निःसरण करता है।

विवेचन—जीव द्वारा ग्रहणयोग्य भाषाद्रव्यों के विभिन्न रूप—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. ८७७ से ८७९ तक) में जीव ग्राह्य स्थित भाषाद्रव्यों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किन-किन रूपों में, कैसे-कैसे ग्रहण करता है, इसकी सांगोपांग चर्चा की गई है ।

मुखादि से बाहर निकालने से पूर्व ग्राह्य भाषाद्रव्यों के विभिन्न रूप—यह तो पहले बताया जा चुका है कि जीव भाषा निकालने से पूर्व भाषा के रूप में परिणत करने के लिए भाषाद्रव्यों को अर्थात् भाषावर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है । इन तीन सूत्रों में इन्हीं ग्राह्य भाषाद्रव्यों की चर्चा का निष्कर्ष क्रमशः इस प्रकार है—

(१) जीव स्थित (स्थिर, हलन-चलन से रहित) द्रव्यों को ग्रहण करता है, अस्थिर (गमन-क्रियायुक्त) द्रव्यों को नहीं ।

(२) वह स्थित द्रव्यों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से ग्रहण करता है ।

(३) द्रव्य से, एकप्रदेशी (एक परमाणु) से लेकर असंख्यातप्रदेशी भाषाद्रव्यों को ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वे स्वभावतः अग्राह्य होते हैं, किन्तु अनन्तप्रदेशी द्रव्यों को ही ग्रहण करता है, क्योंकि अनन्त परमाणुओं से बना हुआ स्कन्ध ही जीव द्वारा ग्राह्य होता है ।

(४) क्षेत्र से, भाषा रूप में परिणमन करने के लिए ग्राह्य भाषाद्रव्य आकाश के एक प्रदेश से लेकर संख्यात प्रदेशों में अवगाह वाले नहीं होते, किन्तु असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ होते हैं ।

(५) काल से, वह एक समय की स्थिति वाले भाषाद्रव्यों से लेकर असंख्यात समय की स्थिति वाले भाषाद्रव्यों तक को ग्रहण करता है, क्योंकि पुद्गलों (अनन्तप्रदेशी स्कन्ध) की अवस्थिति(हलन-चलन से रहितता) जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट असंख्यातसमय तक रहती है ।

(६) भाव से, भाषा रूप में ग्राह्य द्रव्य वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले होते हैं ।

(७) भावतः वर्ण वाले जिन भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है, वे ग्रहणयोग्य पृथक्-पृथक्

द्रव्यापेक्षया कोई एक, कोई दो, यावत् कोई पांच वर्णों से युक्त होते हैं, किन्तु सर्वग्रहणापेक्षया अर्थात् ग्रहण किए हुए समस्त द्रव्यों के समुदाय की अपेक्षा से वे नियमत: पांच वर्णों से युक्त होते हैं।

(८) वर्ण की अपेक्षा से भाषारूप में परिणत करने हेतु एकगुण कृष्ण से लेकर अनन्तगुण कृष्ण भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है। इसी प्रकार नील, रक्त, पीत, शुक्ल वर्णों के विषय में समझ लेना चाहिए।

(९) ग्रहणयोग्यद्रव्यापेक्षया एक गन्ध वाले एवं दो गन्ध वाले द्रव्यों को भी ग्रहण करता है, किन्तु सर्वग्रहणापेक्षया दो गन्धवाले द्रव्यों को ही ग्रहण करता है।

(१०) एक गुण सुगन्ध वाले से लेकर यावत् अनन्तगुण सुगन्ध वाले भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है, तथैव एकगुण दुर्गन्ध से लेकर अनन्तगुण दुर्गन्ध तक के भाषापुद्गलों को ग्रहण करता है।

(११) ग्रहणयोग्य द्रव्यों की अपेक्षा से एक रस वाले भाषाद्रव्यों को भी ग्रहण करता है, किन्तु सर्वग्रहणापेक्षया नियमत: पांच रसों वाले भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है।

(१२) भाषा के रूप में परिणत करने हेतु एकगुण तिक्तरस वाले से लेकर अनन्तगुण तिक्तरस वाले भाषाद्रव्यों तक को ग्रहण करता है। इसी प्रकार कटु, कषाय, अम्ल और मधुर रसों वाले भाषाद्रव्यों के विषय में समझना चाहिए।

(१३) भावत: स्पर्श वाले जिन द्रव्यों को भाषारूप में परिणत करने हेतु जीव ग्रहण करता है, वे भाषाद्रव्य ग्रहणद्रव्यापेक्षया एकस्पर्शी नहीं होते, क्योंकि एक परमाणु में दो स्पर्श अवश्य होते हैं।[1] अत: वे द्रव्य द्विस्पर्शी, त्रिस्पर्शी या चतु:स्पर्शी होते हैं। किन्तु पंचस्पर्शी से लेकर अष्टस्पर्शी तक नहीं होते। सर्वग्रहण की अपेक्षा से नियमत: शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष चतु:स्पर्शी भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है।

(१४) शीतस्पर्श वाले जिन भाषाद्रव्यों को भाषारूप में परिणत करने हेतु जीव ग्रहण करता है, वे एकगुण शीतस्पर्श वाले यावत् अनन्तगुण शीतस्पर्श वाले होते हैं। इसी प्रकार उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श वाले भाषा द्रव्यों के विषय में समझना चाहिए।

(१५) एकगुण कृष्णवर्ण से लेकर अनन्तगुण रूक्षस्पर्श तक के जिन द्रव्यों को जीव भाषा के रूप परिणत करने के लिए ग्रहण करता है, वे द्रव्य आत्मप्रदेशों के साथ स्पृष्ट होते हैं, अस्पृष्ट नहीं तथा वह अवगाढ द्रव्यों (जिन आकाशप्रदेशों में जीव के प्रदेश हैं, उन्हीं आकाशप्रदेशों में अवस्थित भाषाद्रव्यों) को ग्रहण करता है, अनवगाढ द्रव्यों को नहीं; विशेषत: अनन्तरावगाढ (व्यवधानरहित) द्रव्यों को ही ग्रहण करता है, परम्परावगाढ (व्यवहितरूप से अवस्थित) द्रव्यों को नहीं तथा अनन्तरावगाढ जिन द्रव्यों को जीव ग्रहण करता है, वे अणु (थोड़े प्रदेशों वाले स्कन्ध) भी होते हैं और बादर (बहुत प्रदेशों से उपचित) भी होते हैं। फिर जितने क्षेत्र में जीव के ग्रहणयोग्य भाषाद्रव्य अवस्थित हैं, उतने ही क्षेत्र में जीव उन अणुरूप द्रव्यों को ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्यग्दिशा से भी ग्रहण करता है तथा उन्हें आदि (प्रथम समय) में भी ग्रहण करता है, मध्य (द्वितीय आदि समयों) में भी ग्रहण करता है और अन्त (ग्रहण के उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त-प्रमाणकाल रूप में अन्तिम समय) में भी ग्रहण करता है। इस प्रकार के वे भाषाद्रव्य स्वविषय

---

१. कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु:। एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्श: कार्यलिंगश्च॥

(स्वगोचर अर्थात्—स्पृष्ट, अवगाढ और अनन्तरावगाढरूप) होते हैं, अविषय (स्व के अगोचर अर्थात् - स्पृष्ट, अवगाढ और अनन्तरावगाढ से भिन्न रूप) नहीं होते तथा उन द्रव्यों को भी जीव आनुपूर्वी से (अनुक्रम से—ग्रहण की अपेक्षा सामीप्य के अनुसार) ग्रहण करता है, अनानुपूर्वी से (आसन्नता का उल्लंघन करके) नहीं एवं नियम से छह दिशाओं से आए हुए भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है, क्योंकि नियमतः त्रसनाड़ी में अवस्थित भाषक त्रसजीव छहों दिशाओं के द्रव्यों का ग्रहण करता है।

(१६) जीव जिन द्रव्यों को भाषा के रूप में ग्रहण करता है, उन्हें सान्तर (बीच में कुछ समय का व्यवधान डाल कर अथवा रुक-रुककर) भी ग्रहण करता है और निरन्तर (लगातार—बीच-बीच में व्यवधान डाले बिना) भी ग्रहण करता है। अगर जीव भाषाद्रव्यों को सान्तर ग्रहण करे तो जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट असंख्यात समयों का अन्तर करके ग्रहण करता है। यदि कोई लगातार बोलता रहे तो उसकी अपेक्षा से जघन्य एक समय का अन्तर समझना चाहिए। जैसे—कोई वक्ता प्रथम समय में भाषा के जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, दूसरे समय में उनको निकालता तथा दूसरे समय में गृहीत पुद्गलों को तीसरे समय में निकालता है। इस प्रकार प्रथम समय में सिर्फ ग्रहण होता है, बीच के समयों में ग्रहण और निसर्ग, दोनों होते हैं, अन्तिम समय में सिर्फ निसर्ग होता है। भाषापुद्गलों का ग्रहण और निसर्ग, ये दोनों परस्पर विरोधी कार्य एक समय में कैसे हो सकते हैं ?[1] इस शंका का समाधान यह है कि यद्यपि जैनसिद्धान्तानुसार एक समय में दो उपयोग सम्भव नहीं हैं। किन्तु एक समय में क्रियाएँ तो अनेक हो सकती हैं, उनके होने में कोई विरोध भी नहीं। एक ही समय में एक नर्तकी भ्रमणादि क्रिया करती हुई, हाथों-पैरों आदि से विविध प्रकार की क्रियाएँ करती है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। सभी वस्तुओं का एक ही समय में उत्पाद और व्यय देखा जाता है, इसी प्रकार भाषाद्रव्यों के ग्रहण और निसर्ग के परस्पर विरोधी प्रयत्न भी एक ही समय में हो सकते हैं। इसलिए कहा गया है कि भाषाद्रव्यों को जीव बिना व्यवधान के निरन्तर ग्रहण करता रहे तो जघन्य दो समय तक और उत्कृष्ट असंख्यात समयों तक निरंतर ग्रहण करता है। कोई असंख्यात समयों तक एक ही ग्रहण न समझ ले, इस भ्रान्ति के निवारणार्थ 'अनुसमय' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है—'एक समय के पश्चात्'। कोई व्यक्ति बीच में व्यवधान होने पर भी 'अनुसमय' समझ सकता है, इस भ्रमनिवारण के लिए 'अविरहितं' शब्द प्रयुक्त किया है। इस प्रकार प्रथम समय में ग्रहण ही होता है, निसर्ग नहीं; क्योंकि बिना ग्रहण के निसर्ग सम्भव नहीं। और अन्तिम में भाषा का अभिप्राय उपरत हो जाने से ग्रहण नहीं होता, केवल निसर्ग ही होता है। शेष (बीच के) दूसरे, तीसरे आदि समयों में ग्रहण-निसर्ग दोनों साथ-साथ होते हैं। किन्तु पूर्व समय में गृहीत पुद्गल उसके पश्चात् के उत्तर समय में ही छोड़े जाते हैं। ऐसा नहीं होता कि जिन पुद्गलों को जिस समय में ग्रहण किया, उसी समय में निसर्ग भी हो जाए।

(१७) भाषा के रूप में गृहीत द्रव्यों को जीव सान्तर निकालता है, निरन्तर नहीं, क्योंकि जिस समय में जिन भाषाद्रव्यों को जीव ग्रहण करता है, उसी समय में उन द्रव्यों को नहीं निकालता अर्थात् प्रथम समय में गृहीत भाषाद्रव्यों को प्रथम समय में नहीं, किन्तु दूसरे समय में और दूसरे समय में गृहीत द्रव्यों को तीसरे समय में निकालता है, इत्यादि। निष्कर्ष यह है कि पूर्व में गृहीत द्रव्यों को

---

१. गहणनिसग्गपयत्ता परोप्परविरोहिणो कहं समये ? समय दो उवयोगा, न होज्ज, किरियाण को दोसो ?
—भाष्यकार

अगले-अगले समय में निकालता है। पहले ग्रहण होने पर ही निसर्ग का होना सम्भव है, अगृहीत का नहीं। इसीलिए कहा गया है कि निसर्ग सान्तर होता है। ग्रहण की अपेक्षा से ही निसर्ग को सान्तर कहा गया है। गृहीत द्रव्य का अनन्तर अर्थात् अगले समय में नियम से निसर्ग होता है। इस दृष्टि से निरन्तर ग्रहण और निसर्ग का काल जघन्य दो समय और उत्कृष्ट असंख्यात समय के अन्तर्मुहूर्त तक का है।[1]

भेद-अभेद-रूप में भाषाद्रव्यों के निःसरण तथा ग्रहणनिःसरण सम्बन्धी प्ररूपणा

८८०. जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं भासत्ताए गहियाइं णिसिरति ताइं किं भिण्णाइं णिसिरति ? अभिण्णाइं णिसिरति ?

गोयमा ! भिण्णाइं पि णिसिरति, अभिण्णाइं पि णिसिरति। जाइं भिण्णाइं णिसिरति ताइं अणंतगुणपरिवड्ढीए परिवड्ढमाणाइं परिवड्ढमाणाइं लोयंतं फुसंति। जाइं अभिण्णाइं णिसिरति ताइं असंखेज्जाओ ओगाहणवग्गणाओ गंता भेयमावज्जंति, संखेज्जाइं जोयणाइं गंता विद्धंसमागच्छंति।

[८८० प्र.] भगवन् ! जीव भाषा के रूप में गृहीत जिन द्रव्यों को निकालता है, उन द्रव्यों को भिन्न (भेदप्राप्त—भेदन किए हुए को) निकालता है, अथवा अभिन्न (भेदन नहीं किए हुए को) निकालता है ?

[८८० उ.] गौतम ! (कोई जीव) भिन्न द्रव्यों को निकालता है, (तो कोई) अभिन्न द्रव्यों को भी निकालता है। जिन भिन्न द्रव्यों को (जीव) निकालता है, वे द्रव्य अनन्तगुणवृद्धि से वृद्धि को प्राप्त होते हुए लोकान्त को स्पर्श करते हैं तथा जिन अभिन्न द्रव्यों को निकालता है, वे द्रव्य असंख्यात अवगाहनवर्गणा तक जा कर भेद को प्राप्त हो जाते हैं। फिर संख्यात योजनों तक आगे जाकर विध्वंस को प्राप्त हो जाते हैं।

८८१. तेसि णं भंते ! दव्वाणं कतिविहे भेए पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे भेए पण्णत्ते। तं जहा—खंडाभेए १ पतराभेए २ चुण्णियाभेए ३ अणुतडियाभेए ४ उक्करियाभेए ५।

[८८१ प्र.] भगवन् ! उन द्रव्यों के भेद कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[८८१ उ.] गौतम ! भेद पांच प्रकार के कहे गए हैं ? वे इस प्रकार—(१) खण्डभेद, (२) प्रतरभेद, (३) चूर्णिकाभेद, (४) अनुतटिकाभेद और (५) उत्कटिका (उत्करिका) भेद।

८८२. से किं तं खंडाभेए।

२. जण्णं अयखंडाण वा तउखंडाण वा तंबखंडाण वा सीसगखंडाण वा रययखंडाण वा जायरूवखंडाण वा खंडएण भेदे भवति। से त्तं खंडाभेदे।

[८८२ प्र.] वह (पूर्वोक्त) खण्डभेद किस प्रकार का होता है ?

---

१ (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति., पत्रांक २६२ से २६६ तक
(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ३, पृ. ३४८ से ३७९ तक।

[८८२ उ.] खण्डभेद (वह है), जो (जैसे) लोहे के खंडों का, रांगे के खंडों का, तांबे के खंडों का, शीशे के खंडों का, चांदी के खंडों का अथवा सोने के खंडों का, खण्डक (टुकड़े करने वाले औजार—हथौड़े आदि) से भेद (टुकड़े) करने पर होता है। यह हुआ उस खण्डभेद (का स्वरूप।)

८८३. से किं तं पयरभेदे ?

२. जण्णं वंसाण वा वेत्ताण वा णलाण वा कदलिथंभाण वा अब्भपडलाण वा पयरएणं भेए भवति। से त्तं पयरभेदे।

[८८३ प्र.] वह (पूर्वोक्त) प्रतरभेद क्या है ?

[८८३ उ.] प्रतरभेद (वह है), जो बांसों का, बेंतों का, नलों का, केले के स्तम्भों का, अभ्रक के पटलों (परतों)का प्रतर से (भोजपत्रादि की तरह) भेद करने पर होता है। यह है वह प्रतरभेद।

८८४. से किं तं चुण्णियाभेए ?

२. जण्णं तिलचुण्णाण वा मुग्गचुण्णाण वा मासचुण्णाण वा पिप्पलिचुण्णाण वा मिरियचुण्णाण वा सिंगबेरचुण्णाण वा चुण्णियाए भेदे भवति। से त्तं चुण्णियाभेदे।

[८८४ प्र.] वह (पूर्वोक्त) चूर्णिकाभेद क्या है ?

[८८४ उ.] चूर्णिकाभेद (वह है), जो (जैसे) तिल के चूर्णों (चूरों) का, मूंग के चूर्णों (चूरे या आटे) का, उड़द के चूर्णों (चूरों) का, पिप्पली (पीपल) के चूरों का, कालीमिर्च के चूरों का, चूर्णिका (इमामदस्ते या चक्की आदि) से भेद करने (कूटने या पीसने) पर होता है। यह हुआ उक्त चूर्णिका भेद का स्वरूप।

८८५. से किं तं अणुतडियाभेदे ?

२. जण्णं अगडाण वा तलागाण वा दहाण वा णदीण वा वावीण वा पुक्खरिणीण वा दीहियाण वा गुंजालियाण वा सराण वा सरपंतियाण वा सरसरपंतियाण वा अणुतडियाए भेदे भवति। से त्तं अणुतडियाभेदे।

[८८५ प्र.] वह अनुतटिकाभेद क्या है (कैसा है) ?

[८८५ उ.] अनुतटिकाभेद (वह है,) जो कूपों के, तालाबों के, ह्रदों के, नदियों के, बावड़ियों के, पुष्करिणियों (गोलाकार बावड़ियों) के, दीर्घिकाओं (लम्बी बावड़ियों) के, गुंजालिकाओं टेढ़ीमेढ़ी बावड़ियों के, सरोवरों के, पंक्तिबद्ध सरोवरों के और नाली के द्वारा जल का संचार होने वाले पंक्तिबद्ध सरोवरों के अनुतटिकारूप में(फट जाने, दरार पड़ जाने या किनारे घिस या कट जाने से) भेद होता है। यह अनुतटिकाभेद का स्वरूप है।

८८६. से किं तं उक्करियाभेदे ?

२. जण्णं मूसगाण वा मयूसाण वा तिलसिंगाण वा मुग्गसिंगाण वा माससिंगाण वा एरंडबीयाण वा फुडित्ता उक्करियाए भेदे भवति। से त्तं उक्करियाभेए।

[८८६ प्र.] वह (पूर्वोक्त) उत्कटिकाभेद कैसा होता है ?

[८८६ उ.] मूषों-मसूर के, मगूसों (मूंगफलियों या चौलाई की फलियों) के, तिल की फलियों के, मूंग की फलियों के, उड़द की फलियों के अथवा एरण्ड के बीजों के फटने या फाड़ने से जो भेद होता है, वह उत्कटिकाभेद है। यह उत्कटिका (उत्करिका) भेद का स्वरूप है।

८८७. एएसि णं भंते ! दव्वाणं खंडाभेएणं पयराभेएणं चुण्णियाभेएणं अणुतडियाभेदेणं उक्करियाभेदेण य भिज्जमाणाणं कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवाइं दव्वाइं उक्करियाभेएणं भिज्जमाणाइं, अणुतडियाभेदेणं भिज्जमाणाइं अणंतगुणाइं, चुण्णियाभेएणं भिज्जमाणाइं अणंतगुणाइं पयराभेएणं भिज्जमाणाइं अणंतगुणाइं, खंडाभेएणं भिज्जमाणाइं अणंतगुणाइं।

[८८७ प्र.] भगवन् ! खण्डभेद से, प्रतरभेद से, चूर्णिकाभेद से, अनुतटिकाभेद से और उत्कटिकाभेद से भिदने (भिन्न होने) वाले इन भाषाद्रव्यों में कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[८८७ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े भाषाद्रव्य उत्कटिकाभेद से भिन्न होते हैं, उनसे अनन्तगुणे अनुतटिकाभेद से भिन्न होते हैं, उनकी अपेक्षा चूर्णिकाभेद से भिन्न होने वाले अनन्तगुणे हैं, उनसे अनन्तगुणे प्रतरभेद से भिन्न होने वाले और उनसे भी अनन्तगुणे अधिक खण्डभेद से भिन्न होने वाले द्रव्य हैं।

८८८. [१] णेरइए णं भंते ! जाइं दव्वाइं भासत्ताए गेण्हति ताइं किं ठियाइं गेण्हति ? अठियाइं गेण्हति ?

गोयमा ! एवं चेव जहा जीवे वत्तव्वया भणिया (सु. ८७७) तहा णेरइयस्सवि जाव अप्पाबहुयं।

[८८८-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जिन द्रव्यों को भाषा के रूप में ग्रहण करता है, उन्हें (वह) स्थित (ग्रहण करता) है अथवा अस्थित (ग्रहण करता) है ?

[८८८-१ उ.] गौतम ! जैसे (औधिक) जीव के विषय में वक्तव्यता (सू. ८७७ में) कही है, वैसे ही अल्पबहुत्व तक नैरयिक के विषय में भी कहना चाहिए।

[२] एवं एगिंदियवज्जो दंडओ जाव वेमाणिया।

[८८८-२] इसी प्रकार एकेन्द्रिय को छोड़ कर यावत् वैमानिकों तक दण्डक कहना चाहिए।

८८९. जीवा णं भंते ! जाइं दव्वाइं भासत्ताए गेण्हंति ताइं किं ठियाइं गेण्हंति ? अठियाइं गेण्हंति ?

गोयमा ! एवं चेव पुहुत्तेण वि णेयव्वं जाव वेमाणिया।

[८८९ प्र.] जीव जिन द्रव्यों को भाषा के रूप में ग्रहण करते हैं, क्या (वे) उन स्थित द्रव्यों को ग्रहण करते हैं, अथवा अस्थित द्रव्यों को ग्रहण करते हैं ?

[८८९ उ.] गौतम ! (वे स्थित भाषाद्रव्यों को ग्रहण करते हैं।) जिस प्रकार एकत्व-

एकवचनरूप में कथन किया गया था, उसी प्रकार पृथक्त्व (बहुवचन के) रूप में (नैरयिकों से लेकर) यावत् वैमानिक तक समझ लेना चाहिए।

८९०. जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं सच्चभासत्ताए गेण्हति ताइं किं ठियाइं गेण्हति ? अठियाइं गेण्हति ?

गोयमा ! जहा ओहियदंडओ (सु. ८७७) तहा एसो वि। नवरं विगलेंदिया य पुच्छिज्जंति। एवं मोसभासाए वि सच्चामोसभासाए वि।

[८९० प्र.] भगवन् ! जीव जिन द्रव्यों को सत्यभाषा के रूप में ग्रहण करता है, क्या (वह) उन स्थितद्रव्यों को ग्रहण करता है, अथवा अस्थितद्रव्यों को ?

[८९० उ.] गौतम ! जैसे (सू. ८७७ में) औधिक जीवविषयक दण्डक है, वैसे यह दण्डक भी कहना चाहिए। विशेष यह है कि विकलेन्द्रियों के विषय में (उनकी भाषा सत्य न होने से) पृच्छा नहीं करनी चाहिए। जैसे सत्यभाषाद्रव्यों के ग्रहण के विषय में कहा है, वैसे ही मृषाभाषा के (द्रव्यों) तथा सत्यामृषाभाषा के (द्रव्यों के ग्रहण के विषय में भी कहना चाहिए।)

८९१. असच्चामोसभासाए वि एवं चेव। नवरं असच्चामोसभासाए विगलिंदिया वि पुच्छिज्जंति इमेणं अभिलावेणं—

विगलिंदिए णं भंते ! जाइं दव्वाइं असच्चामोसभासत्ताए गेण्हति ताइं किं ठियाइं गेण्हति ? अठियाइं गेण्हति ?

गोयमा ! जहा ओहियदंडओ (सु. ८७७)। एवं एते एगत्तपुहत्तेणं दस दंडगा भाणियव्वा।

[८९१] असत्यामृषाभाषा के (द्रव्यों के ग्रहण के) विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए। विशेष यह है कि असत्यामृषाभाषा के ग्रहण के सम्बन्ध में इस अभिलाप के द्वारा विकलेन्द्रियों की भी पृच्छा करनी चाहिए—

[प्र.] भगवन् ! विकलेन्द्रिय जीव जिन द्रव्यों को असत्यामृषाभाषा के रूप में ग्रहण करता है, क्या वह उन स्थितद्रव्यों को ग्रहण करता है, अथवा अस्थितद्रव्यों को ग्रहण करता है ?

[उ.] गौतम ! जैसे (सू. ८७७ में) औधिक दण्डक कहा गया है, वैसे ही (यहाँ समझ लेना चाहिए।) इस प्रकार एकत्व (एकवचन) और पृथक्त्व (बहुवचन) के ये दस दण्डक कहने चाहिए।

८९२. जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं सच्चभासत्ताए गेण्हति ताइं किं सच्चभासत्ताए णिसिरति ? मोसभासत्ताए णिसिरति ? सच्चामोसभासत्ताए णिसिरति ? असच्चामोसभासत्ताए णिसिरति ?

गोयमा ! सच्चभासत्ताए णिसिरति, णो मोसभासत्ताए णिसिरति, णो सच्चामोसभासत्ताए णिसिरति, णो असच्चामोसभासत्ताए णिसिरति। एवं एगिंदिय-विगलिंदियवज्जो दंडओ जाव वेमाणिए। एवं पुहुत्तेण वि।

[८९२ प्र.] भगवन् ! जीव जिन द्रव्यों को सत्यभाषा के रूप में ग्रहण करता है, क्या उनको

वह सत्यभाषा के रूप में निकालता है, मृषाभाषा के रूप में निकालता है, सत्यामृषाभाषा के रूप में निकालता है, अथवा असत्यामृषाभाषा के रूप में निकालता है ?

[८९२ उ.] गौतम ! वह (सत्यभाषा के रूप में गृहीत उन द्रव्यों को) सत्यभाषा के रूप में निकालता है, किन्तु न तो मृषाभाषा के रूप में निकालता है, न सत्यामृषाभाषा के रूप में निकालता है, और न ही असत्यामृषाभाषा के रूप में निकालता है। इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय को छोड़ कर (एकवचन का) दण्डक कहना चाहिए अथवा इसी तरह पृथक्त्व (बहुवचन) का दण्डक भी कहना चाहिए।

८९३. जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं मोसभासत्ताए गेण्हति ताइं किं सच्चभासत्ताए णिसिरति ? मोसभासत्ताए णिसिरति ? सच्चामोसभासत्ताए णिसिरति ? असच्चामोसभासत्ताए णिसिरति ?

गोयमा ! णो सच्चभासत्ताए णिसिरति, मोसभासत्ताए णिसिरति, णो सच्चामोसभासत्ताए णिसिरति, णो असच्चामोसभासत्ताए णिसिरति।

[८९३ प्र.] भगवन् ! जीव जिन द्रव्यों को मृषाभाषा के रूप में ग्रहण करता है, क्या उन्हें वह सत्यभाषा के रूप में निकालता है ? अथवा मृषाभाषा के रूप में निकालता है ? या सत्यामृषा भाषा के रूप में निकालता है ? अथवा असत्यामृषाभाषा के रूप में निकालता है ?

[८९३ उ.] गौतम ! (वह मृषाभाषारूप में गृहीत द्रव्यों को) सत्यभाषा के रूप में नहीं निकालता, किन्तु मृषाभाषा के रूप में ही निकालता है, तथा सत्यामृषा भाषा के रूप में नहीं निकलता और न ही असत्यामृषा भाषा के रूप में निकलता है।

८९४. एवं सच्चामोसभासत्ताए वि।

[८९४] इसी प्रकार सत्यामृषाभाषा के रूप में (गृहीत द्रव्यों के विषय में भी समझना चाहिए।)

८९५. असच्चामोसभासत्ताए वि एवं चेव। णवरं असच्चामोसभासत्ताए विगलिंदिया तहेव पुच्छिज्जंति। जाए चेव गेण्हति ताए चेव णिसिरति। एवं एते एगत्त-पुहत्तिया अट्ठ दंडगा भाणियव्वा।

[८९५] असत्यामृषाभाषा के रूप में गृहीत द्रव्यों के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। विशेषता यह है कि असत्यामृषाभाषा के रूप में गृहीत द्रव्यों के विषय में विकलेन्द्रियों की भी पृच्छा उसी प्रकार (पूर्ववत्) करनी चाहिए। (सिद्धान्त यह है कि) जिस भाषा के रूप में द्रव्यों को ग्रहण करता है, उसी भाषा के रूप में ही द्रव्यों को निकालता है। इस प्रकार एकत्व (एकवचन) और पृथक्त्व (बहुवचन) के ये (कुल मिला कर) आठ दण्डक कहने चाहिए।

विवेचन—भाषाद्रव्यों के भेद-अभेदरूप में निःसरण तथा ग्रहण-निःसरण के विषय में प्ररूपणा—प्रस्तुत सोलह सूत्रों (८८० से ८९५ तक) में भाषाद्रव्यों के भिन्न तथा अभिन्न रूप में निःसरण, भेदों के अल्पबहुत्व तथा भाषाद्रव्यों के ग्रहण-निःसरण के विषय में प्ररूपणा की गई है।

नैरयिक आदि के विषय में अतिदेश—नैरयिक जिन द्रव्यों को भाषा के रूप में ग्रहण करता है, वे स्थित (स्थिर) होते हैं या अस्थित (संचरणशील) ? इस प्रश्न के पूछे जाने पर शास्त्रकार अति-

देश करते हुए कहते हैं—स्थित-अस्थित द्रव्यों के ग्रहण की प्ररूपणा से लेकर अल्पबहुत्व तक की जैसी प्ररूपणा समुच्चय जीव के विषय में की है, वैसी ही प्ररूपणा नैरयिक से लेकर वैमानिक पर्यन्त (एकेन्द्रिय को छोड़कर) करनी चाहिए।

भिन्न-अभिन्न भाषाद्रव्यों के निःसरण की व्याख्या—वक्ता दो प्रकार के होते हैं, तीव्रप्रयत्न वाले और मन्दप्रयत्न वाले। जो वक्ता रोगग्रस्तता, जराग्रस्तता या अनादरभाव के कारण मन्द-प्रयत्न वाला होता है, उसके द्वारा निकाले हुए भाषाद्रव्य अभिन्न—स्थूलखण्डरूप एवं अव्यक्त होते हैं। जो वक्ता नीरोग, बलवान् एवं आदरभाव के कारण तीव्रप्रयत्नवाला होता है, उसके द्वारा निकाले हुए भाषाद्रव्य खण्ड-खण्ड एवं स्फुट होते हैं।[1] तीव्रप्रयत्नवान् वक्ता द्वारा छोड़े गये भाषाद्रव्य खंडित होने के कारण सूक्ष्म होने से और अन्य द्रव्यों को वासित करने के कारण अनन्तगुण वृद्धि को प्राप्त होकर लोक के अंत तक पहुंचते हैं और संपूर्ण लोक में व्याप्त हो जाते हैं। मंदप्रयत्न द्वारा छोड़े गये भाषाद्रव्य लोकान्त तक नहीं पहुंच पाते। वे असंख्यात अवगाहन वर्गणा तक जाते हैं। वहाँ जाकर भेद को प्राप्त होते हैं, फिर संख्यात योजन तक आगे जाकर विध्वस्त हो जाते हैं।

एकत्व और पृथक्त्व के दस दण्डक—असत्यामृषाभाषा के रूप में जिन द्रव्यों को ग्रहण किया जाता है, वे स्थित होते हैं, अस्थित नहीं। इस विषय में विकलेन्द्रियसहित दस दण्डक होते हैं, वे इस प्रकार हैं—नारक, भवनपति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय, मनुष्य, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। अथवा दस दण्डक अर्थात्—आलापक इस प्रकार होते हैं—सामान्य एक जीव के भाषाद्रव्य ग्रहण के सम्बन्ध में एक तथा चार पृथक्-पृथक् चार भाषाओं के द्रव्य ग्रहण करने के सम्बन्ध में, यों ५ एकवचन के और ५ ही बहुवचन के दण्डक (पाठ) मिल कर दस दण्डक होते हैं।

एकत्व और पृथक्त्व के आठ दण्डक—एकेन्द्रिय को छोड़कर नैरयिकों से लेकर ४ भाषाओं के द्रव्यों के ग्रहण-निःसरण-सम्बन्धी एकवचन के चार दण्डक और बहुवचन के चार दण्डक, यों आठ दण्डक हुए।[2]

सोलह वचनों तथा चार भाषाजातों के आराधक-विराधक एवं अल्पबहुत्व की प्ररूपणा

८९६. कतिविहे णं भंते ! वयणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! सोलसविहे वयणे पण्णत्ते। तं जहा—एगवयणे १ दुवयणे २ बहुवयणे ३ इत्थिवयणे ४ पुंसवयणे ५ णपुंसगवयणे ६ अज्झत्थवयणे ७ उवणीयवयणे ८ अवणीयवयणे ९ उवणीयावणीयवयणे १० अवणीयउवणीयवयणे ११ तीतवयणे १२ पडुप्पन्नवयणे १३ अणागयवयणे १४ पच्चक्खवयणे १५ परोक्खवयणे १६।

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २६७
(ख) प्रज्ञापनासूत्र प्रमेयबोधिनी टीका भा. ३, पृ. ३८०
"कोई मंदपयत्तो निसिरइ सकलाइं सव्वदव्वाइं।
अन्नो तिव्वपयत्तो सो मुंचइ भिंदिउं ताइं॥"
प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका, पृ. ३८०

२. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २६७
(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ३, पृ. ३७३ से ४०५ तक

[८९६ प्र.] भगवन् ! वचन कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[८९६ उ.] गौतम ! वचन सोलह प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—१. एकवचन, २. द्विवचन, ३. बहुवचन, ४. स्त्रीवचन, ५. पुरुषवचन, ६. नपुंसकवचन, ७. अध्यात्मवचन, ८. उपनीतवचन, ९. अपनीतवचन, १०. उपनीतापनीतवचन, ११. अपनीतोपनीतवचन, १२. अतीतवचन, १३. प्रत्युत्पन्न (वर्तमान), वचन, १४. अनागतवचन (भविष्यत्वचन) १५. प्रत्यक्षवचन और १६. परोक्षवचन।

८९७. इच्चेयं भंते ! एगवयणं वा जाव परोक्खवयणं वा वयमाणे पण्णवणी णं एसा भासा ? ण एसा भासा मोसा ?

हंता गोयमा ! इच्चेयं एगवयणं वा जाव परोक्खवयणं वा वयमाणे पण्णवणी णं एसा भासा, ण एसा भासा मोसा।

[८९७ प्र.] इस प्रकार एकवचन (से लेकर) परोक्षवचन (तक १६ प्रकार के वचन) को बोलते हुये (जीव) की क्या यह भाषा प्रज्ञापनी है ? यह भाषा मृषा तो नहीं है ?

[८९७ उ.] हाँ, गौतम ! इस प्रकार एकवचन से लेकर परोक्षवचन तक (१६ वचनों) को बोलते हुए (जीव की) भाषा प्रज्ञापनी है, यह भाषा मृषा नहीं है।

८९८. कति णं भंते ! भासज्जाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि भासज्जाया पण्णत्ता। तं जहा—सच्चमेगं भासज्जायं ? बितियं मोसं भासज्जायं २ ततियं सच्चामोसं भासज्जायं ३ चउत्थं असच्चामोसं भासज्जायं ४।

[८९८ प्र.] भगवन् ! भाषाजात (भाषा के प्रकार) कितने हैं ?

[८९८ उ.] गौतम ! भाषाजात चार कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) भाषा का एक जात (प्रकार) सत्या है, (२) भाषा का दूसरा प्रकार मृषा है, (३) भाषा का तीसरा प्रकार सत्यामृषा है और (४) भाषा का चौथा प्रकार असत्यामृषा है।

८९९. इच्चेयाइं भंते ! चत्तारि भासज्जायाइं भासमाणे किं आराहए विराहए ?

गोयमा ! इच्चेयाइं चत्तारि भासज्जायाइं आउत्तं भासमाणे आराहए, णो विराहए। तेण परं अस्संजयाऽविरयाऽपडिहयाऽपच्चक्खायपावकम्मे सच्चं वा भासं भासंतो मोसं वा सच्चामोसं वा असच्चामोसं वा भासं भासमाणे णो आराहए, विराहए।

[८९९ प्र.] भगवन् ! इन चारों भाषा-प्रकारों को बोलता हुआ (जीव) आराधक होता है, अथवा विराधक ?

[८९९ उ.] गौतम ! इन चारों प्रकार की भाषाओं को उपयोगपूर्वक (आयुक्त होकर) बोलने वाला आराधक होता है, विराधक नहीं। उससे पर—(अर्थात् उपयोगपूर्वक बोलने वाले से भिन्न) जो असंयत, अविरत, पापकर्म का प्रतिघात और प्रत्याख्यान न करने वाला सत्यभाषा बोलता हुआ तथा मृषाभाषा, सत्यामृषा और असत्यामृषा भाषा बोलता हुआ (व्यक्ति) आराधक नहीं है, विराधक है।

९००. एतेसि णं ते ! जीवाणं सच्चभासगाणं मोसभासगाणं सच्चामोसभासगाणं असच्चामोसभासगाणं अभासगाण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सच्चभासगा, सच्चामोसभासगा असंखेज्जगुणा, मोसभासगा असंखेज्जगुणा, असच्चामोसभासगा असंखेज्जगुणा, अभासगा अणंतगुणा ।

॥ पण्णवणाए भगवईए एक्कारसमं भासापयं समत्तं ॥

[९०० प्र.] भगवन् ! इन सत्यभाषक, मृषाभाषक, सत्यमृषाभाषक और असत्यामृषाभाषक तथा अभाषक जीवों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य और विशेषाधिक हैं ?

[९०० उ.] गौतम ! सबसे थोड़े जीव सत्यभाषक हैं, उनसे असंख्यातगुणे सत्यामृषाभाषक हैं, उनकी अपेक्षा मृषाभाषक असंख्यातगुणे हैं, उनसे असंख्यातगुणे असत्यामृषाभाषक जीव हैं और उनकी अपेक्षा अभाषक जीव अनन्तगुणे हैं ।

विवेचन—**सोलह वचनों और चार भाषाजातों के आराधक-विराधक एवं अल्पबहुत्व की प्ररूपणा**—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. ८९६ से ९०० तक) में सोलह प्रकार के वचनों तथा सत्यादि चार प्रकार की भाषाओं का उल्लेख करके उनकी प्रज्ञापनिता (सत्यता) और उनके भाषकों की आराधकता-विराधकता की प्ररूपणा की गई है । अन्त में उक्त चारों प्रकार की भाषाओं के भाषकों के अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है ।

सोलह प्रकार के वचनों की व्याख्या—१. **एकवचन**—एकत्वप्रतिपादक भाषा, जैसे पुरुषः अर्थात्—एक पुरुष । २. **द्विवचन**—द्वित्वप्रतिपादक भाषा, जैसे- पुरुषौ, अर्थात्—दो पुरुष । ३. **बहुवचन**—बहुत्वप्रतिपादक कथन, जैसे—पुरुषाः अर्थात्—बहुत-से पुरुष । ४. **स्त्रीवचन**—स्त्रीलिंगवाचक शब्द, जैसे इयं स्त्री यह स्त्री । ५. **पुरुषवचन**—पुल्लिंगवाचक शब्द, जैसे—अयं पुमान्- यह पुरुष । ६. **नपुंसकवचन**—नपुंसकत्ववाचक शब्द, जैसे—इदं कुण्डम् —यह कुण्ड । ७. **अध्यात्मवचन**—मन में कुछ और सोच कर ठगने की बुद्धि से कुछ और कहना चाहता हो, किन्तु अचानक मुख से वही निकल पड़े, जो सोचा हो । ८. **उपनीतवचन**—प्रशंसावाचक शब्द, जैसे -'यह स्त्री अत्यन्त सुशीला है ।' ९. **अपनीतवचन**—निन्दात्मक वचन, जैसे—यह कन्या कुरूपा है । १०. **उपनीतापनीतवचन**—पहले प्रशंसा करके फिर निन्दात्मक शब्द कहना, जैसे—यह सुन्दरी है, किन्तु दुःशीला है । ११. **अपनीतोपनीतवचन**—पहले निन्दा करके, फिर प्रशंसा करने वाला शब्द कहना, जैसे- यह कन्या यद्यपि कुरूपा है, किन्तु है सुशीला । १२. **अतीतवचन**—भूतकालद्योतक वचन, जैसे—अकरोत् (किया) । १३. **प्रत्युत्पन्नवचन**-वर्तमानकालवाचक वचक, जैसे—करोति (करता है) । १४. **अनागतवचन**- -भविष्यत्कालवाचक शब्द, जैसे—करिष्यति (करेगा) । १५. **प्रत्यक्षवचन**—प्रत्यक्षसूचक शब्द, जैसे—'यह घर है ।' और १६. **परोक्षवचन**—परोक्षसूचक शब्द, जैसे—वह यहां रहता था । ये सोलह ही वचन यथावस्थित- वस्तुविषयक हैं, काल्पनिक नहीं, अतः जब कोई इन वचनों को सम्यक्रूप से उपयोग करके बोलता है, तब उसकी भाषा 'प्रज्ञापनी' समझनी चाहिए,[1] मृषा नहीं ।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २६७

चार प्रकार की भाषा के भाषक आराधक या विराधक ?--प्रस्तुत चारों प्रकार की भाषाओं को जो जीव सम्यक् प्रकार से उपयोग रख कर प्रवचन (संघ) पर आई हुई मलिनता को रक्षा करने में तत्पर होकर बोलता है, अर्थात्---प्रवचन (संघ) को निन्दा और मलिनता से बचाने के लिए गौरव-लाघव का पर्यालोचन करके चारों में से किसी भी प्रकार की भाषा बोलता हुआ साधुवर्ग आराधक होता है, विराधक नहीं। किन्तु जो उपयोगपूर्वक बोलने वाले से पर भिन्न है तथा असंयत (मन-वचन-काय के संयम से रहित) है, जो सावद्यव्यापार (हिंसादि पापमय प्रवृत्ति) से विरत नहीं (अविरत) है, जिसने अपने भूतकालिक पापों को मिच्छा मि दुक्कडं (मेरा दुष्कृत मिथ्या हो), देकर तथा प्रायश्चित आदि स्वीकार करके प्रतिहृत (नष्ट) नहीं किया है तथा जिसने भविष्यकालसम्बन्धी पाप न हों, इसके लिए पापकर्मों का प्रत्याख्यान नहीं किया है, ऐसा जीव चाहे सत्यभाषा बोले या मृषा, सत्यामृषा या असत्यामृषा में से कोई भी भाषा बोले, वह आराधक नहीं, विराधक है।[1]

चारों भाषाओं के भाषकों मे अल्पबहुत्व की यथार्थता—प्रस्तुत चारों भाषाओं के भाषकों के अल्पबहुत्व की चर्चा करते हुए सबसे कम सत्यभाषा के भाषक बताए हैं, इसका कारण यह है कि सम्यक् उपयोग (ध्यान) पूर्वक सर्वज्ञमतानुसार वस्तुतत्त्व की स्थापना (प्रतिपादन) करने की बुद्धि (दृष्टि) से जो बोलते हैं, वे ही सत्यभाषक हैं, जो पृच्छाकाल में बहुत विरले ही मिलते हैं। सत्य-भाषकों से सत्यामृषाभाषक असंख्यातगुणे इसलिए हैं कि लोक में बहुत-से इस प्रकार के सच-झूठ जैसे-तैसे बोलने वाले मिलते हैं। उनमें मृषाभाषक असंख्यातगुणे इसलिए हैं कि क्रोधादि कषायों के वशीभूत होकर परवंचनादि बुद्धि से बोलने वाले संसार में प्रचुर संख्या में मिलते हैं, वे सभी मृषा-भाषी हैं। उनसे असंख्यातगुणे अधिक असत्यामृषाभाषक हैं, क्योंकि द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव असत्यामृषाभाषक की कोटि में आते हैं।[2] इन सबसे अनन्तगुणे अभाषक इसलिए हैं कि अभाषकों की गणना में सिद्ध जीव एवं एकेन्द्रिय जीव आते हैं, वे दोनों ही अनन्त हैं। सिद्ध जीवों से भी वनस्पतिकायिक जीव अनन्तगुणे हैं।

॥ प्रज्ञापनासूत्र : ग्यारहवाँ भाषापद समाप्त ॥

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक २६८
२. वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक २६८-२६९

बारसमं सरीरपयं

बारहवाँ शरीरपद

प्राथमिक

- यह प्रज्ञापनासूत्र का बारहवाँ शरीरपद है।
- संसार-दशा में शरीर के साथ जीव का अतीव निकट और निरन्तर सम्पर्क रहता है। शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति मोह-ममत्व के कारण ही कर्मबन्ध होता है। अतएव शरीर के विषय में जानना आवश्यक है। शरीर क्या है ? आत्मा की तरह अविनाशी है या नाशवान् ? इसके कितने प्रकार हैं ? इन प्रकारों के बद्ध-मुक्त शरीरों के कितने-कितने परिमाण में है ? नैरयिकों से लेकर वैमानिक देवों तक किस में कितने शरीर पाए जाते हैं ? आदि-आदि। इसी हेतु से शास्त्रकार ने इस पद की रचना की है।
- प्रस्तुत पद में जैनदृष्टि से पांच शरीरों की चर्चा है—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। उपनिषदों में आत्मा के अन्नमय आदि पांच कोषों की विचारणा मिलती है। उसमें से अन्नमयकोष की औदारिक शरीर के साथ तथा सांख्य आदि दर्शनों में जो अव्यक्त, सूक्ष्म या लिंगशरीर माना गया है, उसकी तुलना तैजस— कार्मणशरीर के साथ हो सकती है।[1]
- प्रस्तुत पद में सर्वप्रथम औदारिकादि पांच शरीरों का निरूपण है। वृत्तिकार ने **औदारिकशरीर** के विभिन्न अर्थ, उसकी प्रधानता, प्रयोजन और महत्ता की दृष्टि से समझाए हैं। तीर्थंकर आदि विशिष्ट पुरुषों को औदारिक शरीर होता है तथा देवों को भी यह शरीर दुर्लभ है, इस कारण इसका प्राधान्य और महत्त्व है। नारकों और देवों के सिवाय समस्त जीवों को यह शरीर जन्म से मिलता है, इसलिए अधिकांश जीवराशि इसी स्थूल एवं प्रधान शरीर की धारक है। जो शरीर विविध एवं विशेष प्रकार की क्रिया कर सकता है, अर्थात्—अनेक प्रकार के रूप धारण कर सकता है, वह **वैक्रियशरीर** है। यह शरीर देवों और नारकों को जन्म से प्राप्त होता है, पर्याप्त वायुकायिकों के भी होता है। किन्तु मनुष्य को ऋद्धि—लब्धिरूप से प्राप्त होता है। चतुर्दशपूर्वधारी मुनि किसी प्रकार के शंका-समाधानादि प्रयोजनवश योगबल से तीर्थंकर के पास जाने के लिए जिस शरीर की रचना करते हैं, वह **आहारकशरीर** है। शरीर में जो तेजस् (ओज, तेज या तथारूप धातु एवं पाचनादि कार्य में अग्नि) का कार्य करता है, वह **तैजसशरीर** है और कर्मनिर्मित जो सूक्ष्मशरीर है, वह **कार्मणशरीर** है। तैजस और कार्मण, ये दोनों

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं (मू. पा.) भाग. १, पृ. २२३
(ख) तैत्तिरीय उपनिषद् भृगुवल्ली। सांख्यकारिका ३९-४० वेलवलकर
(ग) (मालवणिया) गणधरवाद प्रस्तावना।
(घ) षट्खण्डागम पु. १४, सू. १२९,२३६, पृ. २३७–३२१

शरीर जीव से सिद्धिप्राप्त होने से पूर्व तक कभी विमुक्त नहीं होते । अनादिकाल से ये दोनों शरीर जीव के साथ जुड़े हुए हैं । पुनर्जन्म के लिए गमन करने वाले जीव के साथ भी ये दो शरीर तो अवश्य होते हैं, औदारिकादि शरीरों का निर्माण बाद में होता है ।[1]

* तत्पश्चात् चौबीस दण्डकों में से किसको कितने व कौन से शरीर होते हैं ? इसकी चर्चा है। फिर इन पांचों शरीरों के बद्ध--वर्तमान में जीव के साथ बंधे हुए तथा मुक्त--पूर्वकाल में बांध कर त्यागे हुए शरीरों तथा समुच्चय में द्रव्य, क्षेत्र, काल की अपेक्षा से उनके परिमाण की चर्चा की गई है । इसके अनन्तर नैरयिकों, भवनवासियों, एकेन्द्रियों, विकलेन्द्रियों, तिर्यंचपंचेन्द्रियों, मनुष्यों, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक देवों के बद्ध-मुक्त पांचों शरीरों के परिमाण की चर्चा द्रव्य, क्षेत्र, काल की दृष्टि से की गई है । गणित विद्या की दृष्टि से यह अतीव रसप्रद है ।[2]

१. (क) प्रज्ञापना. म. वृत्ति पत्रांक २६८-२६९.
(ख) पण्णवणासुत्तं भा. २ बारहवें पद की प्रस्तावना, पृ. ८८-८९

२. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १, पृ. २२३ से २२८
(ख) पण्णवणासुत्तं भा. २, बारहवें पद की प्रस्तावना, पृ. ८९

बारसमं सरीरपयं

बारहवाँ शरीरपद

पांच प्रकार के शरीरों का निरूपण

९०१. कति णं भंते ! सरीरा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच सरीरा पण्णत्ता। तं जहा—ओरालिए १ वेउव्विए २ आहारए ३ तेयए ४ कम्मए ५।

[९०१ प्र.] भगवन् ! शरीर कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[९०१ उ.] गौतम ! शरीर पांच प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार—(१) औदारिक, (२) वैक्रिय, (३) आहारक, (४) तैजस और (५) कार्मण।

विवेचन—पांच प्रकार के शरीरों का निरूपण—प्रस्तुत सूत्र (९०१) में जैनसिद्धान्त प्रसिद्ध औदारिक आदि पांच प्रकार के शरीरों का निरूपण किया गया है।

शरीर का अर्थ—उत्पत्ति के समय से लगातार प्रतिक्षण जो शीर्ण-जर्जरित होता है, वह शरीर है।

औदारिक शरीर की व्याख्या- उदार से औदारिक शब्द बना है। वृत्तिकार ने उदार के तीन अर्थ किए हैं—(१) जो शरीर उदार अर्थात्—प्रधान हो। औदारिक शरीर की प्रधानता तीर्थंकरों और गणधरों के शरीर की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि औदारिक शरीर के अतिरिक्त अन्य शरीर, यहाँ तक कि अनुत्तर विमानवासी देवों का शरीर भी अनन्तगुणहीन होता है। (२) उदार अर्थात् विस्तारवान् = विशाल शरीर। औदारिक शरीर का अवस्थितस्वभाव (आजीवन स्थायीरूप) से विस्तार कुछ अधिक एक हजार योजन प्रमाण होता है, जबकि वैक्रियशरीर का इतना अवस्थित-प्रमाण नहीं होता। उसका अधिक से अधिक अवस्थितप्रमाण पांच सौ धनुष का होता है और वह भी सिर्फ सातवीं नरकपृथ्वी में ही, अन्यत्र नहीं। जो उत्तरवैक्रियशरीर एक लाख योजनप्रमाण तक का होता है, वह भवपर्यन्त स्थायी न होने के कारण अवस्थित नहीं होता। (३)सैद्धान्तिक परिभाषानुसार उदार का अर्थ होता है -मांस, हड्डियाँ, स्नायु आदि से अवबद्ध शरीर। उदार ही औदारिक कहलाता है।

वैक्रियशरीर की व्याख्या—(१) प्राकृत के 'वेउव्विय' का संस्कृत में 'वैकुर्विक' रूप होता है। विकुर्वणा के अर्थ में 'विकुर्व' धातु से वैकुर्विक शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है—विविध क्रियाओं को करने में सक्षम शरीर। (२) अथवा विविध या विशिष्ट (विलक्षण) क्रिया विक्रिया है। विक्रिया करने वाला शरीर वैक्रिय है।

आहारक, तैजस और कार्मण शरीर की व्याख्या--चतुर्दशपूर्वधारी मुनि के द्वारा कार्य होने पर योगबल से जिस शरीर का आहरण--निष्पादन किया जाता है, उसे आहारकशरीर कहते हैं।

तेज का जो विकार हो, उसे तैजस शरीर और जो शरीर कर्म का समूह रूप हो, उसे कर्मज या कार्मण शरीर कहते हैं।

उत्तरोत्तर सूक्ष्मशरीर—औदारिक आदि शरीरों का इस प्रकार का क्रम रखने का कारण उनकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है।[1]

चौबीस दण्डकवर्ती जीवों में शरीर-प्ररूपणा

९०२. णेरइयाणं भंते ! कति सरीरया पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ सरीरया पण्णत्ता। तं जहा—वेउव्विए तेयए कम्मए।

[९०२ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के कितने शरीर कहे गए हैं ?

[९०२ उ.] गौतम ! उनके तीन शरीर कहे हैं, वे इस प्रकार— वैक्रिय, तैजस और कार्मण शरीर।

९०३. एवं असुरकुमाराण वि जाव थणियकुमाराणं।

[९०३] इसी प्रकार असुरकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों तक के शरीरों की प्ररूपणा समझना चाहिये।

९०४. पुढविक्काइयाणं भंते ! कति सरीरया पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ सरीरया पण्णत्ता। तं जहा—ओरालिए तेयए कम्मए।

[९०४ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के कितने शरीर कहे गए हैं ?

[९०४ उ.] गौतम ! उनके तीन शरीर कहे हैं, वे इस प्रकार—औदारिक, तैजस एवं कार्मणशरीर।

९०५. एवं वाउक्काइयवज्जं जाव चउरिंदियाणं।

[९०५] इसी प्रकार वायुकायिकों को छोड़कर चतुरिन्द्रियों तक के शरीरों के विषय में जानना चाहिए।

९०६. वाउक्काइयाणं भंते ! कति सरीरया पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि सरीरया पण्णत्ता। तं जहा—ओरालिए वेउव्विए तेयए कम्मए।

[९०६ प्र.] भगवन् ! वायुकायिकों में कितने शरीर कहे गए हैं ?

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २६८-२६९

(ख) "ओरालं नाम विस्तरालं विसालंति जं भणियं होइ, कहं ?' साइरेगजोयणसहस्समवट्ठियप्पमाणओरालियं अन्नमेहहमेत्तं नत्थित्ति विउव्वियं होज्जा तं तु अणवट्ठियप्पमाणं, अवट्ठियं पुण पंच धणुसयाइं अहेसत्तमाए इमं पुण अवट्ठियप्पमाणं साइरेगं जोयणसहस्सं·····॥"

(ग) "विविहा किरिट्ठगा यं किरिया, तीए उ जं भवं तम्हि।
वेउव्वियं तयं पुण नारगदेवाण पगईए॥" प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक २६९

[९०६ उ.] गौतम ! (उनके) चार शरीर कहे हैं, वे इस प्रकार—औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण शरीर।

९०७. एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण वि।

[९०७] इसी प्रकार पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों के शरीरों के विषय में भी समझना चाहिए।

९०८. मणूसाणं भंते ! कति सरीरया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच सरीरया पण्णत्ता। तं जहा ओरालिए वेउव्विए आहारए तेयए कम्मए।

[९०८ प्र.] भगवन् ! मनुष्यों के कितने शरीर कहे गए हैं ?

[९०८ उ.] गौतम ! मनुष्यों के पांच शरीर कहे गए हैं, वे इस प्रकार—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।

९०९. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियाणं जहा णारगाणं [सु. ९०२]।

[९०९] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों के शरीरों की वक्तव्यता नारकों की तरह (सू. ९०२ से अनुसार) कहना चाहिए।

विवेचन—चौबीस दण्डकवर्ती जीवों में शरीरप्ररूपणा—नैरयिक से लेकर वैमानिक तक २४ दण्डकों में से किसमें कितने शरीर पाए जाते हैं ? इसकी प्ररूपणा प्रस्तुत आठ सूत्रों में की गई है।

पांचों शरीरों के बद्ध-मुक्त शरीरों का परिमाण

९१०. [१] केवइया णं भंते ! ओरालियसरीरया पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जगा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा। तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं अणंता, अणंताहिं उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, दव्वओ अभवसिद्धिएहिंतो अणंतगुणा सिद्धाणं अणंतभागो।

[९१०-१ प्र.] भगवन् ! औदारिक शरीर कितने कहे गए हैं ?

[९१०-१ उ.] गौतम ! (वे) दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—बद्ध और मुक्त। उनमें जो बद्ध (जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए) हैं, वे असंख्यात हैं, काल से—वे असंख्यात उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों (कालचक्रों) से अपहृत होते हैं। क्षेत्र से—वे असंख्यातलोक-प्रमाण हैं। उनमें जो मुक्त (जीव के द्वारा छोड़े हुए—त्यागे हुए) हैं, वे अनन्त हैं। काल से—वे अनन्त उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों से अपहृत होते हैं। क्षेत्र से—अनन्तलोकप्रमाण हैं। द्रव्यतः—मुक्त औदारिक शरीर अभवसिद्धिक (अभव्य) जीवों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग हैं।

[२] केवइया णं भंते ! वेउव्वियसरीरया पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असंखेज्जाओ

सेढीओ पयरस्स असंखेज्जतिभागो। तत्थ णं जेते मुक्केल्लगा ते णं अणंता, अणंताहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, जहा ओरालियस्स मुक्केल्लगा तहेव वेउव्वियस्स वि भाणियव्वा।

[९१०-२ प्र.] भगवन्! वैक्रिय शरीर कितने कहे गए हैं?

[९१०-२ उ.] गौतम! (वे) दो प्रकार के कहे हैं—बद्ध और मुक्त, उनमें जो बद्ध हैं, वे असंख्यात हैं, कालतः वे असंख्यात उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों से अपहृत होते हैं, क्षेत्रतः वे असंख्यात श्रेणी-प्रमाण तथा (वे श्रेणियां) प्रतर के असंख्यातवें भाग हैं। उनमें जो मुक्त हैं, वे अनन्त हैं। कालतः वे अनन्त उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों से अपहृत होते हैं; जैसे औदारिक शरीर के मुक्तों के विषय में कहा गया है, वैसे ही वैक्रियशरीर के मुक्तों के विषय में भी कहना चाहिए।

[३] केवइया णं भंते! आहारगसरीरया पण्णत्ता?

गोयमा! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं सिय अत्थि सिय णत्थि। जति अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सहस्स-पुहुत्तं। तत्थ णं जे ते मुक्केल्लया ते णं अणंता जहा ओरालियस्स मुक्केल्लया तहा भाणियव्वा।

[९१०-३ प्र.] भगवन्! आहारक शरीर कितने कहे गए हैं?

[९१०-३ उ.] गौतम! आहारक शरीर दो प्रकार के कहे हैं, वे इस प्रकार—बद्ध और मुक्त। उनमें जो बद्ध हैं, वे कदाचित् होते हैं, कदाचित् नहीं होते। यदि हों तो जघन्य एक, दो या तीन होते हैं, उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व होते हैं। उनमें जो मुक्त हैं, वे अनन्त हैं। जैसे औदारिक शरीर के मुक्त के विषय में कहा है, उसी प्रकार यहाँ कहना चाहिए।

[४] केवइया णं भंते! तेयगसरीरया पण्णत्ता?

गोयमा! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं अणंता, अणंताहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, दव्वओ सिद्धेहिंतो अणंतगुणा सव्वजीवाणंतभागूणा। तत्थ णं जे ते मुक्केल्लया ते णं अणंता, अणंताहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, दव्वओ सव्वजीवेहिंतो अणंतगुणा, जीववग्गस्स अणंतभागो।

[९१०-४ प्र.] भगवन्! तैजसशरीर कितने कहे गए हैं?

[९१०-४ उ.] गौतम! (वे) दो प्रकार के कहे हैं, वे इस प्रकार—बद्ध और मुक्त। उनमें जो बद्ध हैं, वे अनन्त हैं, कालतः—अनन्त उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों से अपहृत होते हैं, क्षेत्रतः वे अनन्तलोकप्रमाण हैं, द्रव्यतः—सिद्धों से अनन्तगुणे तथा सर्वजीवों से अनन्तवें भाग कम हैं। उनमें से जो मुक्त हैं, वे अनन्त हैं, कालतः—वे अनन्त उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों से अपहृत होते हैं, क्षेत्रतः—वे अनन्तलोकप्रमाण हैं। द्रव्यतः—(वे) समस्त जीवों से अनन्तगुणे हैं तथा जीववर्ग के अनन्तवें भाग हैं।

[५] एवं कम्मगसरीरा वि भाणियव्वा ।

[९१०-५] इसी प्रकार कार्मण शरीर के विषय में भी कहना चाहिए ।

विवेचन– **पांचों बद्ध-मुक्त शरीरों का परिमाण**- प्रस्तुत सूत्र (९१०-१ से ५) में द्रव्य, क्षेत्र, और काल की अपेक्षा से पांचों शरीरों के बद्ध और मुक्त शरीरों का परिमाण दिया गया है ।

बद्ध और मुक्त की परिभाषा— प्ररूपणा करते समय जीवों द्वारा जो शरीर परिगृहीत (ग्रहण किए हुए) हैं, वे **बद्धशरीर** कहलाते हैं, जिन शरीरों का जीवों ने पूर्वभवों में ग्रहण करके परित्याग कर दिया है, वे मुक्तशरीर कहलाते हैं ।

बद्ध-मुक्त शरीरों का परिमाण– पांचों शरीरों के बद्धरूप और मुक्तरूप का द्रव्य की अपेक्षा से अभव्य आदि से, क्षेत्र की अपेक्षा से श्रेणि, प्रतर आदि से और काल की अपेक्षा से आवलिकादि द्वारा परिमाण का विचार शास्त्रकारों ने किया है ।

बद्ध और मुक्त औदारिकशरीरों का परिमाण–बद्ध औदारिकशरीर असंख्यात हैं । यद्यपि बद्ध औदारिकशरीर के धारक जीव अनन्त हैं, तथापि यहाँ जो बद्ध औदारिकशरीरों का परिमाण असंख्यात कहा है, उसका कारण यह है—औदारिकशरीरधारी जीव दो प्रकार के होते हैं—प्रत्येकशरीरी और अनन्तकायिक । प्रत्येकशरीरी जीवों का अलग-अलग औदारिकशरीर होता है, किन्तु जो अनन्तकायिक होते हैं, उनका औदारिकशरीर पृथक्-पृथक् नहीं होता, अनन्तानन्त जीवों का एक ही होता है । इस कारण औदारिकशरीरी जीव अनन्तानन्त होते हुए भी उनके शरीर असंख्यात ही हैं । **काल की अपेक्षा से**—बद्धऔदारिक शरीर असंख्यात उत्सर्पिणियों और असंख्यात अवसर्पिणियों में अपहृत होते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि यदि उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के एक-एक समय में एक-एक औदारिकशरीर का अपहरण किया जाए तो समस्त औदारिकशरीरों का अपहरण करने में असंख्यात उत्सर्पिणियाँ और अवसर्पिणियाँ व्यतीत हो जाएँ । **क्षेत्र की अपेक्षा से**—बद्धऔदारिक शरीर असंख्यातलोकप्रमाण हैं, इसका अर्थ हुआ—अगर समस्त बद्ध औदारिक शरीरों को अपनी-अपनी अवगाहना से परस्पर अपिण्डरूप में (पृथक्-पृथक्) आकाशप्रदेशों में स्थापित किया जाए तो असंख्यातलोकाकाश उन पृथक्-पृथक् स्थापित शरीरों से व्याप्त हो जाएँ । मुक्त औदारिक शरीर अनन्त होते हैं, उनका परिमाण **कालतः** अनन्त उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों के अपहरणकाल के बराबर है, अर्थात् –उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालों के एक-एक समय में एक-एक मुक्त औदारिक शरीर का अपहरण किया जाए तो समस्त मुक्त औदारिकशरीरों का अपहरण करने में अनन्त उत्सर्पिणियाँ और अनन्त अवसर्पिणियाँ समाप्त हो जाएँ । संक्षेप में, इसे यों कह सकते हैं कि अनन्त उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों में जितने समय होते हैं, उतनी ही मुक्त औदारिक-शरीरों की संख्या है । **क्षेत्र की अपेक्षा से** वे अनन्तलोकप्रमाण हैं । इसका तात्पर्य यह है कि एक लोक में असंख्यातप्रदेश होते हैं । ऐसे-ऐसे अनन्त लोकों के जितने आकाशप्रदेश हों, उतने ही मुक्त औदारिक शरीर हैं । **द्रव्य की अपेक्षा से**—मुक्त औदारिकशरीर अभव्य जीवों से अनन्तगुणे होते हुए भी सिद्ध जीवों के अनन्तवें भाग मात्र ही हैं, अर्थात्—वे सिद्ध जीवराशि के बराबर नहीं हैं । इस सम्बन्ध में एक शंका है—यदि अविकल (ज्यों के त्यों) मुक्त औदारिकशरीरों की यह संख्या मानी जाए तो भी वे अनन्त नहीं हो सकते, क्योंकि नियमानुसार पुद्गलों की स्थिति अधिक-से-अधिक असंख्यातकाल तक की होने से वे मुक्त शरीर अविकल रूप से अनन्तकाल तक ठहर नहीं सकते ।

यदि यहाँ उन पुद्गलों को लिया जाए, जिन्हें जीव ने औदारिकशरीर के रूप में अतीतकाल में ग्रहण करके त्याग दिया है, तो सभी जीवों ने उन्हें औदारिकशरीर के रूप में ग्रहण करके त्यागा है, कोई पुद्गल शेष नहीं बचा है। ऐसी स्थिति में मुक्त औदारिकशरीर अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्ध जीवों के अनन्तवें भाग हैं, यह कथन कैसे संगत हो सकता है? इसका समाधान यह है कि यहाँ मुक्त औदारिक शरीरों से न तो केवल अविकल (अखंडित) शरीरों का ही ग्रहण किया जाता है, और न औदारिकशरीर के रूप में ग्रहण करके त्यागे हुए पुद्गलों का ग्रहण किया है अतः यहाँ पूर्वोक्त दोषापत्ति नहीं है। जिस औदारिक शरीर को जीव ने ग्रहण करके त्याग दिया है और वह विनष्ट होता हुआ अनन्त भेदों वाला होता है। वे अनन्त भेदों को प्राप्त होते हुए औदारिक पुद्गल जब तक औदारिक पर्याय का परित्याग नहीं करते, तब तक वे औदारिकशरीर कहलाते हैं। जिन पुद्गलों ने औदारिक पर्याय का परित्याग कर दिया, वे औदारिकशरीर नहीं कहलाते। इस प्रकार एक ही शरीर के अनन्त शरीर सम्भव हो जाते हैं। इस तरह एक-एक शरीर अनन्त-अनन्त भेदों वाला होने से एक ही समय में प्रचुर अनन्त शरीर पाए जाते हैं। वे असंख्यातकाल तक अवस्थित रहते हैं। उस असंख्यातकाल में जीवों द्वारा त्यागे हुए अन्य असंख्यात शरीर भी होते हैं। उन सबके भी प्रत्येक के अनन्त-अनन्त भेद होते हैं। उनमें से उस काल में जो औदारिकशरीरपर्याय का परित्याग कर देते हैं, उनकी गणना भी इनमें नहीं की जाती, शेष की गणना औदारिकशरीरों में होती है। अतएव मुक्त औदारिकशरीरों का जो परिमाण ऊपर बताया गया है, वह कथन संगत हो जाता है। जिस प्रकार लवणपरिणाम में परिणत लवण थोड़ा हो या ज्यादा, वह (विभिन्न लवणों का) पुद्गलसंघात लवण ही कहलाता है, इसी प्रकार औदारिक रूप से परिणत औदारिक शरीरयोग्य पुद्गलसंघात भी चाहे थोड़ा (आधा, पाव भाग या एक देश भी) हो, चाहे बहुत (पूर्ण औदारिकशरीर) हो, वह भी औदारिक शरीर ही कहलाता है। यहाँ तक कि शरीर का अनन्तवाँ भाग भी शरीर ही कहलाता है।

अब प्रश्न यह है कि अनन्तानन्त लोकाकाशप्रदेश प्रमाण औदारिक शरीर एक ही लोक में कैसे अवगाढ होकर रहे (समाए) हुए हैं? इसका समाधान यह है कि दीपक के प्रकाश के समान उनका भी एक लोक में समावेश हो जाता है। जैसे—एक दीपक का प्रकाश समग्र भवन में व्याप्त होकर रहता है और अन्य अनेक दीपकों का प्रकाश भी उस भवन में परस्पर विरोध न होने से रह सकता है, वैसे ही अनन्तानन्त मुक्त औदारिक शरीर भी एक ही लोकाकाश में समाविष्ट होकर रहते हैं।

बद्ध-मुक्त वैक्रियशरीरों का परिमाण—बद्ध वैक्रियशरीर असंख्यात होते हैं। कालतः **असंख्यात की प्ररूपणा**—अगर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के एक-एक समय में एक-एक वैक्रिय शरीर का अपहरण किया जाए तो समस्त वैक्रियशरीरों का अपहरण करने में असंख्यात उत्सर्पिणियाँ और अवसर्पिणियाँ व्यतीत हो जाएँ। संक्षेप में यों कहा जा सकता है—असंख्यात उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों के जितने समय होते हैं, उतने ही बद्ध वैक्रियशरीर हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से बद्ध वैक्रिय-शरीर असंख्यातश्रेणीप्रमाण हैं और उन श्रेणियों का परिमाण प्रतर का असंख्यातवाँ भाग है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रतर के असंख्यातवें भाग में जितनी श्रेणियाँ हैं और उन श्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश होते हैं उतने ही बद्ध वैक्रियशरीर हैं।

श्रेणी का परिमाण यों है—घनीकृत लोक सब ओर से ७ रज्जु प्रमाण होता है। ऐसे लोक की लम्बाई में सात रज्जु एवं मुक्तावली के समान एक आकाशप्रदेश की पंक्ति श्रेणी कहलाती है। घनीकृत लोक का सप्त रज्जुप्रमाण इस प्रकार होता है—समग्र लोक ऊपर से नीचे तक चौदह रज्जुप्रमाण है। उसका विस्तार नीचे कुछ कम सात रज्जु का है। मध्य में एक रज्जु है। ब्रह्मलोक नामक पंचम देवलोक के बिलकुल मध्य में पांच रज्जु है और ऊपर एक रज्जु विस्तार पर लोक का अन्त होता है। रज्जु का परिमाण स्वयम्भूरमणसमुद्र की पूर्वतटवर्ती वेदिका के अन्त से लेकर उसकी परवेदिका के अंत तक समझना चाहिए। इतनी लम्बाई-चौड़ाई वाले लोक की आकृति दोनों हाथ कमर पर रख कर नाचते हुए पुरुष के समान है। इस कल्पना से त्रसनाडी के दक्षिणभागवर्ती अधोलोकखण्ड को (जो कि कुछ कम तीन रज्जु विस्तृत है, और सात रज्जु से कुछ अधिक ऊँचा है) लेकर त्रसनाडी के उत्तर पार्श्व से, ऊपर का भाग नीचे और नीचे का भाग ऊपर करके इकट्ठा रख दिया जाय, फिर ऊर्ध्वलोक में त्रसनाडी के दक्षिण भागवर्ती कूर्पर (कोहनी) के आकार के जो दो खण्ड हैं, जो कि प्रत्येक कुछ कम साढ़े तीन रज्जु ऊँचे होते हैं, उन्हें कल्पना में लेकर विपरीत रूप में उत्तर पार्श्व में इकठ्ठा रख दिया जाए। ऐसा करने से नीचे का लोकार्ध कुछ कम चार रज्जु विस्तृत और ऊपर का अर्ध भाग तीन रज्जु विस्तृत एवं कुछ कम सात रज्जु ऊँचा हो जाता है। तत्पश्चात् ऊपर के अर्ध भाग को कल्पना में लेकर नीचे के अर्ध भाग के उत्तरपार्श्व में रख दिया जाए। ऐसा करने से कुछ अधिक सात रज्जु ऊँचा और कुछ कम सात रज्जु विस्तार वाला घन बन जाता है। सात रज्जु से ऊपर जो अधिक है, उसे ऊपर-नीचे के आयत (लम्बे) भाग को उत्तरपार्श्व में मिला दिया जाता है। इसमें विस्तार में भी पूरे सात रज्जु हो जाते हैं। इस प्रकार लोक को घनीकृत किया जाता है। जहाँ कहीं घनत्व से सात रज्जुप्रमाण की पूर्ति न हो सके, वहाँ कल्पना से पूर्ति कर लेनी चाहिए। सिद्धान्त (शास्त्र) में जहाँ कहीं भी श्रेणी अथवा प्रतर का ग्रहण हो, वहाँ सर्वत्र इसी प्रकार घनीकृत सात रज्जुप्रमाण लोक की श्रेणी अथवा प्रतर समझना चाहिए।

मुक्त वैक्रियशरीर भी मुक्त औदारिकशरीरों के समान अनन्त हैं। अतः उनकी अनन्तता भी पूर्वोक्त मुक्त औदारिकों के समान समझ लेनी चाहिए।

बद्ध-मुक्त आहारकशरीरों का परिमाण—बद्ध आहारकशरीर कदाचित् होते हैं, कदाचित् नहीं होते, क्योंकि आहारकशरीर का अन्तर (विरहकाल) जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास तक का है।[1] यदि आहारकशरीर होते हैं तो उनकी संख्या जघन्य एक, दो या तीन होती है, और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) सहस्रपृथक्त्व अर्थात् दो हजार से लेकर नौ हजार तक होती है। मुक्त आहारकशरीरों का परिमाण मुक्त औदारिकशरीरों की तरह समझना चाहिए।

बद्ध-मुक्त तैजसशरीरों का परिमाण—बद्ध तैजसशरीर अनन्त हैं क्योंकि साधारणशरीरी निगोदिया जीवों के तैजसशरीर अलग-अलग होते हैं, औदारिक की तरह एक नहीं। उसकी अनन्तता का कालतः परिमाण (पूर्ववत्) अनन्त उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों के समयों के बराबर है। क्षेत्रतः—अनन्त लोकप्रमाण है। अर्थात्—अनन्त लोकाकाशों में जितने प्रदेश हों, उतने ही बद्ध तैजसशरीर हैं। द्रव्य की अपेक्षा से बद्ध तैजसशरीर सिद्धों से अनन्तगुणे हैं, क्योंकि तैजसशरीर समस्त संसारी जीवों के होते हैं और संसारी जीव सिद्धों से अनन्तगुणे हैं। इसलिए तैजसशरीर भी

१. आहारगाइं लोए छम्मासे जा न होंति वि कयाइं। उक्कोसेणं नियमा, एक समयं जहण्णेणं॥

—प्रज्ञापना. म. वृ., प. २७३ में उद्धृत

सिद्धों से अनन्तगुणे हैं। किन्तु सम्पूर्ण जीवराशि की दृष्टि से विचार किया जाए तो वे समस्त जीवों से अनन्तवें भाग कम हैं, क्योंकि सिद्धों के तैजसशरीर नहीं होता और सिद्ध सर्व जीवराशि से अनन्तवें भाग हैं, अतः उन्हें कम कर देने से तैजसशरीर सर्वजीवों के अनन्तवें भाग न्यून हो गए। मुक्त तैजसशरीर भी अनन्त हैं। काल और क्षेत्र की अपेक्षा उसकी अनन्तता पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए। द्रव्य की अपेक्षा से मुक्त तैजसशरीर समस्त जीवों से अनन्तगुणे हैं, क्योंकि प्रत्येक जीव का एक तैजसशरीर होता है। जीवों के द्वारा जब उनका परित्याग कर दिया जाता है तो वे पूर्वोक्त प्रकार से अनन्त भेदों वाले हो जाते हैं और उनका असंख्यातकालपर्यन्त उस पर्याय में अवस्थान रहता है, इतने समय में जीवों द्वारा परित्यक्त (मुक्त) अन्य तैजसशरीर प्रतिजीव असंख्यात पाए जाते हैं, और वे सभी पूर्वोक्त प्रकार से अनन्त भेदों वाले हो जाते हैं। अतः उन सबकी संख्या समस्त जीवों से अनन्तगुणी कही गई है।

क्या समस्त मुक्त तैजसशरीरों की संख्या जीववर्गप्रमाण होती है? इस शंका का समाधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—वे जीववर्ग के अनन्तभागप्रमाण होते हैं। वे समस्त मुक्ततैजसशरीर जीववर्गप्रमाण तो तब हो पाते, जबकि एक-एक जीव के तैजसशरीर सर्वजीवराशिप्रमाण होते, या उससे कुछ अधिक होते और उनके साथ सिद्धजीवों के अनन्त भाग की पूर्ति होती। उसी राशि का उसी राशि से गुणा करने पर वर्ग होता है। जैसे ४ को ४ से गुणा करने पर (४×४=१६) सोलह संख्या वाला वर्ग होता है। किन्तु एक-एक जीव के मुक्त तैजसशरीर सर्वजीवराशि-प्रमाण या उससे कुछ अधिक नहीं हो सकते, अपितु उससे बहुत कम ही होते हैं और वे भी असंख्यातकाल तक ही रहते हैं। उतने काल में जो अन्य मुक्त तैजसशरीर होते हैं, वे भी थोड़े ही होते हैं, क्योंकि काल थोड़ा है। इस कारण मुक्त तैजसशरीर जीववर्गप्रमाण नहीं होते, किन्तु जीववर्ग के अनन्त-भागमात्र ही होते हैं।

बद्ध-मुक्त कार्मणशरीरों का परिमाण—भी तैजसशरीरों के समान ही समझना चाहिए। क्योंकि तैजस और कार्मणशरीरों की संख्या समान है।[1]

नैरयिकों के बद्ध-मुक्त पंच शरीरों की प्ररूपणा

९११. [१] णेरइयाणं भंते ! केवइया ओरालियसरीरा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं णत्थि। तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं अणंता जहा ओरालियमुक्केल्लगा (सु. ९१० [१]) तहा भाणियव्वा।

[९११-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के कितने औदारिकशरीर कहे गए हैं?

[९११-१ उ.] गौतम ! (उनके औदारिकशरीर) दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—बद्ध और मुक्त। उनमें से जो बद्ध औदारिकशरीर हैं, वे उनके नहीं होते। जो मुक्त औदारिकशरीर हैं, वे (उनके) अनन्त होते हैं, जैसे (सू. ९१०-१ में) (औधिक) औदारिक मुक्त

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक २७० से २७४ तक

शरीरों के विषय में कहा है, उसी प्रकार (यहाँ—नैरयिकों के मुक्त औदारिकशरीरों के विषय में) भी कहना चाहिए।

[२] णेरइयाणं भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असंखेज्जाओ सेढीओ पतरस्स असंखेज्जतिभागो, तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलं बीयवग्गमूल-पडुप्पण्णं, अहव णं अंगुलबितियवग्गमूलघणप्पमाणमेत्ताओ सेढीओ। तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं जहा ओरालियस्स मुक्केल्लगा (सु. ९११ [१]) तहा भाणियव्वा।

[९११-२ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के वैक्रियशरीर कितने कहे गए हैं ?

[९११-२ उ.] गौतम ! (नैरयिकों के वैक्रियशरीर) दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—बद्ध और मुक्त। उनमें जो बद्ध (वैक्रियशरीर) हैं, वे असंख्यात हैं। कालतः—(वे) असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों में अपहृत होते हैं। क्षेत्रतः (वे) असंख्यात श्रेणी-प्रमाण हैं। (श्रेणी) प्रतर का असंख्यातवां भाग है। उन श्रेणियों की विष्कम्भसूची (विस्तार की अपेक्षा से एक प्रदेशी श्रेणी) अंगुल के प्रथम वर्गमूल को दूसरे वर्गमूल से गुणित (करने पर निष्पन्न राशि जितनी) होती है अथवा अंगुल के द्वितीय वर्गमूल के घन-प्रमाणमात्र श्रेणियों जितनी है तथा जो (नैरयिकों के) मुक्त वैक्रियशरीर हैं, उनके परिमाण के विषय में (नारकों के) मुक्त औदारिक शरीर के समान (९११-१ के अनुसार) कहना चाहिए।

[३] णेरइयाणं भंते ! केवतिया आहारगसरीरा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य। एवं जहा ओरालिया बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य भणिया (सु. ९११[१]) तहेव आहारगा वि भाणियव्वा।

[९११-३ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के आहारकशरीर कितने कहे गए हैं ?

[९११-३ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—बद्ध और मुक्त। जैसे (नारकों के) औदारिक बद्ध और मुक्त (सू. ९११-१ में) कहे गए हैं, उसी प्रकार (नैरयिकों के बद्ध और मुक्त) आहारकशरीरों के विषय में कहना चाहिए।

[४] तेया-कम्मगाइं जहा एतेसिं चेव वेउव्वियाइं।

[९११-४] (नारकों के) तैजस-कार्मण शरीर इन्हीं के वैक्रियशरीरों के समान कहने चाहिए।

विवेचन—नैरयिकों के बद्ध-मुक्त पंच शरीरों की प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र (सू. ९११-१ से ४) में नैरयिकों के बद्ध और मुक्त पंच शरीरों के परिमाण के विषय में प्ररूपणा की गई है।

नैरयिकों के बद्ध-मुक्त औदारिकशरीरों की प्ररूपणा—नैरयिकों के बद्ध औदारिकशरीर नहीं होते, क्योंकि जन्म से ही उनमें औदारिकशरीर संभव नहीं है। उनके मुक्त औदारिकशरीरों का कथन पूर्वोक्त औधिक मुक्त औदारिकशरीरों के समान समझना चाहिए।

नारकों के बद्ध-मुक्त वैक्रियशरीरों की प्ररूपणा—नारकों के बद्ध वैक्रियशरीर उतने ही हैं, जितने नैरयिक हैं, क्योंकि प्रत्येक नारक का एक बद्ध वैक्रियशरीर होता है। नारक जीवों की संख्या असंख्यात होने से उनके बद्ध वैक्रियशरीरों की संख्या भी असंख्यात ही है। इस असंख्यातता की काल और क्षेत्र से प्ररूपणा करते हुए शास्त्रकार कहते हैं **कालतः**— उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकालों के एक-एक समय में यदि एक-एक शरीर का अपहरण किया जाए तो असंख्यात उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों में उन सब शरीरों का अपहरण होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो - असंख्यात उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों के जितने समय हैं, उतने ही नारकों के बद्ध वैक्रियशरीर होते हैं। **क्षेत्रतः**—वे असंख्यातश्रेणी-प्रमाण हैं और प्रतर का असंख्यातवाँ भाग ही श्रेणी कहलाती है। ऐसी असंख्यात श्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने ही नारकों के बद्ध वैक्रियशरीर होते हैं।

अब प्रश्न यह है कि सकल (सम्पूर्ण) प्रतर में भी असंख्यात श्रेणियाँ होती हैं, प्रतर के अर्द्धभाग में भी और तृतीय (तिहाई) भाग आदि में भी असंख्यात श्रेणियाँ होती हैं, ऐसी स्थिति में यहाँ कितनी संख्या वाली श्रेणियाँ समझी जाएँ? इसी जिज्ञासा का समाधान करने के लिए मूलपाठ में कहा गया है—प्रतर का असंख्यातवाँ भाग। अर्थात्—प्रतर के असंख्यातवें भाग में जितनी श्रेणियाँ होती हैं, उतनी ही श्रेणियाँ यहाँ ग्रहण करनी चाहिए। फिर यहाँ उनका विशेष परिमाण बतलाने के लिए कहा गया है—उन श्रेणियों की विष्कम्भ सूची अर्थात् विस्तार को लेकर सूची= एकप्रादेशिकी श्रेणी उतनी होती है, जितनी अंगुल के प्रथम वर्गमूल को द्वितीय वर्गमूल से गुणा करने पर (जो) राशि निष्पन्न होती है। आशय यह है कि एक अंगुल-प्रमाणमात्र क्षेत्र के प्रदेशों की जितनी प्रदेशराशि होती है, उसके असंख्यात वर्गमूल होते हैं। यथा प्रथमवर्गमूल का भी जो वर्गमूल होता है, वह द्वितीय वर्गमूल होता है, उस द्वितीय वर्गमूल का जो वर्गमूल होता है, वह तृतीय वर्गमूल होता है, इस प्रकार उत्तरोत्तर असंख्यात वर्गमूल होते हैं। अतः प्रस्तुत में प्रथम वर्गमूल को दूसरे वर्गमूल के साथ गुणित करने पर जितने प्रदेश होते हैं, उतने प्रदेशों की सूची की बुद्धि से कल्पना कर ली जाए। तत्पश्चात् विस्तार में उसे दक्षिण-उत्तर में लम्बी स्थापित कर ली जाए। वह स्थापित की हुई सूची जितनी श्रेणियों को स्पर्श करती है, उतनी श्रेणियाँ यहाँ ग्रहण कर लेनी चाहिए। उदाहरणार्थ यों तो एक अंगुलमात्र क्षेत्र में असंख्यात प्रदेशराशि होती है, फिर भी असत्कल्पना से उसकी संख्या २५६ मान लें। इस २५६ संख्या का प्रथम वर्गमूल सोलह (२×५=१०+६=१६) होता है। दूसरा वर्गमूल ४ और तृतीय वर्गमूल २ होता है। इनमें से जो द्वितीय वर्गमूल चार संख्या वाला है, उसके साथ सोलह संख्या वाले प्रथम वर्गमूल को गुणित करने पर ६४ (चौसठ) संख्या आती है। बस, इतनी ही इसकी श्रेणियाँ समझनी चाहिए। इस बात को शास्त्रकार प्रकारान्तर से कहते हैं—अथवा अंगुल के द्वितीय वर्गमूल के घन-प्रमाण (घन जितनी) श्रेणियाँ समझनी चाहिए। इसका आशय यह है कि एक अंगुलमात्र क्षेत्र में जितने प्रदेश होते हैं, उन प्रदेशों की राशि के साथ द्वितीय वर्गमूल का, अर्थात् असत्कल्पना से चार का जो घन हो, उतने प्रमाण वाली श्रेणियाँ समझनी चाहिए। जिस राशि का जो वर्ग हो, उसे उसी राशि से गुणा करने पर 'घन' होता है। जैसे—दो का घन आठ है। वह इस प्रकार है—दो राशि का वर्ग चार है, उस को (चार को) दो के साथ गुणा करने पर आठ संख्या होती है। इसलिए दो राशि का घन आठ हुआ। इसी प्रकार यहाँ पर भी चार (४) राशि का वर्ग सोलह होता है, उस को (सोलह को) चार राशि के साथ गुणा करने पर चार का घन वही चौसठ (६४) आता है।

इस तरह इन दोनों प्रकार (तरीकों) में कोई वास्तविक भेद नहीं है। यहाँ वृत्तिकार एक तीसरा प्रकार भी बताते हैं- अंगुलप्रमाण क्षेत्र के प्रदेशों की राशि को अपने प्रथम वर्गमूल के साथ गुणा करने पर जितनी प्रदेशराशि होती है, उतने ही प्रमाण वाली सूची जितनी श्रेणियों को स्पर्श करती है, उतनी श्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश हों, उतने ही नारकों के बद्ध वैक्रियशरीर होते हैं। नारकों के मुक्त वैक्रियशरीर की प्ररूपणा उनके मुक्त औदारिकशरीरों के समान समझनी चाहिए।

नारकों के बद्ध-मुक्त आहारकशरीर– जैसे नारकों के बद्ध औदारिकशरीरों के विषय में कहा गया है, वैसा ही उनके बद्ध आहारकशरीर के विषय में भी समझना चाहिए। नारकों के बद्ध आहारकशरीर होते ही नहीं, क्योंकि उनमें आहारकलब्धि सम्भव नहीं है। आहारकशरीर तो केवल आहारकलब्धिसम्पन्न चतुर्दश पूर्वधारी मुनियों को ही होता है। नैरयिकों के मुक्त आहारकशरीरों के विषय में पूर्ववत् समझना चाहिए।[1]

भवनवासियों के बद्ध-मुक्त शरीरों का परिमाण

९१२. [१] असुरकुमाराणं भंते ! केवतिया ओरालियसरीरा पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहा णेरइयाणं ओरालिया भणिया (सु. ९११ [१]) तहेव एतेसिं पि भाणियव्वा।

[९१२-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के कितने औदारिकशरीर कहे गए हैं ?

[९१२-१ उ.] गौतम ! जैसे नैरयिकों के (बद्ध-मुक्त) औदारिकशरीरों के विषय में (सू. ९११-१ में) कहा गया है, उसी प्रकार इनके (असुरकुमारों के बद्ध-मुक्त औदारिकशरीरों के) विषय में भी कहना चाहिए।

[२] असुरकुमाराणं भंते ! केवतिया वेउव्वियसरीरा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असंखेज्जाओ सेढीओ पतरस्स असंखेज्जतिभागो, तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलस्स संखेज्जतिभागो। तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं जहा ओरालियस्स मुक्केल्लगा तहा भाणियव्वा (सु. ९१० [१])।

[९१२-२ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के वैक्रियशरीर कितने कहे गये हैं ?

[९१२-२ उ.] गौतम ! (वे) दो प्रकार के कहे गए हैं- बद्ध और मुक्त। उनमें जो बद्ध हैं, वे असंख्यात हैं। काल की अपेक्षा से असंख्यात उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों में वे अपहृत होते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से असंख्यात श्रेणियों (जितने) हैं। (वे श्रेणियां) प्रतर का असंख्यातवाँ भाग (प्रमाण हैं।) उन श्रेणियों की विष्कम्भसूची अंगुल के प्रथम वर्गमूल का संख्यातवाँ भाग (प्रमाण) है। उनमें जो (असुरकुमारों के) मुक्त (वैक्रिय) शरीर हैं, उनके विषय में जैसे (सू. ९१०-१ में) मुक्त औदारिक शरीरों के विषय में कहा गया है, उसी तरह कहना चाहिए।

---

१. (क) प्रज्ञापना सूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक २७४-२७५
(ख) 'अंगुलबिइयवग्गमूलं पढमवग्गमूलपउप्पण्णं' — प्रज्ञापना म. वृत्ति, पत्रांक २७५ में उद्धृत

[३] आहारयसरीरा जहा एतेसि णं चेव ओरालिया तहेव दुविहा भाणियव्वा ।

[९१२-३] (इनके) (बद्ध-मुक्त) आहारकशरीरों के विषय में, इन्हीं के (बद्ध-मुक्त) दोनों प्रकार के औदारिकशरीरों की तरह प्ररूपणा करनी चाहिए ।

[४] तेया-कम्मसरीरा दुविहा वि जहा एतेसि णं चेव वेउव्वियाणं ।

[९१२-४] (इनके बद्ध-मुक्त) दोनों प्रकार के तैजस और कार्मण शरीरों (का कथन) भी इन्हीं के (बद्ध-मुक्त) वैक्रियशरीरों के समान समझ लेना चाहिए ।

९१३. एवं जाव थणियकुमारा ।

[९१३] स्तनितकुमारों तक के बद्ध-मुक्त सभी शरीरों की प्ररूपणा भी इसी प्रकार (करनी चाहिए ।)

विवेचन—असुरकुमारादि के बद्धमुक्त शरीरों की प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ९१२-९१३) में असुरकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक के दसों भवनपतिदेवों के बद्ध एवं मुक्त औदारिकादि पांचों शरीरों की प्ररूपणा की गई है ।

असुरकुमारों के बद्ध-मुक्त औदारिकशरीर—इनके बद्ध औदारिकशरीर नहीं होते, क्योंकि नारकों की तरह इनका भी भवस्वभाव इसमें बाधक कारण है । इनके मुक्त औदारिकशरीर नैरयिकों की तरह समझने चाहिए ।

असुरकुमारों के बद्ध-मुक्त वैक्रियशरीरों का निरूपण—इनके बद्ध वैक्रियशरीर असुरकुमार देवों की असंख्यात संख्या के बराबर असंख्यात हैं । काल से तो पूर्ववत् असंख्यात उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों के समयों के तुल्य हैं । क्षेत्र की अपेक्षा से—असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं । असंख्यात श्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने ही बद्धवैक्रियशरीर हैं । वे श्रेणियाँ प्रतर के असंख्यात भाग-प्रमाण होती हैं । यहाँ नारकों की अपेक्षा विशेषतर परिमाण बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं — उन श्रेणियों से परिमाण के लिए जो विष्कम्भसूची है, वह अंगुल-प्रमाण क्षेत्र के प्रदेशों की राशि के प्रथम वर्गमूल का संख्यातवाँ भाग है । जैसे कि असत्कल्पना से एक अंगुलप्रमाण क्षेत्र की प्रदेश-राशि २५६ मानी गई । उसका जो प्रथम वर्गमूल है, वह १६ संख्यावाला माना गया । उसके संख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश हों, असत्कल्पना से पांच या छह हों, उतने प्रदेशों वाली श्रेणी परिमाण के लिए विष्कम्भसूची समझनी चाहिए । इस दृष्टि से नैरयिकों की अपेक्षा असुरकुमारदेवों की विष्कम्भसूची असंख्यातगुणहीन है, क्योंकि नारकों की श्रेणी के परिमाण के लिए गृहीत विष्कम्भसूची द्वितीय वर्गमूल से गुणित प्रथम वर्गमूल जितने प्रदेशों वाली है । वस्तुतः द्वितीय वर्गमूल असंख्यातप्रदेशात्मक होता है । अतएव असंख्यातगुणयुक्त प्रथम वर्गमूल के प्रदेशों जितनी नारकों की सूची है, जबकि असुरकुमारादि की विष्कम्भसूची अंगुल के प्रथम वर्गमूल के संख्यातभाग-प्रदेशरूप ही है । यह युक्तियुक्त भी है । क्योंकि महादण्डक में भी समस्त भवनवासियों को रत्नप्रभा पृथ्वी के नैरयिकों से भी असंख्यातगुणहीन कहा गया है । इस दृष्टि से समस्त नारकों की अपेक्षा उनकी असंख्यातगुणहीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है । इनके मुक्त वैक्रियशरीरों की प्ररूपणा औधिक मुक्त वैक्रियशरीरों की तरह करनी चाहिए ।

इनके बद्ध-मुक्त आहारक-तैजसकार्मण शरीर—इनके आहारकशरीरों की प्ररूपणा नैरयिकों की तरह, बद्ध तैजस-कार्मण बद्धवैक्रियशरीरों की तरह तथा इनके मुक्त तैजस-कार्मणशरीरों की प्ररूपणा औधिक मुक्त तैजस के समान समझनी चाहिए।[1]

एकेन्द्रियों के बद्ध-मुक्त शरीरों की प्ररूपणा

९१४. [१] पुढविकाइयाणं भंते ! केवतिया ओरालियसरीरगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं अणंता, अणंताहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, अभवसिद्धिएहिंतो अणंतगुणा, सिद्धाणं अणंतभागो ।

[९१४-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के कितने औदारिकशरीर कहे गए हैं ?

[९१४-१ उ.] गौतम ! (वे) दो प्रकार के कहे गये हैं—बद्ध और मुक्त । उनमें जो बद्ध हैं, वे असंख्यात हैं । काल की अपेक्षा से—(वे) असंख्यात उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों से अपहृत होते हैं । क्षेत्र की अपेक्षा से वे असंख्यात लोक-प्रमाण हैं । उनमें से जो मुक्त हैं, वे अनन्त हैं । कालतः (वे) अनन्त उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों से अपहृत होते हैं । क्षेत्रतः (वे) अनन्तलोक-प्रमाण हैं । (द्रव्यतः वे) अभव्यों से अनन्तगुणे हैं, सिद्धों के अनन्तवें भाग हैं ।

[२] पुढविकाइयाणं भंते ! केवतिया वेउव्वियसरीरगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं णत्थि । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं जहा एतेसिं चेव ओरालिया भणिया तहेव भाणियव्वा ।

[९१४-२ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के वैक्रियशरीर कितने कहे गए हैं ?

[९१४-२ उ.] गौतम ! (वे) दो प्रकार के कहे गए हैं—बद्ध और मुक्त । उनमें जो बद्ध हैं, वे इनके नहीं होते । उनमें जो मुक्त हैं, उनके विषय में, जैसे इन्हीं के औदारिकशरीरों के विषय में कहा गया है, वैसे ही कहना चाहिए ।

[३] एवं आहारगसरीरा वि ।

[९१४-३] इनके आहारकशरीरों की वक्तव्यता इन्हीं के वैक्रियशरीरों के समान समझनी चाहिए ।

[४] तेया-कम्मगा जहा एतेसिं चेव ओरालिया ।

[९१४-४] (इनके बद्ध-मुक्त) तैजस-कार्मणशरीरों (की प्ररूपणा) इन्हीं के बद्ध-मुक्त औदारिकशरीरों के समान समझनी चाहिए ।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २७६-२७७

९१५. एवं आउक्काइया तेउक्काइया वि ।

[९१५] इसी प्रकार अप्कायिकों और तेजस्कायिकों (के बद्ध-मुक्त सभी शरीरों) की वक्तव्यता (समझनी चाहिए ।)

९१६. [१] वाउक्काइयाणं भंते ! केवतिया ओरालिया सरीरा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य । दुविहा वि जहा पुढविकाइयाणं ओरालिया (सु. ९१४ [१]) ।

[९१६-१ प्र.] भगवन् ! वायुकायिक जीवों के औदारिकशरीर कितने कहे गए हैं ?

[९१६-१ उ.] गौतम ! (वे) दो प्रकार के कहे गए हैं । वे इस प्रकार—बद्ध और मुक्त । इन बद्ध और मुक्त दोनों प्रकार के औदारिकशरीरों की वक्तव्यता जैसे (सू. ९१४-१ में) पृथ्वीकायिकों के (बद्ध-मुक्त) औदारिकशरीरों की (वक्तव्यता है), तदनुसार समझना चाहिए ।

[२] वेउव्वियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा, समए समए अवहीरमाणा अवहीरमाणा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमेत्तेणं कालेणं अवहीरंति णो चेव णं अवहिया सिया । मुक्केल्लगा जहा पुढविक्काइयाणं (सु. ९१४ [२]) ।

[९१६-२ प्र.] भगवन् ! वायुकायिकों के वैक्रियशरीर कितने कहे गए हैं ?

[९१६-२ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के हैं—बद्ध और मुक्त । उनमें जो बद्ध हैं, वे असंख्यात हैं । (कालतः) यदि समय-समय में एक-एक शरीर का अपहरण किया जाए तो पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण काल में उनका पूर्णतः अपहरण होता है । किन्तु कभी अपहरण किया नहीं गया है (उनके) मुक्त शरीरों की प्ररूपणा (सू. ९१४-२ में उल्लिखित) पृथ्वीकायिकों (के मुक्त वैक्रिय-शरीरों) की तरह समझनी चाहिए ।

[३] आहार-तेया-कम्मा जहा पुढविकाइयाणं (सु. ९१४ [३-४]) । तहा भाणियव्वा ।

[९१६-३] (इनके बद्ध-मुक्त) आहारक, तैजस और कार्मण शरीरों (की प्ररूपणा) (सू. ९१४-३।४ में उल्लिखित) पृथ्वीकायिकों (के बद्ध-मुक्त आहारक, तैजस और कार्मण शरीरों) की तरह करनी चाहिए ।

९१७. वणप्फइकाइयाणं जहा पुढविकाइयाणं । णवरं तेया-कम्मगा जहा ओहिया तेया-कम्मगा (सु. ९१० [४-५]) ।

[९१७] वनस्पतिकायिकों (के बद्ध-मुक्त औदारिकादि शरीरों) की प्ररूपणा पृथ्वीकायिकों (के बद्ध-मुक्त औदारिकादि शरीरों) की तरह समझना चाहिए । विशेष यह है कि इनके तैजस और कार्मण शरीरों का निरूपण (सू. ९१०-४।५ के अनुसार) औधिक तैजस-कार्मण-शरीरों के समान करना चाहिए ।

विवेचन—एकेन्द्रियों के बद्ध-मुक्त औदारिकादि शरीरों की प्ररूपणा-प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ९१४ से ९१७ तक) में पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय जीवों के बद्ध और मुक्त औदारिकादि शरीरों की प्ररूपणा की गई है।

पृथ्वीकायिकों आदि के बद्ध-मुक्त औदारिक शरीर—पृथ्वी-अप्-तेजस्कायिकों के बद्ध औदारिकशरीर असंख्यात हैं। काल से असंख्यात उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों के समयों के बराबर हैं, और क्षेत्र से असंख्यात लोकप्रमाण हैं। इस सम्बन्ध में युक्ति पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए। इनके मुक्त औदारिकशरीर औघिक मुक्त औदारिकशरीरों के समान समझना चाहिए।

पृथ्वीकायिकों आदि के वैक्रिय-आहारक-तैजस-कार्मणशरीरों की प्ररूपणा—इनमें वैक्रियलब्धि एवं आहारकलब्धि का अभाव होने से इनके बद्ध-वैक्रिय एवं आहारकशरीर नहीं होते। मुक्त आहारक एवं वैक्रिय शरीरों का कथन मुक्त औदारिकशरीरवत् समझना चाहिए। इनके तैजस और कार्मण शरीरों की प्ररूपणा इन्हीं के बद्ध-मुक्त औदारिकशरीरों के समान जाननी चाहिए।

वायुकायिकों के बद्ध-मुक्त पांचों शरीरों की प्ररूपणा—वायुकायिकों के बद्ध-मुक्त औदारिक पृथ्वीकायिकों के बद्ध-मुक्त औदारिकशरीरों की तरह समझना चाहिए। वायुकाय में वैक्रिय शरीर पाया जाता है, अतः वायुकायिकों के बद्ध वैक्रियशरीर असंख्यात होते हैं। काल की अपेक्षा से यदि प्रतिसमय एक-एक वैक्रियशरीर का अपहरण किया जाये तो पल्योपम के असंख्यातवें भाग काल में उनका पूर्णतया अपहरण हो। तात्पर्य यह कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग काल के जितने समय हैं, उतने ही वायुकायिकों के बद्ध वैक्रियशरीर होते हैं। वायुकायिक जीवों के सूक्ष्म और बादर ये दो-दो भेद हैं, फिर उनके प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो-दो भेद हैं। इनमें से बादर-पर्याप्त-वायुकायिकों के अतिरिक्त शेष तीनों में प्रत्येक असंख्यात लोकाकाशप्रमाण हैं, बादर-पर्याप्त-वायुकायिक प्रतर के असंख्यात-भाग-प्रमाण हैं। इनमें से तीन प्रकार के वायुकायिकों के वैक्रियलब्धि नहीं होती, सिर्फ बादर वायुकायिकों में से भी संख्यातभागमात्र में ही वैक्रियलब्धि होती है। क्योंकि पृच्छा के समय पल्योपम के असंख्येयभागमात्र ही वैक्रियशरीर वाले पाए जाते हैं। अतः सिर्फ इनके ही वैक्रियशरीर होता है, अन्य तीनों के नहीं। वायुकायिकों के मुक्त वैक्रियशरीर के विषय में औघिक मुक्त वैक्रियशरीर की तरह ही कहना चाहिए। इनके बद्ध तैजस-कार्मण-शरीर के विषय में बद्ध औदारिकशरीर की तरह तथा मुक्त तैजस-कार्मणशरीर मुक्त औघिक तैजस-कार्मण-शरीर की तरह समझना चाहिए। वायुकायिकों में आहारकलब्धि का अभाव होने से केवल अनन्त मुक्त आहारकशरीर ही होते हैं, बद्ध नहीं।

वनस्पतिकायिकों के बद्ध-मुक्त पांचों शरीरों की प्ररूपणा वनस्पतिकायिकों के बद्ध-मुक्त औदारिकशरीरों का कथन पृथ्वीकायिकों के बद्ध-मुक्त औदारिकशरीर की तरह करना चाहिए। बद्ध-मुक्त तैजस-कार्मणशरीरों की प्ररूपणा औघिक तैजस-कार्मणशरीरों की तरह समझनी चाहिए। उनके वैक्रिय और आहारक शरीर मुक्त ही होते हैं, बद्ध नहीं, क्योंकि उनमें वैक्रियलब्धि तथा आहारकलब्धि नहीं होती।[1]

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २७७

(ख) तिण्हं ताव रासीणं वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि। बायरपज्जत्ताणं पि संखेज्जइभागमेत्ताण लद्धी अत्थि॥

—प्रज्ञापना चूर्णि, प्रज्ञापना. म. वृत्ति, पत्रांक २७७ में उद्धृत

द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तिर्यंचों तक के बद्ध-मुक्त शरीरों का परिमाण

९१८. [१] बेइंदियाणं भंते ! केवतिया ओरालियसरीरा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असंखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखेज्जइभागो, तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ असंखेज्जाइं सेढिवग्गमूलाइं । बेइंदियाणं ओरालियसरीरेहिं बद्धेल्लगेहिं पयरं अवहीरति, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं कालओ, खेत्तओ अंगुलपयरस्स आवलियाए य असंखेज्जइभागपडिभागेणं । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते जहा ओहिया ओरालिया मुक्केल्लगा (सु. ९१० [१]) ।

[९१८-१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रियजीवों के कितने औदारिकशरीर कहे गए हैं ?

[९१८-१ उ.] गौतम ! (वे) दो प्रकार के कहे गए हैं- बद्ध और मुक्त। उनमें जो बद्ध औदारिकशरीर हैं, वे असंख्यात हैं। कालतः—(वे) असंख्यात उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों से अपहृत होते हैं। क्षेत्रतः असंख्यात श्रेणि-प्रमाण हैं। (वे श्रेणियाँ) प्रतर के असंख्यात भाग (प्रमाण) हैं। उन श्रेणियों की विष्कम्भसूची, असंख्यात कोटाकोटी योजनप्रमाण है । (अथवा) असंख्यात श्रेणि वर्ग-मूल के समान होती है। द्वीन्द्रियों के बद्ध औदारिक शरीरों से प्रतर अपहृत किया जाता है। काल की अपेक्षा से—असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-कालों से (अपहार होता है) । क्षेत्र की अपेक्षा से अंगुल-मात्र प्रतर और आवलिका के असंख्यात भाग प्रतिभाग-(प्रमाण खण्ड) से (अपहार होता है) । उनमें जो मुक्त औदारिक शरीर हैं, (उनके विषय में) जैसे (सू. ९१०-१ में) औधिक मुक्त औदारिक शरीरों के (विषय में कहा है), वैसे (कहना चाहिए) ।

[२] वेउव्वियआहारगा य बद्धेल्लगा णत्थि, मुक्केल्लगा जहा ओहिया ओरालिया मुक्केल्लया (सु. ९१० [१]) ।

[९१८-२ प्र.] (इनके) वैक्रियशरीर और आहारकशरीर बद्ध नहीं होते। मुक्त (वैक्रिय और आहारक शरीरों का कथन) (सू. ९१०-१ में उल्लिखित) औधिक मुक्त औदारिकशरीरों के समान करना चाहिए ।

[३] तेया-कम्मगा जहा एतेसिं चेव ओहिया ओरालिया ।

[९१८-३] (इनके बद्ध-मुक्त) तैजस-कार्मणशरीरों के विषय में इन्हीं के समुच्चय (औधिक) औदारिकशरीरों के समान (कहना चाहिए) ।

९१९. एवं जाव चउरिंदिया ।

[९१९] इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रियों तक (त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियों के समस्त बद्ध-मुक्त शरीरों के विषय में) कहना चाहिए ।

९२०. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं एवं चेव । णवरं वेउव्वियसरीरएसु इमो विसेसो—पंचेंदिय-तिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवतिया वेउव्वियसरीरया पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं असंखेज्जा जहा असुरकुमाराणं (सु. ९१२ [२]) । णवरं तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुल-पढमवग्गमूलस्स असंखेज्जतिभागो । मुक्केल्लगा तहेव ।

[९२०] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों के (समस्त बद्ध-मुक्त शरीरों के) विषय में इसी प्रकार (कहना चाहिए ।) इनके (बद्ध-मुक्त) वैक्रिय शरीरों (के विषय) में यह विशेषता है—

[प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों के कितने वैक्रियशरीर कहे हैं ?

[उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के हैं, वे इस प्रकार बद्ध और मुक्त । उनमें जो बद्ध वैक्रियशरीर हैं, वे असंख्यात हैं, उनकी प्ररूपणा (सू. ९१२-२ में) उल्लिखित असुरकुमारों के (बद्ध-मुक्त वैक्रियशरीरों के) समान (करनी चाहिए ।) विशेष यह है कि (यहाँ) उन श्रेणियों की विष्कम्भ-सूची अंगुल के प्रथम वर्गमूल का असंख्यातवाँ भाग (समझना चाहिए) । इनके मुक्त वैक्रियशरीरों के विषय में भी उसी प्रकार (औधिक मुक्त वैक्रियशरीरों के समान) समझना चाहिए ।

विवेचन –द्वीन्द्रियों से तिर्यंचपंचेन्द्रियों तक के बद्ध-मुक्त शरीरों की प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और तिर्यंञ्चपंचेन्द्रियों के बद्ध-मुक्त औदारिकादि पांचों शरीरों की प्ररूपणा की गई है ।

द्वीन्द्रियों के बद्ध-मुक्त औदारिकशरीरों की प्ररूपणा –द्वीन्द्रियों के बद्ध औदारिकशरीर असंख्यात हैं । उनका काल से परिमाण इस प्रकार है—यदि उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालों के एक-एक समय में एक-एक औदारिकशरीर का अपहरण किया जाए तो असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों में इन सब का अपहरण सम्भव है । दूसरे शब्दों में कहें तो असंख्यात उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी कालों में जितने समय होते हैं, उतने प्रमाण में बद्ध औदारिकशरीर हैं । क्षेत्र की अपेक्षा से वे असंख्यात श्रेणियों के बराबर हैं, अर्थात्– असंख्यात श्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने ही प्रमाण में इनके बद्ध औदारिकशरीर हैं । उन श्रेणियों का परिमाणविशेष इस प्रकार है—पूर्वोक्त प्रकार से वे श्रेणियाँ प्रतर के असंख्यातभाग-प्रमाण होती हैं । अर्थात्—प्रतर के असंख्यातभाग-प्रमाण असंख्यातश्रेणियाँ होती हैं । नारकों और भवनपतियों के शरीरों के प्रतरासंख्येयभाग की अपेक्षा द्वीन्द्रियों के शरीरों का प्रतरासंख्येयभाग कुछ भिन्न प्रकार का है । वह इस प्रकार है—उन श्रेणियों का परिमाण निश्चित करने के लिए जो विष्कम्भ (विस्तार-) सूची मानी है, वह असंख्यातकोटाकोटी योजन-प्रमाण समझनी चाहिए । अथवा—एक परिपूर्ण श्रेणी के प्रदेशों की जो राशि होती है, उसका जो प्रथम, द्वितीय, तृतीय, यावत् असंख्यातवाँ वर्गमूल है, उन सबको संकलित कर लिया जाय । उन सबको संकलित करने पर जितनी प्रदेशराशि हो, उतने प्रदेशो वाली विष्कम्भसूची समझनी चाहिए । इसे एक उदाहरण के द्वारा समझिए—यद्यपि श्रेणी में असंख्यात-प्रदेश होते हैं, किन्तु असत्कल्पना से उन्हें मूल ६५५३६ (पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस) मान लें, तो उनका प्रथम वर्गमूल २५६ आता है, दूसरा वर्गमूल १६, तीसरा वर्गमूल ४ और चौथा वर्गमूल २ आता है । इन सब संख्याओं का योग २७८ होता है । असत्कल्पना से इतने प्रदेशों की सूची समझनी चाहिए ।

द्वीन्द्रिय जीवों के शरीर कितनी अवगाहना के द्वारा कितने काल में सम्पूर्ण प्रतर को पूरा करते हैं ? इसका समाधान शास्त्रकार यों करते हैं—द्वीन्द्रिय जीवों के बद्ध औदारिकशरीर असंख्यात

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-कालों में सम्पूर्ण प्रतर को पूर्ण करते हैं। **क्षेत्र और काल की अपेक्षा से परिमाण**--एक प्रादेशिकश्रेणीरूप अंगुलमात्र प्रतर के असंख्यातभाग-प्रतिभागप्रमाण खण्ड से यह क्षेत्रदृष्टि से परिमाण है तथा काल की दृष्टि से परिमाण···आवलिका के असंख्येयभाग प्रतिभाग से—अर्थात् असंख्यातवें प्रतिभाग से अपहृत होता है। इसका तात्पर्य यह है कि एक द्वीन्द्रिय के द्वारा अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण खण्ड आवलिका के असंख्यातवें भाग से अपहृत होता है। द्वितीय द्वीन्द्रिय के द्वारा भी उतने ही प्रमाण वाला खण्ड उतने ही काल में अपहृत होता है। इस प्रकार से अपहृत किया जाने वाला प्रतर समस्त द्वीन्द्रियों द्वारा असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों में सम्पूर्ण अपहृत होता है।

द्वीन्द्रियों के मुक्त औदारिकशरीरों की प्ररूपणा समुच्चय मुक्त औदारिकशरीरों के समान समझनी चाहिए।

द्वीन्द्रियों के बद्ध-मुक्त वैक्रिय, आहारक, तैजस-कार्मणशरीरों की प्ररूपणा द्वीन्द्रियों के बद्ध वैक्रिय और आहारक शरीर नहीं होते। मुक्त वैक्रिय और आहारक शरीरों की प्ररूपणा समुच्चय मुक्त औदारिक शरीरवत् समझनी चाहिए। इनके बद्ध मुक्त तैजस-कार्मणशरीरों की प्ररूपणा इन्हीं के बद्ध-मुक्त औदारिकशरीरों की तरह जाननी चाहिए।

त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियों के बद्ध-मुक्त औदारिकादिशरीर—द्वीन्द्रियों के बद्ध-मुक्त शरीरों के समान ही इनके बद्ध-मुक्त सब शरीरों की प्ररूपणा करनी चाहिए।

पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों के बद्ध-मुक्त शरीरों की प्ररूपणा --पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों के बद्ध-मुक्त औदारिक-शरीरों का कथन द्वीन्द्रियों के समान ही समझना चाहिए। बद्ध-वैक्रिय शरीर असंख्यात होते हैं। काल और क्षेत्र की अपेक्षा से परिमाण की सब प्ररूपणा असुरकुमारों के समान समझनी चाहिए, किन्तु विशेषता यह है कि असुरकुमारों की वक्तव्यता में श्रेणियों की विष्कम्भसूची का प्रमाण अंगुल के प्रथम वर्गमूल का संख्यातवाँ भाग बतलाया था, जबकि यहाँ असंख्यातवाँ भाग समझना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि एक अंगुलमात्र क्षेत्र के प्रदेशों की राशि के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने प्रदेशरूप सूची को जो श्रेणियाँ स्पृष्ट हैं उन श्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने प्रमाण में ही तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों के बद्धवैक्रियशरीर होते हैं। इनके मुक्त वैक्रियशरीरों की प्ररूपणा औघिक (समुच्चय) वैक्रियशरीरों के समान समझनी चाहिए। बद्ध आहारकशरीर इनके नहीं होते। मुक्त आहारकशरीर की प्ररूपणा पूर्ववत् समझनी चाहिए। इनके बद्ध तैजस-कार्मण-शरीर इन्हीं के बद्ध औदारिकशरीरवत् हैं। मुक्त तैजस-कार्मण-शरीर समुच्चय मुक्त तैजस-कार्मण-शरीरवत् समझना चाहिए।[1]

मनुष्यों के बद्ध-मुक्त औदारिकादि शरीरों का परिमाण

९२१. [१] **मणुस्साणं भंते ! केवतिया ओरालियसरीरा पण्णत्ता ?**

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा, जहण्णपए संखेज्जा संखेज्जाओ कोडाकोडीओ तिजमलपयस्स

---

१. (क) प्रज्ञापना मलय. वृत्ति, पत्रांक २७७ से २२७ तक

(ख) अंगुलमूलासंखेयभागप्पमियाउ होंति सेढीओ।
उत्तरविअब्वियाणं तिरियाणं सन्निपज्जाणं ॥ —प्रज्ञापना

उवरिं चउजमलपयस्स हेट्ठा, अहव णं छट्ठो वग्गो पंचमवग्गपडुप्पण्णो, अहव णं छण्णउईछेयणगदाई रासी; उक्कोसपदे असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ रूवपक्खित्तेहिं मणुस्सेहिं सेढी अवहीरति, तीसे सेढीए काल-खेत्तेहिं अवहारो मग्गिज्जइ—असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं कालओ, खेत्तओ अंगुलपढमवग्गमूलं ततियवग्गमूलपडुप्पण्णं । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते जहा ओरालिया ओहिया मुक्केल्लगा (सु. ९१० [१])।

[९२१-१ प्र.] भगवन् ! मनुष्य के औदारिकशरीर कितने कहे गए हैं ?

[९२१-१ उ.] गौतम ! (वे) दो प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार—बद्ध और मुक्त। उनमें से जो बद्ध हैं, वे कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात होते हैं। जघन्य पद में संख्यात होते हैं। संख्यात कोटाकोटी तीन यमलपद के ऊपर तथा चार यमलपद से नीचे होते हैं। अथवा पंचमवर्ग से गुणित (प्रत्युत्पन्न) छठे वर्ग-प्रमाण होते हैं; अथवा छियानवें (९६) छेदनकदायी राशि (जितनी संख्या है।) उत्कृष्टपद में असंख्यात हैं। कालतः—(वे) असंख्यात उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों से अपहृत होते हैं। क्षेत्र से—एक रूप जिनमें प्रक्षिप्त किया गया है, ऐसे मनुष्यों से श्रेणी अपहृत होती है, उस श्रेणी की काल और क्षेत्र से अपहार की मार्गणा होती है—कालतः असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकालों से (असंख्यात मनुष्यों का) अपहार होता है। क्षेत्रतः—(वे) तीसरे वर्गमूल से गुणित अंगुल का प्रथमवर्गमूल (-प्रमाण होते हैं।) उनमें जो मुक्त औदारिकशरीर हैं, उनके विषय में (सू.९१०-१ में उल्लिखित) औधिक मुक्त औदारिकशरीरों के समान जानना चाहिए।

[२] वेउव्वियाणं भंते ! पुच्छा ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा— बद्धेल्लगा य मुक्केल्लगा य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लगा ते णं संखेज्जा, समए समए अवहीरमाणा अवहीरमाणा संखेज्जेणं कालेणं अवहीरंति णो चेव णं अवहिया सिया। तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं जहा ओरालिया ओहिया (सु.९१० [१])।

[९२१-२ प्र-] भगवन् ! मनुष्यों के वैक्रिय शरीर कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[९२१-२ उ.] गौतम ! (वे) दो प्रकार के कहे गए हैं बद्ध और मुक्त। उनमें जो बद्ध हैं, वे संख्यात हैं। समय-समय में (वे) अपहृत होते-होते संख्यातकाल में अपहृत होते हैं; किन्तु अपहृत नहीं किए गए हैं। उनमें से जो मुक्त वैक्रियशरीर हैं, उनके विषय में (सू.९१०-१ में उल्लिखित) औधिक औदारिकशरीरों के समान समझना चाहिए।

[३] आहारगसरीरा जहा ओहिया (सु. ९१० [३])।

[९२१-३] (इनके बद्ध-मुक्त) आहारकशरीरों की प्ररूपणा (सू. ९१०-३ में उल्लिखित) औधिक आहारकशरीरों के समान समझनी चाहिए।

[४] तेया-कम्मया जहा एतेसिं चेव ओरालिया।

[९२१-४] (मनुष्यों के बद्ध-मुक्त) तैजस-कार्मणशरीरों का निरूपण इन्हीं के (बद्ध-मुक्त) औदारिकशरीरों के समान (समझना चाहिए।)

विवेचन—मनुष्यों के बद्ध-मुक्त औदारिकादि शरीरों का परिमाण—प्रस्तुत सूत्र (९२१-१-४) में मनुष्यों के बद्ध और मुक्त औदारिकादि पांच शरीरों की प्ररूपणा की गई है।

मनुष्यों के बद्ध-मुक्त शरीरों की प्ररूपणा—मनुष्यों के बद्ध औदारिक शरीर—कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—गर्भज और सम्मूर्च्छिम। गर्भज मनुष्य (प्रवाहरूप से) सदा स्थायी रहते हैं। कोई भी काल ऐसा नहीं होता, जो गर्भज मनुष्यों से रहित हो; किन्तु सम्मूर्च्छिम मनुष्य कभी होते हैं, कदाचित् उनका सर्वथा अभाव हो जाता है; क्योंकि सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु भी अन्तर्मुहूर्त की होती है। उनकी उत्पत्ति का अन्तर (विरहकाल) उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त प्रमाण कहा गया है। अतएव जिस काल में सम्मूर्च्छिम मनुष्य सर्वथा विद्यमान नहीं होते, अपितु केवल गर्भज मनुष्य ही होते हैं; उस समय बद्ध औदारिकशरीर संख्यात ही होते हैं, क्योंकि गर्भज मनुष्यों की संख्या संख्यात ही है; वे महाशरीररूप में या प्रत्येकशरीररूप में होने से परिमितक्षेत्रवर्ती होते हैं। जब सम्मूर्च्छिम मनुष्य विद्यमान होते हैं, तब मनुष्यों की संख्या असंख्यात होती है। सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्कृष्टतः श्रेणी के असंख्यातवें भागवर्ती आकाशप्रदेशों की राशि-प्रमाण होते हैं। इसी दृष्टि से मूलपाठ में कहा गया है—**'जहन्नपदे संखेज्जा।'** जघन्यपद का अभिप्राय है—जहाँ सबसे थोड़े मनुष्य पाए जाते हैं। प्रश्न होता है—क्या वे (सबसे कम मनुष्य) सम्मूर्च्छिम होते हैं या गर्भज? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि गर्भज मनुष्य ही होते हैं, जो सदैव स्थायी होने से सम्मूर्च्छिमों के अभाव में सबसे थोड़े पाए जाते हैं। उत्कृष्टपद में गर्भज और सम्मूर्च्छिम दोनों का ही ग्रहण होता है। इस जघन्यपद से यहाँ संख्यात मनुष्यों का ग्रहण होता है; किन्तु संख्यात के भी संख्यात-भेद होते हैं, इसलिए संख्यात कहने से कितनी संख्या है, इसका विशेष बोध नहीं होता; इसलिए शास्त्रकार विशिष्ट संख्या निर्धारित करते हैं—संख्यातकोटाकोटी हैं। इस परिमाण को और अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से कहते हैं—'तीन यमलपद के ऊपर और चार यमलपद के नीचे।' इसका आशय इस प्रकार है—मनुष्यों की संख्या का प्रतिपादन करने वाले उनतीस (२९) अंक आगे कहे जाएँगे। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार आठ-आठ अंकों को एक 'यमलपद' संज्ञा है। अतः चौबीस (२४) अंकों के तीन यमलपद हुए। इसके पश्चात् (२४ अंकों के बाद) पांच अंक-स्थान शेष रहते हैं। किन्तु चौथे यमलपद की पूर्ति आठ अंकों से होती है, उसमें तीन अंकस्थान कम हैं। अतः चौथा यमलपद पूरा नहीं होता। इसी कारण यहाँ मनुष्य-संख्याप्रतिपादक २९ अंकों के लिए कहा गया है—**'तीन यमलपदों के ऊपर और चार यमलपदों से नीचे'**—अर्थात् २९ अंक प्रमाण। अथवा—दो वर्ग मिलकर एक यमलपद होता है। चार वर्ग मिलकर दो यमलपद होते हैं, तथा छह वर्ग मिलकर तीन यमलपद होते हैं और आठ वर्ग मिलकर चार यमलपद होते हैं। अतः छह वर्गों के ऊपर और सातवें वर्ग के नीचे कहें, चाहे तीन यमलपदों के ऊपर और चार यमलपदों से नीचे कहें, एक ही बात हुई।

अब इससे भी अधिक स्पष्ट रूप से मनुष्यों की संख्या का प्रतिपादन करते हैं—पंचम वर्ग से छठे वर्ग को गुणित करने पर जो राशि निष्पन्न होती है, जघन्यपद में उस राशिप्रमाण मनुष्यों की संख्या है। एक को एक के साथ गुणाकार करने पर गुणनफल एक ही आता है, संख्या में वृद्धि नहीं होती, अतः 'एक' की वर्ग के रूप में गणना नहीं होती। किन्तु दो का दो के साथ गुणाकार करने पर ४ संख्या आती है, यह प्रथम वर्ग हुआ। चार के साथ चार को गुणा करने पर १६ संख्या आई,

यह द्वितीय वर्ग हुआ, फिर १६ को १६ के साथ गुणा करने पर २५६ संख्या आई, यह तृतीय वर्ग हुआ। २५६ को २५६ के साथ गुणा करने पर ६५५३६ राशि आती है, यह चौथा वर्ग हुआ। इस चौथे वर्ग को राशि का पुनः इसी राशि के साथ गुणा करने पर ४२९४९६७२९६ संख्या आती है। यह पांचवाँ वर्ग हुआ। पंचम वर्ग की 'चार सौ उनतीस करोड़, उनचास लाख, सड़सठ हजार दो सौ छयानवे' राशि का इसी राशि के साथ गुणाकार करने पर १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ राशि आई, यह छठा वर्ग हुआ।[1] इस छठे वर्ग का पूर्वोक्त पंचमवर्ग के साथ गुणाकार करने पर जो राशि निष्पन्न होती है, जघन्यपद में उतने ही मनुष्य हैं। यह राशि पूर्वोक्त २९ (उनतीस) अंकों में इस प्रकार से है—७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६- ये उनतीस अंक कोटाकोटी आदि के द्वारा किसी भी तरह कहे नहीं जा सकते। अनुयोगद्वारवृत्ति में (विपरीत क्रम से अंकों की गणना होती है इस न्याय के अनुसार) यह संख्या दो गाथाओं द्वारा बताई है। अथवा पूर्वाचार्यों ने अंकों के प्रथम अक्षर को लेकर विपरीत क्रम से एक गाथा में यही संख्या बताई है।[2] अब इसी संख्या को प्रकारान्तर से समझाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं। 'अहवा णं छण्णउइछेयणदायी रासी' छियानवे छेदनकदायी राशि की व्याख्या इस प्रकार है—जो आधी-आधी छेदन करते-करते छियानवे बार छेदन को प्राप्त हो और अन्त में एक बच जाए; वह छियानवे छेदनकदायी राशि कहलाती है। यह राशि उतनी ही है, जितनी पंचमवर्ग का छठे वर्ग के साथ गुणाकार करने पर होती है। वह संख्या इस प्रकार होती है—प्रथम (पूर्वोक्त) वर्ग यदि छेदा जाए तो दो छेदनक देता है—पहला छेदनक दो और दूसरा छेदनक एक। दोनों को मिलाकर दो छेदनक हुए। इसी प्रकार दूसरे वर्ग के चार छेदनक होते हैं; क्योंकि वह १६ संख्या वाला है। उसका प्रथम छेदनक ८, दूसरा ४, तीसरा २ और

---

१. चत्तारि य कोडिसया अउणत्तीसं च होंति कोडीओ।
अउणावन्नं लक्खा सत्तट्ठी चेव य सहस्सा ॥ १ ॥
दोय सया छण्णउया पंचमवग्गो समासओ होइ।
एयस्स कतो वग्गो छट्ठो जो होइ तं वोच्छं ॥ २ ॥
लक्खं कोडाकोडी चउरासीइ भवे सहस्साइं।
चत्तारि य सत्तट्ठा होंति सया कोडकोडीणं ॥ ३ ॥
चउयालं लक्खाइं कोडीणं सत्त चेव य सहस्सा।
तिण्णि सया सत्तयरी कोडीणं होंति नायव्वा ॥ ४ ॥
पंचाणउई लक्खा एकावन्नं भवे सहस्साइं।
छसोलसुत्तरसया एसो छट्ठो हवइ वग्गो ॥ ५ ॥

—प्रज्ञापना. म. वृत्ति, पत्रांक २८

२. छत्तिन्नि तिन्नि सुन्नं पंचेव य नव य तिन्नि चत्तारि।
पंचेव तिण्णि नव पंच सत्त तिन्नेव तिन्नेव ॥ १ ॥
चउ छट्ठो चउ एक्को पण छक्केक्कगो य अट्ठेव।
दो दो नव सत्तेव य अंकट्ठाणा परा हुंता ॥ —अनुयोग० वृत्तौ
छ-ति-ति-सुं-पण-नव-ति-च-प-ति-ण-प-स-ति-ति-चउ-छ-दो।
च-ए-प-दो-छ-ए-अ-बे-बे-ण-स पढमक्खरसंतियट्ठाणा ॥ १ ॥

—प्र. म. वृ. पत्रांक. २८१

चौथा १ छेदनक होता है। तीसरा वर्ग २५६ संख्या का है। अतः इसके ८ छेदनक होते हैं। इसी प्रकार चौथे वर्ग के १६ छेदनक, पांचवें वर्ग के ३२ छेदनक और छठे वर्ग के ६४ छेदनक होते हैं। इस प्रकार सब छेदनकों का योग करने पर कुल ९६ छेदनक होते हैं, जो कि पांचवें वर्ग से छठे वर्ग को गुणित करने पर होते हैं। जिस-जिस वर्ग का जिस-जिस वर्ग के साथ गुणाकार किया जाता है, उस वर्ग में गुण्य और गुणक दोनों वर्गों के छेदनक होते हैं। जैसे—प्रथम वर्ग के साथ दूसरे वर्ग का गुणाकार करने पर छह छेदनक होते हैं। सोलह संख्या के द्वितीय वर्ग का चार संख्या वाले प्रथम वर्ग के साथ गुणाकार करने पर (१६×४=६४) चौसठ संख्या आती है। उसका प्रथम छेदनक ३२, दूसरा छेदनक १६, तीसरा छेदनक ८, चौथा छेदनक ४, पांचवां छेदनक २, और छठा छेदनक १ होता है। इस प्रकार ६ छेदनक होते हैं। इसी प्रकार आगे सर्वत्र समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार पांचवें वर्ग से छठे वर्ग का गुणाकार करने पर ९६ भंग होते हैं, यह सिद्ध हुआ। अथवा किसी एक अंक को स्थापित करके उसे छियानवें बार दुगुना-दुगुना करने पर यदि उतनी ही राशि आ जाए तो वह राशि छियानवें छेदनकदायी राशि कहलाती है। यह जघन्यपद में मनुष्यों की संख्या कही गई।

उत्कृष्टपद में मनुष्यों की संख्या—इस प्रकार है -उत्कृष्टपद में मनुष्यों की संख्या असंख्यात है। **काल की अपेक्षा से परिमाण** एक-एक समय में यदि एक-एक मनुष्य के शरीर का अपहार किया जाए तो असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों में उसका पूर्णरूप से अपहार होता है। **क्षेत्र की अपेक्षा से**—एक रूप प्रक्षिप्त करने पर मनुष्यों से पूर्ण एक श्रेणी का अपहार होता है। इसका तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट पद में जो मनुष्य हैं, उनमें असत्कल्पना से एक मिला देने पर एक सम्पूर्ण श्रेणी का अपहार हो जाता है। क्षेत्र और काल से उस श्रेणी के अपहार की मार्गणा इस प्रकार है—**कालतः** -असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों में असंख्यात मनुष्यों का अपहार होता है। **क्षेत्रतः** वे अंगुल के तृतीय वर्गमूल से गुणित प्रथम वर्गमूल-प्रमाण होते हैं। असत्कल्पना से अंगुलप्रमाण क्षेत्र के प्रदेशों की राशि २५६ होती है, जिसका प्रथम वर्गमूल सोलह होता है। उसका तृतीय वर्ग-मूल दो के साथ गुणा करने पर प्रदेशों की राशि (१६×२=३२) बत्तीस आती है। इतनी संख्या वाले खण्डों से अपहृत की गई श्रेणी पूर्णता तक पहुंच जाती है, और यही मनुष्यों की संख्या की पराकाष्ठा है।

प्रश्न होता है—एक श्रेणी का उपर्युक्त प्रमाण वाले खण्डों से अपहार करने में असंख्यात उत्सर्पिणियाँ-अवसर्पिणियाँ कैसे लग जाती हैं? इसका समाधान इस प्रकार है—क्षेत्र अतिसूक्ष्म होता है। कहा भी है—काल सूक्ष्म होता है, उससे भी सूक्ष्मतर क्षेत्र होता है, क्योंकि अंगुल मात्र श्रेणी में असंख्यात उत्सर्पिणियाँ समा जाती हैं।[1] अर्थात्—एक अंगुल प्रमाण क्षेत्र में जो प्रदेशराशि होती है, वह असंख्यात उत्सर्पिणियों के समयों से भी अधिक होती है।

मनुष्यों के मुक्त औदारिकशरीरों की प्ररूपणा समुच्चय मुक्त औदारिकशरीरों के समान समझनी चाहिए।

मनुष्यों के बद्ध-मुक्त वैक्रियशरीर आदि की प्ररूपणा—मनुष्यों के बद्ध वैक्रियशरीर संख्यात हैं, क्योंकि गर्भज मनुष्यों में ही वैक्रियलब्धि सम्भव है, और वह भी किसी-किसी में, सबमें नहीं।

१. सुहुमो स होइ कालो, तत्तो सुहुमयरं हवइ खेत्तं। अंगुलसेढीमेत्ते उस्सप्पिणीओ असंखेज्जाओ॥

—प्रज्ञा. म. वृ., पत्रांक २५२

इनके मुक्त वैक्रियशरीरों का कथन औधिक मुक्त वैक्रियशरीरों के समान ही समझना चाहिए। मनुष्यों के बद्ध-मुक्त आहारकशरीरों की प्ररूपणा औधिक बद्ध-मुक्त आहारकशरीरों के समान समझनी चाहिए। मनुष्यों के बद्ध तैजस और कार्मण शरीर इन्हीं के बद्ध औदारिकशरीर के समान समझने चाहिए। मुक्त तैजस-कार्मण-शरीरों की प्ररूपणा औधिक मुक्त तैजस-कार्मण-शरीरों के समान करनी चाहिए।

वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवों के बद्ध-मुक्त औदारिकादि शरीरों की प्ररूपणा

९२२. वाणमंतराणं जहा णेरइयाणं ओरालिया आहारगा य। वेउव्वियसरीरगा जहा णेरइयाणं, णवरं तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई संखेज्जजोयणसयवग्गपलिभागो पयरस्स। मुक्केल्लगा जहा ओहिया ओरालिया (सु. ९१० [१])। तेया-कम्मया जहा एएसि चेव वेउव्विया।

[९२२] वाणव्यन्तर देवों के बद्ध-मुक्त औदारिक और आहारक शरीरों का निरूपण नैरयिकों के बद्ध-मुक्त औदारिक एवं आहारक शरीरों के समान जानना चाहिए। इनके वैक्रियशरीरों का निरूपण नैरयिकों के समान है। विशेषता यह है कि उन (असंख्यात) श्रेणियों की विष्कम्भसूची (कहनी चाहिए)। प्रतर के पूरण और अपहार में वह सूची संख्यात योजनशतवर्ग-प्रतिभाग (खण्ड) है। (इनके) मुक्त वैक्रियशरीरों का कथन औधिक औदारिकशरीरों की तरह (सू. ९१०-१ के अनुसार) समझना चाहिए। इनके बद्ध-मुक्त तैजस और कार्मण शरीरों का कथन इनके ही वैक्रियशरीरों के कथन के समान समझना चाहिए।

९२३. जोतिसियाणं एवं चेव। णवरं तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई बेछप्पण्णंगुलसयवग्गपलिभागो पयरस्स।

[९२३] ज्योतिष्क देवों (के बद्ध-मुक्त शरीरों) की प्ररूपणा भी इसी तरह (समझनी चाहिए।) विशेषता यह है कि उन श्रेणियों की विष्कम्भसूची दो सौ छप्पन अंगुल वर्गप्रमाण प्रतिभाग (खण्ड) रूप प्रतर के पूरण और अपहार में समझना चाहिए।

९२४. वेमाणियाणं एवं चेव। णवरं तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलबितियवग्गमूलं ततियवग्गमूलपडुप्पण्णं, अहव णं अंगुलततियवग्गमूलघणपमाणमेत्ताओ सेढीओ। सेसं तं चेव।

॥ पण्णवणाए भगवईए बारसमं सरीरपयं समत्तं ॥

[९२४] वैमानिकों (के बद्ध-मुक्त शरीरों) की प्ररूपणा भी इसी तरह (समझनी चाहिए।) विशेषता यह है कि उन श्रेणियों की विष्कम्भसूची तृतीय वर्गमूल से गुणित अंगुल के द्वितीय वर्गमूल

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २७९ से २८२ तक

प्रमाण है अथवा अंगुल के तृतीय वर्गमूल के घन के बराबर श्रेणियाँ हैं। शेष सब पूर्वोक्त कथन के समान समझना चाहिए।

विवेचन—वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के बद्ध-मुक्त शरीरों की प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों (९२२ से ९२४-तक) में क्रमशः वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के बद्ध-मुक्त शरीरों की प्ररूपणा की गई है।

व्यन्तरदेवों के बद्ध-मुक्त शरीरों की प्ररूपणा व्यन्तरदेवों के बद्ध-मुक्त औदारिकशरीरों के विषय में नैरयिकों के बद्ध-मुक्त औदारिकशरीरों की तरह समझना चाहिए। व्यन्तरों के बद्ध वैक्रिय शरीर नारकों की तरह असंख्यात हैं। काल की अपेक्षा से एक-एक समय में एक-एक शरीर का अपहार करने पर असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी कालों में वाणव्यन्तरों के समस्त बद्धवैक्रियशरीरों का अपहार होता है। क्षेत्र की अपेक्षा से वे असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं। अर्थात्—असंख्यात श्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने ही वे शरीर हैं। वे श्रेणियाँ प्रतर के असंख्यात भाग हैं। केवल उनकी सूची में कुछ विशेषता (अन्तर) है। उन असंख्यात श्रेणियों की विष्कम्भसूची (विस्तार सूची) इस प्रकार है। जैसे महादण्डक में पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च नपुंसकों से व्यन्तरदेव असंख्यातगुणहीन कहे हैं, वैसे ही इनकी (व्यन्तरदेवों की) विष्कम्भसूची भी तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों की विष्कम्भसूची से असंख्यातगुणहीन कहनी चाहिए। प्रतर के पूरण और अपहरण में वह सूची संख्यातयोजनशतवर्ग प्रतिभाग (खण्ड) प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि असंख्यात योजन शतवर्गप्रमाण श्रेणिखण्ड में यदि एक-एक व्यन्तर की स्थापना की जाए तो वे सम्पूर्ण प्रतर को पूर्ण करते हैं, अथवा यदि एक-एक व्यन्तर के अपहार में एक-एक संख्यात-योजनशतवर्गप्रमाण श्रेणिखण्ड का अपहरण होता है, तब सभी मिलकर व्यन्तर पूर्ण होते हैं, उससे पर सकल प्रतर है।

वाणव्यन्तरों के मुक्त वैक्रियशरीरों का कथन मुक्त औधिक वैक्रियशरीरवत् समझना चाहिए। बद्ध-मुक्त आहारक शरीरों का कथन नैरयिकों के बद्ध-मुक्त आहारकशरीरवत् समझना चाहिए। इनके बद्ध तैजस-कार्मणशरीरों का कथन इन्हीं के बद्ध वैक्रियशरीरवत् समझना चाहिए। मुक्त तैजस-कार्मण शरीरों के विषय में औधिक मुक्त तैजस-कार्मणशरीर के समान समझना चाहिए।

ज्योतिष्कदेवों के बद्ध-मुक्त शरीरों की प्ररूपणा—इनके बद्ध-मुक्त औदारिकशरीरों का कथन नैरयिकवत् समझना चाहिए। बद्ध वैक्रियशरीर असंख्यात हैं। काल की अपेक्षा से मार्गणा करने पर एक समय में एक-एक शरीर का अपहरण करने पर असंख्यात-उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-कालों में उनका सम्पूर्णरूप से अपहार होता है। क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात श्रेणियाँ है, वे श्रेणियाँ प्रतर के असंख्यातभाग प्रमाण जाननी चाहिए। विशेष यह है कि उन श्रेणियों की विष्कम्भसूची व्यन्तरों की विष्कम्भसूची से संख्यातगुणी अधिक होती है, क्योंकि महादण्डक में व्यन्तरों से ज्योतिष्क-देव संख्यातगुणे अधिक बताए गए हैं। इसलिए प्रतिभाग के विषय में भी विशेष स्पष्टतया कहते हैं—उन श्रेणियों की विष्कम्भसूची २५६ वर्ग प्रमाणखण्डरूप प्रतर के पूरण और अपहरण में जानना। आशय यह है कि २५६ अंगुलवर्गप्रमाण श्रेणिखण्ड में यदि एक-एक ज्योतिष्क की स्थापना की जाए तो वे सम्पूर्ण प्रतर को पूर्ण कर पाते हैं। अथवा यदि एक-एक ज्योतिष्क के अपहार से एक-एक दो

सौ छप्पन अंगुल वर्गप्रमाण श्रेणिखण्ड का अपहार होता है, तब सब मिलकर ज्योतिष्कों की पूर्णता होती है। दूसरी ओर सकलप्रतर पूर्ण होता है। ज्योतिष्कों के मुक्त वैक्रियशरीर मुक्त समुच्चयवत् और आहारकशरीर नारकवत्। शेष पूर्ववत् समझना चाहिए। वैमानिकों के क्षेत्रतः वैक्रियशरीर-परिमाण असंख्यातश्रेणीप्रमाण हैं। अर्थात् असंख्यात श्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने ही शरीर हैं। इन श्रेणियों का परिमाण प्रतर का असंख्यातवाँ भाग है, किन्तु नारकादि की अपेक्षा से प्रतर के असंख्यातवें भाग के परिमाण में कुछ भिन्नता है, विष्कम्भसूची तृतीयवर्गमूल (१६×१६=२५६) से गुणित द्वितीय वर्गमूल (४×४=१६) है, अथवा अंगुल के तृतीय वर्गमूल के घन के बराबर श्रेणियाँ हैं। शेष सब पूर्वोक्त के समान समझना चाहिए।[1]

॥ प्रज्ञापनासूत्र : बारहवाँ शरीरपद समाप्त ॥

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २८२-२८४ तक

तेरसमं परिणामपयं

तेरहवाँ परिणामपद

प्राथमिक

- यह प्रज्ञापनासूत्र का तेरहवाँ 'परिणामपद' है ।
- 'परिणाम' शब्द के यहाँ दो अर्थ अभिप्रेत हैं—(१) किसी भी द्रव्य का सर्वथा विनाश या सर्वथा अवस्थान न होकर एक पर्याय से दूसरे पर्याय (अवस्था) में जाना **परिणाम** है अथवा (२) पूर्ववर्ती सत्पर्याय की अपेक्षा से विनाश और उत्तरवर्ती असत्पर्याय की अपेक्षा से प्रादुर्भाव होना **परिणाम** है ।[1] प्रस्तुत पद में जीव और अजीव दोनों के परिणामों का विचार किया गया है ।
- भारतीय दर्शनों में सांख्य आदि दर्शन परिणामवादी हैं, जबकि न्याय आदि दर्शन परिणामवादी नहीं हैं । धर्म और धर्मी का अभेद मानने वाले दार्शनिक परिणामवाद को स्वीकार करते हैं और जो दार्शनिक धर्म और धर्मी का आत्यन्तिक भेद मानते हैं, उन्होंने परिणामवाद को नहीं माना । किसी भी वस्तु का सर्वथा विनाश नहीं हो जाता, किन्तु उसका रूपान्तर या अवस्थान्तर होता है । पूर्वरूप का नाश होता है, तो उत्तररूप का उत्पाद होता है, यही परिणामवाद का मूलाधार है । इसीलिए जैनदर्शन के मूर्धन्य ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में बताया—**'तद्भावः परिणामः'** (अर्थात्—उसका होना, यानी स्वरूप में स्थित रहते हुए उत्पन्न तथा नष्ट होना परिणाम है । (इस दृष्टि से मनुष्यादि गति, इन्द्रिय, योग, लेश्या, कषाय, आदि विभिन्न अपेक्षाओं से जीव चाहे जिस रूप में या अवस्था (पर्याय) में उत्पन्न या विनष्ट होता हो उसमें आत्मत्व अर्थात् मूल जीवद्रव्यत्व ध्रुव रहता है । इसी प्रकार अजीव का अपने मूल स्वरूप में रहते हुए विभिन्न रूपान्तरों या अवस्थान्तरों में परिणमन होना अजीव-परिणाम है ।
- प्रस्तुत पद में इसी परिणामिनित्यता का अनुसरण करते हुए सर्वप्रथम जीव के परिणामों के भेद-प्रभेद बताए हैं, तत्पश्चात् नारकादि चौबीस दण्डकों में उनका विचार किया गया है । तदनन्तर अजीव के परिणामों के भेद-प्रभेदों की गणना की है । अजीवपरिणामों में यहाँ सिर्फ पुद्गल के परिणामों की गणना प्रस्तुत की गई है, धर्मास्तिकायादि अरूपी द्रव्यों के परिणामों की नहीं है । सम्भव है, अजीवपरिणामों में अगुरु-लघु परिणाम (जो कि एक ही प्रकार का बताया गया है) में धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन अरूपी द्रव्यों के परिणाम का समावेश किया हो ।[3]

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक २८४

२. (क) पण्णवणासुत्तं भा. २, परिमाणपद की प्रस्तावना पृ. ९३ (ख) तत्त्वार्थ, अ. ५ सू ४१
(ग) द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च । तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम् । — पात. भाष्य ४, ३३

३. (क) प्रज्ञापना. म. वृ., पत्रांक २८९ (ख) पण्णवणासुत्तं भा. १, पृ. २३०-२३१

तेरसमं परिणामपयं

तेरहवाँ परिणामपद

परिणाम और उसके दो प्रकार

९२५. कतिविहे णं भंते ! परिणामे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे परिणामे पण्णत्ते । तं जहा—जीवपरिणामे य अजीवपरिणामे य ।

[९२५ प्र.] भगवन् ! परिणाम कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

[९२५ उ.] गौतम ! परिणाम के दो प्रकार कहे गये हैं। वे इस प्रकार—जीव-परिणाम और अजीव-परिणाम।

विवेचन परिणाम और उसके दो प्रकार—प्रस्तुत सूत्र में परिणाम के दो भेदों- जीव-परिणाम और अजीवपरिणाम का निरूपण किया गया है।

'परिणाम' की व्याख्या—'परिणाम' शब्द यहाँ पारिभाषिक है। उसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है- परिणमन होना, अर्थात्—किसी द्रव्य की एक अवस्था बदल कर दूसरी अवस्था हो जाना। परिणाम नयों के भेद से विविध और विचित्र प्रकार का होता है। नैगम आदि अनेक नय हैं, परन्तु समस्त नयों के संग्राहक मुख्य दो नय हैं द्रव्यास्तिकनय और पर्यायास्तिकनय। अतः द्रव्यास्तिकनय के अनुसार परिणाम (परिणमन) का अर्थ होता है—त्रिकालस्थायी (सत्) पदार्थ ही उत्तरपर्याय रूप धर्मान्तर को प्राप्त होता है, ऐसी स्थिति में पूर्वपर्याय का न तो सर्वथा (एकान्तरूप से) अवस्थान और न ही एकान्तरूप से विनाश ही परिणाम है। कहा भी है --परिणाम के वास्तविकरूप के ज्ञाता, द्रव्य का एक पर्याय से दूसरे पर्याय (अर्थान्तर) में जाना ही परिणाम मानते हैं, क्योंकि द्रव्य का न तो सर्वथा अवस्थान होता है और न सर्वथा विनाश। किन्तु पर्यायार्थिकनय के अनुसार पूर्ववर्ती सत्पर्याय की अपेक्षा विनाश होना और उत्तरकालिक असत्पर्याय की अपेक्षा से प्रादुर्भाव होना परिणाम कहलाता है।[1]

परिणाम के दो प्रकार : क्यों और कैसे ?—परिणाम वैसे तो अनेक प्रकार के होते हैं, किन्तु मुख्यतया दो द्रव्यों का आधार लेकर परिणाम होते हैं, इसलिए शास्त्रकार ने परिणाम के दो मुख्य प्रकार बताए हैं -जीवपरिणाम और अजीवपरिणाम। जीव के परिणाम को जीवपरिणाम और अजीव के परिणाम को अजीवपरिणाम कहते हैं।

१. (क) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति., पत्रांक २८४
(ख) 'परिणमनं परिणामः।'
'परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं, न च सर्वथा व्यवस्थानम्।
न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥१॥'
सत्पर्यायेण विनाशः प्रादुर्भावोऽसद्भावपर्ययतः। द्रव्याणां परिणामः प्रोक्तः खलु पर्ययनयस्य ॥२॥

दशविध जीवपरिणाम और उसके भेद-प्रभेद

९२६. जीवपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दसविहे पण्णत्ते । तं जहा गतिपरिणामे १ इंदियपरिणामे २ कसायपरिणामे ३ लेसापरिणामे ४ जोगपरिणामे ५ उवओगपरिणामे ६ णाणपरिणामे ७ दंसणपरिणामे ८ चरित-परिणामे ९ वेदपरिणामे १० ।

[९२६ प्र.] भगवन् ! जीवपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९२६ उ.] गौतम ! (जीवपरिणाम) दस प्रकार का कहा है । वह इस प्रकार— (१) गति-परिणाम, (२) इन्द्रियपरिणाम, (३) कषायपरिणाम, (४) लेश्यापरिणाम, (५) योगपरिणाम, (६) उपयोगपरिणाम, (७) ज्ञानपरिणाम, (८) दर्शनपरिणाम, (९) चारित्रपरिणाम और (१०) वेद-परिणाम ।

९२७. गतिपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउविहे पण्णत्ते । तं जहा—णिरयगतिपरिणामे १ तिरियगतिपरिणामे २ मणुय-गतिपरिणामे ३ देवगतिपरिणामे ४ ।

[९२७ प्र.] भगवन् ! गतिपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९२७ उ.] गौतम ! (गतिपरिणाम) चार प्रकार का कहा गया है । वह इस प्रकार - (१) निरयगतिपरिणाम (२) तिर्यंग्गतिपरिणाम (३) मनुष्यगतिपरिणाम और (४) देवगतिपरिणाम ।

९२८. इंदियपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा—सोइंदियपरिणामे १ चक्खिंदियपरिणामे २ घाणिंदिय-परिणामे ३ जिब्भिंदियपरिणामे ४ फासिंदियपरिणामे ५ ।

[९२८ प्र.] भगवन् ! इन्द्रियपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९२८ उ.] गौतम ! पांच प्रकार का कहा गया है—(१) श्रोत्रेन्द्रियपरिणाम, (२) चक्षु-रिन्द्रियपरिणाम, (३) घ्राणेन्द्रियपरिणाम, (४) जिह्वेन्द्रियपरिणाम और (५) स्पर्शेन्द्रियपरिणाम ।

९२९. कसायपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—कोहकसायपरिणामे १ माणकसायपरिणामे २ माया-कसायपरिणामे ३ लोभकसायपरिणामे ४ ।

[९२९ प्र.] भगवन् ! कषायपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९२९ उ.] गौतम ! कषायपरिणाम चार प्रकार का है । वह इस प्रकार -(१) क्रोध-कषायपरिणाम, (२) मानकषायपरिणाम, (३) मायाकषायपरिणाम और (४) लोभकषायपरिणाम ।

९३०. लेस्सापरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! छव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—कण्हलेस्सापरिणामे १ णीललेस्सापरिणामे २ काउ-लेस्सापरिणामे ३ तेउलेस्सापरिणामे ४ पम्हलेस्सापरिणामे ५ सुक्कलेस्सापरिणामे ६ ।

[९३० प्र.] भगवन् ! लेश्यापरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९३० उ.] गौतम ! (लेश्यापरिणाम) छह प्रकार का कहा है, वह इस प्रकार- (१) कृष्णलेश्यापरिणाम, (२) नीललेश्यापरिणाम, (३) कापोतलेश्यापरिणाम, (४) तेजोलेश्यापरिणाम, (५) पद्मलेश्यापरिणाम और (६) शुक्ललेश्यापरिणाम ।

९३१. जोगपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते । तं जहा—मणजोगपरिणामे १ वइजोगपरिणामे २ कायजोगपरिणामे ३ ।

[९३१ प्र.] भगवन् ! योगपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ।

[९३१ उ.] गौतम ! (योगपरिणाम) तीन प्रकार का है— (१) मनोयोगपरिणाम, (२) वचनयोगपरिणाम और (३) काययोगपरिणाम ।

९३२. उवओगपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—सागारोवओगपरिणामे य अणागारोवओगपरिणामे य ।

[९३२ प्र.] भगवन् ! उपयोगपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९३२ उ.] गौतम ! (उपयोगपरिणाम) दो प्रकार का कहा है—(१) साकारोपयोगपरिणाम और (२) अनाकारोपयोगपरिणाम ।

९३३. णाणपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा –आभिणिबोहियनाणपरिणामे १ सुयणाणपरिणामे २ ओहिणाणपरिणामे ३ मणपज्जवणाणपरिणामे ४ केवलणाणपरिणामे ५ ।

[९३३ प्र.] भगवन् ! ज्ञानपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९३३ उ.] गौतम ! (ज्ञानपरिणाम) पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार— (१) आभिनिबोधिकज्ञानपरिणाम, (२) श्रुतज्ञानपरिणाम, (३) अवधिज्ञानपरिणाम, (४) मनःपर्यवज्ञानपरिणाम और (५) केवलज्ञानपरिणाम ।

९३४. अण्णाणपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते । तं जहा - मतिअण्णाणपरिणामे १ सुयअण्णाणपरिणामे २ विभंगणाणपरिणामे ३ ।

[९३४ प्र.] भगवन् ! अज्ञानपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९३४ उ.] गौतम ! (अज्ञानपरिणाम) तीन प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार— (१) मति-अज्ञानपरिणाम, (२) श्रुत-अज्ञानपरिणाम और (३) विभंगज्ञानपरिणाम ।

९३५. दंसणपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते । तं जहा—सम्मद्दंसणपरिणामे १ मिच्छादंसणपरिणामे २ सम्मामिच्छादंसणपरिणामे ३ ।

[९३५ प्र.] भगवन् ! दर्शनपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९३५ उ.] गौतम ! (दर्शनपरिणाम) तीन प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—(१) सम्यग्दर्शनपरिणाम, (२) मिथ्यादर्शनपरिणाम और (३) सम्यग्मिथ्यादर्शनपरिणाम।

९३६. चरित्तपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा—सामाइयचरित्तपरिणामे १ छेदोवट्ठावणियचरित्तपरिणामे २ परिहारविसुद्धियचरित्तपरिणामे ३ सुहुमसंपरायचरित्तपरिणामे ४ अहक्खायचरित्तपरिणामे ।

[९३६ प्र.] भगवन् ! चारित्रपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९३६ उ.] गौतम ! (चारित्रपरिणाम) पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—(१) सामायिकचारित्रपरिणाम, (२) छेदोपस्थापनीयचारित्रपरिणाम, (३) परिहारविशुद्धिचारित्रपरिणाम, (४)सूक्ष्मसम्परायचारित्रपरिणाम और (५) यथाख्यातचारित्रपरिणाम।

९३७. वेयपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते । तं जहा इत्थिवेयपरिणामे १ पुरिसवेयपरिणामे २ णपुंसगवेयपरिणामे ३ ।

[९३७ प्र.] भगवन् ! वेदपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९३७ उ.] गौतम ! (वेदपरिणाम) तीन प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—(१) स्त्रीवेदपरिणाम (२) पुरुषवेदपरिणाम और (३) नपुंसकवेदपरिणाम।

विवेचन—दशविध जीवपरिणाम और उसके भेद-प्रभेद प्रस्तुत १२ सूत्रों (सू. ९२६ से ९३७ तक) में गतिपरिणाम आदि १० प्रकार के जीवपरिणामों का उल्लेख करके प्रत्येक के भेदों का निरूपण किया गया है।

गतिपरिणाम आदि की व्याख्या—(१) **गति-परिणाम** - नरकादि गति नामकर्म के उदय से जिसकी प्राप्ति हो, उसे 'गति' कहते हैं, नरकादिगतिरूप परिणाम, अर्थात् नारकत्व आदि पर्यायपरिणति जीव का गतिपरिणाम है। (२) **इन्द्रिय-परिणाम**—इन्दन होने से,—अर्थात्—ज्ञानरूप परम-ऐश्वर्य के योग से आत्मा 'इन्द्र' कहलाता है। जो इन्द्र का लिंग साधन हो, वह इन्द्रिय है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि (इन्द्र) आत्मा का जो मुख्य साधन (करण) हो, वह इन्द्रिय है। इन्द्रियरूप परिणाम इन्द्रियपरिणाम है। (३) **कषायपरिणाम**—जिसमें प्राणी परस्पर एक-दूसरे का कर्षण—हिंसा (घात) करते हैं, उसे 'कष' कहते हैं या जो कष अर्थात्—संसार को प्राप्त कराते हैं, वे कषाय हैं। जीव की कषायरूप परिणति को कषायपरिणाम कहते हैं। (४) **लेश्यापरिणाम**—लेश्या का स्वरूप आगे कहा जाएगा। लेश्यारूप परिणमन को लेश्यापरिणाम कहते हैं। (५) **योगपरिणाम**—मन, वचन एवं काय के व्यापार को योग कहते हैं। योगरूप परिणमन योगपरिणाम है। (६) **उपयोग-परिणाम**—चेतनाशक्ति के व्यापार रूप साकार-अनाकार-ज्ञानदर्शनात्मक परिणाम को कहते हैं। उपयोगरूप परिणाम उपयोगपरिणाम हैं। (७) **ज्ञानपरिणाम**—मतिज्ञानादिरूप परिणाम को ज्ञानपरिणाम कहते हैं। (८) **दर्शनपरिणाम**—सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणाम दर्शन-परिणाम है।

(९) **चारित्रपरिणाम**—जीव का सामायिक-आदि चारित्ररूप परिणाम चारित्रपरिणाम है। (१०) **वेदपरिणाम**—स्त्रीवेद आदि के रूप में जीव का परिणमन वेदपरिणाम है।

दशविध जीवपरिणामों के क्रम की संगति—औदयिक आदि भाव के आश्रित सभी भाव गतिपरिणाम के बिना प्रादुर्भूत नहीं होते। इसलिए सर्वप्रथम गतिपरिणाम का प्रतिपादन किया गया है। गतिपरिणाम के होने पर इन्द्रियपरिणाम अवश्य होता है, इसलिए उसके पश्चात् इन्द्रियपरिणाम कहा है। इन्द्रियपरिणाम के पश्चात् इष्ट-अनिष्ट विषय के सम्पर्क से राग-द्वेषपरिणाम उत्पन्न होता है। अतः इसके बाद कषायपरिणाम कहा है। कषायपरिणाम लेश्यापरिणाम का अविनाभावी है किन्तु लेश्यापरिणाम कषायपरिणाम के बिना भी होता है। इसलिए कषायपरिणाम के पश्चात् लेश्यापरिणाम का निर्देश है। लेश्यापरिणाम योगपरिणामात्मक है, इसलिए लेश्यापरिणाम के अनन्तर योगपरिणाम का निर्देश किया है। योगपरिणत संसारी जीवों का उपयोगपरिणाम होता है, इसलिए योगपरिणाम के पश्चात् उपयोगपरिणाम का क्रम है। उपयोगपरिणाम होने पर ज्ञान-परिणाम उत्पन्न होता है। इस कारण उपयोगपरिणाम के अनन्तर ज्ञानपरिणाम कहा है। ज्ञानपरिणाम के दो रूप हैं—सम्यग्ज्ञानपरिणाम और मिथ्याज्ञानपरिणाम। ये दोनों परिणाम क्रमशः सम्यक्त्व, मिथ्यात्व (सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन) के बिना नहीं होते, इसलिए ज्ञानपरिणाम के अनन्तर दर्शन-परिणाम कहा है। सम्यग्दर्शन-परिणाम के होने पर जीवों द्वारा जिन भगवान् के वचनश्रवण से अपूर्व-अपूर्व संवेग का आविर्भाव होने पर चारित्रावरणकर्म के क्षय-क्षयोपशम से चारित्रपरिणाम उत्पन्न होता है। इसलिए दर्शनपरिणाम के अनन्तर चारित्रपरिणाम कहा गया है। चारित्रपरिणाम के प्रभाव से महासत्त्वपुरुष वेदपरिणाम का विनाश करते हैं, इसलिए चारित्रपरिणाम के अनन्तर वेद-परिणाम का प्रतिपादन किया गया है।[1]

नैरयिकों में दशविध-परिणामों की प्ररूपणा

९३८. णेरइया गतिपरिणामेणं णिरयगतिया, इंदियपरिणामेणं पंचिंदिया, कसायपरिणामेणं कोहकसाई वि जाव लोभकसाई वि, लेस्सापरिणामेणं कण्हलेस्सा वि णीललेस्सा वि काउलेस्सा वि, जोगपरिणामेणं मणजोगी वि वइजोगी वि कायजोगी वि, उवओगपरिणामेणं सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि, णाणपरिणामेणं आभिणिबोहियणाणी वि सुयणाणी वि ओहिणाणी वि, अण्णाण-परिणामेणं मतिअण्णाणी वि सुयअण्णाणी वि विभंगणाणी वि, दंसणपरिणामेणं सम्मद्दिट्ठी वि मिच्छ-द्दिट्ठी वि सम्मामिच्छद्दिट्ठी वि, चरित्तपरिणामेणं णो चरित्ती णो चरित्ताचरित्ती अचरित्ती, वेद-परिणामेणं णो इत्थिवेयगा णो पुरिसवेयगा णपुंगवेयगा।

[९३८] नैरयिक जीव गतिपरिणाम की अपेक्षा नरकगतिक (नरकगति वाले) हैं; इन्द्रिय-परिणाम से पंचेन्द्रिय हैं; कषायपरिणाम से क्रोधकषायी यावत् लोभकषायी हैं; लेश्यापरिणाम से कृष्णलेश्यावान् भी हैं, नीललेश्यावान् भी और कापोतलेश्यावान् भी हैं; योगपरिणाम से वे मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी भी हैं, उपयोगपरिणाम से साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) वाले भी हैं, और अनाकारोपयोग (दर्शनोपयोग) वाले भी हैं; ज्ञानपरिणाम से (वे) आभिनिबोधिक (मति) ज्ञानी भी हैं, श्रुतज्ञानी भी हैं और अवधिज्ञानी भी हैं, अज्ञानपरिणाम से (वे) मति-अज्ञानी भी हैं,

१. प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक २८५

भूत अज्ञानी भी और विभंगज्ञानी भी हैं; दर्शनपरिणाम से वे सम्यग्दृष्टि भी हैं, मिथ्यादृष्टि भी हैं और सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी हैं ; चारित्रपरिणाम से (वे) न तो चारित्री हैं, न चारित्राचारित्री हैं, किन्तु अचारित्री हैं; वेदपरिणाम से नारकजीव न स्त्रीवेदी हैं, न पुरुषवेदी, किन्तु नपुंसकवेदी हैं।

विवेचन—नैरयिकों में दशविधपरिणामों की प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र (९३८) में जीवपरिणामों के दस प्रकारों में से नारकों में कौन-कौन-सा परिणाम किस रूप में पाया जाता है, इसकी प्ररूपणा की गई है।

नैरयिकों में तीन लेश्याएँ ही क्यों ?—नारकों में प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ होती हैं, शेष तीन लेश्याएँ नहीं होतीं। इनमें से भी रत्नप्रभा और शर्कराप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में कापोतलेश्या, वालुकाप्रभा के नारकों में कापोत और नीललेश्या, पंकप्रभापृथ्वी के नारकों में नीललेश्या, धूमप्रभा-पृथ्वी के नारकों में नील और कृष्णालेश्या तथा तमःप्रभा और तमस्तमःप्रभापृथ्वी के नारकों में सिर्फ कृष्णलेश्या ही होती है। इसलिए लेश्यापरिणाम की दृष्टि से समुच्चय नारकों को प्रारम्भ की तीन लेश्याओं वाला कहा है।

नारकों में चारित्रपरिणाम क्यों नहीं ? चारित्रपरिणाम की दृष्टि से नारकजीव न तो चारित्री होते हैं और न ही चारित्राचारित्री (देशचारित्री), वे अचारित्री ही रहते हैं। सम्पूर्ण चारित्र मनुष्यों के ही सम्भव है तथा देशचारित्र मनुष्य और तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय में ही हो सकता है, इसलिए नारकों में चारित्रपरिणाम बिलकुल नहीं होता।

वेदपरिणाम से नारक नपुंसकवेदी ही क्यों ? नारक न तो स्त्री और न पुरुष होते हैं; इसलिए नारक सिर्फ नपुंसकवेदी ही होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है—'नारक और सम्मूर्च्छिम जीव नपुंसक होते हैं।'[1]

असुरकुमारादि भवनवासियों की परिणामसम्बन्धी प्ररूपणा

९३९. [१] असुरकुमारा वि एवं चेव। नवरं देवगतिया, कण्हलेसा वि जाव तेउलेसा वि, वेदपरिणामेणं एत्थिवेयगा वि पुरिसवेयगा वि, णो णपुंसगवेयगा। सेसं तं चेव।

[९३९-१] असुरकुमारों की (परिणामसम्बन्धी वक्तव्यता) भी इसी प्रकार जाननी चाहिए। विशेषता यह है कि (वे गतिपरिणाम से) देवगतिक होते हैं; (लेश्यापरिणाम से) कृष्ण लेश्यावान् भी होते हैं तथा नील, कापोत एवं तेजोलेश्या वाले भी होते हैं; वेदपरिणाम से वे स्त्रीवेदक भी होते हैं, पुरुषवेदक भी होते हैं, किन्तु नपुंसकवेदक नहीं होते। (इसके अतिरिक्त) शेष (सब) कथन उसी तरह (पूर्ववत्) समझना चाहिए।

[२] एवं जाव थणियकुमारा।

[९३९-२] इसी प्रकार (असुरकुमारों के समान नागकुमारों से लेकर) स्तनितकुमारों तक (की परिणामसम्बन्धी प्ररूपणा करनी चाहिए।)

---

१. 'नारक-सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि'—तत्त्वार्थ. अ. २ सू. ५०
प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक २८७

विवेचन-- **असुरकुमारादि भवनवासियों की परिणामसम्बन्धी प्ररूपणा**—प्रस्तुत सूत्र (९३९) में असुरकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों तक दस प्रकार के भवनवासी देवों के दशविध परिणामों की प्ररूपणा कुछेक बातों को छोड़कर नारकों के अतिदेशपूर्वक की गई है।

भवनवासी देवों का नारकों से कुछ परिणामों में अन्तर- भवनवासी देवों के अधिकतर परिणाम तो नैरयिकों के समान ही होते हैं, कुछ परिणामों में अन्तर है, जैसे कि वे गतिपरिणाम से देवगतिवाले होते हैं। लेश्यापरिणाम की अपेक्षा से नारकों की तरह उनमें भी प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ होती हैं, किन्तु महर्द्धिक भवनवासी देवों के चौथी तेजोलेश्या भी होती है। वेदपरिणाम की दृष्टि से वे नारकों की तरह नपुंसकवेदी नहीं होते, क्योंकि देव नपुंसक नहीं होते;[1] अतः भवनवासियों में स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी ही होते हैं।[2]

एकेन्द्रिय से तिर्यंचपंचेन्द्रिय जीवों तक के परिणामों की प्ररूपणा

९४० [१] पुढविकाइया गतिपरिणामेणं तिरियगतिया, इंदियपरिणामेणं एगिंदिया, सेसं जहा णेरइयाणं (सु.९३८)। णवरं लेस्सापरिणामेणं तेउलेस्सा वि, जोगपरिणामेणं कायजोगी, णाणपरिणामो णत्थि, अण्णाणपरिणामेणं मतिअण्णाणी वि सुयअण्णाणी वि, दंसणपरिणामेणं मिच्छद्दिट्ठी। सेसं तं चेव।

[९४०-१] पृथ्वीकायिकजीव गतिपरिणाम से तिर्यञ्चगतिक हैं, इन्द्रियपरिणाम से एकेन्द्रिय हैं, शेष (सब परिणामों की वक्तव्यता) नैरयिकों के समान (समझनी चाहिए।) विशेषता यह है कि लेश्यापरिणाम से (ये) तेजोलेश्या वाले भी होते हैं। योगपरिणाम से (ये सिर्फ) काययोगी होते हैं, इनमें ज्ञानपरिणाम नहीं होता। अज्ञानपरिणाम से ये मति-अज्ञानी भी होते हैं, श्रुत-अज्ञानी भी; (किन्तु विभंगज्ञानी नहीं होते।) दर्शनपरिणाम से (ये केवल) मिथ्यादृष्टि होते हैं, (सम्यग्दृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते।) शेष (सब वर्णन) उसी प्रकार (पूर्ववत् जानना चाहिए।)

[२] एवं आउ-वणप्फइकाइया वि।

[९४०-२] इसी प्रकार (की परिणामसम्बन्धी वक्तव्यता) अप्कायिक एवं वनस्पतिकायिकों की (समझनी चाहिए।)

[३] तेऊ वाऊ एवं चेव। णवरं लेस्सापरिणामेणं जहा णेरइया (सु. ९३८)।

[९४०-३] तेजस्कायिकों एवं वायुकायिकों की भी (परिणामसम्बन्धी वक्तव्यता) इसी प्रकार है। विशेष यह है कि लेश्यापरिणाम से लेश्यासम्बन्धी प्ररूपणा (सू.९३८ में उल्लिखित) नैरयिकों के समान (तीन लेश्याएँ समझनी चाहिए।)

९४१. [१] बेइंदिया गतिपरिणामेणं तिरियगतिया, इंदियपरिणामेणं बेइंदिया, सेसं जहा णेरइयाणं (सु. ९३८)। णवरं जोगपरिणामेणं वइजोगी वि कायजोगी वि, णाणपरिणामेणं आभिणि-

---

१. 'न देवाः'—तत्वार्थ. अ. २, सू. ५१

२. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २८७

बोहियणाणी वि सुयणाणी वि, अण्णाणपरिणामेणं मतिअण्णाणी वि सुयअण्णाणी वि, णो विभंगणाणी, दंसणपरिणामेणं सम्मद्दिट्ठी वि, मिच्छद्दिट्ठी वि, णो सम्मामिच्छद्दिट्ठी। सेसं तं चेव।

[९४१-१] द्वीन्द्रियजीव गतिपरिणाम से तिर्यञ्चगतिक हैं, इन्द्रियपरिणाम से (वे) द्वीन्द्रिय (दो इन्द्रियों वाले) होते हैं। शेष (सब परिणामों का निरूपण) (सू. ९३८ में उल्लिखित) नैरयिकों की तरह (समझना चाहिए।) विशेषता यह कि (वे) योगपरिणाम से वचनयोगी भी होते हैं, काययोगी भी; ज्ञानपरिणाम से आभिनिबोधिक ज्ञानी भी होते हैं और श्रुतज्ञानी भी; अज्ञानपरिणाम से मति-अज्ञानी भी होते हैं और श्रुत-अज्ञानी भी; (किन्तु वे) विभंगज्ञानी नहीं होते। दर्शनपरिणाम से वे सम्यग्दृष्टि भी होते हैं और मिथ्यादृष्टि भी; (किन्तु) सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते। शेष (सब वर्णन) उसी तरह (पूर्वोक्त नैरयिकवत् समझना चाहिए।)

[२] एवं जाव चउरिंदिया। णवरं इंदियपरिवुड्ढी कायव्वा।

[९४१-२] इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रियजीवों (त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) तक समझना चाहिए। विशेष यह है कि (त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय में उत्तरोत्तर एक-एक) इन्द्रिय की वृद्धि कर लेनी चाहिए।

९४२. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया गतिपरिणामेणं तिरियगतीया। सेसं जहा णेरइयाणं (सु. ९३८)। णवरं लेस्सापरिणामेणं जाव सुक्कलेस्सा वि, चरित्तपरिणामेणं णो चरित्ती, अचरित्ती वि चरित्ताचरित्ती वि, वेदपरिणामेणं इत्थिवेयगा वि पुरिसवेयगा वि णपुंसगवेयगा वि।

[९४२] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव गतिपरिणाम से तिर्यञ्चगतिक हैं। शेष (सू. ९३८ में) जैसे नैरयिकों का (परिणामसम्बन्धी कथन) है; (वैसे ही समझना चाहिए।) विशेष यह है कि लेश्यापरिणाम से (वे कृष्णलेश्या से लेकर) यावत् शुक्ललेश्या वाले भी होते हैं; चारित्रपरिणाम से वे (पूर्ण) चारित्री नहीं होते, अचारित्री भी होते हैं और चारित्राचारित्री (देशचारित्री) भी; वेद-परिणाम से वे स्त्रीवेदक भी होते हैं, पुरुषवेदक भी और नपुंसकवेदक भी होते हैं।

एकेन्द्रिय से तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों तक के परिणामों की प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों में से सू. ९४० में एकेन्द्रियों के, सू. ९४१ में विकलेन्द्रियों (द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियों) तथा सू. ९४२ में पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों की परिणामसम्बधी प्ररूपणा कुछेक बातों को छोड़कर नैरयिकजीवों के समान अतिदेशपूर्वक की गई है।

इनसे नैरयिकों के परिणामसम्बन्धी निरूपण में अन्तर—गतिपरिणाम से नैरयिक नरकगतिक होते हैं, जबकि एकेन्द्रिय से लेकर तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय तक तिर्यञ्चगतिक होते हैं; इन्द्रियपरिणाम से नैरयिक पंचेन्द्रिय होते हैं, जबकि पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय सिर्फ एक स्पर्शेन्द्रिय वाले, द्वीन्द्रिय स्पर्शनेन्द्रिय एवं रसनेन्द्रिय, इन दो इन्द्रियों वाले, त्रीन्द्रिय स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, एवं घ्राणेन्द्रिय, इन तीन इन्द्रियों वाले तथा चतुरिन्द्रिय स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय एवं चक्षुरिन्द्रिय, इन चार इन्द्रियों वाले एवं तिर्यंचपंचेन्द्रिय पांच इन्द्रियों (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) वाले होते हैं। लेश्यापरिणाम से—नारकों में आदि की तीन लेश्याएँ होती हैं, जबकि (पृथ्वी-अप्-वनस्पतिकायिक) एकेन्द्रियों में चौथी तेजोलेश्या भी होती है; क्योंकि सौधर्म और ईशान देवलोक तक के देव भी इनमें

उत्पन्न हो सकते हैं। तेजस्कायिक-वायुकायिकों में नारकों की तरह प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ ही होती हैं। तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों में शुक्ललेश्या तक छहों लेश्याएँ सम्भव हैं। योगपरिणाम से नारकों में तीनों योग पाए जाते हैं, जबकि पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय सिर्फ काययोगी होते हैं, विकलेन्द्रिय वचन-योगी और काययोगी तथा तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय तीनों योगों वाले होते हैं। ज्ञानपरिणाम से नारक तीन ज्ञान वाले होते हैं, जबकि एकेन्द्रियों में ज्ञानपरिणाम नहीं होता, क्योंकि पृथ्वीकायिकादि पंचों में सास्वादनसम्यक्त्व का भी आगमों में निषेध है, इसलिए इनमें ज्ञान का निषेध किया गया है। विकलेन्द्रिय आभिनिबोधिकज्ञानी और श्रुतज्ञानी भी होते हैं, क्योंकि कोई-कोई द्वीन्द्रिय जीव करणापर्याप्त-अवस्था में सास्वादनसम्यक्त्वी भी पाए जाते हैं, इसलिए उन्हें ज्ञानद्वयपरिणत कहा है। पंचेन्द्रियतिर्यंचों को नारकों की तरह तीन ज्ञान होते हैं। अज्ञानपरिणाम से नरक तीनों अज्ञानों से परिणत होते हैं, जबकि सम्यक्त्व के अभाव में एकेन्द्रियों एवं विकलेन्द्रिय जीवों में मति-अज्ञान और श्रुत अज्ञान ये दो अज्ञान होते हैं, विभंगज्ञान नहीं; तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों में तीनों अज्ञान होते हैं। दर्शनपरिणाम से नारकजीव तीनों दृष्टियों से युक्त होते हैं, जबकि एकेन्द्रिय सिर्फ मिथ्यादृष्टि, विकलेन्द्रिय सास्वादनसम्यक्त्व की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि तथा तिर्यंचपंचेन्द्रिय तीनों दृष्टियों वाले होते हैं। वेदपरिणाम की दृष्टि से नारकों की तरह एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय जीव नपुंसकवेदी ही होते हैं, जबकि तिर्यंचपंचेन्द्रिय तीनों वेद (स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद) वाले होते हैं। चारित्रपरिणाम से एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में तो नारकों की तरह चारित्रपरिणाम सर्वथा असम्भव है, तिर्यंचपंचेन्द्रियों में देशतः चारित्रपरिणाम सम्भव है।[1] ये परिणाम समुच्चय नारकों आदि की अपेक्षा से कहे गए हैं, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। यही नारकों से इनमें परिणामसम्बन्धी अन्तर है।

मनुष्यों की परिणामसम्बन्धी प्ररूपणा

९४३. मणुस्सा गतिपरिणामेणं मणुयगतिया, इंदियपरिणामेणं पंचेंदिया अणिंदिया वि, कसायपरिणामेणं कोहकसाई वि जाव अकसाई वि, लेस्सापरिणामेणं कण्हलेस्सा वि जाव अलेस्सा वि, जोगपरिणामेणं मणजोगी वि जाव अजोगी वि, उवओगपरिणामेणं जहा णेरइया (सु. ९३८), णाण-परिणामेणं आभिणिबोहियणाणी वि जाव केवलणाणी वि, अण्णाणपरिणामेणं तिण्णि वि अण्णाणा, दंसणपरिणामेणं तिण्णि वि दंसणा, चरित्तपरिणामेणं चरित्ती वि अचरित्ती वि चरित्ताचरित्ती वि, वेदपरिणामेणं इत्थिवेयगा वि पुरिसवेयगा वि नपुंसगवेयगा वि अवेयगा वि।

[९४३] मनुष्य, गतिपरिणाम से मनुष्यगतिक हैं; इन्द्रियपरिणाम से पंचेन्द्रिय होते हैं, अनिन्द्रिय भी; कषायपरिणाम से क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी तथा अकषायी भी होते हैं; लेश्यापरिणाम से कृष्णलेश्या से शुक्ललेश्या वाले तक तथा अलेश्यी भी होते हैं; योगपरिणाम से मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी तथा अयोगी भी होते हैं; उपयोगपरिणाम से (सू. ९३८ में उल्लिखित) नैरयिकों के (उपयोगपरिणाम के) समान हैं; ज्ञानपरिणाम से (वे) आभिनिबोधिकज्ञानी से यावत् केवलज्ञानी तक भी होते हैं; अज्ञानपरिणाम से (इनमें) तीनों ही

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २८७

(ख) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ), पृ. २३०-२३१

अज्ञान वाले होते हैं; दर्शनपरिमाण से (इनमें) तीनों ही दर्शन (सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन और सम्यग्मिथ्यादर्शन) होते हैं; चारित्रपरिणाम से (ये) चारित्री भी होते हैं, अचारित्री भी और चारित्राचारित्री (देशचारित्री) भी होते हैं; वेदपरिणाम से (ये) स्त्रीवेदक, पुरुषवेदक एवं नपुंसक-वेदक भी तथा अवेदक भी होते हैं।

विवेचन मनुष्यों की परिणामसम्बन्धी प्ररूपणा प्रस्तुत सूत्र (९४३) में मनुष्यों (समुच्चय मनुष्यजाति) की गति आदि दसों परिणामों की अपेक्षा से विचारणा की गई है।

विशेषता मनुष्य कई परिणामों से अन्य जीवों से विशिष्ट हैं तथा कई परिणामों से अतीत भी होते हैं, जैसे अनिन्द्रिय, अकषायी, अलेश्यी, अयोगी, केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवेदक आदि।[1]

वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की परिणामसम्बन्धी प्ररूपणा

९४४. वाणमंतरा गतिपरिणामेणं देवगइया जहा असुरकुमारा (सु. ९३९ [१])।

[९४४] वाणव्यन्तर देव गतिपरिणाम से देवगतिक हैं, शेष (समस्त परिणामसम्बन्धी वक्तव्यता) (सू. ९३९-१ में उल्लिखित) असुरकुमारों की तरह (समझना चाहिए।)

९४५. एवं जोतिसिया वि। णवरं लेस्सापरिणामेणं तेउलेस्सा।

[९४५] इसी प्रकार ज्योतिष्कों के समस्त परिणामों के विषय में भी समझना चाहिए। विशेष यह कि लेश्यापरिणाम से (वे सिर्फ) तेजोलेश्या वाले होते हैं।

९४६. वेमाणिया वि एवं चेव। णवरं लेस्सापरिणामेणं तेउलेस्सा वि पम्हलेस्सा वि सुक्क-लेस्सा वि। से त्तं जीवपरिणामे।

[९४६] वैमानिकों की परिणामसम्बन्धी प्ररूपणा भी इसी प्रकार (समझनी चाहिए।) विशेष यह कि लेश्यापरिणाम से वे तेजोलेश्या वाले भी होते हैं, पद्मलेश्या वाले भी और शुक्ल-लेश्या वाले भी होते हैं।

यह जीवप्ररूपणा हुई।

विवेचन—वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की परिणामसम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों में से सू. ९४४ में वाणव्यन्तर देवों की, सू. ९४५ में ज्योतिष्क देवों की एवं सू. ९४६ में वैमानिक देवों की परिणामसम्बन्धी प्ररूपणा कुछेक बातों को छोड़कर असुरकुमारों के अतिदेश-पूर्वक की गई है।

ज्योतिष्कों और वैमानिकों के लेश्यापरिणाम में विशेषता—ज्योतिष्कों में सिर्फ तेजोलेश्या ही होती है, जबकि वैमानिकों में तेजोलेश्या, पद्मलेश्या एवं शुक्ललेश्या ये तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं; तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं।[2]

---

१. पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ), पृ. २३२

२. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २८७ (ख) 'पीतान्तलेश्याः'...तत्त्वार्थ. अ. ४, सू. ७
(ख) पीतपद्मशुक्ललेश्याः द्वि-त्रि-शेषेषु। —तत्त्वार्थ. अ. ४, सू. २३

अजीवपरिणाम और उसके भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा

९४७. अजीवपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दसविहे पण्णत्ते । तं जहा –बंधणपरिणामे १ गतिपरिणामे २ संठाणपरिणामे ३ भेदपरिणामे ४ वण्णपरिणामे ५ गंधपरिणामे ६ रसपरिणामे ७ फासपरिणामे ८ अगरुयलहुयपरिणामे ९ सद्दपरिणामे १० ।

[९४७ प्र.] भगवन् ! अजीवपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९४७ उ.] गौतम ! (अजीवपरिणाम) दस प्रकार का कहा गया है । वह इस प्रकार—(१) बन्धनपरिणाम, (२) गतिपरिणाम, (३) संस्थान परिणाम, (४) भेदपरिणाम, (५) वर्णपरिणाम, (६) गन्धपरिणाम, (७) रसपरिणाम, (८) स्पर्शपरिणाम, (९) अगुरुलघुपरिणाम और (१०) शब्द परिणाम ।

९४८. बंधणपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—निद्धबंधणपरिणामे य लुक्खबंधणपरिणामे य ।

समणिद्धयाए बंधो ण होति, समलुक्खयाए वि ण होति ।
वेमायणिद्ध-लुक्खत्तणेण बंधो उ खंधाणं ॥१९९॥
णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिएणं लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएणं ।
णिद्धस्स लुक्खेणण उवेइ बंधो जहण्णवज्जो विसमो समो वा ॥२००॥

[९४८ प्र.] भगवन् ! बन्धनपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९४८ उ.] गौतम ! (बन्धनपरिणाम) दो प्रकार का है, वह इस प्रकार—(१) स्निग्ध-बन्धनपरिणाम (२) रूक्षबन्धनपरिणाम ।

[गाथार्थ—] सम (समान-गुण) स्निग्धता होने से बन्ध नहीं होता और न ही सम (समान-गुण) रूक्षता होने से भी बन्ध होता है । विमात्रा (विषममात्रा) वाले स्निग्धत्व और रूक्षत्व के होने पर स्कन्धों का बन्ध होता है ॥ १९९॥ दो गुण अधिक स्निग्ध के साथ स्निग्ध का तथा दो गुण अधिक रूक्ष के साथ रूक्ष का एवं स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्ध होता है; किन्तु जघन्यगुण को छोड़ कर, चाहे वह सम हो अथवा विषम हो ॥२००॥

९४९. गतिपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा फुसमाणगतिपरिणामे य अफुसमाणगतिपरिणामे य, अहवा दीहगइपरिणामे य हस्सगइपरिणामे य ।

[९४९ प्र.] भगवन् ! गतिपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९४९ उ.] गौतम ! (गतिपरिणाम) दो प्रकार का कहा है । वह इस प्रकार—(१) स्पृशद्-गतिपरिणाम और (२) अस्पृशद्गतिपरिणाम, अथवा (१) दीर्घगतिपरिणाम और (२) ह्रस्वगति-परिणाम ।

९५०. संठाणपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा—परिमंडलसंठाणपरिणामे जाव आयतसंठाणपरिणामे ।

[९५० प्र.] भगवन् ! संस्थानपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९५० उ.] गौतम ! (संस्थानपरिणाम) पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—(१) परिमण्डलसंस्थानपरिणाम, यावत् [(२) वृत्तसंस्थानपरिणाम, (३) त्र्यस्रसंस्थानपरिणाम, (४) चतुरस्रसंस्थानपरिणाम और] (५) आयतसंस्थानपरिणाम ।

९५१. भेयपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा—खंडाभेदपरिणामे जाव उक्करियाभेदपरिणामे ।

[९५१ प्र.] भगवन् ! भेदपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९५१ उ.] गौतम ! (भेदपरिणाम) पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—(१) खण्डभेदपरिणाम, यावत् [(२) प्रतरभेदपरिणाम, (३) चूर्णिका (चूर्ण) भेदपरिणाम, (४) अनुतटिका-भेदपरिणाम और] (५) उत्कटिका (उत्करिका) भेदपरिणाम ।

९५२. वण्णपरिणामे णं भंते । कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा—कालवण्णपरिणामे जाव सुक्किलवण्णपरिणामे ।

[९५२ प्र.] भगवन् ! वर्णपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९५२ उ.] गौतम ! (वर्णपरिणाम) पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—(१) कृष्णवर्णपरिणाम, यावत् [(२) नीलवर्णपरिणाम, (३) रक्तवर्णपरिणाम, (४) पीतवर्णपरिणाम और] (५) शुक्ल (श्वेत) वर्णपरिणाम ।

९५३. गंधपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—सुब्भिगंधपरिणामे य दुब्भिगंधपरिणामे य ।

[९५३ प्र.] भगवन् ! गन्धपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९५३ उ.] गौतम ! (गन्धपरिणाम) दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—सुगन्ध-परिणाम और दुर्गन्धपरिणाम ।

९५४. रसपरिणामे णं भंते । कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा । पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा—तित्तरसपरिणामे जाव महुररसपरिणामे ।

[९५४ प्र.] भगवन् ! रसपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९५४ उ.] गौतम ! (रसपरिणाम) पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—(१) तिक्तरसपरिणाम, यावत् [(२) कटुरसपरिणाम, (३) कषायरसपरिणाम, (४) अम्ल (खट्टा) रस-परिणाम और] (५) मधुररसपरिणाम ।

९५५. फासपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते । तं जहा—कक्खडफासपरिणामे य जाव लुक्खफासपरिणामे य ।

[९५५ प्र.] भगवन् ! स्पर्शपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९५५ उ.] गौतम ! (स्पर्शपरिणाम) आठ प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—(१)कर्कश (कठोर) स्पर्शपरिणाम, यावत् [(२) मृदुस्पर्शपरिणाम, (३) गुरुस्पर्शपरिणाम, (४) लघुस्पर्श-परिणाम, (५) उष्णस्पर्शपरिणाम, (६) शीतस्पर्शपरिणाम, (७) स्निग्धस्पर्शपरिणाम और] (८) रूक्षस्पर्शपरिणाम।

९५६. अगरुयलहुयपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?
गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते।

[९५६ प्र.] भगवन् ! अगुरुलघुपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९५६ उ.] गौतम ! (अगुरुलघुपरिणाम) एक ही प्रकार का कहा गया है।

९५७. सद्दपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?
गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—सुब्भिसद्दपरिणामे य दुब्भिसद्दपरिणामे य।
से त्तं अजीवपरिणामे।

॥ पण्णवणाए भगवईए तेरसमं परिणामपयं समत्तं ॥

[९५७ प्र.] भगवन् ! शब्दपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९५७ उ.] गौतम ! (शब्दपरिणाम) दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—सुरभि (शुभ—मनोज्ञ) शब्दपरिणाम और दुरभि (अशुभ अमनोज्ञ) शब्दपरिणाम।

यह हुई अजीवपरिणाम की प्ररूपणा !

विवेचन—अजीवपरिणाम तथा उसके भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा—प्रस्तुत ग्यारह सूत्रों (सू. ९४७ से ९५७ तक) में से प्रथम सूत्र (९४७) में अजीवपरिणाम के दस भेदों की तथा शेष दस सूत्रों में उन दस भेदों में से प्रत्येक के प्रभेदों की क्रमशः प्ररूपणा की गई है।

बन्धनपरिणाम की व्याख्या—दो या अधिक पुद्गलों का परस्पर बन्ध (जुड़) जाना, श्लिष्ट हो जाना, एकत्वपरिणाम या पिण्डरूप हो जाना बन्धन या बन्ध है। इसके दो प्रकार हैं—स्निग्धबन्धन-परिणाम और रूक्षबन्धनपरिणाम। स्निग्ध पुद्गल का बन्धनरूप परिणाम स्निग्धबन्धनपरिणाम है और रूक्ष पुद्गल का बन्धनरूप परिणाम रूक्षबन्धनपरिणाम है।

बन्धनपरिणाम के नियम—स्निग्ध का तथा रूक्ष का बन्धनपरिणाम किस प्रकार एवं किस नियम से होता है ? इसे शास्त्रकार दो गाथाओं द्वारा समझाते हैं—यदि पुद्गलों में परस्पर सम-स्निग्धता समगुणस्निग्धता होगी तो उनका बन्ध (बन्धन) नहीं होगा, इसी प्रकार पुद्गलों में परस्पर समरूक्षता—समगुणरूक्षता (समान अंश-गुणवाली रूक्षता) होगी तो भी उनका बन्ध नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि समगुणस्निग्ध परमाणु आदि का समगुणस्निग्ध परमाणु आदि के साथ सम्बन्ध (बन्ध) नहीं होता; इसी प्रकार समगुणरूक्ष परमाणु आदि का समगुणरूक्ष परमाणु आदि के साथ बन्ध नहीं होता; किन्तु स्निग्धत्व और रूक्षत्व की विषममात्रा होती है, तभी स्कन्धों का बन्ध होता है। अर्थात्—स्निग्ध स्कन्ध यदि स्निग्ध के साथ और रूक्ष स्कन्ध यदि रूक्ष स्कन्ध के

साथ विषमगुण होते हैं, तब विषममात्रा होने के कारण उनका परस्पर सम्बन्ध (बन्ध) होता है। निष्कर्ष यह है कि बन्ध विषम मात्रा होने पर ही होता है। अतः विषममात्रा का स्पष्टीकरण करने हेतु शास्त्रकार फिर कहते हैं--यदि स्निग्धपरमाणु आदि का, स्निग्धगुण वाले परमाणु आदि के साथ बन्ध हो सकता है तो वह नियम से दो आदि अधिक (द्व्याद्यधिक) गुण वाले परमाणु के साथ ही होता है; इसी प्रकार यदि रूक्षगुण वाले परमाणु आदि का रूक्षगुण वाले परमाणु आदि के साथ बन्ध होता है, तब वह भी इसी नियम से दो, तीन, चार आदि अधिक गुण वाले के साथ ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। जब स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों का परस्पर बन्ध होता है, तब किस नियम से होता है? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—स्निग्धपरमाणु आदि का रूक्षपरमाणु आदि के साथ बन्ध जघन्यगुण को छोड़ कर होता है। जघन्य का आशय है—एकगुणस्निग्ध और एकगुणरूक्ष। इनको छोड़कर, शेष दो गुण वाले (स्निग्ध आदि) का दो गुण वाले रूक्ष आदि के साथ बन्ध होता है, चाहे वे दोनों (स्निग्ध और रूक्ष) सममात्रा में हों या विषममात्रा में हों।[1]

गतिपरिणाम की व्याख्या—गमनरूप परिणमन गतिपरिणाम है। वह दो प्रकार का है—स्पृशद्गतिपरिणाम और अस्पृशद्गतिपरिणाम। बीच में आने वाली दूसरी वस्तुओं को स्पर्श करते हुए जो गति होती है, उसे स्पृशद्गति कहते हैं। उस गतिरूप परिणाम को स्पृशद्गतिपरिणाम कहते हैं। उदाहरणार्थ जल पर प्रयत्नपूर्वक तिरछी फेंकी हुई ठीकरी बीच-बीच में जल का स्पर्श करती हुई गति करती है, यह उस ठीकरी का स्पृशद्गतिपरिणाम है। जो वस्तु बीच में आने वाले किसी भी पदार्थ को स्पर्श न करती हुई गमन करती है, वह उसकी अस्पृशद्गति है। वह अस्पृशद्गतिरूप परिणाम अस्पृशद्गतिपरिणाम है। जैसे सिद्ध (मुक्त) जीव सिद्धशिला की ओर गमन करते हैं, तब उनकी गति अस्पृशद्गति होती है। अथवा प्रकारान्तर से गतिपरिणाम के दो भेद प्रतिपादित करते हैं दीर्घगतिपरिणाम और ह्रस्वगतिपरिणाम। अतिदूरवर्ती देश की प्राप्ति का कारणभूत जो परिणाम हो, वह दीर्घगति परिणाम है और निकटवर्ती देशान्तर की प्राप्ति का कारणभूत जो परिणाम हो, वह ह्रस्वगतिपरिणाम कहलाता है।

इनकी व्याख्या पूर्वोक्तवत्--संस्थानपरिणाम, भेदपरिणाम, वर्णपरिणाम, गन्धपरिणाम, रसपरिणाम और स्पर्शपरिणाम की व्याख्या पहले पर्यायपद, भाषापद आदि में की जा चुकी है।[2]

अगुरुलघुपरिणाम—**'कम्मग-मण-भासाइं एयाइं अगुरुलघुयाइं'**--अर्थात् कार्मणवर्गणा, मनोवर्गणा एवं भाषावर्गणा, ये अगुरुलघु होते हैं, इस आगमवचन के अनुसार उपर्युक्त पदार्थों को तथा अमूर्त आकाशादि द्रव्यों को भी अगुरुलघु समझना चाहिए। प्रसंगवश यहाँ गुरुलघुपरिणाम को भी समझ लेना चाहिए।[3] औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस गुरुलघु होते हैं।[4]

॥ प्रज्ञापनासूत्र : तेरहवाँ परिणामपद समाप्त ॥

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २८८-२८९
   (ख) **'स्निग्ध-रूक्षत्वाद् बन्धः'** तत्त्वार्थसूत्र अ. ५, सू. ३२
   (ग) **'न जघन्यगुणानाम्' 'गुणसाम्ये सदृशानाम्' 'द्व्यधिकादिगुणानां तु'** --तत्त्वार्थसूत्र अ. ५, सू. ३३,३४, ३५.
२. इसके लिए देखिये प्रज्ञापना. का पर्यायपद और भाषापद आदि।
३. **'ओरालिय-वेउव्विय-आहारग-तेय गुरुसहूवव्वा'** —प्रज्ञापना. म. वृत्ति, पत्र २८९ में उद्धृत।
४. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २८९.

चोद्दसमं कसायपयं

चौदहवाँ कषायपद

प्राथमिक

- यह प्रज्ञापनासूत्र का कषायपद नामक चौदहवाँ पद है।
- कषाय संसार के वृद्धि करने वाले, पुनर्भव के मूल को सींचने वाले तथा शुद्धस्वभाव युक्त आत्मा को क्रोधादिविकारों से मलिन करने वाले हैं तथा अष्टविध कर्मों के चय, उपचय, बन्ध, उदीरणा, वेदना आदि के कारणभूत हैं। जीव के आत्मप्रदेशों के साथ सम्बद्ध होने से इनका विचार करना अतीव आवश्यक है। इसी कारण कषायपद की रचना हुई है।[1]
- इस पद में सर्वप्रथम कषायों के क्रोधादि चार मुख्य प्रकार बताए हैं। तदनन्तर बताया गया है कि ये चारों कषाय चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में पाए जाते हैं। तत्पश्चात् एक महत्त्वपूर्ण चर्चा यह की गई है कि क्रोधादि चारों कषायों के भाजन-अभाजन की दृष्टि से उनके चार आधार हैं—आत्मप्रतिष्ठित, परप्रतिष्ठित, उभयप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। साथ ही क्रोधादि कषायों की उत्पत्ति के भी चार-चार कारण बताए हैं—क्षेत्र, वास्तु, शरीर और उपधि। संसार के सभी जीवों में कषायोत्पत्ति के ये ही कारण हैं।
- इसके पश्चात् क्रोधादि कषायों के अनन्तानुबन्धी आदि तथा आभोगनिर्वर्तित आदि चार-चार प्रकार बता कर उनका समस्त संसारी जीवों में अस्तित्व बताया है।
- अन्त में जीव द्वारा कृत क्रोधादि कषायों के फल के रूप में आठ कर्मप्रकृतियों के चय, उपचय, बन्ध, उदीरणा, वेदना और निर्जरा, इन ६ को पृथक्-पृथक् बताया है।[2]
- जैन-आगमों में आत्मा के विविध दोषों—विकारों का वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है। उन दोषों का संग्रह भी पृथक्-पृथक् रूप में किया गया है, उनमें से एक संग्रह-प्रकार है—राग, द्वेष और मोह। परन्तु कर्मसिद्धान्त में प्रायः उक्त चार कषाय और मोह के आधार पर ही विचारणा की गई है।
- इससे पूर्वपद में आत्मा के विविध परिणामों का निरूपण किया गया है, उसमें से कषाय भी आत्मा का एक परिणाम है।
- इस पद का वर्णन सू. ९५८ से लेकर ९७१ तक कुल १४ सूत्रों में है।[3]

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २८९
   (ख) देखिये 'कषायपाहुड' टीकासहित
२. पण्णवणासुत्तं भा. १, पृ. २३४ से २३६ तक
३. (क) पण्णवणासुत्तं भा. २, कषायपद की प्रस्तावना, पृ. ९७
   (ख) गणधरवाद (प्रस्तावना) पृ. १००
   (ग) कषायपाहुड टीकासहित

चोद्दसमं कसायपयं

चौदहवाँ कषायपद

कषाय और उसके चार प्रकार

९५८. कति णं भंते ! कसाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि कसाया पण्णत्ता। तं जहा—कोहकसाए १ माणकसाए २ मायाकसाए ३ लोहकसाए ४।

[९५८ प्र.] भगवन् ! कषाय कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[९५८ उ.] गौतम ! (वे) चार प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) क्रोधकषाय, (२) मानकषाय, (३) मायाकषाय और (४) लोभकषाय।

विवेचन—कषाय और उसके चार प्रकार—प्रस्तुत सूत्र में कषाय के क्रोधादि चार प्रकारों का उल्लेख किया गया है।

कषाय की व्याख्या—कषाय शब्द के तीन व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ मिलते हैं—(१) कष अर्थात् संसार, उसका आय-लाभ जिससे हो, वह कषाय है। (२) 'कृष' धातु विलेखन अर्थ में है, उससे भी कृष को कष आदेश हो कर 'आय' प्रत्यय लगने से कषाय शब्द बनता है। जिसका अर्थ होता है—जो कर्मरूपी क्षेत्र (खेत) को सुख-दुःखरूपी धान्य की उपज के लिए विलेखन (कर्षण) करते हैं—जोतते हैं, वे कषाय हैं। (३) 'कलुष' धातु को 'कष' आदेश हो कर भी कषाय शब्द बनता है। जिसका अर्थ होता है—जो स्वभावतः शुद्ध जीव को कलुषित-कर्ममलिन करते हैं, वे कषाय हैं।[1]

कषाय से ही कर्मों का आश्रव—तत्त्वार्थसूत्र में बताया है—**'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते'**—कषायमुक्त होकर जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। दशवैकालिक सूत्र में भी कहा है—ये चारों कषाय पुनर्भव के मूल का सिंचन करते हैं।[2]

---

१. (क) आचारांग शीलांक. वृत्ति, (ख) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक २८९
(ग) 'कषः संसारः, तस्य आयः लाभः—कषायः।'
(घ) 'कृषन्ति विलिखन्ति कर्मरूपं क्षेत्रं सुखदुःखसस्योत्पादनायेति कषायाः।'
'कलुषयन्ति शुद्धस्वभावं सन्तं कर्ममलिनं कुर्वन्ति जीवमिति कषायाः।'
(ङ) 'सुहदुक्खबहुस्सइयं कम्मखेत्तं कसंति ते जम्हा।
कसुसंति जं च जीवं तेण कसायत्ति वुच्चंति॥'

२. (क) तत्त्वार्थसूत्र अ. ९, सू. २
(ख) 'चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स।' दशवैकालिकसूत्र अ. ९

चौवीस दण्डकों में कषाय की प्ररूपणा

९५९. णेरइयाणं भंते ! कति कसाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि कसाया पण्णत्ता । तं जहा - कोहकसाए जाव लोभकसाए । एवं जाव वेमाणियाणं ।

[९५९ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीवों में कितने कषाय होते हैं ?

[९५९ उ.] गौतम ! उनमें चार कषाय होते हैं । वे इस प्रकार हैं—क्रोधकषाय से (लेकर) लोभकषाय तक । इसी प्रकार वैमानिक तक (चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में चारों कषाय पाए जाते हैं ।)

विवेचन—चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में कषायों की प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र (९५९) में नैरयिकों से वैमानिकों तक समस्त संसारी जीवों में इन चारों कषायों का सद्भाव बताया है ।

कषायों के प्रतिष्ठान की प्ररूपणा

९६०. [१] कतिपतिट्ठिए णं भंते ! कोहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउपतिट्ठिए कोहे पण्णत्ते । तं जहा -आयपतिट्ठिए १ परपतिट्ठिए २ तदुभयपतिट्ठिए ३ अप्पतिट्ठिए ४ ।

[९६०-१ प्र.] भगवन् ! क्रोध कितनों पर प्रतिष्ठित (आश्रित) है ? (अर्थात्—किस-किस आधार पर रहा हुआ है ?)

[९६०-१ उ.] गौतम ! क्रोध को चार (निमित्तों) पर प्रतिष्ठित (आधारित) कहा है । वह इस प्रकार—(१) आत्मप्रतिष्ठित, (२) परप्रतिष्ठित, (३) उभय-प्रतिष्ठित और (४) अप्रतिष्ठित ।

[२] एवं णेरइयादीणं जाव वेमाणियाणं दंडओ ।

[९६०-२] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक (चौवीस दण्डकवर्ती जीवों) के विषय में दण्डक (आलापक कहना चाहिए ।)

[३] एवं माणेणं दंडओ, मायाए दंडओ, लोभेणं दंडओ ।

[९६०-३] क्रोध की तरह मान की अपेक्षा से, माया की अपेक्षा से और लोभ की अपेक्षा से भी (प्रत्येक का) एक-एक दण्डक (आलापक कहना चाहिए ।)

विवेचन—क्रोधादि चारों कषायों के प्रतिष्ठान -आधार की प्ररूपणा प्रस्तुत सूत्र (९६०-१, २, ३) में क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों को चार-चार स्थानों पर प्रतिष्ठित—आधारित बताया गया है ।

चतुष्प्रतिष्ठित क्रोधादि—**(१) आत्मप्रतिष्ठित क्रोधादि**—अपने आप पर ही आधारित होते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि स्वयं आचरित किसी कर्म के फलस्वरूप जब कोई जीव अपना इहलौकिक अनिष्ट (अपाय=हानि) देखता है, तब वह अपने पर क्रोध, मान, माया या लोभ करता है, वह आत्मप्रतिष्ठित क्रोधादि है । यह क्रोध आदि अपने ही प्रति किया जाता है । **(२) परप्रतिष्ठित**

क्रोधादि—जब किसी अन्य व्यक्ति या जीव-अजीव को अपने अनिष्ट में निमित्त मानकर जीव क्रोध आदि करता है, अथवा जब दूसरा कोई व्यक्ति आक्रोशादि करके क्रोध आदि उत्पन्न करता है, भड़काता है, तब उसके प्रति जो क्रोधादि उत्पन्न होता है, वह परप्रतिष्ठित क्रोधादि है। (३) **उभयप्रतिष्ठित क्रोधादि**—कई बार जीव अपने पर भी क्रोधादि करता है और दूसरों पर भी करता है, जैसे—अपने और दूसरे के द्वारा किए गए अपराध के कारण जब कोई व्यक्ति स्वपर-विषयक क्रोधादि करता है, तब वह क्रोधादि उभयप्रतिष्ठित होता है। (४) **अप्रतिष्ठित क्रोधादि**—जब कोई क्रोध आदि दुराचरण, आक्रोश आदि निमित्त कारणों के बिना, निराधार हो केवल क्रोध आदि (वेदनीय) मोहनीय के उदय से उत्पन्न हो जाता है, तब वह क्रोधादि अप्रतिष्ठित होता है। ऐसा क्रोधादि न तो आत्मप्रतिष्ठित होता है, क्योंकि वह स्वयं के दुराचरणादि के कारण उत्पन्न नहीं होता और न वह परप्रतिष्ठित होता है, क्योंकि दूसरे का प्रतिकूल आचरण, व्यवहार या अपराध न होने से उस क्रोधादि का कारण 'पर' भी नहीं होता, न यह क्रोधादि उभयप्रतिष्ठित होता है, क्योंकि इसमें दोनों ही प्रकार के निमित्त नहीं होते। अतः यह क्रोधादि मोहनीय (वेदनीय) के उदय से बाह्य कारण के बिना ही उत्पन्न होने वाला क्रोधादि है। ऐसा व्यक्ति बाद में कहता है—ओहो! मैंने अकारण ही क्रोधादि किया; न तो कोई मेरे प्रतिकूल बोलता है, न ही मेरा कोई विनाश करता है।[1]

कषायों की उत्पत्ति के चार-चार कारण

९६१. [१] कतिहि णं भंते ! ठाणेहिं कोहुप्पत्ती भवति ?

गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं कोहुप्पत्ती भवति। तं जहा—खेत्तं पडुच्च १ वत्थुं पडुच्च २ सरीरं पडुच्च ३ उवहिं पडुच्च ४।

[९६१-१ प्र.] भगवन् ! कितने स्थानों (कारणों) से क्रोध की उत्पत्ति होती है ?

[९६१-१ उ.] गौतम ! चार स्थानों (कारणों) से क्रोध की उत्पत्ति होती है, वे इस प्रकार—(१) क्षेत्र (खेत या खुली जमीन) को लेकर, (२) वास्तु (मकान आदि) को लेकर, (३) शरीर के निमित्त से और (४) उपधि (उपकरणों—साधनसामग्री) के निमित्त से।

[२] एवं णेरइयादीणं जाव वेमाणियाणं।

[९६१-२] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक (क्रोधोत्पत्ति के विषय में प्ररूपणा करनी चाहिए।)

[३] एवं माणेण वि मायाए वि लोभेण वि। एवं एते वि चत्तारि दंडगा।

[९६१-३] क्रोधोत्पत्ति के विषय में जैसा कहा है, उसी प्रकार मान, माया और लोभ की उत्पत्ति के विषय में भी उपर्युक्त चार कारण कहने चाहिए। इस प्रकार ये चार दण्डक (आलापक) होते हैं।

विवेचन—**क्रोधादि कषायों की उत्पत्ति के चार-चार कारण** प्रस्तुत सूत्र (९६१-१, २, ३) में क्रोधादि कषायों की उत्पत्ति के क्षेत्र, वास्तु, शरीर और उपधि, ये चार-चार कारण प्रस्तुत किये गए हैं।

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक २९०

क्षेत्र, वास्तु, शरीर और उपधि, क्रोधादि की उत्पत्ति के कारण क्यों ?—क्षेत्र का अर्थ खेत या जमीन होता है, परन्तु नारकों के लिए नैरयिक क्षेत्र, तिर्यञ्चों के लिए तिर्यक्क्षेत्र, मनुष्य के लिए मनुष्यक्षेत्र के निमित्त एवं देवों के लिए देवक्षेत्र के निमित्त से क्रोधादि कषायोत्पत्ति समझनी चाहिए। 'वत्थु' के दो अर्थ होते हैं—वास्तु और वस्तु। वास्तु का अर्थ मकान, इमारत, बंगला, कोठी, महल आदि और वस्तु का अर्थ है—सजीव, निर्जीव पदार्थ। महल, मकान आदि को लेकर भी क्रोधादि उमड़ते हैं। सजीव वस्तु में माता, पिता, स्त्री, पुत्र या मनुष्य तथा किसी अन्य प्राणी को लेकर क्रोध, संघर्ष, अभिमान आदि उत्पन्न होते हैं। निर्जीव वस्तु पलंग, सोना, चांदी, रत्न, माणक, मोती, वस्त्र, आभूषण आदि को लेकर क्रोधादि उत्पन्न होते हैं। दुःस्थित या विरूप या सचेतन-अचेतन शरीर को लेकर भी क्रोधादि उत्पन्न होते हैं। अव्यवस्थित एवं बिगड़े हुए उपकरणादि को लेकर अथवा चौरादि के द्वारा अपहरण किये जाने पर क्रोधादि उत्पन्न होता है। जमीन, मकान, शरीर और अन्य साधनों को जब किसी कारण से हानि या क्षति पहुँचती है तो क्रोधादि उत्पन्न होते हैं। यहाँ 'उपधि' में जमीन, मकान तथा शरीर के सिवाय शेष सभी वस्तुओं का समावेश समझ लेना चाहिए।[1]

कषायों के भेद-प्रभेद

९६२. [१] कतिविहे णं भंते ! कोहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे कोहे पण्णत्ते। तं जहा—अणंताणुबंधी कोहे १ अप्पच्चक्खाणे कोहे २ पच्चक्खाणावरणे कोहे ३ संजलणे कोहे ४।

[९६२-१ प्र.] भगवन् ! क्रोध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[९६२-१ उ.] गौतम ! क्रोध चार प्रकार का कहा है, वह इस प्रकार—(१) अनन्तानुबन्धी क्रोध, (२) अप्रत्याख्यान क्रोध, (३) प्रत्याख्यानावरण क्रोध और (४) संज्वलन क्रोध।

[२] एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

[९६२-२] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक (चौवीस दण्डकवर्ती जीवों) में (क्रोध के इन चारों प्रकारों की प्ररूपणा समझनी चाहिए।)

[३] एवं माणेणं मायाए लोभेणं। एए वि चत्तारि चउक्का।

[९६२-३] इसी प्रकार मान की अपेक्षा से, माया की अपेक्षा से और लोभ की अपेक्षा से, (इन चार-चार भेदों का तथा नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक में इनके पाए जाने का कथन करना चाहिए।) ये भी चार दण्डक होते हैं।

९६३. [१] कतिविहे णं भंते ! कोहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे कोहे पण्णत्ते। तं जहा आभोगणिव्वत्तिए अणाभोगणिव्वत्तिए उवसंते अणुवसंते।

[९६३-१ प्र.] भगवन् ! क्रोध कितने प्रकार का कहा गया है ?

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २९०-२९१
(ख) प्रज्ञापनासूत्र प्रमेयबोधिनी टीका भा. ३, पृ. ५५९

[९६३-१ उ.] गौतम ! क्रोध चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) आभोग-निर्वर्तित, (२) अनाभोगनिर्वर्तित, (३) उपशान्त और (४) अनुपशान्त।

[२] एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

[९६३-२] इसी प्रकार नारकों से लेकर वैमानिकों तक में चार प्रकार के क्रोध का कथन करना चाहिए।

[३] एवं माणेण वि मायाए वि लोभेण वि चत्तारि दंडया।

[९६३-३] क्रोध के समान ही मान के, माया के और लोभ के (आभोगनिर्वर्तित आदि) चार-चार भेद होते हैं तथा (नारकों से लेकर वैमानिकों तक में) मान, माया और लोभ के भी ये ही चार-चार भेद (दण्डक) समझने चाहिए।

विवेचना—क्रोध आदि कषायों के भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ९६२, ९६३) में क्रोध आदि कषायों के अनन्तानुबन्धी आदि चार भेद करके समस्त संसारी जीवों में उनके पाए जाने का निरूपण किया गया है तथा क्रोध आदि कषायों के प्रकारान्तर से आभोगनिर्वर्तित आदि चार प्रभेदों और समस्त संसारी जीवों में उनके सद्भाव की प्ररूपणा की गई है।

अनन्तानुबन्धी आदि चारों की परिभाषा· इन चारों कषायों के शब्दार्थों का विचार कर्म-प्रकृतिपद में किया जाएगा। यहाँ चारों की परिभाषा दी जाती है—**अनन्तानुबन्धी**—सम्यक्त्व गुणविघातक, **अप्रत्याख्यान**—देशविरतिगुणविघाती, **प्रत्याख्यानावरण**—सर्वविरतिगुणविघाति और **संज्वलन**—यथाख्यातचारित्रविघातक।

आभोगनिर्वर्तित आदि चारों प्रकार के क्रोधादि की व्याख्या—**आभोगनिर्वर्तित (उपयोगपूर्वक उत्पन्न हुआ) क्रोध**—जब दूसरे के अपराध को जानकर और क्रोध के पुष्ट कारण का अवलम्बन लेकर तथा प्रकारान्तर से इसे शिक्षा नहीं मिल सकती, इस प्रकार का उपयोग (विचार) करके कोई क्रोध करता है, तब वह क्रोध **आभोगनिर्वर्तित** (विचारपूर्वक उत्पन्न) कहलाता है। **अनाभोगनिर्वर्तित क्रोध**—(बिना उपयोग उत्पन्न हुआ)—जब यों ही साधारणरूप से मोहवश गुण-दोष की विचारणा से शून्य पराधीन बना हुआ जीव क्रोध करता है, तब वह क्रोध **अनाभोगनिर्वर्तित** कहलाता है। **उपशान्त क्रोध**—जो क्रोध उदयावस्था को प्राप्त न हो, वह **उपशान्त** कहलाता है। **अनुपशान्त क्रोध**—जो क्रोध उदयावस्था को प्राप्त हो, वह **'अनुपशान्त'** कहलाता है।[1]

कषायों से अष्ट कर्मप्रकृतियों के चयादि की प्ररूपणा

९६४. [१] जीवा णं भंते ! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु ?

गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु। तं जहा—कोहेणं १ माणेणं २ मायाए ३ लोभेणं ४।

[९६४-१ प्र.] भगवन् ! जीवों ने कितने कारणों (स्थानों) से आठ कर्मप्रकृतियों का चय किया ?

१. प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक २९१

[९६४-१ उ.] गौतम ! चार कारणों से जीवों ने आठ कर्मप्रकृतियों का चय किया, वे इस प्रकार हैं—१. क्रोध से, २. मान से, ३. माया से और ४. लोभ से।

[२] एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

[९६४-२] इसी प्रकार की प्ररूपणा नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक के विषय में समझनी चाहिए।

९६५. [१] जीवा णं भंते ! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणंति ?

गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं। तं जहा— कोहेणं १ माणेणं २ मायाए ३ लोभेणं ४।

[९६५-१ प्र.] भगवन् ! जीव कितने कारणों से आठ कर्मप्रकृतियों का चय करते हैं ?

[९६५-१ उ.] गौतम ! चार कारणों से जीव आठ कर्मप्रकृतियों का चय करते हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) क्रोध से, (२) मान से, (३) माया से और (४) लोभ से।

[२] एवं णेरइया जाव वेमाणिया।

[९६५-२] इसी प्रकार नारकों से लेकर वैमानिकों तक के (विषय में प्ररूपणा करनी चाहिए।)

९६६. [१] जीवा णं भंते ! कहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिस्संति ?

गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिस्संति। तं जहा—कोहेणं १ माणेणं २ मायाए ३ लोभेणं ४।

[९६६-१ प्र.] भगवन् ! जीव कितने कारणों से आठ कर्मप्रकृतियों का चय करेंगे ?

[९६६-१ उ.] गौतम ! चार कारणों से जीव आठ कर्मप्रकृतियों का चय करेंगे, वे इस प्रकार हैं —(१) क्रोध से, (२) मान से, (३) माया से और (४) लोभ से।

[२] एवं णेरइया जाव वेमाणिया।

[९६६-२] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक के (विषय में प्ररूपणा करनी चाहिए।)

९६७. [१] जीवा णं भंते ! कहिं अट्ठ कम्मपगडीओ उवचिणिंसु।

गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ उवचिणिंसु। तं जहा—कोहेणं १ माणेणं २ मायाए ३ लोभेणं ४।

[९६७-१ प्र.] भगवन् ! जीवों ने कितने कारणों से आठ कर्मप्रकृतियों का उपचय किया है ?

[९६७-१ उ.] गौतम ! जीवों ने चार कारणों से आठ कर्मप्रकृतियों का उपचय किया है, वे इस प्रकार हैं—(१) क्रोध से, (२) मान से, (३) माया से और (४) लोभ से।

[२] एवं णेरइया जाव वेमाणिया।

[९६७-२] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर यावत् वैमानिकों तक के (विषय में समझना चाहिए)।

९६८. [१] जीवा णं भंते ! पुच्छा ।

गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं उवचिणंति-कोहेणं १ जाव लोभेणं ४ ।

[९६८-१ प्र.] भगवन् ! जीव कितने कारणों से आठ कर्मप्रकृतियों का उपचय करते हैं ?

[९६८-१ उ.] गौतम ! चार कारणों से जीव आठ कर्मप्रकृतियों का उपचय करते हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) क्रोध से, (२) मान से, (३) माया से और (४) लोभ से ।

[२] एवं णेरइया जाव वेमाणिया ।

[९६८-२] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर यावत् वैमानिकों तक (के विषय में कहना चाहिए ।)

९६९. एवं उवचिणिस्संति ।

[९६९] इसी प्रकार (पूर्वोक्त चार कारणों से जीव आठ कर्मप्रकृतियों का) उपचय करेंगे, (यह कहना चाहिए ।)

९७०. जीवा णं भंते ! कइहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ बंधिंसु ३ ?

गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं । तं जहा—कोहेणं १ जाव लोभेणं ४ ।

[९७० प्र.] भगवन् ! जीवों ने कितने कारणों से आठ कर्मप्रकृतियों को बांधा है ?, बांधते हैं, बांधेंगे ?

[९७० उ.] गौतम ! चार कारणों से जीवों ने आठ कर्मप्रकृतियों को बांधा है, बांधते हैं और बांधेंगे, वे इस प्रकार हैं—क्रोध से यावत् लोभ से ।

९७१. एवं णेरइया जाव वेमाणिया बंधींसु बंधंति बंधिस्संति, उदीरेंसु उदीरेंति उदीरिस्संति, वेइंसु वेएंति वेइस्संति, निज्जरेंसु निज्जरेंति निज्जरिस्संति । एवं एते जीवाईया वेमाणियपज्जवसाणा अट्ठारस दंडगा जाव वेमाणिया णिज्जरिंसु णिज्जरेंति णिज्जरिस्संति ।

आयपइट्ठिय खेत्तं पडुच्चऽणंतागुबंधि आभोगे ।
चिण उवचिण बंध उईर वेय तह निज्जरा चेव ॥२०१॥

॥ पण्णवणाए भगवतीए सोलसमं कसायपयं समत्तं ॥

[९७१] इसी प्रकार नैरयिकों से वैमानिकों तक के (जीवों ने) (पूर्वोक्त चार कारणों से आठ कर्मप्रकृतियों को) बांधा, बांधते हैं और बांधेंगे; उदीरणा की, उदीरणा करते हैं और उदीरणा करेंगे तथा वेदन किया (भोगा), वेदन करते (भोगते) हैं और वेदन करेंगे (भोगेंगे), (इसी प्रकार) निर्जरा की, निर्जरा करते हैं और निर्जरा करेंगे ।

इस प्रकार समुच्चय जीवों तथा नैरयिकों से लेकर वैमानिकों पर्यन्त आठ कर्मप्रकृतियों के चय, उपचय, बन्ध, उदीरणा, वेदन एवं निर्जरा की अपेक्षा से छह, तीनों (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) काल के तीन-तीन भेद के कुल अठारह दण्डक (आलापक) वैमानिकों ने निर्जरा की, निर्जरा करते हैं तथा निर्जरा करेंगे, (तक कहने चाहिए ।)

[संग्रहणी गाथार्थ—] (प्रस्तुत प्रकरण में) आत्मप्रतिष्ठित क्षेत्र की अपेक्षा से, अनन्तानुबन्धी (आदि कषाय), आभोग (निर्वर्तित आदि-कषाय), अष्ट कर्मप्रकृतियों के चय, उपचय, बन्ध, उदीरणा, वेदना तथा निर्जरा (का कथन किया गया है।)

विवेचन—जीवों के द्वारा अष्टविध कर्मप्रकृतियों के चयादि के कारणभूत चार कषायों का निरूपण—प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. ९६४ से ९७१ तक) में समुच्चय जीवों तथा चौवीस दण्डकवर्ती जीवों द्वारा आठ कर्मप्रकृतियों के त्रैकालिक चय, उपचय बन्ध, उदीरणा, वेदना और निर्जरा के कारणभूत चारों कषायों की पृथक्-पृथक् प्ररूपणा की गई है।

निष्कर्ष—भूत, वर्त्तमान और भविष्य इन तीनों कालों में समुच्चय जीव तथा नारकों से लेकर वैमानिकों तक चौवीस दण्डकों के जीवों द्वारा क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण आठ कर्मप्रकृतियों का चय, उपचय, बन्ध, उदीरणा, वेदना और निर्जरा की गई है, की जाती है और की जाएगी।

चय, उपचय आदि शब्दों की शास्त्रीय परिभाषा—**चय**—कषायपरिणत होकर जीव द्वारा कर्मयोग्य पुद्गलों का उपादान (ग्रहण) करना। **उपचय**—अपने अबाधाकाल के उपरान्त ज्ञानावरणीय आदि कर्म-पुद्गलों के वेदन (भोगने) के लिए निषेक (कर्म-पुद्गलों की रचना) करना। निषेक रचना को कहते हैं। उसका क्रम इस प्रकार है—प्रथम स्थिति में सबसे अधिक द्रव्य, दूसरी स्थिति में विशेषहीन, तीसरी स्थिति में उसकी अपेक्षा भी विशेषहीन, इस प्रकार उत्तरोत्तर विशेषहीन-विशेषहीन कर्मपुद्गल वेदन के लिए स्थापित किए जाते हैं। **बन्ध**—जिन ज्ञानावरणीयादि कर्मपुद्गलों को यथोक्तप्रकार से निषक्त किया है, उनका विशिष्ट कषायपरिणति से निकाचन होना **बन्ध** कहलाता है। **उदीरणा**—कर्म अभी उदय में नहीं आए हैं, उन्हें उदीरणीकरण के द्वारा जो उदयावलिका में ले आना। **वेदना**—अबाधाकाल समाप्त होने पर उदयप्राप्त या उदीरित करके—उदीरणा करके कर्म का उपभोग करना (भोग लेना) **वेदना**—कहलाता है। **निर्जरा**—कर्मपुद्गलों का वेदन (भोग) के पश्चात् अकर्मरूप में हो जाना अर्थात् आत्मप्रदेशों से झड़ जाना। प्रस्तुत प्रकरण में देशनिर्जरा का कथन किया गया है। सर्वनिर्जरा तो कषाय से रहित होकर योगों का सर्वथा निरोध करके मोक्षप्रासाद पर आरूढ होने वाले को होती है। देशनिर्जरा सभी जीव सदैव करते रहते हैं।[1]

॥ प्रज्ञापनासूत्र : चौदहवाँ कषायपद समाप्त ॥

---

१ प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २९२

पनरसमं इंदियपयं : पढमो उद्देसओ

पन्द्रहवाँ इन्द्रियपद : प्रथम उद्देशक

प्राथमिक

- यह प्रज्ञापनासूत्र का पन्द्रहवाँ इन्द्रियपद है।
- इन्द्रियाँ आत्मा को पहचानने के लिए लिंग हैं, इन्हीं से आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति होती है।
- इस पद में इन्द्रियों के सम्बन्ध में सभी पहलुओं से विश्लेषण किया गया है। इसके दो उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में प्रारम्भ में निरूपणीय २४ द्वारों का कथन है। द्वितीय उद्देशक में १२ द्वारों के माध्यम से इन्द्रियों की प्ररूपणा की गई है।
- प्रथम उद्देशक में संस्थान से लेकर अल्पबहुत्व तक ६ द्वारों की चर्चा करके उनका २४ दण्डकों की अपेक्षा से विचार किया है। सातवें स्पृष्टद्वार से नौवें विषय द्वार तक का विवरण है। इन में चौबीस दण्डकों की अपेक्षा से विचार नहीं किया गया है, अपितु इन्द्रियों से सम्बन्धित विचार है। इसके अनन्तर अनगार और आहार को लेकर इन्द्रियों का—विशेषतः चक्षुरिन्द्रिय की चर्चा है। तत्पश्चात् बारहवें से अठारहवें द्वार तक आदर्श से लेकर वसा तक ७ द्वारों के माध्यम से विशेषतः चक्षुरिन्द्रिय सम्बन्धी और फिर कम्बल, स्थूणा (स्तम्भ), शिग्गल, द्वीपोदधि, लोक और अलोक तक के ६ द्वारों के माध्यम से विशेषतः स्पर्शेन्द्रिय सम्बन्धी प्ररूपणा की गई है।
- द्वितीय उद्देशक में इन्द्रियों का उपचय, निर्वर्त्तना, समय, लब्धि, उपयोगकाल, अल्पबहुत्व, अवग्रहण, ईहा, अवाय, व्यंजनावग्रह, द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय इन १२ द्वारों के माध्यम से इन्द्रिय सम्बन्धी स्वरूप एवं प्रकारों की प्ररूपणा करके उसका २४ दण्डकों की अपेक्षा से विचार किया गया है।[1] उपचय, निर्वर्तना, लब्धि और उपयोग इन चारों का तत्त्वार्थसूत्र में क्रमशः प्रारम्भ की दो का द्रव्येन्द्रिय में तथा अन्तिम दो का भावेन्द्रिय में समावेश किया है।
- आदर्शद्वार आदि का आशय आचार्य मलयगिरि ने दृश्यविषयक माना है। दृश्य चाहे जो हो, जिस विषय का उपयोग या विकल्प आत्मा को होता है, उसे ही दृश्य माना जाए तो प्रतिबिम्ब देखते समय भान, उपयोग या विकल्प तो आदर्श आदि-गत प्रतिबिम्ब विषयक ही है। निशीथभाष्य आदि में इसकी रोचक चर्चा है।
- द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय द्वार में २४ दण्डकवर्ती जीवों की अतीत, बद्ध (वर्तमान) और अनागत (पुरस्कृत) उभय इन्द्रियों की विस्तृत चर्चा की गई है।[2]

---

१. 'निवृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्, लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्' -तत्त्वार्थ. अ. २, सू. १७-१८

२. (क) पण्णवणासुत्तं प्रथम भाग, पृ. २३७ से २६० तक
(ख) पण्णवणासुत्तं द्वितीय भाग प्रस्तावना, पृ. ९७ से १०० तक
(ग) निशीथभाष्य गा. ४३१८ आदि (घ) तत्त्वार्थ. सिद्धसेनीया टीका, पृ. ३६४

पन्नरसमं इंदियपयं : पढमो उद्देसओ

पन्द्रहवाँ इन्द्रियपद : प्रथम उद्देशक

प्रथम उद्देशक में प्ररूपित चौवीस द्वार

९७२. संठाण १ बाहल्लं २ पोहत्तं ३ कतिपएस ४ ओगाढे ५।
अप्पाबहु ६ पुट्ठ ७ पविट्ठ ८ विसय ९ अणगार १० आहारे ११ ॥२०२॥
अदाय १२ असी १३ य मणी १४ उडुपाणे[1] १५ तेल्ल १६ फाणिय १७ वसा १८ य।
कंबल १९ थूणा २० थिग्गल २१ दीवोदधि[2] २२ लोगऽलोगे २३-२४ य ॥२०३॥

[९७२ प्रथम उद्देशक की अर्थाधिकार गाथाओं का अर्थ—] १. संस्थान, २. बाहल्य (स्थूलता), ३. पृथुत्व (विस्तार), ४. कति-प्रदेश (कितने प्रदेश वाली) ५. अवगाढ, ६ अल्पबहुत्व, ७. स्पृष्ट, ८. प्रविष्ट, ९. विषय, १०. अनगार, ११. आहार, १२. आदर्श (दर्पण), १३. असि (तलवार), १४. मणि, १५. उदपान (या दुग्धपानक), १६. तैल, १७. फाणित (गुड़राब), १८. वसा (चर्बी), १९. कम्बल, २०. स्थूणा (स्तूप या ठूंठ), २१. थिग्गल (आकाश थिग्गल—पैबन्द), २२. द्वीप और उदधि, २३. लोक और २४. अलोक; इन चौवीस द्वारों के माध्यम से इन्द्रिय-सम्बन्धी प्ररूपणा की जाएगी ॥ २०२-२०३ ॥

विवेचन—प्रथम उद्देशक में प्ररूपित चौवीस द्वार—प्रस्तुत दो गाथाओं के द्वारा प्रथम उद्देशक में प्ररूपित इन्द्रिय-सम्बन्धी चौवीस द्वारों का नामोल्लेख किया गया है।

चौवीस द्वारों का स्पष्टीकरण (१) **संस्थानद्वार**—इसमें इन्द्रियों के संस्थान—आकार की प्ररूपणा है, (२) **बाहल्यद्वार**—इसमें इन्द्रियों की स्थूलता (बहलता) यानी पिण्ड-रूपता का वर्णन है, (३) **पृथुत्वद्वार**—इसमें इन्द्रियों के विस्तार का निरूपण है, (४) **कति-प्रदेशद्वार** इसमें बताया गया है कि किस इन्द्रिय के कितने प्रदेश हैं, (५) **अवगाढद्वार**—इसमें यह वर्णन है कि कौन-सी इन्द्रिय कितने प्रदेशों में अवगाढ है। (६) **अल्पबहुत्वद्वार**—इसमें अवगाहनासम्बन्धी और कर्कशता सम्बन्धी अल्पबहुत्व का प्रतिपादन है, (७) **स्पृष्टद्वार**—इसमें स्पृष्ट अस्पृष्ट विषयक प्ररूपणा है, (८) **प्रविष्टद्वार**—इसमें प्रविष्ट-अप्रविष्ट सम्बन्धी चर्चा है, (९) **विषयद्वार** इसमें विषयों के परिमाण का वर्णन है, (१०) **अनगारद्वार**—इसमें अनगार से सम्बन्धित सूत्र हैं, (११) **आहारद्वार**—इसमें आहारविषयक सूत्र हैं, (१२) **आदर्शद्वार** इसमें दर्पणविषयक निरूपण है, (१३) **असिद्वार**—इसमें असि-सम्बन्धित प्ररूपणा है, (१४) **मणिद्वार** मणिविषयक वक्तव्य, (१५) **उदपानद्वार**—उदकपान अथवा उडुपानविषयक प्ररूपणा (अथवा दुग्ध और पानविषयक प्ररूपणा), (१६) **तैलद्वार**—इसमें तैलविषयक वक्तव्य हैं, (१७) **फाणितद्वार**—इसमें फाणित (गुड़राब) के विषय में

---

१. अनेक प्रतियों में इसके बदले पाठान्तर है—**वुड्ढपाणे**—जिसमें दुग्ध और पान ये दो द्वार पृथक्-पृथक् कर दिये गए हैं। किन्तु निशीथसूत्र (उ. १३) के पाठ के अनुसार 'उडुपाणे' पाठ ही प्रामाणिक होता है।

२. कोई-कोई आचार्य द्वीप और उदधि, यों दो द्वार मानते हैं।

प्ररूपणा है, (१८) **वसाद्वार**—इसमें वसा (चर्बी) के विषय में वर्णन है, (१९) **कम्बलद्वार**—इसमें कम्बलविषयक निरूपण है, (२०) **स्थूणाद्वार**—इसमें स्थूणा (स्तूप या ठूंठ) से सम्बन्धित निरूपण है, (२१) **थिग्गलद्वार**—इसमें आकाशथिग्गल विषयक वर्णन है, (२२) **द्वीपोदधिद्वार**—इसमें द्वीप और समुद्र विषयक प्ररूपणा है, (२३) **लोकद्वार**—लोकविषयक वक्तव्य, और (२४) **अलोकद्वार**—अलोक सम्बन्धी प्ररूपणा है।[1]

इन्द्रियों की संख्या

९७३. कति णं भंते ! इंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचइंदिया पण्णत्ता। तं जहा—सोइंदिए १ चक्खिंदिए २ घाणिंदिए ३ जिब्भिंदिए ४ फासिंदिए ५।

[९७३ प्र.] भगवन् ! इन्द्रियाँ कितनी कही गई हैं ?

[९७३ उ.] गौतम ! पांच इन्द्रियाँ कही हैं। वे इस प्रकार—(१) श्रोत्रेन्द्रिय, (२) चक्षुरिन्द्रिय (३) घ्राणेन्द्रिय, (४) जिह्वेन्द्रिय और (५) स्पर्शेन्द्रिय।

विवेचन—इन्द्रियों की संख्या—प्रस्तुत सूत्र में श्रोत्रेन्द्रिय आदि पांच इन्द्रियों की प्ररूपणा की गई है।

अन्य दार्शनिक मन्तव्य—सांख्यादि दर्शनों में श्रोत्रेन्द्रिय आदि पांच इन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रिय कहा गया है तथा वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (मूत्रद्वार) और उपस्थ (मलद्वार), इन पांच इन्द्रियों को कर्मेन्द्रिय कहा गया है। किन्तु पांच कर्मेन्द्रियों की मान्यता युक्तिसंगत नहीं है। जैन-दर्शन में द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के रूप से प्रत्येक के दो-दो भेद तथा द्रव्येन्द्रिय के निर्वृत्ति और उपकरण एवं भावेन्द्रिय के लब्धि और उपयोग रूप दो-दो प्रकार बताये गये हैं। इनका निरूपण इसी पद के द्वितीय उद्देशक में किया जायेगा।[2]

प्रथम संस्थानद्वार

९७४. [१] सोइंदिए णं भंते ! किंसंठिते पण्णत्ते ?

गोयमा ! कलंबुयापुप्फसंठाणसंठिए पण्णत्ते।

[९७४-१ प्र.] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय किस आकार की कही गई है ?

[९७४-१ उ.] गौतम ! (वह) कदम्बपुष्प के आकार की कही गई है।

[२] चक्खिंदिए णं भंते ! किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! मसूरचंदसंठाणसंठिए पन्नत्ते।

[९७४-२ प्र.] भगवन् ! चक्षुरिन्द्रिय किस आकार की कही गई है ?

[९७४-२ उ.] गौतम (चक्षुरिन्द्रिय) मसूर-चन्द्र के आकार की कही है।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २९३

२. (क) सांख्यकारिका, योगदर्शन (ख) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक २९३
(ग) 'निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्', 'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्'—तत्त्वार्थसूत्र अ. २, सू. १७, १८

[३] घाणिंदिए णं पुच्छा ।

गोयमा ! अइमुत्तगचंदसंठाणसंठिए पण्णत्ते ।

[९७४-३ प्र.] भगवन् ! घ्राणेन्द्रिय का आकार किस प्रकार है ? यह प्रश्न है ?

[९७४-३ उ.] गौतम ! (घ्राणेन्द्रिय) अतिमुक्तकपुष्प के आकार की कही है ।

[४] जिब्भिंदिए णं पुच्छा ।

गोयमा ! खुरप्पसंठाणसंठिए पण्णत्ते ।

[९७४-४ प्र.] भगवन् ! जिह्वेन्द्रिय किस आकार की है ? यह प्रश्न है ।

[९७४-४ उ.] गौतम ! (जिह्वेन्द्रिय) खुरपे के आकार की है ।

[५] फासिंदिए णं पुच्छा ।

गोयमा ! णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते ।

[९७४-५ प्र.] भगवन् ! स्पर्शेन्द्रिय के आकार के लिये प्रश्न है ?

[९७४-५ उ.] गौतम ! स्पर्शेन्द्रिय नाना प्रकार के आकार की कही गई है ।

विवेचन—प्रथम संस्थानद्वार—पांच इन्द्रियों के आकार का निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में पांचों इन्द्रियों के आकार का निरूपण किया गया है ।

द्रव्येन्द्रिय का निर्वृत्तिरूप भेद ही संस्थान प्रत्येक इन्द्रिय के विशिष्ट और विभिन्न संस्थान-विशेष (रचनाविशेष) को निर्वृत्ति कहते हैं । वह निर्वृत्ति भी दो प्रकार की होती है—बाह्य और आभ्यन्तर । बाह्य निर्वृत्ति पर्पटिका आदि है । वह विविध—विचित्र प्रकार की होती है । अतएव उसको किसी एक नियत रूप में नहीं कहा जा सकता । उदाहरणार्थ—मनुष्य के श्रोत्र (कान) दोनों नेत्रों के दोनों पार्श्व (बगल) में होते हैं । उसकी भौहें ऊपर के श्रवणबन्ध की अपेक्षा से सम होती हैं, किन्तु घोड़े के कान नेत्रों के ऊपर होते हैं और उनके अग्रभाग तीक्ष्ण होते हैं । इस जातिभेद से इन्द्रियों की बाह्य निर्वृत्ति (रचना या आकृति) नाना प्रकार की होती है, किन्तु इन्द्रियों की आभ्यन्तर-निर्वृत्ति सभी जीवों की समान होती है । यहाँ संस्थानादिविषयक प्ररूपणा इसी आभ्यन्तरनिर्वृत्ति को लेकर की गई है । केवल स्पर्शेन्द्रिय-निर्वृत्ति के बाह्य और आभ्यन्तर भेद नहीं करने चाहिए । वृत्तिकार ने स्पर्शेन्द्रिय को बाह्यसंस्थानविषयक बताकर उसकी व्याख्या इस प्रकार की है बाह्यनिर्वृत्तिखड्ग के समान है और तलवार की धार के समान स्वच्छतर पुद्गलसमूहरूप आभ्यन्तरनिर्वृत्ति है ।

द्वितीय-तृतीय बाहल्य-पृथुत्वद्वार

९७५. [१] सोइंदिए णं भंते ! केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?

गोयमा ! अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

[९७५-१ प्र.] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय का बाहल्य (जाडाई-मोटाई) कितना कहा गया है ?

[९७५-१ उ.] गौतम ! (श्रोत्रेन्द्रिय का) बाहल्य अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण कहा गया है ।

[२] एवं जाव फासिंदिए ।

[९७५-२] इसी प्रकार (चक्षुरिन्द्रिय से लेकर) यावत् स्पर्शेन्द्रिय के बाहल्य के विषय में समझना चाहिए ।

९७६. [१] सोइंदिए णं भंते ! केवतियं पोहत्तेणं पण्णत्ते ।

गोयमा ! अंगुलस्स असंखेज्जति भागं पोहत्तेणं पण्णत्ते ।

[९७६-१ प्र.] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय कितनी पृथु = विशाल (विस्तारवाली) कही गई है ?

[९७६-१ उ.] गौतम ! (श्रोत्रेन्द्रिय) अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण पृथु—विशाल कही है ।

[२] एवं चक्खिंदिए वि घाणिंदिए वि ।

[९७६-२] इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय एवं घ्राणेन्द्रिय (की पृथुता—विशालता) के विषय में (समझना चाहिए) ।

[३] जिब्भिंदिए णं पुच्छा ।

गोयमा ! अंगुलपुहत्तं पोहत्तेणं पण्णत्ते ।

[९७६-३ प्र.] भगवन् ! जिह्वेन्द्रिय कितनी पृथु (विस्तृत) कही गई है ?

[९७६-३ उ.] गौतम ! जिह्वेन्द्रिय अंगुल-पृथक्त्व (दो अंगुल से नौ अंगुल तक) विशाल (विस्तृत) है ।

[४] फासिंदिए णं पुच्छा ।

गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ते पोहत्तेणं पण्णत्ते ।

[९७६-४ प्र.] भगवन् ! स्पर्शेन्द्रिय के पृथुत्व (विस्तार) के विषय में पृच्छा (का समाधान क्या है ?)

[९७६-४ उ.] गौतम ! स्पर्शेन्द्रिय शरीरप्रमाण पृथु (विशाल) कही है ।

विवेचन—द्वितीय-तृतीय बाहल्य-पृथुत्वद्वार—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ९७५-९७६) में दो द्वारों के माध्यम से पांचों इन्द्रियों के बाहल्य (स्थूलता) एवं पृथुत्व (विस्तार) का प्रमाण प्रतिपादित किया गया है ।

सभी इन्द्रियों का बाहल्य समान क्यों ?--बाहल्य की अपेक्षा से सभी इन्द्रियाँ अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं । इस विषय में एक शंका है कि 'यदि स्पर्शेन्द्रिय का बाहल्य (स्थूलता) अंगुल का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण है तो तलवार, छुरी आदि का आघात लगने पर शरीर के अन्दर वेदना का अनुभव क्यों होता है ?' इसका समाधान यह है कि जैसे चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप है, घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है, वैसे ही स्पर्शेन्द्रिय का विषय शीत आदि स्पर्श है; किन्तु जब तलवार और छुरी आदि का आघात लगता है, तब शरीर में शीत आदि स्पर्श का वेदन नहीं होता, अपितु दुःख का वेदन होता है । दुःखरूप उस वेदन को आत्मा समग्र शरीर से अनुभव करती है, केवल स्पर्शेन्द्रिय से नहीं । जैसे--ज्वर आदि का वेदन सम्पूर्ण शरीर में होता है । शीतलपेय (ठंडे शर्बत आदि) के पीने

से जो भीतर में (शरीर में) शीतस्पर्शवेदन का अनुभव होता है, उसका कारण यह है कि स्पर्शेन्द्रिय सर्वप्रदेशपर्यन्तवर्ती होती है। इसलिए त्वचा के अन्दर तथा खाली जगह के ऊपर भी स्पर्शेन्द्रिय का सद्भाव होने से शरीर के अन्दर शीतस्पर्श का अनुभव होना युक्तियुक्त है।[1]

इन्द्रियों का पृथुत्व--जिह्वेन्द्रिय के सिवाय शेष चारों इन्द्रियों का पृथुत्व (विशालता= विस्तार) अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। जिह्वेन्द्रिय का पृथुत्व अंगुलपृथक्त्वप्रमाण है, किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना है कि स्पर्शेन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चारों इन्द्रियों का पृथुत्व (विस्तार) आत्मांगुल से समझना चाहिए। केवल स्पर्शेन्द्रिय का पृथुत्व उत्सेधांगुल से जानना चाहिए।[2]

चतुर्थ-पंचम कतिप्रदेशद्वार एवं अवगाढद्वार

९७७. [१] सोइंदिए णं भंते ! कतिपएसिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! अणंतपएसिए पण्णत्ते।

[९७७-१ प्र.] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय कितने प्रदेश वाली कही गई है ?

[९७७-१ उ.] गौतम ! (श्रोत्रेन्द्रिय) अनन्त-प्रदेशी कही गई है।

[२] एवं जाव फासिंदिए।

[९७७-२] इसी प्रकार यावत् स्पर्शेन्द्रिय (के प्रदेशों के सम्बन्ध में कहना चाहिए)।

९७८. [१] सोइंदिए णं भंते ! कतिपएसोगाढे पण्णत्ते ?

गोयमा ! असंखेज्जपएसोगाढे पण्णत्ते।

[९७८-१ प्र.] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय कितने प्रदेशों में अवगाढ कही गई है ?

[९७८-१ उ.] गौतम ! (श्रोत्रेन्द्रिय) असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ कही है।

[२] एवं जाव फासिंदिए।

[९७८-२] इसी प्रकार (चक्षुरिन्द्रिय से लेकर) यावत् स्पर्शेन्द्रिय तक के विषय में कहना चाहिए।

विवेचन--चतुर्थ-पंचम कतिप्रदेशद्वार एवं अवगाढद्वार—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ९७७-९७८) में बताया गया है कि कौन-सी इन्द्रिय कितने प्रदेशों वाली है तथा कितने प्रदेशों में अवगाढ है ?

अवगाहनादि की दृष्टि से अल्पबहुत्वद्वार

९७९. एएसि णं भंते ! सोइंदिय-चक्खिंदिय-घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियाणं ओगाहणट्ठयाए पएसट्ठयाए ओगाहणपएसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे चक्खिंदिए ओगाहणट्ठयाए सोइंदिए ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे, घाणिंदिए ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे, जिब्भिंदिए ओगाहणट्ठयाए असंखेज्जगुणे, फासिंदिए ओगाहणट्ठ-

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २९४

२. वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक २९४

याए संखेज्जगुणे; पदेसट्ठयाए—सव्वत्थोवे चक्खिंदिए पदेसट्ठयाए, सोइंदिए पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणे, घाणिंदिए पएसट्ठयाए संखेज्जगुणे, जिब्भिंदिए पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणे, फासिंदिए पएसट्ठयाए संखेज्जगुणे; ओगाहणपएसट्ठयाए—सव्वत्थोवे चक्खिंदिए ओगाहणट्ठयाए, सोइंदिए ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे, घाणिंदिए ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे, जिब्भिंदिए ओगाहणट्ठयाए असंखेज्जगुणे, फासिंदिए ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे, फासिंदियस्स ओगाहणट्ठयाएहिंतो चक्खिंदिए पएसट्ठयाए अणंतगुणे, सोइंदिए पएसट्ठयाए संखेज्जगुणे, घाणिंदिए पएसट्ठयाए संखेज्जगुणे, जिब्भिंदिए पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणे, फासिंदिए पएसट्ठयाए संखेज्जगुणे।

[९७९ प्र.] भगवन् ! इन श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय में से अवगाहना की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से तथा अवगाहना और प्रदेशों की अपेक्षा से कौन, किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

[९७९ उ.] गौतम ! अवगाहना की अपेक्षा से सबसे कम चक्षुरिन्द्रिय है, (उससे) श्रोत्रेन्द्रिय अवगाहना की अपेक्षा से संख्यातगुणी है, (उससे) घ्राणेन्द्रिय अवगाहना की अपेक्षा से संख्यातगुणी है, (उससे) जिह्वेन्द्रिय अवगाहना की अपेक्षा से असंख्यातगुणी है, (उसकी अपेक्षा) स्पर्शनेन्द्रिय अवगाहना की दृष्टि से संख्यातगुणी है। प्रदेशों की अपेक्षा से—सबसे कम चक्षुरिन्द्रिय है, (उससे) श्रोत्रेन्द्रिय प्रदेशों की अपेक्षा से संख्यातगुणी है, (उससे) घ्राणेन्द्रिय प्रदेशों की अपेक्षा से संख्यातगुणी है, (उससे) जिह्वेन्द्रिय प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुणी है, (उसकी अपेक्षा) स्पर्शनेन्द्रिय प्रदेशों की अपेक्षा से संख्यातगुणी है। अवगाहना और प्रदेशों की अपेक्षा से—सबसे कम अवगाहना की दृष्टि से चक्षुरिन्द्रिय है, (उससे) अवगाहना की अपेक्षा से श्रोत्रेन्द्रिय संख्यातगुणी है, (उससे) घ्राणेन्द्रिय अवगाहना की अपेक्षा से संख्यातगुणी है, (उससे) जिह्वेन्द्रिय अवगाहना की अपेक्षा से असंख्यातगुणी है, (उससे) स्पर्शनेन्द्रिय अवगाहना की अपेक्षा से संख्यातगुणी है, स्पर्शनेन्द्रिय की अवगाहनार्थता से चक्षुरिन्द्रिय प्रदेशार्थता से अनन्तगुणी है, (उससे) श्रोत्रेन्द्रिय प्रदेशों की अपेक्षा से संख्यातगुणी है, (उससे) घ्राणेन्द्रिय प्रदेशों की अपेक्षा से संख्यातगुणी है, (उससे) जिह्वेन्द्रिय प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुणी है, (उससे) स्पर्शनेन्द्रिय प्रदेशों की अपेक्षा से संख्यातगुणी है।

९८०. [१] सोइंदियस्स णं भंते ! केवतिया कक्खडगरुयगुणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! अणंता कक्खडगरुयगुणा पण्णत्ता।

[९८०-१ प्र.] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय के कर्कश और गुरु गुण कितने कहे गए हैं ?

[९८०-१ उ.] गौतम ! (श्रोत्रेन्द्रिय के) अनन्त कर्कश और गुरु गुण कहे गए हैं।

[२] एवं जाव फासिंदियस्स।

[९८०-२] इसी प्रकार (चक्षुरिन्द्रिय से लेकर) यावत् स्पर्शनेन्द्रिय (तक के कर्कश और गुरु गुण के विषय में कहना चाहिए।)

९८१. [१] सोइंदियस्स णं भंते ! केवतिया मउयलहुयगुणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! अणंता मउयलहुयगुणा पण्णत्ता।

[९८१-१ प्र.] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय के मृदु और लघु गुण कितने कहे गए हैं ?

[९८१-१ उ.] गौतम ! (श्रोत्रेन्द्रिय के) मृदु और लघु गुण अनन्त कहे गए हैं।

[२] एवं जाव फासिंदियस्स।

[९८१-२] इसी प्रकार (चक्षुरिन्द्रिय से लेकर) स्पर्शनेन्द्रिय (तक के मृदु-लघु गुण के विषय में कहना चाहिए।)

९८२. एतेसि णं भंते ! सोइंदिय-चक्खिंदिय-घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियाणं कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुयगुणाणं कक्खडगरुयगुण-मउयलहुयगुणाण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा चक्खिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा, सोइंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा, घाणिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा, जिब्भिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा, फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा; मउयलहुयगुणाणं सव्वत्थोवा फासिंदियस्स मउयलहुयगुणा, जिब्भिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा, घाणिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा, सोइंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा, चक्खिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा; कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुयगुणाण य सव्वत्थोवा चक्खिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा, सोइंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा, घाणिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा, अणंतगुणा, जिब्भिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा, फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा, फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणेहिंतो तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा, जिब्भिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा, घाणिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा, सोइंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा, चक्खिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा।

[९८२ प्र.] भगवन् ! इन श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के कर्कश-गुरु-गुणों और मृदु-लघु-गुणों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य और विशेषाधिक हैं ?

[९८२ उ.] गौतम ! सबसे कम चक्षुरिन्द्रिय के कर्कश-गुरु-गुण हैं, (उनसे) श्रोत्रेन्द्रिय के कर्कश-गुरु-गुण अनन्तगुणे हैं, (उनसे) घ्राणेन्द्रिय के कर्कश-गुरु-गुण अनन्तगुणे हैं, (उनसे) जिह्वेन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुण अनन्तगुणे हैं (और उनसे) स्पर्शनेन्द्रिय के कर्कश-गुरु-गुण अनन्तगुणे हैं। मृदु-लघु गुणों में से—सबसे थोड़े स्पर्शनेन्द्रिय के मृदु-लघुगुण हैं, (उनसे) जिह्वेन्द्रिय के मृदु-लघुगुण अनन्तगुणे हैं, (उनसे) घ्राणेन्द्रिय के मृदु-लघुगुण अनन्तगुणे हैं, (उनसे) श्रोत्रेन्द्रिय के मृदु-लघुगुण अनन्तगुणे हैं, (उनसे) चक्षुरिन्द्रिय के मृदु-लघुगुण अनन्तगुणे हैं। कर्कश-गुरुगुणों और मृदु-लघुगुणों में से सबसे कम चक्षुरिन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुण हैं, (उनसे) श्रोत्रेन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुण अनन्तगुणे हैं, (उनसे) घ्राणेन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुण अनन्तगुणे हैं, (उनसे) जिह्वेन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुण अनन्तगुणे हैं, (उनसे) स्पर्शेन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुण अनन्तगुणे हैं। स्पर्शनेन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुणों से उसी के मृदु-लघुगुण अनन्तगुणे हैं, (उनसे) जिह्वेन्द्रिय के मृदु-लघुगुण अनन्तगुणे हैं, (उनसे) घ्राणेन्द्रिय के मृदु-लघुगुण अनन्तगुणे हैं, (उनसे) श्रोत्रेन्द्रिय के मृदु-लघुगुण अनन्तगुणे हैं, (और उनसे भी) चक्षुरिन्द्रिय के मृदु-लघुगुण अनन्तगुणे हैं।

विवेचन -इन्द्रियों के अवगाहना-प्रदेश, कर्कश-गुरु तथा मृदु-लघुगुण आदि की अपेक्षा से

अल्पबहुत्व—प्रस्तुत चार सूत्रों में इन्द्रियों के अवगाहना, प्रदेश एवं अवगाहना-प्रदेश की अपेक्षा से तथा इन्द्रियों के कर्कश-गुरु एवं मृदु-लघु गुणों में अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है।

अवगाहना की दृष्टि से अल्पबहुत्व—अवगाहना की दृष्टि से सबसे कम प्रदेशों में अवगाढ चक्षुरिन्द्रिय है, उससे श्रोत्रेन्द्रिय अवगाहना की अपेक्षा संख्यातगुणी अधिक है, क्योंकि वह चक्षुरिन्द्रिय की अपेक्षा अत्यधिक प्रदेशों में अवगाढ है। उसकी अपेक्षा घ्राणेन्द्रिय की अवगाहना संख्यातगुणी अधिक है, क्योंकि वह और भी अधिक प्रदेशों में अवगाढ है। उससे जिह्वेन्द्रिय अवगाहना की दृष्टि से असंख्यातगुणी अधिक है, क्योंकि जिह्वेन्द्रिय का विस्तार अंगुलपृथक्त्व-प्रमाण है, जबकि पूर्वोक्त चक्षु आदि तीन इन्द्रियाँ, प्रत्येक अंगुल के असंख्यातवें भाग विस्तार वाली हैं। जिह्वेन्द्रिय से स्पर्शनेन्द्रिय अवगाहना की अपेक्षा संख्यातगुणी अधिक ही संगत होती है, असंख्यातगुणी अधिक नहीं, क्योंकि जिह्वेन्द्रिय का विस्तार अंगुलपृथक्त्व—(दो अंगुल से नौ अंगुल तक) का होता है, जबकि स्पर्शनेन्द्रिय शरीर-परिमाण है। शरीर अधिक से अधिक बड़ा लक्ष योजन तक का हो सकता है। ऐसी स्थिति में वह कैसे असंख्यातगुणी अधिक हो सकती है? अतएव जिह्वेन्द्रिय से स्पर्शनेन्द्रिय को संख्यातगुणा अधिक कहना ही युक्तिसंगत है।

इसी क्रम से प्रदेशों की अपेक्षा से तथा अवगाहना और प्रदेशों की अपेक्षा से उपर्युक्त युक्ति के अनुसार अल्पबहुत्व की प्ररूपणा समझ लेनी चाहिए।

इन्द्रियों के कर्कश-गुरु और मृदु-लघु गुणों का अल्पबहुत्व—पांचों इन्द्रियों में कर्कशता तथा मृदुता एवं गुरुता तथा लघुता गुण विद्यमान हैं। उनका अल्पबहुत्व यहाँ प्ररूपित है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शनेन्द्रियाँ अनुक्रम से कर्कश-गुरुगुण में अनन्त-अनन्तगुणी अधिक हैं। इन्हीं इन्द्रियों के मृदु-लघुगुण पश्चानुक्रम से अनन्त-अनन्तगुणे अधिक बतलाए गए हैं। कर्कश-गुरुगुणों और मृदु-लघुगुणों के युगपद् अल्पबहुत्व-विचार में स्पर्शनेन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुणों से उसी के मृदु-लघुगुण अनन्तगुणे बताए हैं, उसका कारण यह है कि शरीर में कुछ ही ऊपरी प्रदेश शीत, आतप आदि के सम्पर्क से कर्कश होते हैं, तदन्तर्गत बहुत-से अन्य प्रदेश तो मृदु ही रहते हैं। अतएव स्पर्शनेन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुणों की अपेक्षा से उसके मृदु-लघुगुण अनन्तगुणे अधिक होते हैं।[1]

चौबीस दण्डकों में संस्थानादि छह द्वारों की प्ररूपणा

९८३. [१] णेरइयाणं भंते ! कइ इंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचेंदिया पण्णत्ता। तं जहा—सोइंदिए जाव फासिंदिए।

[९८३-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के कितनी इन्द्रियाँ कही हैं ?

[९८३-१ उ.] गौतम ! (उनके) पांच इन्द्रियाँ कही हैं, वे इस प्रकार—श्रोत्रेन्द्रिय से लेकर स्पर्शनेन्द्रिय तक।

[२] णेरइयाणं भंते ! सोइंदिए किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! कलंबुयासंठाणसंठिए पण्णत्ते। एवं जहेव ओहियाणं वत्तव्वया भणिया (सु. ९७४ तः ९८२) तहेव णेरइयाणं पि जाव अप्पाबहुयाणि वोण्णि वि। णवरं णेरइयाणं भंते ! फासिंदिए किंसंठिए पण्णत्ते ?

---

१. प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक २९६

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—भवधारणिज्जे य उत्तरवेउव्विए य, तत्थ णं जे से भवधारणिज्जे से णं हुंडसंठाणसंठिए पण्णत्ते, तत्थ णं जे से उत्तरवेउव्विए से वि तहेव । सेसं तं चेव ।

[९८३-२ प्र.] भगवन् ! नारकों की श्रोत्रेन्द्रिय किस आकार की होती है ?

[९८३-२ उ.] गौतम ! (उनकी श्रोत्रेन्द्रिय) कदम्बपुष्प के आकार की होती है । इसी प्रकार जैसे समुच्चय जीवों की पंचेन्द्रियों की वक्तव्यता कही है, वैसी ही नारकों की संस्थान, बाहल्य, पृथुत्व, कतिप्रदेश, अवगाढ और अल्पबहुत्व, इन छह द्वारों की भी वक्तव्यता कहनी चाहिए । विशेष यह है कि नैरयिकों की स्पर्शनेन्द्रिय किस आकार की कही गई है ? (इस प्रश्न के उत्तर में इस प्रकार कहा गया है—) गौतम ! नारकों की स्पर्शनेन्द्रिय दो प्रकार की कही गई है, यथा—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय । उनमें से जो भवधारणीय (स्पर्शनेन्द्रिय) है, वह हुण्डकसंस्थान की है और जो उत्तरवैक्रिय स्पर्शनेन्द्रिय है, वह भी हुण्डकसंस्थान की है । शेष (सब प्ररूपणा पूर्ववत् समझनी चाहिए ।)

९८४. असुरकुमाराणं भंते ! कति इंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचेंदिया पण्णत्ता । एवं जहा ओहियाणं (९७३ सः ९८२) जाव अप्पाबहुयाणि वोण्णि वि । णवरं फासेंदिए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—भवधारणिज्जे य उत्तरवेउव्विए य । तत्थ णं जे से भवधारणिज्जे से णं समचउरंसंठाणसंठिए पण्णत्ते, तत्थ णं जे से उत्तरवेउव्विए से णं णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते । सेसं तं चेव । एवं जाव थणियकुमाराणं ।

[९८४ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के कितनी इन्द्रियाँ कही गई हैं ?

[९८४ उ.] गौतम ! (उनके) पांच इन्द्रियाँ कही हैं । इसी प्रकार जैसे (९७३ से ९८२ तक में) समुच्चय (औधिक) जीवों (के इन्द्रियों के संस्थान से लेकर दोनों प्रकार के अल्पबहुत्व तक) की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार असुरकुमारों की इन्द्रियसम्बन्धी वक्तव्यता कहनी चाहिए । विशेष यह कि (इनकी) स्पर्शनेन्द्रिय दो प्रकार की कही है, यथा भवधारणीय (स्पर्शनेन्द्रिय) समचतुरस्रसंस्थान वाली है और उत्तरवैक्रिय (स्पर्शनेन्द्रिय) नाना संस्थान वाली होती है । इसी प्रकार की (इन्द्रियसम्बन्धी) वक्तव्यता नागकुमार से लेकर स्तनितकुमारों तक की (समझ लेनी चाहिए ।)

९८५. [१] पुढविकाइयाणं भंते ! कति इंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! एगे फासिंदिए पण्णत्ते ।

[९८५-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के कितनी इन्द्रियाँ कही गई हैं ?

[९८५-१ उ.] गौतम ! (उनके) एक स्पर्शनेन्द्रिय (ही) कही है ।

[२] पुढविकाइयाणं भंते ! फासिंदिए किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! मसूरचंदसंठिए पण्णत्ते ।

[९८५-२ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों की स्पर्शनेन्द्रिय किस आकार (संस्थान) की कही गई है ?

[९८५-२ उ.] गौतम ! (उनकी स्पर्शनेन्द्रिय) मसूर-चन्द्र के आकार की कही है ।

[३] पुढविकाइयाणं भंते ! फासिंदिए केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?
गोयमा ! अंगुलस्स असंखेज्जइभागं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

[९८५-३ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों की स्पर्शनेन्द्रिय का बाहल्य (स्थूलता) कितना कहा गया है ?

[९८५-३ उ.] गौतम ! (उनका) बाहल्य अंगुल के असंख्यातवें भाग (-प्रमाण) कहा है।

[४] पुढविकाइयाणं भंते ! फासिंदिए केवतियं पोहत्तेणं पण्णत्ते ?

गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ते पोहत्तेणं पण्णत्ते ।

[९८५-४ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों की स्पर्शनेन्द्रिय का पृथुत्व (विस्तार) कितना कहा गया है ?

[९८५-४] गौतम ! (उनकी स्पर्शनेन्द्रिय का) विस्तार उनके शरीरप्रमाणमात्र है ।

[५] पुढविकाइयाणं भंते ! फासिंदिए कतिपएसिए पण्णत्ते ?
गोयमा ! अणंतपएसिए पण्णत्ते ।

[९८५-५ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों की स्पर्शनेन्द्रिय कितने प्रदेशों की कही है ?
[९८५-८ उ.] गौतम ! अनन्तप्रदेशी कही गई है ।

[६] पुढविकाइयाणं भंते ! फासिंदिए कतिपएसोगाढे पण्णत्ते ?

गोयमा ! असंखेज्जपएसोगाढे पण्णत्ते ।

[९८५-६ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों की स्पर्शनेन्द्रिय कितने प्रदेशों में अवगाढ कही है ?
[९८५-६ उ.] गौतम ! असंख्यातप्रदेशों में अवगाढ कही है ।

[७] एतेसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं फासिंदियस्स ओगाहण-पएसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे पुढविकाइयाणं फासिंदिए ओगाहणट्ठयाए, से चेव पएसट्ठयाए अणंतगुणे ।

[९८५-७ प्र.] भगवन् ! इन पृथ्वीकायिकों की स्पर्शनेन्द्रिय, अवगाहना की अपेक्षा और प्रदेशों की अपेक्षा से कौन, किससे अल्प, बहुत तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

[९८५-७ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिकों की स्पर्शनेन्द्रिय अवगाहना की अपेक्षा सबसे कम है, प्रदेशों की अपेक्षा से अनन्तगुणी (अधिक) है ।

[८] पुढविकाइयाणं भंते ! फासिंदियस्स केवतिया कक्खडगरुयगुणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! अणंता । एवं मउयलहुयगुणा वि ।

[९८५-८ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों की स्पर्शनेन्द्रिय के कर्कश-गुरु-गुण कितने कहे गए हैं ?

[९८५-८ उ.] गौतम ! (वे) अनन्त कहे हैं। इसी प्रकार (उसके) मृदु-लघुगुणों के विषय में भी समझना चाहिए।

[९] एतेसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं फासेंदियस्स कक्खडगरुयगुण-मउयलहुयगुणाणं कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा पुढविकाइयाणं फासेंदियस्स कक्खडगरुयगुणा, तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा।

[९८५-९ प्र.] भगवन् ! इन पृथ्वीकायिकों की स्पर्शनेन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुणों और मृदु-लघुगुणों में से कौन, किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[९८५-९ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिकों के स्पर्शनेन्द्रिय के कर्कश और गुरु गुण सबसे कम हैं, (उनकी अपेक्षा) मृदु तथा लघु गुण अनन्तगुणे हैं।

९८६. एवं आउक्काइयाण वि जाव वणप्फइकाइयाणं। णवरं संठाणे इमो विसेसो बहुव्वो—आउक्काइयाणं थिबुगबिंदुसंठाणसंठिए पण्णत्ते, तेउक्काइयाणं सूईकलावसंठाणसंठिए पण्णत्ते, वाउक्काइयाणं पडागासंठाणसंठिए पण्णत्ते, वणप्फइकाइयाणं णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते।

[९८६] पृथ्वीकायिकों (के स्पर्शनेन्द्रिय संस्थान के बाहल्य आदि) की (सू. ९८५-१ से ९ तक में उल्लिखित) वक्तव्यता के समान अप्कायिकों से लेकर (तेजस्कायिक, वायुकायिक, और) वनस्पतिकायिकों तक (के स्पर्शनेन्द्रियसम्बन्धी संस्थान, बाहल्य आदि) की वक्तव्यता समझ लेनी चाहिए; किन्तु इनके संस्थान के विषय में यह विशेषता समझ लेनी चाहिए—अप्कायिकों की स्पर्शनेन्द्रिय (जल) बिन्दु के आकार की कही है, तेजस्कायिकों की स्पर्शनेन्द्रिय सूचीकलाप (सूइयों के ढेर) के आकार की कही है, वायुकायिकों की स्पर्शनेन्द्रिय पताका के आकार की कही है तथा वनस्पतिकायिकों की स्पर्शनेन्द्रिय का आकार नाना प्रकार का कहा गया है।

९८७. [१] बेइंदियाणं भंते ! कति इंदिया पण्णत्ता।

गोयमा ! दो इंदिया पण्णत्ता। तं जहा—जिब्भिंदिए य फासिंदिए य। दोण्हं पि इंदियाणं संठाणं बाहल्लं पोहत्तं पदेसा ओगाहणा य जहा ओहियाणं भणिया (सु. ९७४-९७८) तहा भाणियव्वा। णवरं फासेंदिए हुंडसंठाणसंठिए पण्णत्ते त्ति इमो विसेसो।

[९८७-१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों के कितनी इन्द्रियाँ कही गई हैं ?

[९८७-१ उ.] गौतम ! दो इन्द्रियाँ कही गई हैं, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय। दोनों इन्द्रियों के संस्थान, बाहल्य, पृथुत्व, प्रदेश और अवगाहना के विषय में जैसे (सू. ९८४ से ९७८ तक में) समुच्चय के संस्थानादि के विषय में कहा है, वैसा कहना चाहिए। विशेषता यह है कि (इनकी) स्पर्शनेन्द्रिय हुण्डकसंस्थान वाली होती है।

[२] एतेसि णं भंते ! बेइंदियाणं जिब्भिंदिय-फासेंदियाणं ओगाहणट्ठयाए पएसट्ठयाए ओगाहणपएसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे बेइंदियाणं जिब्भिंदिए ओगाहणट्ठयाए, फासेंदिए ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे; पएसट्ठयाए—सव्वत्थोवे बेइंदियाणं जिब्भिंदिए पएसट्ठयाए, फासेंदिए पएसट्ठयाए संखेज्जगुणे; ओगाहणएपसट्ठयाए—सव्वत्थोवे बेइंदियस्स जिब्भिंदिए ओगाहणट्ठयाए, फासिंदिए ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे, फासेंदियस्स ओगाहणट्ठयाएहिंतो जिब्भिंदिए पएसट्ठयाए अणंतगुणे, फासिंदिए पएसट्ठयाए संखेज्जगुणे ।

[९८७-२ प्र.] भगवन् ! इन द्वीन्द्रियों की जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय में से अवगाहना की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से तथा अवगाहना और प्रदेशों (दोनों) की अपेक्षा से कौन, किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

[९८७-२ उ.] गौतम ! अवगाहना की अपेक्षा से—द्वीन्द्रियों की जिह्वेन्द्रिय सबसे कम है, (उससे) अवगाहना की दृष्टि से संख्यातगुणी (उनकी) स्पर्शनेन्द्रिय है। प्रदेशों की अपेक्षा से—सबसे कम द्वीन्द्रिय की जिह्वेन्द्रिय है, (उसकी अपेक्षा) प्रदेशों की अपेक्षा से उनकी स्पर्शनेन्द्रिय है। अवगाहना और प्रदेशों की अपेक्षा से—द्वीन्द्रियों की जिह्वेन्द्रिय अवगाहना की अपेक्षा से सबसे कम है, (उससे उनकी) स्पर्शनेन्द्रिय अवगाहना की अपेक्षा से संख्यातगुणी अधिक है, स्पर्शनेन्द्रिय की अवगाहनार्थता से जिह्वेन्द्रिय प्रदेशों की अपेक्षा से अनन्तगुणी है। (उसकी अपेक्षा) स्पर्शनेन्द्रिय प्रदेशों की अपेक्षा से संख्यातगुणी है।

[३] बेइंदियाणं भंते ! जिब्भिंदियस्स केवइया कक्खडगरुयगुणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! अणंता । एवं फासेंदियस्स वि । एवं मउयलहुयगुणा वि ।

[९८७-३ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रियों की जिह्वेन्द्रिय के कितने कर्कश-गुरुगुण कहे गए हैं ?

[९८७-३ उ.] गौतम ! इनकी जिह्वेन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुण) अनन्त हैं। इसी प्रकार इनको स्पर्शनेन्द्रिय के भी (कर्कश-गुरुगुण अनन्त समझने चाहिए।) इसी तरह (इनकी जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के) मृदु-लघुगुण भी (अनन्त समझने चाहिए।)

[४] एतेसि णं भंते ! बेइंदियाणं जिब्भिंदिय-फासेंदियाणं कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुयगुणाणं कक्खडगरुयगुण-मउयलहुयगुणाण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा बेइंदियाणं जिब्भिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा, फासेंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा, फासेंदियस्स कक्खडगरुयगुणेहिंतो तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा, जिब्भिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा ।

[९८७-४ प्र.] भगवन् ! इन द्वीन्द्रियों की जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुणों तथा मृदु-लघुगुणों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[९८७-४ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े द्वीन्द्रियों के जिह्वेन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुण हैं, (उनसे) स्पर्शनेन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुण अनन्तगुणे हैं। स्पर्शनेन्द्रिय के कर्कश-गुरुगुणों से (इन्द्रिय) के मृदु-लघुगुण अनन्तगुणे हैं (और उससे भी) जिह्वेन्द्रिय के मृदु-लघुगुण अनन्तगुणे हैं।

[५] एवं जाव चउरिंदिय त्ति। णवरं इंदियपरिवुड्ढी कायव्वा। तेइंदियाणं घाणेंदिए थोवे, चउरिंदियाणं चक्खिंदिए थोवे। सेसं तं चेव।

[९८७-५] इसी प्रकार (द्वीन्द्रियों के संस्थान, बाहल्य, पृथुत्व, प्रदेश, अवगाहना और अल्प-बहुत्व के समान) यावत् चतुरिन्द्रिय (त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय के संस्थानादि) के विषय में कहना चाहिए। विशेष यह है कि (उत्तरोत्तर एक-एक) इन्द्रिय की परिवृद्धि करनी चाहिए। त्रीन्द्रिय जीवों की घ्राणेन्द्रिय थोड़ी होती है, (इसी प्रकार) चतुरिन्द्रिय जीवों की चक्षुरिन्द्रिय थोड़ी होती है। शेष (सब वक्तव्यता) उसी तरह (पूर्ववत् द्वीन्द्रियों के समान) ही है।

९८८. पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणूसाण य जहा णेरइयाणं (सु. ९८३)। णवरं फासिंदिए छव्विहसंठाणसंठिए पण्णत्ते। तं जहा– समचउरंसे १ णग्गोहपरिमंडले २ साती ३ खुज्जे ४ वामणे ५ हुंडे ६।

[९८८] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और मनुष्यों की इन्द्रियों की संस्थानादि सम्बन्धी वक्तव्यता (सूत्र ९८३ में अंकित) नारकों की इन्द्रिय-संस्थानादि सम्बन्धी वक्तव्यता के समान समझनी चाहिए। विशेषता यह है कि उनकी स्पर्शनेन्द्रिय छह प्रकार के संस्थानों वाली होती है। वे (छह संस्थान) इस प्रकार हैं—(१) समचतुरस्र, (२) न्यग्रोधपरिमण्डल, (३) सादि, (४) कुब्जक, (५) वामन और (६) हुण्डक।

९८९. वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं (सु. ९८४)।

[९८९] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की (इन्द्रिय-संस्थानादि सम्बन्धी वक्तव्यता) (सू. ९८४ में अंकित) असुरकुमारों की (इन्द्रिय-संस्थानादि सम्बन्धी वक्तव्यता के समान कहना चाहिए)।

विवेचन—चौवीस दण्डकों में संस्थानादि छह द्वारों की प्ररूपणा—नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक चौवीस दण्डकवर्ती जीवों की इन्द्रियों के संस्थान, बाहल्य, पृथुत्व, प्रदेश, अवगाहना एवं अल्प बहुत्व के सम्बन्ध में सात सूत्रों (सू. ९८३ से ९८९ तक) में प्ररूपणा की गई है।

नैरयिकों और असुरकुमारादि भवनवासियों की स्पर्शनेन्द्रिय के विशिष्ट संस्थान—नैरयिकों के शरीर (वैक्रियशरीर) दो प्रकार के होते हैं भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। भवधारणीय शरीर (स्पर्शनेन्द्रिय) उन्हें भवस्वभाव से मिलता है, जो कि अत्यन्त बीभत्स संस्थान (हुण्डक आकार) वाला होता है। उनका उत्तरवैक्रिय शरीर भी हुण्डकसंस्थान वाला ही होता है। क्योंकि वे चाहते तो हैं शुभ-सुखद शरीर की विक्रिया करना, किन्तु उनके अतीव अशुभ तथाविध नामकर्म के उदय से अत्यन्त अशुभतर वैक्रियशरीर बनता है।

असुरकुमारादि भवनवासियों के भी दो प्रकार के शरीर (स्पर्शनेन्द्रिय) होते हैं भवधारणीय एवं उत्तरवैक्रिय। उनका भवधारणीय शरीर तो समचतुरस्रसंस्थान वाला होता है, जो कि भव के प्रारम्भ से अन्त तक रहता है। उनका उत्तरवैक्रियशरीर नाना संस्थान (आकार) वाला होता है, क्योंकि उत्तरवैक्रियशरीर की मनचाही रचना वे स्वेच्छा से कर लेते हैं।[1]

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २९७-२९८

सप्तम-अष्टम स्पृष्ट एवं प्रविष्ट द्वार

९९०. [१] पुट्ठाइं भंते ! सद्दाइं सुणेइ ? अपुट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ ?

गोयमा ! पुट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ, नो अपुट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ ।

[९९०-१ प्र.] भगवन् (श्रोत्रेन्द्रिय) स्पृष्ट शब्दों को सुनती है या अस्पृष्ट शब्दों को (सुनती है) ?

[९९०-१ उ.] गौतम ! (वह) स्पृष्ट शब्दों को सुनती है, अस्पृष्ट शब्दों को नहीं सुनती ।

[२] पुट्ठाइं भंते ! रूवाइं पासइ ? अपुट्ठाइं रूवाइं पासइ ?

गोयमा ! णो पुट्ठाइं रूवाइं पासइ, अपुट्ठाइं रूवाइं पासति ।

[९९०-२ प्र.] भगवन् ! (चक्षुरिन्द्रिय) स्पृष्ट रूपों को देखती है, अथवा अस्पृष्ट रूपों को (देखती है) ?

[९९०-२ उ.] गौतम ! (वह) अस्पृष्ट रूपों को देखती है, स्पृष्ट रूपों को नहीं देखती ।

[३] पुट्ठाइं भंते ! गंधाइं अग्घाइ ? अपुट्ठाइं गंधाइं अग्घाइ ?

गोयमा ! पुट्ठाइं गंधाइं अग्घाइ, णो अपुट्ठाइं गंधाइं अग्घाइ ।

[९९०-३ प्र.] भगवन् ! (घ्राणेन्द्रिय) स्पृष्ट गन्धों को सूंघती है, अथवा अस्पृष्ट गन्धों को (सूंघती है) ?

[९९०-३ उ.] गौतम ! (वह) स्पृष्ट गन्धों को सूंघती है, अस्पृष्ट गन्धों को नहीं सूंघती ।

[४] एवं रसाणवि फासाणवि । णवरं रसाइं अस्सादेइ फासाइं पडिसंवेदेति त्ति अभिलावो कायव्वो ।

[९९०-४ प्र.] इस प्रकार (घ्राणेन्द्रिय की तरह जिह्वेन्द्रिय द्वारा) रसों के और (स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा) स्पर्शों के ग्रहण करने के विषय में भी समझना चाहिए । विशेष यह है कि (जिह्वेन्द्रिय) रसों का आस्वादन करती (चखती) है और (स्पर्शनेन्द्रिय) स्पर्शों का प्रतिसंवेदन (अनुभव) करती है, ऐसा अभिलाप (शब्दप्रयोग) करना चाहिए ।

९९१. [१] पविट्ठाइं भंते ! सद्दाइं सुणेइ ? अपविट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ ?

गोयमा ! पविट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ, णो अपविट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ ।

[९९१-१ प्र.] भगवन् ! (श्रोत्रेन्द्रिय) प्रविष्ट शब्दों को सुनती है या अप्रविष्ट शब्दों को (सुनती है) ?

[९९१-१ उ.] गौतम ! (वह) प्रविष्ट शब्दों को सुनती है, अप्रविष्ट शब्दों को नहीं सुनती ।

[२] एवं जहा पुट्ठाणि तहा पविट्ठाणि वि ।

[९९१-२] इसी प्रकार जैसे स्पृष्ट के विषय में कहा, उसी प्रकार प्रविष्ट के विषय में भी कहना चाहिए ।

विवेचन– सप्तम-अष्टम स्पृष्ट एवं प्रविष्ट द्वार—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ९९०-९९१) में यह प्रतिपादन किया गया है कि कौन-सी इन्द्रिय अपने स्पृष्ट विषय को ग्रहण करती है और कौन-सी अस्पृष्ट विषय को ? तथा कौन-सी इन्द्रिय प्रविष्ट विषय को ग्रहण करती है और कौन-सी अप्रविष्ट विषय को ?

स्पृष्ट और अस्पृष्ट की व्याख्या—जैसे शरीर पर रेत लग जाती है, उसी तरह इन्द्रिय के साथ विषय का स्पर्श हो तो वह स्पृष्ट कहलाता है। जिस इन्द्रिय का अपने विषय के साथ स्पर्श नहीं होता, वह अस्पृष्ट विषय कहलाता है। जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय के साथ जिनका स्पर्श हुआ हो, वे शब्द (विषय) स्पृष्ट कहलाते हैं, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय के साथ जिनका स्पर्श न हुआ हो, ऐसे रूप (विषय) अस्पृष्ट कहलाते हैं।[1]

स्पृष्टसूत्र का विशेष स्पष्टीकरण—प्रस्तुत समाधान से एक विशिष्ट अर्थ भी ध्वनित होता है कि श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्टमात्र शब्दद्रव्यों को ही सुनती—ग्रहण कर लेती है। जैसे घ्राणेन्द्रियादि बद्ध और स्पृष्ट गन्धादि को ग्रहण करती है, वैसे श्रोत्रेन्द्रिय नहीं करती। इसका कारण यह है कि घ्राणेन्द्रियादि के विषयभूत द्रव्यों की अपेक्षा शब्द (भाषावर्गणा) के द्रव्य (पुद्गल) सूक्ष्म और बहुत होते हैं तथा शब्दद्रव्य उस-उस क्षेत्र में रहे हुए शब्द रूप में परिणमनयोग्य अन्य शब्दद्रव्यों को भी वासित कर लेते हैं। अतएव शब्दद्रव्य आत्मप्रदेशों के साथ स्पृष्ट होते ही निर्वृत्तीन्द्रिय में प्रवेश करके झटपट उपकरणेन्द्रिय (शब्द ग्रहण करने वाली शक्ति) को अभिव्यक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त घ्राणेन्द्रिय आदि की अपेक्षा श्रोत्रेन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करने में अधिक पटु है; इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट होने मात्र से ही शब्दों को ग्रहण कर लेती है, किन्तु अस्पृष्ट—आत्मप्रदेशों के साथ सर्वथा सम्बन्ध को अप्राप्त—विषयों (शब्दों) को ग्रहण नहीं करती, क्योंकि प्राप्यकारी होने से उसका स्वभाव प्राप्त-स्पृष्ट विषय को ग्रहण करने का है। यद्यपि मूलपाठ में कहा गया है कि 'घ्राणेन्द्रिय स्पृष्ट गन्धों को सूंघती है, इत्यादि; तथापि वह **बद्ध-स्पृष्ट** गन्धों को सूंघती है, ऐसा समझना चाहिए। आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है कि श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट शब्द को सुनती है, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय अस्पृष्ट रूप को देखती है तथा गन्ध, रस और स्पर्श को क्रमशः घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय (अपने-अपने) बद्ध-स्पृष्ट विषय को ग्रहण करती है, ऐसा कहना चाहिए।[2] स्पृष्ट का अर्थ—आत्मप्रदेशों के साथ सम्पर्कप्राप्त है, जबकि बद्ध का अर्थ है—आत्मप्रदेशों के द्वारा प्रगाढ़ संबंध को प्राप्त।[3] विषय, स्पृष्ट तो स्पर्शमात्र से ही हो जाते हैं किन्तु बद्ध-स्पृष्ट तभी होते हैं, जब वे आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक हो जाते हैं। गृहीत होने के लिए गन्धादि द्रव्यों का बद्ध और स्पृष्ट होना इसलिए आवश्यक है कि वे बादर हैं, अल्प हैं, वे अपने समकक्ष द्रव्यों को भावित नहीं करते तथा श्रोत्रेन्द्रिय की अपेक्षा घ्राणेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ मन्दशक्ति वाली भी हैं। चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी होने से अस्पृष्ट रूपों को ग्रहण करती है।

प्रविष्ट-अप्रविष्ट की व्याख्या—स्पृष्ट और प्रविष्ट में अन्तर यह है कि स्पर्श तो शरीर में रेत लगने की तरह होता है, किन्तु प्रवेश मुख में कौर (ग्रास) जाने की तरह है, इसलिए इन दोनों के

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २९८

२. पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु।
गंधं रसं च फासं च बद्ध-पुट्ठं वियागरे॥ —आवश्यकनिर्युक्ति

३. 'बद्धमप्पीकयं पएसेहिं' प्रज्ञापना. म. वृ., पत्रांक २९८ में उद्धृत

शब्दार्थ भिन्न होने से दोनों को पृथक्-पृथक् प्रस्तुत किया है। इन्द्रियों द्वारा अपने अपने उपकरण में प्रविष्ट विषयों को ग्रहण करना प्रविष्ट कहलाता है। जैसे श्रोत्रेन्द्रिय प्रविष्ट अर्थात्—कर्णकुहर में प्राप्त शब्दों को सुनती है, अप्रविष्ट शब्दों को नहीं। चक्षुरिन्द्रिय चक्षु में अप्रविष्ट रूप को ग्रहण करती है। घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय अपने-अपने उपकरण में बद्ध-प्रविष्ट विषय को ग्रहण करती हैं।[1]

नौवाँ विषय (-परिमाण) द्वार

९९२. [१] **सोइंदियस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ?**

गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागाओ, उक्कोसेणं बारसहि जोयणेहिंतो अच्छिण्ण पोग्गले पुट्ठे पविट्ठाइं सद्दाइं सुणेति।

[९९२-१ प्र.] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय का विषय कितना कहा गया है ?

[९९२-१ उ.] गौतम ! (श्रोत्रेन्द्रिय) जघन्य अंगुल के असंख्यात भाग (दूर शब्दों को) एवं उत्कृष्ट बारह योजनों से (१२ योजन दूर से) आए अविच्छिन्न (विच्छिन्न, विनष्ट या बिखरे न हुए) शब्दवर्गणा के पुद्गल के स्पृष्ट होने पर (निर्वृत्तीन्द्रिय में) प्रविष्ट शब्दों को सुनती है।

[२] चक्खिदियस्स णं भंते ! केवतिए विसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जतिभागाओ, उक्कोसेणं सातिरेगाओ जोयणसयसहस्साओ अच्छिण्णे पोग्गले अपुट्ठे अपविट्ठाइं रूवाइं पासति।

[९९२-२ प्र.] भगवन् ! चक्षुरिन्द्रिय का विषय कितना कहा गया है ?

[९९२-२ उ.] गौतम ! (चक्षुरिन्द्रिय) जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग (दूर स्थित रूपों को) एवं उत्कृष्ट एक लाख योजन से कुछ अधिक (दूर) के अविच्छिन्न (रूपवान्) पुद्गलों के अस्पृष्ट एवं अप्रविष्ट रूपों को देखती है।

[३] घाणिंदियस्स पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागातो, उक्कोसेणं णवहिं जोयणेहिंतो अच्छिण्णे पोग्गले पुट्ठे पविट्ठाइं गंधाइं अग्घाति।

[९९२-३ प्र.] भगवन् ! घ्राणेन्द्रिय का विषय कितना कहा गया है ? यह प्रश्न है।

[९९२-३ उ.] गौतम ! (घ्राणेन्द्रिय) जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग (दूर से आए गन्धों को) और उत्कृष्ट नौ योजनों से आए अविच्छिन्न (गन्ध-) पुद्गल के स्पृष्ट होने पर (निर्वृत्तीन्द्रिय में) प्रविष्ट गन्धों को सूंघ लेती है।

[४] एवं जिब्भिंदियस्स वि फासिंदियस्स वि।

[९९२-४] जैसे घ्राणेन्द्रिय के विषय (-परिमाण) का निरूपण किया है, वैसे ही जिह्वेन्द्रिय एवं स्पर्शनेन्द्रिय के विषय-परिमाण के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २९८-२९९

विवेचन—नौवाँ विषय (-परिणाम) द्वार—प्रस्तुत सूत्र (९९२) में क्रमशः बताया गया है कि कितनी दूर से पांचों इन्द्रियों में अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की जघन्य और उत्कृष्ट क्षमता है ?

इन्द्रियों की विषय-ग्रहणक्षमता—(१) श्रोत्रेन्द्रिय जघन्यतः आत्मांगुल के असंख्यातवें भाग दूर से आए हुए शब्दों को सुन सकती है और उत्कृष्ट १२ योजन दूर से आए हुए शब्दों को सुनती है, बशर्ते कि वे शब्द अच्छिन्न अर्थात्—अव्यवहित हों, उनका तांता टूटना या बिखरना नहीं चाहिए। दूसरे शब्दों या वायु आदि से उनकी शक्ति प्रतिहत न हो गई हो, साथ ही वे शब्द-पुद्गल स्पृष्ट होने चाहिए, अस्पृष्ट शब्दों को श्रोत्र ग्रहण नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त वे शब्द निर्वृत्तीन्द्रिय में प्रविष्ट भी होने चाहिए। इससे अधिक दूरी से आए हुए शब्दों का परिणमन मन्द हो जाता है, इसलिए वे श्रवण करने योग्य नहीं रह जाते। (२) चक्षुरिन्द्रिय जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग की दूरी पर स्थित रूप को तथा उत्कृष्ट एक लाख योजन दूरी पर स्थित रूप को देख सकती है। किन्तु वह रूप अच्छिन्न (दीवाल आदि के व्यवधान से रहित), अस्पृष्ट और अप्रविष्ट पुद्गलों को देख सकती है। इससे आगे के रूप को देखने की शक्ति नेत्र में नहीं है, चाहे व्यवधान न भी हो। निष्कर्ष यह है कि श्रोत्र आदि चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी होने से जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग दूर के शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श को ग्रहण कर सकती हैं, जबकि चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी होने से जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग दूर स्थित अव्यवहित रूपी द्रव्य को देखती है, इससे अधिक निकटवर्तीरूप को वह नहीं जान सकती, क्योंकि अत्यन्त सन्निकृष्ट अंजन, रज, मस आदि को भी नहीं देख पाती। शेष सभी इन्द्रियों के द्वारा विषयग्रहण की क्षमता का प्रतिपादन स्पष्ट ही है।[1]

दसवाँ अनगार-द्वार

९९३. अणगारस्स णं भंते ! भाविअप्पणो मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स जे चरिमा णिज्जरापोग्गला सुहुमा णं ते पोग्गला पण्णत्ता समणाउसो ! सव्वलोगं पि य णं ते ओगाहित्ता णं चिट्ठंति ?

हंता गोयमा ! अणगारस्स णं भाविअप्पणो मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स जे चरिमा णिज्जरापोग्गला सुहुमा णं ते पोग्गला पण्णत्ता समणाउसो ! सव्वलोगं पि य णं ते ओगाहित्ता णं चिट्ठंति।

[९९३ प्र.] भगवन् ! मारणान्तिक समुद्घात से समवहत भावितात्मा अनगार के जो चरम निर्जरा-पुद्गल हैं, क्या वे पुद्गल सूक्ष्म कहे गए हैं ? हे आयुष्मन् श्रमण ! क्या वे सर्वलोक को अवगाहन करके रहते हैं ?

[९९३ उ.] हाँ, गौतम ! मारणान्तिक समुद्घात से समवहत भावितात्मा अनगार के जो

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २९९ से ३०२ तक

(ख) बारसहिंतो सोत्तं, सेसाण नवहि जोयणेहिंतो।
गिण्हंति पत्तमत्थं एत्तो परतो न गिण्हंति ॥

—विशेषा. भाष्य

चरमनिर्जरा-पुद्गल हैं, वे सूक्ष्म कहे हैं; हे आयुष्मन् श्रमण ! वे समग्र लोक को अवगाहन करके रहते हैं।

९९४. छउमत्थे णं भंते ! मणूसे तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं किं आणत्तं वा णाणत्तं वा ओमत्तं वा तुच्छत्तं वा गरुयत्तं वा लहुयत्तं वा जाणइ पासइ ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ छउमत्थे णं मणूसे तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं णो किंचि आणत्तं वा णाणत्तं वा ओमत्तं वा तुच्छत्तं वा गरुयत्तं वा लहुयत्तं वा जाणइ पासइ ?

गोयमा ! देवे वि य णं अत्थेगइए जे णं तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं णो किंचि आणत्तं वा णाणत्तं वा ओमत्तं वा तुच्छत्तं वा गरुयत्तं वा लहुयत्तं वा जाणइ पासइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ -छउमत्थे णं मणूसे तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं णो किंचि आणत्तं वा णाणत्तं वा ओमत्तं वा तुच्छत्तं वा गरुयत्तं वा लहुयत्तं वा जाणइ पासइ, सुहुमा णं ते पोग्गला पण्णत्ता समणाउसो !, सव्वलोगं पि य णं ते ओगाहित्ता चिट्ठंति।

[९९४ प्र.] भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य उन (चरम-) निर्जरा-पुद्गलों के अन्यत्व या नानात्व, हीनत्व (अवमत्व) अथवा तुच्छत्व, गुरुत्व या लघुत्व को जानता-देखता है ?

[९९४ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) शक्य नहीं है।

[प्र.] भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहते हैं कि छद्मस्थ मनुष्य उन (भावितात्मा अनगार के चरमनिर्जरा पुद्गलों) के अन्यत्व, नानात्व, हीनत्व, तुच्छत्व, गुरुत्व अथवा लघुत्व को नहीं जानता-देखता है ?

[उ.] (मनुष्य तो क्या) कोई-कोई (विशिष्ट) देव भी उन निर्जरापुद्गलों के अन्यत्व, नानात्व, हीनत्व, तुच्छत्व, गुरुत्व या लघुत्व को किंचित् भी नहीं जानता-देखता है। हे गौतम ! इस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि छद्मस्थ मनुष्य उन निर्जरापुद्गलों के अन्यत्व, नानात्व, हीनत्व, तुच्छत्व, गुरुत्व या लघुत्व को नहीं जान-देख पाता, (क्योंकि) हे आयुष्मन् श्रमण ! वे (चरमनिर्जरा-) पुद्गल सूक्ष्म हैं। वे सम्पूर्ण लोक को अवगाहन करके रहते हैं।

विवेचन—वसवां अनगार-द्वार—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ९९३-९९४) में भावितात्मा अनगार के सूक्ष्म एवं सर्वलोकावगाढ पुद्गलों को छद्मस्थ द्वारा जानने-देखने की असमर्थता की प्ररूपणा की गई है।

भावितात्मा अनगार जिसके द्रव्य और भाव से कोई अगार - गृह नहीं है, वह अनगार-संयत है। जिसने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपोविशेष से अपनी आत्मा भावित—वासित की है, वह भावितात्मा कहलाता है।

चरमनिर्जरापुद्गल - उक्त भावितात्मा अनगार जब मारणान्तिक समुद्घात से समवहत होता है, तब उसके चरम अर्थात् शैलेशी अवस्था के अन्तिम समय में होने वाले जो निर्जरापुद्गल

होते हैं, अर्थात्-- कर्म रूप परिणमन से मुक्त कर्मपर्याय से रहित जो पुद्गल यानी परमाणु होते हैं, वे चरमनिर्जरापुद्गल कहलाते हैं।[1]

इस प्रश्न के उत्थान का कारण---इसी प्रकरण में पहले कहा गया था कि श्रोत्रादि चार इन्द्रियाँ स्पृष्ट और प्रविष्ट शब्दादि द्रव्यों को ग्रहण करती हैं, ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि चरमनिर्जरापुद्गल तो सर्वलोकस्पर्शी हैं, क्या उनका श्रोत्रादि से स्पर्श एवं प्रवेश नहीं होता ? दूसरी बात यह है कि यहाँ यह प्रश्न छद्मस्थ मनुष्य के लिए किया गया है, क्योंकि केवली को तो इन्द्रियों से जानना-देखना नहीं रहता, वह तो समस्त आत्मप्रदेशों से सर्वत्र सब कुछ जानता-देखता है। छद्मस्थ मनुष्य अंगोपांगनामकर्मविशेष से संस्कृत इन्द्रियों के द्वारा जानता-देखता है।

छद्मस्थ मनुष्य चरमनिर्जरापुद्गलों को जानने-देखने में असमर्थ क्यों ?---जो मनुष्य छद्मस्थ है, अर्थात्- विशिष्ट अवधिज्ञान एवं केवलज्ञान से विकल है, वह शैलेशी-अवस्था के अन्तिम समयसम्बन्धी कर्मपर्यायमुक्त उन निर्जरापुद्गलों (परमाणुओं) के अन्यत्व अर्थात् ये निर्जरापुद्गल अमुक श्रमण के हैं, ये अमुक श्रमण के, इस प्रकार के भिन्नत्व को तथा एक पुद्गलगत वर्णादि के नाना भेदों (नानात्व) को तथा उनके हीनत्व, तुच्छत्व (निःसारत्व), गुरुत्व (भारीपन) एवं लघुत्व (हल्केपन) को जान-देख नहीं सकता। इसके दो मुख्य कारण बताए हैं एक तो वे पुद्गल इतने सूक्ष्म हैं कि चक्षु आदि इन्द्रियपथ से अगोचर एवं अतीत हैं। दूसरा कारण यह है कि वे अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुरूप पुद्गल समग्र लोक का अवगाहन करके रहे हुए हैं, वे बादर रूप नहीं हैं, इसलिए उन्हें ये इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं। इसी बात को पुष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं--देवों की इन्द्रियाँ तो मनुष्यों की अपेक्षा अपने विषय को ग्रहण करने में अत्यन्त पटुतर होती हैं। ऐसा कोई कर्मपुद्गल-विषयक अवधिज्ञानविकल देव भी उन भावितात्मा अनगारों के चरमनिर्जरापुद्गलों के अन्यत्व आदि को किंचित् भी (जरा-सा भी) जान-देख नहीं सकता, तब छद्मस्थ मनुष्य की तो बात ही दूर रही।[2]

ग्यारहवाँ आहारद्वार

९९५. [१] णेरइया णं भंते ! ते णिज्जरापोग्गले किं जाणंति पासंति आहारेंति ? उदाहु ण जाणंति ण पासंति ण आहारेंति ?

गोयमा ! णेरइया णं ते णिज्जरापोग्गले ण जाणंति ण पासंति, आहारेंति।

[९९५-१ प्र.] भगवन् ! क्या नारक उन (चरम-) निर्जरापुद्गलों को जानते-देखते हुए (उनका) आहार (ग्रहण) करते हैं अथवा (उन्हें) नहीं जानते-देखते और नहीं आहार करते ?

[९९५-१ उ.] गौतम ! नैरयिक उन निर्जरापुद्गलों को जानते नहीं, देखते नहीं किन्तु आहार (ग्रहण) करते हैं।

[२] एवं जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणिया।

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक ३०३

२. वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३०३

[९९५-२] इसी प्रकार (असुरकुमारों से लेकर) यावत् पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों तक के विषय में कहना चाहिए।

१९६. मणूसा णं भंते ! ते णिज्जरापोग्गले किं जाणंति पासंति आहारेंति ? उदाहु ण जाणंति ण पासंति ण आहारेंति ?

गोयमा ! अत्थेगइया जाणंति पासंति आहारेंति, अत्थेगइया ण जाणंति ण पासंति आहारेंति।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अत्थेगइया जाणंति पासंति आहारेंति ? अत्थेगइया ण जाणंति ण पासंति आहारेंति ?

गोयमा ! मणूसा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा सण्णिभूया य असण्णिभूया य। तत्थ णं जे ते असण्णिभूया ते णं ण जाणंति ण पासंति आहारेंति। तत्थ णं जे ते सण्णिभूया ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा -उवउत्ता य अणुवउत्ता य। तत्थ णं जे ते अणुवउत्ता ते णं ण जाणंति ण पासंति आहारेंति, तत्थ णं जे ते उवउत्ता ते णं जाणंति पासंति आहारेंति, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—अत्थेगइया ण जाणंति ण पासंति आहारेंति अत्थेगइया जाणंति पासंति आहारेंति।

[९९६ प्र.] भगवन् ! क्या मनुष्य उन निर्जरापुद्गलों को जानते-देखते हैं और (उनका) आहरण करते हैं ? अथवा (उन्हें) नहीं जानते, नहीं देखते और नहीं आहरण करते हैं ?

[९९६ उ.] गौतम ! कोई-कोई मनुष्य (उनको) जानते-देखते हैं और (उनका) आहरण करते हैं और कोई-कोई मनुष्य नहीं जानते, नहीं देखते और (उनका) आहरण करते हैं।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं कि कोई-कोई मनुष्य (उनको) जानते-देखते हैं और (उनका) आहार करते हैं और कोई-कोई मनुष्य नहीं जानते, नहीं देखते किन्तु आहरण करते हैं ?

[उ.] गौतम ! मनुष्य दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—संज्ञीभूत (विशिष्ट अवधिज्ञानी) और असंज्ञीभूत (विशिष्ट अवधिज्ञान से रहित)। उनमें से जो असंज्ञीभूत हैं, वे (उन चरमनिर्जरा-पुद्गलों को) नहीं जानते, नहीं देखते, आहार करते हैं। उनमें से जो संज्ञीभूत हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं—उपयोग से युक्त और उपयोग से रहित (अनुपयुक्त)। उनमें से जो उपयोगरहित हैं, वे नहीं जानते, नहीं देखते, आहार करते हैं। उनमें से जो उपयोग से युक्त हैं, वे जानते हैं, देखते हैं और आहार करते हैं। इस हेतु से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि कोई-कोई मनुष्य नहीं जानते, नहीं देखते (किन्तु) आहार करते हैं और कोई-कोई मनुष्य जानते हैं, देखते हैं, आहार करते हैं।

९९७. वाणमंतर-जोइसिया जहा णेरइया (सु. ९९५ [१])।

[९९७] वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क देवों से सम्बन्धित वक्तव्यता (सू. ९९५-१ में उल्लिखित) नैरयिकों की वक्तव्यता के समान (जानना चाहिए।)

९९८. वेमाणिया णं भंते ! ते णिज्जरापोग्गले किं जाणंति पासंति आहारेंति ?

गोयमा ! जहा मणूसा (सु. ९९६)। णवरं वेमाणिया दुविहा[1] पण्णत्ता। तं जहा माइमिच्छद्दिट्ठिउववण्णगा य अमाइसम्मद्दिट्ठिउववण्णगा य। तत्थ णं जे ते माइमिच्छद्दिट्ठिउववण्णगा ते णं

१. ग्रन्थाग्रम् ४५००

न याणंति न पासंति आहारेंति । तत्थ णं जे ते अमाइसम्मद्दिट्ठिउववन्नगा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—अणंतरोववन्नगा य परंपरोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते अणंतरोववण्णगा ते णं ण याणंति ण पासंति आहारेंति । तत्थ णं जे ते परंपरोववण्णगा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य । तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं ण याणंति ण पासंति आहारेंति । तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—उवउत्ता य अणुवउत्ता य । तत्थ णं जे ते अणुवउत्ता ते णं ण याणंति ण पासंति आहारेंति, तत्थ णं जे ते उवउत्ता ते णं जाणंति पासंति आहारेंति । से एणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति—अत्थेगइया ण जाणंति जाव अत्थेगइया० आहारेंति ।

[९९८ प्र.] भगवन् ! क्या वैमानिक देव उन निर्जरापुद्गलों को जानते हैं, देखते हैं, आहार अर्थात् ग्रहण करते हैं ?

[९९८ उ.] गौतम ! जैसे मनुष्यों से सम्बन्धित वक्तव्यता (सू. ९९६ में) कही है, उसी प्रकार वैमानिकों की वक्तव्यता समझनी चाहिए । विशेष यह है कि वैमानिक दो प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार—मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक । उनमें से जो मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक होते हैं, वे (उन्हें) नहीं जानते, नहीं देखते, (किन्तु) आहार करते हैं । उनमें से जो अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार—अनन्तरोपपन्नक और परम्परोपपन्नक । उनमें से जो अनन्तरोपपन्नक (अनन्तर-उत्पन्न) हैं, वे नहीं जानते, नहीं देखते, आहार करते हैं । उनमें से जो परम्परोपपन्नक हैं, वे दो प्रकार के कहे हैं, यथा—पर्याप्तक और अपर्याप्तक । उनमें से जो अपर्याप्तक हैं, वे नहीं जानते, नहीं देखते, आहार करते हैं । उनमें जो पर्याप्तक हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं उपयोगयुक्त और उपयोगरहित । जो उपयोगरहित हैं, वे नहीं जानते, नहीं देखते, (किन्तु) आहार करते हैं । उनमें से जो उपयोगयुक्त हैं, वे जानते हैं, देखते हैं और आहार करते हैं । इस हेतु से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि कोई-कोई नहीं जानते हैं यावत् कोई-कोई आहार करते हैं ।

विवेचन—ग्यारहवां आहारद्वार—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ९९५ से ९९८ तक) में चौवीस दण्डकों में निर्जरापुद्गलों के जानने, देखने और आहार करने से सम्बन्धित प्ररूपणा की गई है ।

प्रश्न और उत्तर का आशय—प्रस्तुत प्रश्न का आशय यह है कि पुद्गलों का स्वभाव नाना रूपों में परिणत होने का है, अतएव योग्य सामग्री मिलने पर निर्जरापुद्गल आहार के रूप में भी परिणत हो सकते हैं । जब वे आहाररूप में परिणत होते हैं तब नैरयिक उक्त निर्जरापुद्गलों को जानते-देखते हुए आहार (लोमाहार) करते हैं, अथवा नहीं जानते, नहीं देखते हुए आहार करते हैं ? भगवान् के द्वारा प्रदत्त उत्तर का आशय भी इसी प्रकार का है—वे नहीं जानते, नहीं देखते हुए आहार करते हैं, क्योंकि वे पुद्गल (परमाणु) अत्यन्त सूक्ष्म होने से चक्षु आदि इन्द्रियपथ से अगोचर होते हैं और नैरयिक कार्मणशरीरपुद्गलों को जान सकने योग्य अवधिज्ञान से रहित होते हैं । इसी प्रकार का प्रश्न और उत्तर का आशय सर्वत्र समझना चाहिए ।[1]

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३०४

संज्ञीभूत-असंज्ञीभूत मनुष्य—जो संज्ञी हों, वे संज्ञीभूत और जो असंज्ञी हों वे असंज्ञीभूत कहलाते हैं। यहाँ संज्ञी का अर्थ है—वे अवधिज्ञानी मनुष्य, जिनका अवधिज्ञान कार्मणपुद्गलों को जान सकता है। जो मनुष्य इस प्रकार के अवधिज्ञान से रहित हों, वे असंज्ञीभूत कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के मनुष्यों में जो संज्ञीभूत हैं, उनमें भी जो उपयोग लगाये हुए होते हैं, वे ही उन पुद्गलों को जानते-देखते हुए उनका आहार करते हैं, शेष असंज्ञीभूत तथा उपयोगशून्य संज्ञीभूत मनुष्य उन पुद्गलों को जान-देख नहीं पाते, केवल उनका आहार करते हैं।

मायि-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायि-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक—माया तृतीय कषाय है, उसके ग्रहण द्वारा उपलक्षण से अन्य सभी कषायों का ग्रहण कर लेना चाहिये। जिनमें मायाकषाय विद्यमान हो, उसे मायी अर्थात्—उत्कट राग-द्वेषयुक्त कहते हैं। मायी (सकषाय) होने के साथ-साथ जो मिथ्यादृष्टि हों वे मायी-मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। जो (वैमानिक देव) मायि-मिथ्यादृष्टि रूप में उत्पन्न (उपपन्न) हुए हों, वे मायि-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक कहलाते हैं। इनसे विपरीत जो हों वे अमायि-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक हैं। सिद्धान्तानुसार मायि-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक नौवें ग्रैवेयक-पर्यन्त देवों में पाये जा सकते हैं। यद्यपि ग्रैवेयकों में और उनसे पहले के कल्पों में सम्यग्दृष्टि देव होते हैं, किन्तु उनका अवधिज्ञान इतना उत्कट नहीं होता कि वे उन निर्जरापुद्गलों को जान-देख सकें। इसलिए वे भी मायि-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नकों के अन्तर्गत ही कहे जाते हैं। जो अमायि-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक हैं, वे अनुत्तरविमान वासी देव हैं। **अनन्तरोपपन्नक और परम्परोपपन्नक**—जिनको उत्पन्न हुए पहला ही समय हुआ हो, वे **अनन्तरोपपन्नक देव** कहलाते हैं और जिन्हें उत्पन्न हुए एक समय से अधिक हो चुका हो, उन्हें **परम्परोपपन्नक देव** कहते हैं। इन दोनों प्रकार के अमायि-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक देवों में से अनन्तरोपपन्नक देव तो निर्जरापुद्गलों को जान-देख नहीं सकते, केवल परम्परोपपन्नक और उनमें भी अपर्याप्तक और पर्याप्तकों में भी उपयोगयुक्त देव ही निर्जरापुद्गलों को जान-देख सकते हैं। जो अपर्याप्तक और उपयोगरहित होते हैं, वे उन्हें जान-देख नहीं सकते, केवल उनका आहार करते हैं।[1]

'आहार करते हैं' का अर्थ—यहाँ सर्वत्र 'आहार करते हैं' का अर्थ—'लोमाहार करते हैं' ऐसा समझना चाहिए।[2]

बारहवें आदर्शद्वार से अठारहवें वसाद्वार तक की प्ररूपणा

९९९. [१] अद्दाए णं भंते ! पेहमाणे मणूसे किं अद्दायं पेहेति ? असिं पेहेति ? पलिभागं पेहेति ?

गोयमा ! अद्दायं पेहेति णो असिं पेहेति, पलिभागं पेहेति।

[९९९-१ प्र.] भगवन् ! दर्पण देखता हुआ मनुष्य क्या दर्पण को देखता है ? अपने आपको (शरीर को) देखता है ? अथवा (अपने) प्रतिबिम्ब को देखता है ?

[९९९-१ उ.] गौतम ! (वह) दर्पण को देखता है, अपने शरीर को नहीं देखता, किन्तु (अपने शरीर का) प्रतिबिम्ब देखता है।

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक ३०४

(ख) **संखेज्ज कम्मवग्गे सोते, बीयगगं पलियं,**
संभिन्नलोगनालिं पासंति अणुत्तरा देवा। —प्रज्ञापना म. वृ., पत्रांक ३०४ में उद्धृत

२. प्रज्ञापना. म. वृत्ति, पत्रांक ३०४

[२] एवं एतेणं अभिलावेणं असिं मणिं उदपाणं तेल्लं फाणियं वसं ।

[९९९-२] इसी प्रकार (दर्पण के सम्बन्ध में जो कथन किया गया है) उसी अभिलाप के अनुसार क्रमशः असि, मणि, उदपान (दुग्ध और पानी), तेल, फाणित (गुड़राब) और वसा (चर्बी) (के विषय में अभिलाप-कथन करना चाहिए ।)

विवेचन—बारहवें आदर्शद्वार से अठारहवें वसाद्वार तक की प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र (९९९) में आदर्श आदि की अपेक्षा से चक्षुरिन्द्रिय-विषयक सात अभिलापों की प्ररूपणा की गई है ।

दर्पण आदि का द्रष्टा क्या देखता है ?—दर्पण, तलवार, मणि, पानी, दूध, तेल, गुड़राब और (पिघली हुई) वसा को देखता हुआ मनुष्य वास्तव में क्या देखता है ? यह प्रश्न है । शास्त्रकार कहते हैं—वह दर्पण आदि को तथा अपने शरीर के प्रतिबिम्ब को देखता है, किन्तु आत्मा को अर्थात्—अपने शरीर को नहीं देखता, क्योंकि अपना शरीर तो अपने आप में स्थित रहता है, दर्पण में नहीं; फिर वह अपने शरीर को कैसे देख सकता है ? वह (द्रष्टा) जो प्रतिबिम्ब देखता है, वह छाया-पुद्गलात्मक होता है, क्योंकि सभी इन्द्रियगोचर स्थूल वस्तुएँ किरणों वाली तथा चय-अपचय धर्म वाली होती हैं । किरणें छाया-पुद्गलरूप हैं, सभी स्थूल वस्तुओं की छाया की प्रतीति प्रत्येक प्राणी को होती है । तात्पर्य यह है कि मनुष्य के जो छायापरमाणु दर्पण में उपसंक्रान्त होकर स्वदेह के वर्ण और आकार के रूप में परिणत होते हैं, उनकी वहाँ उपलब्धि होती है, शरीर की नहीं । वे (छायापरमाणु) प्रतिबिम्ब शब्द से व्यवहृत होते हैं ।[1]

'अद्दाइं पेहति' और 'नो अद्दाइं पेहति' इस प्रकार यहाँ पाठभेद है । विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने स्वीकृत पाठों का समर्थन भी किया है । पाठान्तर के अनुसार अर्थ होता है—दर्पण को नहीं देखता । तत्त्व केवलिगम्य है ।

उन्नीसवाँ बीसवाँ कम्बलद्वार-स्थूणाद्वार

१०००. कंबलसाडए णं भंते ! आवेढियपरिवेढिए समाणे जावतियं ओवासंतरं फुसित्ता णं चिट्ठति विरल्लिए वि य णं समाणे तावतियं चेव ओवासंतरं फुसित्ता णं चिट्ठति ?

हंता गोयमा ! कंबलसाडए णं आवेढियपरिवेढिए समाणे जावतियं तं चेव ।

[१००० प्र.] भगवन् ! कम्बलरूप शाटक (चादर या साड़ी) आवेष्टित-परिवेष्टित किया हुआ (लपेटा हुआ, खूब लपेटा हुआ) जितने अवकाशान्तर (आकाशप्रदेशों) को स्पर्श करके रहता है, (वह) फैलाया हुआ भी क्या उतने ही अवकाशान्तर (आकाश-प्रदेशों) को स्पर्श करके रहता है ?

[१००० उ.] हाँ, गौतम ! कम्बलशाटक आवेष्टित-परिवेष्टित किया हुआ जितने अवकाशान्तर को स्पर्श करके रहता है, फैलाये जाने पर भी वह उतने ही अवकाशान्तर को स्पर्श करके रहता है ।

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक ३०५
(ख) असिं वेहमाणे मणुसे किं असिं वेहइ, असाणं वेहइ पडिभागं वेहइ ? इत्यादि ।

१००१. थूणा णं भंते ! उड्ढं ऊसिया समाणी जावतियं खेत्तं ओगाहित्ता णं चिट्ठति तिरियं पि य णं आयया समाणी तावतियं चेव खेत्तं ओगाहित्ता णं चिट्ठति ?

हंता गोयमा ! थूणा णं उड्ढं ऊसिया तं चेव जाव चिट्ठति ।

[१००१ प्र.] भगवन् ! स्थूणा (ठूंठ, बल्ली या खम्भा) ऊपर उठी हुई जितने क्षेत्र को अवगाहन करके रहती है, क्या तिरछी लम्बी की हुई भी वह उतने ही क्षेत्र को अवगाहन करके रहती है ?

[१००१ उ.] हाँ, गौतम ! स्थूणा ऊपर (ऊँची) उठी हुई जितने क्षेत्र को,... (इत्यादि उसी पाठ को यावत् (उतने ही क्षेत्र को अवगाहन करके) रहती है, (कहना चाहिए।)

विवेचन उन्तीसवाँ-तीसवाँ कम्बलद्वार-स्थूणाद्वार—प्रस्तुत दो सूत्रों में क्रमशः कम्बल और स्थूणा को लेकर आकाशप्रदेशस्पर्शन और क्षेत्रावगाहन की चर्चा की गई है।

अतीन्द्रिय वस्तुग्रहण सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत दोनों द्वारों में अतीन्द्रिय वस्तुओं के ग्रहण सम्बन्धी प्रश्नोत्तर हैं। उनका आशय क्रमशः इस प्रकार है (१) कम्बल को तह पर तह करके लपेट दिए जाने पर वह जितने आकाशप्रदेशों को घेरता है, क्या उसे फैला दिए जाने पर वह उतने ही आकाशप्रदेशों को घेरता है ? भगवान् का उत्तर हाँ में है। (२) स्थूणा (थून) ऊँची खड़ी की हुई, जितने क्षेत्र को अवगाहन कर (व्याप्त करके) रहती है, क्या वह तिरछी लम्बी पड़ी हुई भी उतने ही क्षेत्र को अवगाहन करके रहती (व्याप्त करती) है ? इसका उत्तर भी भगवान् ने स्वीकृतिसूचक दिया है।[1]

इक्कीस-बाईस-तेईस-चौवीसवाँ शिंगाल-द्वीपोदधि-लोक-अलोकद्वार

१००२. आगासथिग्गले णं भंते ! किणा फुडे ? कइहिं वा काएहिं फुडे ? किं धम्मत्थिकाएणं फुडे ? किं धम्मत्थिकायस्स देसेणं फुडे ? धम्मत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे ? एवं अधम्मत्थिकाएणं आगासत्थिकाएणं ? एएणं भेदेणं जाव किं पुढविकाइएणं फुडे जाव तसकाएणं फुडे ? अद्धासमएणं फुडे ?

गोयमा ! धम्मत्थिकाएणं फुडे, णो धम्मत्थिकायस्स देसेणं फुडे, धम्मत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे। एवं अधम्मत्थिकाएणं वि। णो आगासत्थिकाएणं फुडे, आगासत्थिकायस्स देसेणं फुडे, आगासत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे जाव वणप्फइकाइएणं फुडे। तसकाएणं सिय फुडे, सिय णो फुडे। अद्धासमएणं देसे फुडे, देसे णो फुडे।

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३०६

(ख) यही मन्तव्य नेत्रपट को लेकर अन्यत्र भी कहा गया है—

'जह खलु महप्पमाणो नेत्तपडो कोडिओ नहग्गंमि।
तंमि वि ताविइए च्चिय फुसइ पएसे (विरल्लिए वि) ॥'

(अर्थात्—संकुचित किया हुआ नेत्रपट जितने आकाशप्रदेश में रहता है, विस्तृत करने (फैलाने) पर भी वह (नेत्रपट) उतने ही प्रदेशों को स्पर्श करता है।) —प्रज्ञापना. म. वृत्ति. पत्रांक ३०६ में उद्धृत

[१००२ प्र.] भगवन् ! आकाश-थिग्गल (अर्थात्– लोक) किस से स्पृष्ट है ?, कितने कायों से स्पृष्ट है ?, क्या (वह) धर्मास्तिकाय से स्पृष्ट है, या धर्मास्तिकाय के देश से स्पृष्ट है, अथवा धर्मास्तिकाय के प्रदेशों से स्पृष्ट है ? इसी प्रकार (क्या वह) अधर्मास्तिकाय से (तथा अधर्मास्तिकाय के देश से, या प्रदेशों से) स्पृष्ट है ? (अथवा वह) आकाशास्तिकाय से, (या उसके देश, या प्रदेशों से) स्पृष्ट है ? इन्हीं भेदों के अनुसार (क्या वह पुद्गलास्तिकाय से, जीवास्तिकाय से तथा पृथ्वीकायादि से लेकर) यावत् (वनस्पतिकाय तथा) त्रसकाय से स्पृष्ट है ? (अथवा क्या वह) अद्धासमय से स्पृष्ट है ?

[१००२ उ.] गौतम ! (वह आकाशथिग्गल=लोक धर्मास्तिकाय से स्पृष्ट है, धर्मास्तिकाय के देश से स्पृष्ट नहीं है, धर्मास्तिकाय के प्रदेशों से स्पृष्ट है; इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय से भी (स्पृष्ट है, अधर्मास्तिकाय के देश से स्पृष्ट नहीं, अधर्मास्तिकाय के प्रदेशों से स्पृष्ट है।) आकाशास्तिकाय से स्पृष्ट नहीं है, आकाशास्तिकाय के देश से स्पृष्ट है तथा आकाशास्तिकाय के प्रदेशों से स्पृष्ट है (तथा पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं पृथ्वीकायादि से लेकर) यावत् वनस्पतिकाय से स्पृष्ट है, त्रसकाय से कथंचित् स्पृष्ट है और कथंचित् स्पृष्ट नहीं है, अद्धा-समय (कालद्रव्य) से देश से स्पृष्ट है तथा देश से स्पृष्ट नहीं है।

१००३. [१] जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे किण्णा फुडे ? कतिहिं वा काएहिं फुडे ? किं धम्मत्थिकाएणं जाव आगासत्थिकाएणं फुडे ?

गोयमा ! णो धम्मत्थिकाएणं फुडे धम्मत्थिकायस्स देसेणं फुडे धम्मत्थिकायस्स पएसेहिं फुडे, एवं अधम्मत्थिकायस्स वि आगासत्थिकायस्स वि, पुढविकाइएणं फुडे जाव वणप्फइकाएणं फुडे, तसकाएणं सिय फुडे, सिय णो फुडे, अद्धासमएणं फुडे।

[१००३-१ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप किससे स्पृष्ट है ? या (वह) कितने कायों से स्पृष्ट है ? क्या वह धर्मास्तिकाय से (लेकर पूर्वोक्तानुसार) यावत् आकाशास्तिकाय से स्पृष्ट है ? (पूर्वोक्त परिपाटी के अनुसार 'अद्धा-समय' तक के स्पर्श-सम्बन्धी सभी प्रश्न यहाँ समझने चाहिए।)

[१००३-१ उ.] गौतम ! (वह) धर्मास्तिकाय (समग्र) से स्पृष्ट नहीं है, (किन्तु) धर्मास्तिकाय के देश से स्पृष्ट है तथा धर्मास्तिकाय के प्रदेशों से स्पृष्ट है। इसी प्रकार वह अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के देश और प्रदेशों से स्पृष्ट है, पृथ्वीकाय से (लेकर) यावत् वनस्पतिकाय से स्पृष्ट है (तथा) त्रसकाय से कथंचित् स्पृष्ट है, कथंचित् स्पृष्ट नहीं है; अद्धा-समय (कालद्रव्य) से स्पृष्ट है।

[२] एवं लवणसमुद्दे धायइसंडे दीवे कालोए समुद्दे अब्भिंतरपुक्खरद्धे। बाहिरपुक्खरद्धे एवं चेव, णवरं अद्धासमएणं णो फुडे। एवं जाव सयंभुरमणे समुद्दे। एसा परिवाडी इमाहिं गाहाहिं अणुगंतव्वा। तं जहा—

जंबुद्दीवे लवणे धायइ कालोय पुक्खरे वरुणे।
खीर घत खोत नंदि य अरुणवरे कुंडले रुयए ॥२०४॥
आभरण-वत्थ-गंधे उप्पल-तिलए य पुढवि-णिहि-रयणे।
वासहर-दह-नदीओ विजया वक्खार-कप्पिंदा ॥२०५॥

कुरु-मंदर-आवासा कूडा णक्खत्त-चंद-सूरा य ।
देवे णागे जक्खे भूए य सयंभुरमणे य ॥२०६॥

एवं जहा बाहिरपुक्खरद्धे भणितं तहा जाव सयंभुरमणे समुद्दे जाव अद्धासमएणं णो फुडे ।

[१००३-२] इसी प्रकार लवणसमुद्र, धातकीखण्डद्वीप, कालोदसमुद्र, आभ्यन्तर पुष्करार्द्ध और बाह्य पुष्करार्द्ध (द्वीप) के विषय में इसी प्रकार को (पूर्वोक्तानुसार धर्मास्तिकायादि से लेकर अद्धा-समय तक की अपेक्षा से स्पृष्ट-अस्पृष्ट की प्ररूपणा करनी चाहिए ।) विशेष यह है कि बाह्य पुष्करार्ध से लेकर आगे के समुद्र एवं द्वीप अद्धा-समय से स्पृष्ट नहीं हैं । स्वयम्भूरमणसमुद्र तक इसी प्रकार (की प्ररूपणा करनी चाहिए ।) यह परिपाटी (द्वीप-समुद्रों का क्रम) इन गाथाओं के अनुसार जान लेनी चाहिए । यथा—

[गाथार्थ—] १. जम्बूद्वीप, २. लवणसमुद्र, ३. धातकीखण्डद्वीप, ४. पुष्करद्वीप, ५. वरुणद्वीप, ६. क्षीरवर, ७. घृतवर, ८. क्षोद (इक्षु), ९. नन्दीश्वर, १०. अरुणवर, ११. कुण्डलवर १२. रुचक, १३. आभरण, १४. वस्त्र, १५. गन्ध, १६. उत्पल, १७. तिलक, १८. पृथ्वी, १९. निधि, २०. रत्न, २१. वर्षधर, २२. द्रह, २३. नदियाँ, २४. विजय, २५. वक्षस्कार, २६. कल्प, २७. इन्द्र, २८. कुरु, २९. मन्दर, ३०. आवास, ३१. कूट, ३२. नक्षत्र, ३३. चन्द्र, ३४. सूर्य, ३५. देव, ३६ नाग, ३७. यक्ष, ३८. भूत और ३९. स्वयम्भूरमण समुद्र ॥२०४, २०५, २०६ ॥

इस प्रकार जैसे (धर्मास्तिकायादि से लेकर अद्धा-समय तक की अपेक्षा से) बाह्यपुष्करार्द्ध के (स्पृष्टास्पृष्ट के) विषय में कहा गया उसी प्रकार (वरुणद्वीप से लेकर) स्वयम्भूरमणसमुद्र (तक) के विषय में 'अद्धा-समय से स्पृष्ट नहीं होता,' पर्यन्त (कहना चाहिए ।)

१००४. लोगे णं भंते ! किणा फुडे ? कतिहिं वा काएहिं ?

जहा आगासथिग्गले (सु. १००२) ।

[१००४ प्र. उ.] भगवन् ! लोक किससे स्पृष्ट है ? (वह) कितने कायों से स्पृष्ट है (इत्यादि समस्त वक्तव्यता जिस प्रकार (सू. १००२ में) आकाश-थिग्गल के विषय में कही गई है, (उसी प्रकार कहनी चाहिए ।)

१००५. अलोए णं भंते ! किणा फुडे ? कतिहिं वा काएहिं पुच्छा ।

गोयमा ! णो धम्मत्थिकाएणं फुडे जाव णो आगासत्थिकाएणं फुडे, आगासत्थिकायस्स देसेणं फुडे आगासत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे, णो पुढविक्काइएणं फुडे जाव णो अद्धासमएणं फुडे, एगे अजीव-दव्वदेसे अगुरुलहुए अणंतेहिं अगुरुलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासे अणंतभागूणे ।

॥ इंदियपयस्स पढमो उद्देसो समत्तो ॥

[१००५ प्र.] भगवन् ! अलोक किससे स्पृष्ट है ? (वह) कितने कायों से स्पृष्ट है ? इत्यादि सर्व पृच्छा यहाँ पूर्ववत् करनी चाहिए ।

[१००५ उ.] गौतम ! अलोक धर्मास्तिकाय से स्पृष्ट नहीं है, (अधर्मास्तिकाय से लेकर) यावत् (समग्र) आकाशास्तिकाय से स्पृष्ट नहीं है; (वह) आकाशास्तिकाय के देश से स्पृष्ट है तथा

आकाशास्तिकाय के प्रदेशों से स्पृष्ट है; (किन्तु) पृथ्वीकाय से स्पृष्ट नहीं है, यावत् अद्धा-समय (कालद्रव्य) से स्पष्ट नहीं है। अलोक एक अजीवद्रव्य का देश है, अगुरुलघु है, अनन्त अगुरुलघुगुणों से संयुक्त है, सर्वाकाश के अनन्तवें भाग कम है। (लोकाकाश को छोड़कर सर्वाकाश प्रमाण है।)

विवेचन इक्कीस-बाईस-तेईस-चौवीसवाँ थिग्गल-द्वीपोदधि-लोक-अलोकद्वार—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १००२ से १००५ तक) में आकाशरूप थिग्गल, द्वीप-सागरादि, लोक और अलोक के धर्मास्तिकायादि से लेकर अद्धा-समय तक से स्पृष्ट-अस्पृष्ट होने की प्ररूपणा की गई है।

आकाशथिग्गल के स्पृष्ट-अस्पृष्ट की समीक्षा—'थिग्गल' शब्द से यहाँ आकाशथिग्गल समझना चाहिए। सम्पूर्ण आकाश एक विस्तृत पट के समान है। उसके बीच में लोक उस विस्तृत पट के थिग्गल (पैबन्द) की तरह प्रतीत होता है। अतः लोकाकाश को थिग्गल कहा गया है। प्रथम सामान्य प्रश्न है—इस प्रकार का आकाशथिग्गलरूप लोकाकाश किससे स्पृष्ट अर्थात् व्याप्त है? तत्पश्चात् विशेषरूप में प्रश्न किया गया है कि धर्मास्तिकाय से लेकर त्रसकाय तक, यहाँ तक कि 'अद्धा-समय' तक से कितने कायों से स्पृष्ट है?

लोक सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय से स्पृष्ट है, क्योंकि धर्मास्तिकाय पूरा का पूरा लोक में ही अवगाढ है, अतएव वह धर्मास्तिकाय के देश से स्पृष्ट नहीं है, क्योंकि जो जिसमें पूरी तरह व्याप्त है, उसे उसके एक देश में व्याप्त नहीं कहा जा सकता किन्तु लोक धर्मास्तिकाय के प्रदेशों से व्याप्त तो है ही; क्योंकि धर्मास्तिकाय के सभी प्रदेश लोक में ही अवगाढ हैं। यही बात अधर्मास्तिकाय के विषय में समझनी चाहिए; किन्तु लोक सम्पूर्ण आकाशास्तिकाय से स्पृष्ट नहीं है, क्योंकि लोक सम्पूर्ण आकाशास्तिकाय का एक छोटा-सा खण्डमात्र ही है, किन्तु वह आकाशास्तिकाय के देश से और प्रदेशों से स्पृष्ट है, यावत् पुद्गलास्तिकाय से, जीवास्तिकाय से तथा पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय से स्पृष्ट है। सूक्ष्म पृथ्वीकायादि समग्र लोक में व्याप्त हैं। अतएव उनके द्वारा भी वह पूर्णरूप से स्पृष्ट है, किन्तु त्रसकाय से क्वचित् स्पृष्ट होता है, क्वचित् स्पृष्ट नहीं भी होता। जब केवली, समुद्घात करते हैं, तब चौथे समय में वे अपने आत्मप्रदेशों से समग्र लोक को व्याप्त कर लेते हैं। केवली भगवान् त्रसकाय के ही अन्तर्गत हैं, अतएव उस समय समस्त लोक त्रसकाय से स्पृष्ट होता है। इसके अतिरिक्त अन्य समय में सम्पूर्ण लोक त्रसकाय से स्पृष्ट नहीं होता। क्योंकि त्रसजीव सिर्फ त्रसनाडी में ही पाए जाते हैं। जो सिर्फ एक राजू चौड़ी और चौदह राजू ऊँची है। अद्धा-समय से लोक का कोई भाग स्पृष्ट होता है और कोई भाग स्पृष्ट नहीं होता। अद्धा-काल अढ़ाई द्वीप में ही है, आगे नहीं।

'आकाशथिग्गल' और 'लोक' में अन्तर—पहले लोक को 'आकाशथिग्गल' शब्द से प्ररूपित किया था, अब इसी को सामान्यरूप से 'लोक' शब्द द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसलिए विशेष और सामान्य का अन्तर है। 'लोक' संबंधी निरूपण 'आकाशथिग्गल' के समान ही है।[1]

॥ पन्द्रहवाँ इन्द्रियपद : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक ३०७-३०९

बीओ उद्देसओ : द्वितीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक के बारह द्वार

१००६. इंदियउवचय १ णिव्वत्तणा य २ समया भवे असंखेज्जा ३ ।
लद्धी ४ उवओगद्धा ५ अप्पाबहुए विसेसहिया ॥२०७॥
ओगाहणा ७ अवाए ८ ईहा ९ तह वंजणोग्गहे चेव १० ।
दव्विंदिया ११ भाविंदिय १२ तीया बद्धा पुरेक्खडिया ॥२०८॥

[१००६ अर्थाधिकार गाथाओं का अर्थ—] १. इन्द्रियोपचय, २. (इन्द्रिय-) निर्वर्तना, ३. निर्वर्तना के असंख्यात समय, ४. लब्धि, ५. उपयोगकाल, ६. अल्पबहुत्व में विशेषाधिक उपयोग काल ॥२०७॥ ७. अवग्रह, ८. अवाय (अपाय), ९. ईहा तथा १०. व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह, ११. अतीतबद्धपुरस्कृत (आगे होने वाली) द्रव्येन्द्रिय, १२. भावेन्द्रिय ॥२०८॥ (इस प्रकार दूसरे उद्देशक में बारह द्वारों के माध्यम से इन्द्रियविषयक अर्थाधिकार प्रतिपादित है ।)

विवेचन—द्वितीय उद्देशक के बारह द्वार—प्रस्तुत सूत्र में दो गाथाओं द्वारा इन्द्रियोपचय आदि बारह द्वारों के माध्यम से इन्द्रियविषयक प्ररूपणा की गई ।

बारह द्वार—(१) **इन्द्रियोपचयद्वार** (इन्द्रिययोग्य पुद्गलों को ग्रहण करने की शक्ति—इन्द्रिय पर्याप्ति, (२) **इन्द्रियनिर्वर्तनाद्वार** (बाह्याभ्यन्तर निर्वृत्ति का निरूपण), (३) **निर्वर्तनासमयद्वार** (आकृति निष्पन्न होने का काल), (४) **लब्धिद्वार** (इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम का कथन), (५) **उपयोगकालद्वार**, (६) **अल्पबहुत्वाविशेषाधिकद्वार**, (७) **अवग्रहणाद्वार** (अवग्रह का कथन), (८) **अवायद्वार**, (९) **ईहाद्वार**, (१०) **व्यञ्जनावग्रहद्वार**, (११) **द्रव्येन्द्रियद्वार** और (१२) **भावेन्द्रिय** अतीतबद्धपुरस्कृतद्वार (भावेन्द्रिय की अतीत, बद्ध और पुरस्कृत इन्द्रियों का कथन), इन बारह द्वारों के माध्यम से इन्द्रियविषयक प्ररूपणा की जाएगी ।[1]

प्रथम इन्द्रियोपचय द्वार

१००७. कतिविहे णं भंते ! इंदियोवचए पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे इंदियोवचए पण्णत्ते । तं जहा—सोइंदियोवचए चक्खिंदियोवचए घाणिंदियोवचए जिब्भिंदियोवचए फासिंदियोवचए ।

[१००७ प्र.] भगवन् ! इन्द्रियोपचय कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१००७ उ.] गौतम ! इन्द्रियोपचय पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—(१) श्रोत्रेन्द्रियोपचय, (२) चक्षुरिन्द्रियोपचय, (३) घ्राणेन्द्रियोपचय, (४) जिह्वेन्द्रियोपचय और (५) स्पर्शनेन्द्रियोपचय ।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २०९

१००८. [१] णेरइयाणं भंते ! कतिविहे इंदियोवचए पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे इंदियोवचए पण्णत्ते । तं जहा—सोइंदियोवचए जाव फासिंदियोवचए ।

[१००८-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के इन्द्रियोपचय कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१००८-१ उ.] गौतम ! (उनके) इन्द्रियोपचय पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—श्रोत्रेन्द्रियोपचय यावत् स्पर्शनेन्द्रियोपचय ।

[२] एवं जाव वेमाणियाणं । जस्स जइ इंदिया तस्स तइविहो चेव इंदियोवचय भाणियव्वो ॥ १ ॥

[१००८-२] इसी प्रकार (असुरकुमारों से लेकर) यावत् वैमानिकों के इन्द्रियोपचय के विषय में कहना चाहिए । जिसके जितनी इन्द्रियाँ होती हैं, उसके उतने ही प्रकार का इन्द्रियोपचय कहना चाहिए ॥१॥

विवेचन प्रथम इन्द्रियोपचयद्वार—प्रस्तुत सूत्रद्वय (१००७-१००८) में पांच प्रकार के इन्द्रियोपचय का तथा चौवीस दण्डकों में पाए जाने वाले इन्द्रियोपचय का कथन किया गया है। **इन्द्रियोपचय** अर्थात्—इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों का संग्रह ।[1]

द्वितीय-तृतीय निर्वर्तनासमयद्वार

१००९. [१] कतिविहा णं भंते ! इंदियनिव्वत्तणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा इंदियनिव्वत्तणा पण्णत्ता । तं जहा—सोइंदियनिव्वत्तणा जाव फासिंदियनिव्वत्तणा ।

[१००९-१ प्र.] भगवन् ! इन्द्रियनिर्वर्त्तना (निर्वृत्ति) कितने प्रकार की कही गई है ?

[१००९-१ उ.] गौतम ! इन्द्रियनिर्वर्त्तना पांच प्रकार की कही गई है, वह इस प्रकार—श्रोत्रेन्द्रियनिर्वर्त्तना यावत् स्पर्शनेन्द्रियनिर्वर्त्तना ।

[२] एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं । नवरं जस्स जतिंदिया अत्थि ॥ २ ॥

[१००९-२] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक निर्वर्तना-विषयक प्ररूपणा करनी चाहिए । विशेष यह कि जिसके जितनी इन्द्रियाँ होती हैं, (उसकी उतनी ही इन्द्रियनिर्वर्तना कहनी चाहिए ।) ॥२॥

१०१०. [१] सोइंदियणिव्वत्तणा णं भंते ! कतिसमइया पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखिज्जसमइया अंतोमुहुत्तिया पण्णत्ता । एवं जाव फासिंदियनिव्वत्तणा ।

[१०१०-१ प्र.] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रियनिर्वर्त्तना कितने समय की कही गई है ?

[१०१०-१ उ.] गौतम ! (वह) असंख्यात समयों के अन्तर्मुहूर्त्त की कही है । इसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रियनिर्वर्त्तना-काल तक कहना चाहिए ।

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २०९
(ख) पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ) भा. १, पृ. २४९

[२] एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं ॥ ३ ॥

[१०१०-२] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर यावत् वैमानिकों की इन्द्रियनिर्वर्तना के काल के विषय में कहना चाहिए।

विवेचन—**द्वितीय-तृतीय निर्वर्तनाद्वार एवं निर्वर्तनासमयद्वार**—प्रस्तुत दो सूत्रों में से प्रथम सूत्र में पांच प्रकार की निर्वर्तना और द्वितीय सूत्र में प्रत्येक इन्द्रिय की निर्वर्तना के समयों की प्ररूपणा की गई है।

निर्वर्तना का अर्थ—बाह्याभ्यन्तररूप निर्वृत्ति-आकार की रचना।[1]

चतुर्थ-पंचम-षष्ठ लब्धिउपयोगाद्धा, अल्पबहुत्व उपयोग काल का द्वार

१०११. [१] कतिविहा णं भंते ! इंदियलद्धी पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा इंदियलद्धी पण्णत्ता। तं जहा—सोइंदियलद्धी जाव फासिंदियलद्धी।

[१०११-१ प्र.] भगवन् ! इन्द्रियलब्धि कितने प्रकार की कही गई है ?

[१०११-१ उ.] गौतम ! इन्द्रियलब्धि पांच प्रकार की कही है, वह इस प्रकार—श्रोत्रेन्द्रिय-लब्धि यावत् स्पर्शेन्द्रियलब्धि।

[२] एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। णवरं जस्स जति इंदिया अत्थि तस्स तावतिया लद्धी भाणियव्वा ॥ ४ ॥

[१०११-२] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक इन्द्रियलब्धि की प्ररूपणा करनी चाहिए। विशेष यह कि जिसके जितनी इन्द्रियाँ हों, उसके उतनी ही इन्द्रियलब्धि कहनी चाहिए।

१०१२. [१] कतिविहा णं भंते ! इंदियउवओगद्धा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा इंदियउवओगद्धा पण्णत्ता। तं जहा—सोइंदियउवओगद्धा जाव फासिंदिय-उवओगद्धा।

[१०१२-१ प्र.] भगवन् ! इन्द्रियों के उपयोग का काल (अद्धा) कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१०१२-१ उ.] गौतम ! इन्द्रियों का उपयोगकाल पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—श्रोत्रेन्द्रिय-उपयोगकाल यावत् स्पर्शेन्द्रिय-उपयोगकाल।

[२] एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। णवरं जस्स जति इंदिया अत्थि ॥ ५ ॥

[१०१२-२] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक के इन्द्रिय-उपयोगकाल के विषय में समझना चाहिए। विशेष यह है कि जिसके जितनी इन्द्रियाँ हों, उसके उतने ही इन्द्रियोपयोगकाल कहने चाहिए।

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक ३०९

१०१३. एतेसि णं भंते ! सोइंदिय-चक्खिदिय-घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियाणं जहण्णियाए उवओगद्धाए उक्कोसियाए उवओगद्धाए जहण्णुक्कोसियाए उवओगद्धाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा चक्खिंदियस्स जहण्णिया उवओगद्धा, सोइंदियस्स जहण्णिया उवओगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स जहण्णिया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स जहण्णिया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासेंदियस्स जहण्णिया उवओगद्धा विसेसाहिया । उक्कोसियाए उवओगद्धाए सव्वत्थोवा चक्खिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा, सोइंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासेंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया । जहण्णुक्कोसियाए उवओगद्धाए सव्वत्थोवा चक्खिंदियस्स जहण्णिया उवओगद्धा, सोइंदियस्स जहण्णिया उवओगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स जहण्णिया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स जहण्णिया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासेंदियस्स जहण्णिया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासेंदियस्स जहण्णियाहिंतो उवओगद्धाहिंतो चक्खिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, सोइंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासेंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया ॥ ६ ॥

[१०१३ प्र.] भगवन् ! इन श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के जघन्य उपयोगाद्धा, उत्कृष्ट उपयोगाद्धा और जघन्योत्कृष्ट उपयोगाद्धा में कौन, किससे अल्प, बहुत तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

[१०१३ उ.] गौतम ! चक्षुरिन्द्रिय का जघन्य उपयोगाद्धा (उपयोगकाल) सबसे कम है, (उसकी अपेक्षा) श्रोत्रेन्द्रिय का जघन्य उपयोगाद्धा विशेषाधिक है, (उसकी अपेक्षा) घ्राणेन्द्रिय का जघन्य उपयोगाद्धा विशेषाधिक है, (उससे) जिह्वेन्द्रिय का जघन्य उपयोगाद्धा विशेषाधिक है, (उसकी अपेक्षा) स्पर्शेन्द्रिय का जघन्य उपयोगाद्धा विशेषाधिक है । उत्कृष्ट उपयोगाद्धा में चक्षुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट उपयोगाद्धा सबसे कम है, (उसकी अपेक्षा) श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट उपयोगाद्धा विशेषाधिक है, (उससे) घ्राणेन्द्रिय का उत्कृष्ट उपयोगाद्धा विशेषाधिक है, (उससे) जिह्वेन्द्रिय का उत्कृष्ट उपयोगाद्धा विशेषाधिक है, (उसकी अपेक्षा) स्पर्शेन्द्रिय का उत्कृष्ट उपयोगाद्धा विशेषाधिक है । जघन्योत्कृष्ट उपयोगाद्धा की अपेक्षा से सबसे कम चक्षुरिन्द्रिय का जघन्य उपयोगाद्धा है, (उसकी अपेक्षा) श्रोत्रेन्द्रिय का जघन्य उपयोगाद्धा विशेषाधिक है, (उसकी अपेक्षा) घ्राणेन्द्रिय का जघन्य उपयोगाद्धा विशेषाधिक है, (उसकी अपेक्षा) जिह्वेन्द्रिय का जघन्य उपयोगाद्धा विशेषाधिक है, (उसकी अपेक्षा, स्पर्शेन्द्रिय का जघन्य उपयोगाद्धा विशेषाधिक है, स्पर्शेन्द्रिय के जघन्य उपयोगाद्धा से चक्षुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट उपयोगाद्धा विशेषाधिक है, (उसकी अपेक्षा) श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट उपयोगाद्धा विशेषाधिक है, (उसकी अपेक्षा) घ्राणेन्द्रिय का उत्कृष्ट उपयोगाद्धा विशेषाधिक है, (उसकी अपेक्षा) जिह्वेन्द्रिय का उत्कृष्ट उपयोगाद्धा विशेषाधिक है, (उसकी अपेक्षा) स्पर्शेन्द्रिय का उत्कृष्ट उपयोगाद्धा विशेषाधिक है ॥६॥

विवेचन—**चतुर्थ-पंचम-षष्ठ लब्धिद्वार, उपयोगाद्धाद्वार एवं अल्पबहुत्वद्वार**—प्रस्तुत तीन सूत्रों में क्रमशः लब्धिद्वार, उपयोगाद्धाद्वार एवं उपयोगाद्धाविशेषाधिकद्वार के माध्यम से इन्द्रियावरण-कर्म के क्षयोपशम की, इन्द्रियों के उपयोगकाल की एवं इन्द्रियों के उपयोगकाल के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

इन्द्रियलब्धि आदि पदों के अर्थ—इन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम को इन्द्रियलब्धि, इन्द्रियों के उपयोग (उपयोग से युक्त व्यापृत रहने) के काल को इन्द्रियउपयोगाद्धा एवं उपयोगाद्धा के अल्प-बहुत्व या विशेषाधिक को उपयोगाद्धाविशेषाधिक कहते हैं।[1]

सातवाँ, आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ क्रमशः इन्द्रिय-अवग्रहण-अवाय-ईहा-अवग्रह द्वार

१०१४. [१] कतिविहा णं भंते ! इंदियओगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा इंदियओगाहणा पण्णत्ता। तं जहा—सोइंदियओगाहणा जाव फासेंदिय-ओगाहणा।

[१०१४-१ प्र.] भगवन् ! इन्द्रिय-अवग्रहण (अवग्रह) कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१०१४-१ उ.] गौतम ! पांच प्रकार के इन्द्रियावग्रहण कहे हैं, वे इस प्रकार—श्रोत्रेन्द्रिय-अवग्रहण यावत् स्पर्शेन्द्रिय-अवग्रहण।

[२] एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। णवरं जस्स जइ इंदिया अत्थि ॥ ७ ॥

[१०१४-२] इसी प्रकार नारकों से लेकर वैमानिकों तक (पूर्ववत् कहना चाहिए)। विशेष यह है कि जिसके जितनी इन्द्रियाँ हों, (उसके उतने ही अवग्रहण समझने चाहिए।) ॥७॥

१०१५. [१] कतिविहे णं भंते ! इंदियअवाए पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे इंदियअवाये पण्णत्ते। तं जहा—सोइंदियअवाए जाव फासेंदियअवाए।

[१०१५-१ प्र.] भगवन् ! इन्द्रिय-अवाय कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१०१५-१ उ.] गौतम ! इन्द्रिय-अवाय पांच प्रकार का गया कहा है, वह इस प्रकार—श्रोत्रेन्द्रिय अवाय (से लेकर) यावत् स्पर्शेन्द्रिय-अवाय।

[२] एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। नवरं जस्स जत्तिया इंदिया अत्थि ॥ ८ ॥

[१०१५-२] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक (अवाय के विषय में कहना चाहिए)। विशेष यह कि जिसके जितनी इन्द्रियाँ हों, (उसके उतने ही अवाय कहने चाहिए।) ॥८॥

१०१६. [१] कतिविहा णं भंते ! ईहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा ईहा पण्णत्ता। तं जहा—सोइंदियईहा जाव फासेंदियईहा।

[१०१६-१ प्र.] भगवन् ! ईहा कितने प्रकार की कही गई है ?

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३०९

[१०१६-१ उ.] गौतम ! ईहा पांच प्रकार की कही गई है, वह इस प्रकार—श्रोत्रेन्द्रिय-ईहा, यावत् स्पर्शेन्द्रिय-ईहा ।

[२] एवं जाव वेमाणियाणं । णवरं जस्स जति इंदिया ॥ ९ ॥

[१०१६-२] इसी प्रकार (नैरयिकों से लेकर) यावत् वैमानिकों तक (ईहा के विषय में कहना चाहिए ।) विशेष यह कि जिसके जितनी इन्द्रियाँ हों, (उसके उतनी ही ईहा कहनी चाहिए ।) ॥९॥

१०१७. कतिविहे णं भंते ! उग्गहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे उग्गहे पण्णत्ते । तं जहा—अत्थोग्गहे य वंजणोग्गहे य ।

[१०१७ प्र.] भगवन् ! अवग्रह कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१०१७ उ.] गौतम ! अवग्रह दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ।

१०१८. वंजणोग्गहे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—सोइंदियवंजणोग्गहे घाणिंदियवंजणोग्गहे जिब्भिंदिय-वंजणोग्गहे फासिंदियवंजणोग्गहे ।

[१०१८ प्र.] भगवन् ! व्यंजनावग्रह कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१०१८ उ.] गौतम ! (व्यञ्जनावग्रह) चार प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—श्रोत्रेन्द्रियावग्रह, घ्राणेन्द्रियावग्रह, जिह्वेन्द्रियावग्रह और स्पर्शेन्द्रियावग्रह ।

१०१९. अत्थोग्गहे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! छव्विहे अत्थोग्गहे पण्णत्ते । तं जहा—सोइंदियअत्थोग्गहे चक्खिंदियअत्थोग्गहे घाणिंदियअत्थोग्गहे जिब्भिंदियअत्थोग्गहे फासिंदियअत्थोग्गहे णोइंदियअत्थोग्गहे ।

[१०१९ प्र.] भगवन् ! अर्थावग्रह कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१०१९ उ.] गौतम ! अर्थावग्रह छह प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय-अर्थावग्रह, चक्षुरिन्द्रिय-अर्थावग्रह, घ्राणेन्द्रिय-अर्थावग्रह, जिह्वेन्द्रिय-अर्थावग्रह, स्पर्शेन्द्रिय-अर्थावग्रह और नोइन्द्रिय (मन)-अर्थावग्रह ।

१०२०. [१] णेरइयाणं भंते ! कतिविहे उग्गहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे उग्गहे पण्णत्ते । तं जहा अत्थोग्गहे य वंजणोग्गहे य ।

[१०२०-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के कितने अवग्रह कहे गए हैं ?

[१०२०-१ उ.] गौतम ! (उनके) दो प्रकार के अवग्रह कहे हैं, यथा—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ।

[२] एवं असुरकुमाराणं जाव थणियकुमाराणं ।

[१०२०-२] इसी प्रकार असुरकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों तक (के अवग्रह के विषय में कहना चाहिए)।

१०२१. [१] पुढविकाइयाणं भंते ! कतिविहे उग्गहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे उग्गहे पण्णत्ते । तं जहा—अत्थोग्गहे य वंजणोग्गहे य ।

[१०२१-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के कितने अवग्रह कहे गए हैं ?

[१०२१-१ उ.] गौतम ! (उनके) दो प्रकार के अवग्रह कहे गए हैं। वे इस प्रकार—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह।

[२] पुढविकाइयाणं भंते ! वंजणोग्गहे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एगे फासिंदियअत्थोग्गहे पण्णत्ते ।

[१०२१-२ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के व्यंजनावग्रह कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१०२१-२ उ.] गौतम ! (उनके केवल) एक स्पर्शेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह कहा गया है।

[३] पुढविकाइयाणं भंते ! कतिविहे अत्थोग्गहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एगे फासिंदियअत्थोग्गहे पण्णत्ते ।

[१०२१-३ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के कितने अर्थावग्रह कहे गए हैं।

[१०२१-३ उ.] गौतम ! (उनके केवल) एक स्पर्शेन्द्रिय-अर्थावग्रह कहा गया है।

[४] एवं जाव वणप्फइकाइयाणं ।

[१०२१-४] (अप्कायिकों से लेकर) यावत् वनस्पतिकायिक (के व्यंजनावग्रह एवं अर्थावग्रह के विषय में) इसी प्रकार कहना चाहिए।

१०२२. [१] एवं बेइंदियाण वि । णवरं बेइंदियाणं वंजणोग्गहे दुविहे पण्णत्ते, अत्थोग्गहे दुविहे पण्णत्ते ।

[१०२२-१] इसी प्रकार द्वीन्द्रियों के अवग्रह के विषय में समझना चाहिए। विशेष यह है कि द्वीन्द्रियों के व्यंजनावग्रह दो प्रकार के कहे गए हैं तथा (उनके) अर्थावग्रह भी दो प्रकार के कहे गए हैं।

[२] एवं तेइंदिय-चउरिंदियाण वि । णवरं इंदियपरिवुड्ढी कायव्वा । चउरिंदियाणं वंजणोग्गहे तिविहे पण्णत्ते, अत्थोग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते ।

[१०२२-२] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के (व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह के) विषय में भी समझना चाहिए। विशेष यह है कि (उत्तरोत्तर एक-एक) इन्द्रिय की परिवृद्धि होने से एक-एक व्यंजनावग्रह एवं अर्थावग्रह की भी वृद्धि कहनी चाहिए। चतुरिन्द्रिय जीवों के व्यञ्जनावग्रह तीन प्रकार के कहे हैं और अर्थावग्रह चार प्रकार के कहे हैं।

१०२३. सेसाणं जहा णेरइयाणं (सु. १०२० [१]) जाव वेमाणियाणं ॥१०॥

[१०२३] वैमानिकों तक शेष समस्त जीवों के अवग्रह के विषय में जैसे (सू. १०२०-१ में) नैरयिकों के अवग्रह के विषय में कहा है, वैसे ही समझ लेना चाहिए ॥१०॥

विवेचन—सातवाँ, आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ इन्द्रिय-अवग्रहण-अवाय-ईहा-अवग्रहद्वार—प्रस्तुत दस सूत्रों सू. १०१४ से १०२३ तक) में चार द्वारों के माध्यम से क्रमशः इन्द्रियों के अवग्रहण, अवाय, ईहा और अवग्रह के विषय में कहा गया है।

इन्द्रियावग्रहण का अर्थ -इन्द्रियों द्वारा होने वाले सामान्य परिच्छेद (ज्ञान) को इन्द्रियावग्रह या इन्द्रियावग्रहण कहते हैं।

इन्द्रियावाय की व्याख्या अवग्रहज्ञान से गृहीत और ईहाज्ञान से ईहित अर्थ का निर्णयरूप जो अध्यवसाय होता है, वह अवाय या 'अपाय' कहलाता है। जैसे—यह शंख का ही शब्द है, अथवा यह सारंगी का ही स्वर है, इत्यादि रूप अवधारणात्मक (निश्चयात्मक) निर्णय होना। तात्पर्य यह है कि ज्ञानोपयोग में सर्वप्रथम अवग्रहज्ञान होता है; जो अपर सामान्य को विषय करता है। तत्पश्चात् ईहाज्ञान की उत्पत्ति होती है, जिसके द्वारा ज्ञानोपयोग सामान्यधर्म से आगे बढ़कर विशेषधर्म को ग्रहण करने के लिए अभिमुख होता है। ईहा के पश्चात् अवायज्ञान होता है, जो वस्तु के विशेषधर्म का निश्चय करता है। अवग्रहादि ज्ञान मन से भी होते हैं और इन्द्रियों से भी, किन्तु यहां इन्द्रियों से होने वाले अवग्रहादि के सम्बन्ध में ही प्रश्न और उत्तर हैं।

ईहाज्ञान की व्याख्या - सद्भूत पदार्थ की पर्यालोचनरूप चेष्टा ईहा कहलाती है। ईहाज्ञान अवग्रह के पश्चात् और अवाय से पूर्व होता है। यह (ईहाज्ञान) पदार्थ के सद्भूत धर्मविशेष को ग्रहण करने और असद्भूत अर्थविशेष को त्यागने के अभिमुख होता है। जैसे—यहाँ मधुरता आदि शंखादिशब्द के धर्म उपलब्ध हो रहे हैं, सारंग आदि के कर्कशता-निष्ठुरता आदि शब्द के धर्म नहीं, अतएव यह शब्द शंख का होना चाहिए। इस प्रकार की मतिविशेष ईहा कहलाती है।

अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह - अर्थ का अवग्रह **अर्थावग्रह** कहलाता है। अर्थात्—शब्द द्वारा नहीं कहे जा सकने योग्य अर्थ के सामान्यधर्म को ग्रहण करना **अर्थावग्रह** है। कहा भी है—रूपादि विशेष से रहित अनिर्देश्य सामान्यरूप अर्थ का ग्रहण, अर्थावग्रह है। जैसे तिनके का स्पर्श होते ही सर्वप्रथम होने वाला—'यह कुछ है' इस प्रकार का ज्ञान। दीपक के द्वारा जैसे घट व्यक्त किया जाता है, वैसे ही जिसके द्वारा अर्थ व्यक्त किया जाए, उसे व्यंजन कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय और शब्दादिरूप में परिणत द्रव्यों के परस्पर सम्बन्ध होने पर ही श्रोत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ शब्दादिविषयों को व्यक्त करने में समर्थ होती हैं, अन्यथा नहीं। अतः इन्द्रिय और उसके विषय का सम्बन्ध व्यंजन कहलाता है। यों व्यंजनावग्रह का निर्वचन तीन प्रकार से होता है—उपकरणेन्द्रिय और उसके विषय का सम्बन्ध व्यंजन कहलाता है। उपकरणेन्द्रिय भी व्यंजन कहलाती है और व्यक्त होने योग्य शब्दादि विषय भी व्यंजन कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि दर्शनोपयोग के पश्चात् अत्यन्त अव्यक्तरूप परिच्छेद (ज्ञान) व्यञ्जनावग्रह है।

पहले कहा जा चुका है कि उपकरण द्रव्येन्द्रिय और शब्दादि के रूप में परिणत द्रव्यों का परस्पर जो सम्बन्ध होता है, वह व्यञ्जनावग्रह है, इस दृष्टि से चार प्राप्यकारी इन्द्रियाँ ही ऐसी हैं,

जिनका अपने विषय के साथ सम्बन्ध होता है; चक्षु और मन ये दोनों अप्राप्यकारी हैं, इसलिए इन का अपने विषय के साथ सम्बन्ध नहीं होता। इसी कारण व्यञ्जनावग्रह चार प्रकार का बताया गया है, जबकि अर्थावग्रह छह प्रकार का निर्दिष्ट है।

व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह में व्युत्क्रम क्यों ?· व्यञ्जनावग्रह पहले उत्पन्न होता है, और अर्थावग्रह बाद में; ऐसी स्थिति में बाद में होने वाले अर्थावग्रह का कथन पहले क्यों किया गया ? इसका समाधान यह कि अर्थावग्रह अपेक्षाकृत स्पष्टस्वरूप वाला होता है तथा स्पष्टस्वरूप वाला होने से सभी उसे समझ सकते हैं। इसी हेतु से अर्थावग्रह का कथन पहले किया गया है। इसके अतिरिक्त अर्थावग्रह सभी इन्द्रियों और मन से होता है, इस कारण भी उसका उल्लेख पहले किया गया है। व्यञ्जनावग्रह ऐसा नहीं है, वह चक्षु और मन से नहीं होता तथा अतीव अस्पष्ट स्वरूप वाला होने के कारण सबके संवेदन में नहीं आता, इसलिए उसका कथन बाद में किया गया है।[1]

ग्यारहवाँ द्रव्येन्द्रियद्वार

१०२४. कतिविहा णं भंते ! इंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—दव्विंदिया य भाविंदिया य।

[१०२४ प्र.] भगवन् ! इन्द्रियाँ कितने प्रकार की कही हैं ?

[१०२४ उ.] गौतम ! इन्द्रियाँ दो प्रकार की कही गई हैं, वे इस प्रकार—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।

१०२५. कति णं भंते ! दव्विंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! अट्ठ दव्विंदिया पण्णत्ता। तं जहा—दो सोया २ दो णेत्ता ४ दो घाणा ६ जीहा ७ फासे ८।

[१०२५ प्र.] भगवन् ! द्रव्येन्द्रियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१०२५ उ.] गौतम ! द्रव्येन्द्रियाँ आठ प्रकार की कही गई हैं, वे इस प्रकार—दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो घ्राण (नाक), जिह्वा और स्पर्शन।

१०२६. [१] णेरइयाणं भंते ! कति दव्विंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! अट्ठ, एते चेव।

[१०२६-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के कितनी द्रव्येन्द्रियाँ कही गई हैं ?

[१०२६-१ उ.] गौतम ! (उनके) ये ही आठ द्रव्येन्द्रियाँ हैं।

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३१०-३११

(ख) वंजिज्जइ जेणत्थो घडोव्व दीवेण वंजणं तं च।

उवगरणिंदिय सद्दाइपरिणयदव्वसंबन्धो ॥ १ ॥ —विशेषा. भाष्य

—प्रज्ञापना. म. वृत्ति, पत्र ३११ में उद्धृत

[२] एवं असुरकुमाराणं जाव थणियकुमाराणं वि ।

[१०२६-२] इसी प्रकार असुरकुमारों से स्तनितकुमारों तक (ये ही आठ द्रव्येन्द्रियाँ) समझनी चाहिए ।

१०२७. [१] पुढविकाइयाणं भंते ! कति दव्विंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! एगे फासेंदिए पण्णत्ते ।

[१०२७-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के कितनी द्रव्येन्द्रियाँ कही गई हैं ?

[१०२७-१ उ.] गौतम ! (उनके केवल) एक स्पर्शनेन्द्रिय कही है ।

[२] एवं जाव वणप्फतिकाइयाणं ।

[१०२७-२] (अप्कायिकों से ले कर) वनस्पतिकायिकों तक के इसी प्रकार (एक स्पर्शनेन्द्रिय समझनी चाहिए ।)

१०२८. [१] बेइंदियाणं भंते ! कति दव्विंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! दो दव्विंदिया पण्णत्ता । तं जहा—फासिंदिए य जिब्भिंदिए य ।

[१०२८-१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों के कितनी द्रव्येन्द्रियाँ कही गई हैं ?

[१०२८-१ उ.] गौतम ! उनके दो द्रव्येन्द्रियाँ कही गई हैं, वे इस प्रकार—स्पर्शनेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय ।

[२] तेइंदियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! चत्तारि दव्विंदिया पण्णत्ता । तं जहा—दो घाणा २ जीहा ३ फासे ४ ।

[१०२८-२ प्र.] भगवन् ! त्रीन्द्रिय जीवों के कितनी द्रव्येन्द्रियाँ कही गई हैं ?

[१०२८-२ उ.] गौतम ! (उनके) चार द्रव्येन्द्रियाँ कही गई हैं, वे इस प्रकार—दो घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन ।

[३] चउरिंदियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! छ दव्विंदिया पण्णत्ता । तं जहा—दो णेत्ता २ दो घाणा ४ जीहा ५ फासे ६ ।

[१०२८-३ प्र.] भगवन् ! चतुरिन्द्रिय जीवों के कितनी द्रव्येन्द्रियाँ कही गई हैं ?

[१०२८-३ उ.] गौतम ! उनके छह द्रव्येन्द्रियाँ कही गई हैं, वे इस प्रकार—दो नेत्र, दो घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन ।

१०२९. सेसाणं जहा णेरइयाणं (सु. १०२६ [१]) जाव वेमाणियाणं ।

[१०२९] शेष सबके (तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों, मनुष्यों, वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों) यावत् वैमानिकों के (सू. १०२६-१ में उल्लिखित) नैरयिकों की तरह (आठ द्रव्येन्द्रियाँ कहनी चाहिए ।)

विवेचन—ग्यारहवाँ द्रव्येन्द्रियद्वार—प्रस्तुत छह सूत्रों (सू. १०२४ से १०२९ तक) में द्रव्येन्द्रियों के आठ प्रकार और चौवीस दण्डकों में उनकी प्ररूपणा की गई है ।

चौबीस दण्डकों की अतीत-बद्ध-पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की प्ररूपणा

१०३०. एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स केवतिया दव्विंदिया अतीता ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! अट्ठ ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! अट्ठ वा सोलस वा सत्तरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा ।

[१०३० प्र.] भगवन् ! एक-एक नैरयिक की अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?
[१०३० उ.] गौतम ! अनन्त हैं ।
[प्र.] (भगवन् ! एक-एक नैरयिक की) कितनी (द्रव्येन्द्रियाँ) बद्ध हैं ?
[उ.] गौतम ! आठ हैं ।
[प्र.] भगवन् ! एक-एक नैरयिक की पुरस्कृत (आगे होने वाली) द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?
[उ.] गौतम ! (आगामी द्रव्येन्द्रियाँ) आठ हैं, सोलह हैं, संख्यात हैं, असंख्यात हैं अथवा अनन्त हैं ।

१०३१. [१] एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स केवतिया दव्विंदिया अतीता ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! अट्ठ ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! अट्ठ वा णव वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा ।

[१०३१-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक असुरकुमार के अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?
[१०३१-१ उ.] गौतम ! अनन्त हैं ।
[प्र.] (भगवन् ! एक-एक असुरकुमार के) कितनी (द्रव्येन्द्रियाँ) बद्ध हैं ?
[उ.] गौतम ! आठ हैं ।
[प्र.] (भगवन् ! एक-एक असुरकुमार के) पुरस्कृत (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?
[उ.] गौतम ! आठ हैं, नौ हैं, संख्यात हैं, असंख्यात हैं, या अनन्त हैं ।

[२] एवं जाव थणियकुमाराणं ताव भाणियव्वं ।

[१०३१-२] नागकुमार से ले कर स्तनितकुमार तक (की अतीत, बद्ध और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों के विषय में भी) इसी प्रकार कहना चाहिए ।

१०३२. [१] एवं पुढविक्काइय-आउक्काइय-वणप्फइकाइयस्स वि । णवरं केवतिया बद्धेल्लगा ? त्ति पुच्छाए उत्तरं एक्के फासिंदिए पण्णत्ते ।

[१०३२-१] पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक (की अतीत और पुरस्कृत इन्द्रियों के विषय में) भी इसी प्रकार (कहना चाहिए।)

[प्र. उ.] विशेषतः इनकी (प्रत्येक की) बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ऐसी पृच्छा का उत्तर है—(इनकी बद्ध द्रव्येन्द्रिय) एक (मात्र) स्पर्शनेन्द्रिय कही गई है।

[२] एवं तेउक्काइय-वाउक्काइयस्स वि। णवरं पुरेक्खडा णव वा दस वा।

[१०३२-२] तेजस्कायिक और वायुकायिक की अतीत और बद्ध द्रव्येन्द्रियों के विषय में भी इसी प्रकार (पूर्ववत्) कहना चाहिए। विशेष यह है कि इनकी पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ नौ या दस होती हैं।

१०३३. [१] एवं बेइंदियाण वि। णवरं बद्धेल्लगपुच्छाए दोण्णि।

[१०३३-१] द्वीन्द्रियों की (प्रत्येक की अतीत और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों के विषय में) भी इसी प्रकार पूर्ववत् कहना चाहिए। विशेष यह कि (इनकी प्रत्येक की) बद्ध (द्रव्येन्द्रियों) की पृच्छा होने पर दो द्रव्येन्द्रियाँ (कहनी चाहिए।)

[२] एवं तेइंदियस्स वि। णवरं बद्धेल्लगा चत्तारि।

[१०३३-२] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय की (अतीत और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों के विषय में समझना चाहिए।) विशेष यह कि (इसकी) बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ चार होती हैं।

[३] एवं चउरिंदियस्स वि। नवरं बद्धेल्लगा छ।

[१०३३-३] इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय की (अतीत और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों के विषय में) भी (जानना चाहिए।) विशेष यह कि (इसकी) बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ छह होती हैं।

१०३४. पंचेंदियतिरिक्खजोणिय-मणूस-वाणमंतर- जोइसिय-सोहम्मीसाणगदेवस्स जहा असुरकुमारस्स (सु. १०३१)। णवरं मणूसस्स पुरेक्खडा कस्सइ णत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ वा नव वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा।

[१०३४] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक, मनुष्य, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म, ईशान देव की अतीत, बद्ध और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों के विषय में (सू. १०३१ में) जिस प्रकार असुरकुमार के विषय में (कहा है, उसी प्रकार समझना चाहिए।) विशेष यह है कि पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ किसी मनुष्य के होती हैं, किसी के नहीं होती। जिसके (पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ) होती हैं, उसके आठ, नौ संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होती हैं।

[१०३५. सणंकुमार-माहिंद-बंभ-लंतग-सुक्क-सहस्सार-आणय-पाणय-आरण-अच्चुय-गेवेज्जग-देवस्स य जहा नेरइयस्स (सु. १०३०)।

[१०३५] सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, शुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत और ग्रैवेयक देव की अतीत, बद्ध और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों के विषय में (सू. १०३० में उक्त) नैरयिक के (अतीतादि के) समान जानना चाहिए।

१०३६. एगमेगस्स णं भंते ! विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवस्स केवतिया दव्विंदिया अतीया ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! अट्ठ ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! अट्ठ वा सोलस वा चउवीसा वा संखेज्जा वा ।

[१०३६ प्र.] भगवन् ! एक-एक विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देव की अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०३६ उ.] गौतम ! अनन्त हैं ।

[प्र.] भगवन् ! विजयादि चारों में से प्रत्येक की बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! आठ हैं ।

[प्र.] भगवन् ! (इनकी प्रत्येक की) पुरस्कृत (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) आठ, सोलह, चौबीस या संख्यात होती हैं ।

१०३७. सव्वट्ठसिद्धगदेवस्स अतीता अणंता, बद्धेल्लगा अट्ठ, पुरेक्खडा अट्ठ ।

[१०३७] सर्वार्थसिद्ध देव की (प्रत्येक की) अतीत द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त, बद्ध आठ और पुरस्कृत भी आठ होती हैं ।

१०३८. [१] णेरइयाणं भंते ! केवतिया दव्विंदिया अतीया ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! असंखेज्जा ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! अणंता ।

[१०३८-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत-से) नारकों की अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०३८-१ उ.] गौतम ! अनन्त हैं ।

[प्र.] (उनकी) बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! असंख्यात हैं ।

[प्र.] (उनकी) पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! अनन्त हैं ।

[२] एवं जाव गेवेज्जगदेवाणं । णवरं मणूसाणं बद्धेल्लगा सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा ।

[१०३८-२] इसी प्रकार (असुरकुमारों से लेकर) यावत् (बहुत-से) ग्रैवेयक देवों (की अतीत, बद्ध और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों) के विषय में (समझ लेना चाहिए ।) विशेष यह कि मनुष्यों की बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात होती हैं ।

१०३९. विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवाणं पुच्छा ?

गोयमा ! अतीता अणंता, बद्धेल्लगा असंखेज्जा, पुरेक्खडा असंखेज्जा ।

[१०३९ प्र.] भगवन् ! पृच्छा है कि (बहुत-से) विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवों की (अतीत, बद्ध और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी-कितनी हैं ?

[१०३९ उ.] गौतम ! (इनकी) अतीत (द्रव्येन्द्रियाँ) अनन्त हैं, बद्ध असंख्यात हैं (और) पुरस्कृत असंख्यात हैं ।

१०४०. सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं पुच्छा । गोयमा ! अईया अणंता, बद्धेल्लगा संखेज्जा, पुरेक्खडा संखेज्जा ।

[१०४० प्र.] भगवन् ! सर्वार्थसिद्ध देवों की (अतीत, बद्ध और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी-कितनी हैं ?

[१०४० उ.] गौतम ! (इनकी) अतीत द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त हैं, बद्ध संख्यात हैं (और) पुरस्कृत संख्यात हैं ।

१०४१. [१] एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स णेरइअत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीया ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! अट्ठ ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसा वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा ।

[१०४१-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक नैरयिक की नैरयिकपन (नारक अवस्था) में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०४१-१ उ.] गौतम ! अनन्त हैं ।

[प्र.] बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) आठ हैं ।

[प्र.] पुरस्कृत (आगामी काल में होने वाली) द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! (पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ) किसी (नारक) की होती हैं, किसी की नहीं होती । जिसकी होती हैं, उसकी आठ, सोलह, चौबीस, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होती हैं ।

[२] एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! णत्थि ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसा वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं जाव थणियकुमारत्ते ।

[१०४१-२ प्र.] भगवन् ! एक-एक नैरयिक की असुरकुमार पर्याय में अतीत (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[१०४१-२ उ.] गौतम ! अनन्त हैं ।

[प्र.] बद्ध (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[उ.] (वे) नहीं हैं ।

[प्र.] पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) किसी को होती हैं, किसी को नहीं होती, जिसको होती हैं, उसको आठ, सोलह, चौबीस, संख्यात, असंख्यात या अनन्त होती हैं ।

इसी प्रकार एक-एक नैरयिक की (असुरकुमारपर्याय से लेकर) यावत् स्तनितकुमारपर्याय में (अतीत, बद्ध एवं पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों के विषय में कहना चाहिए ।)

[३] एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स पुढविकाइयत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीया ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! णत्थि ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि एक्को वा दो वा तिण्णि वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं जाव वणप्फइकाइयत्ते ।

[१०४१-३ प्र.] भगवन् ! एक-एक नैरयिक की पृथ्वीकायपन में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०४१-३ उ.] गौतम ! (वे) अनन्त हैं ।

[प्र.] बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) नहीं हैं ।

[प्र.] (भगवन् ! इनको) पुरस्कृत (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी को होती हैं, किसी को नहीं होती । जिसको होती हैं, उसको एक, दो, तीन या संख्यात, असंख्यात या अनन्त होती हैं ।

इसी प्रकार एक-एक नारक की अप्कायपर्याय से लेकर यावत् वनस्पतिकायपन में (अतीत, बद्ध और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों के विषय में कहना चाहिए ।)

[४] एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स बेइंदियत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीया ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! णत्थि ।

केवतिया ! पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि दो वा चत्तारि वा छ वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं तेइंदियत्ते वि, णवरं पुरेक्खडा चत्तारि वा अट्ठ वा बारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं चउरिंदियत्ते वि णवरं पुरेक्खडा छ वा बारस वा अट्ठारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा ।

[१०४१-४ प्र.] भगवन् ! एक-एक नैरयिक की द्वीन्द्रियपन में कितनी अतीत द्रव्येन्द्रियाँ हैं ?

[१०४१-४ उ.] गौतम ! अनन्त हैं ।

[प्र.] (भगवन् ! वैसी) बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) नहीं हैं ।

[प्र.] भगवन् ! पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी को होती हैं, किसी की नहीं होती । जिसकी होती हैं, उसकी दो, चार, छह, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होती हैं ।

इसी प्रकार (एक-एक नैरयिक की) त्रीन्द्रियपन में (अतीत और बद्ध द्रव्येन्द्रियों के विषय में समझना चाहिए ।) विशेष यह है कि उसकी पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ चार, आठ या बारह, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होती हैं ।

इसी प्रकार (एक-एक नैरयिक की) चतुरिन्द्रियपन में (अतीत और बद्ध द्रव्येन्द्रियों) के विषय में जानना चाहिए । विशेष यह है कि उसकी पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ छह, बारह, अठारह, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त हैं ।

[५] पंचेंदियतिरिक्खजोणियत्ते जहा असुरकुमारत्ते ।

[१०४१-५] (एक-एक नैरयिक की) पंचेन्द्रियतिर्यञ्चपर्याय में (अतीत, बद्ध और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों के विषय में असुरकुमारपर्याय में जिस प्रकार कहा गया है, उसी प्रकार कहना चाहिए ।

[६] मणूसत्ते वि एवं चेव । णवरं केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! अट्ठ वा सोलस वा चउवीसा वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । सव्वेसिं मणूसवज्जाणं पुरेक्खडा मणूसत्ते कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि त्ति एवं ण वुच्चति ।

[१०४१-६] मनुष्यपर्याय में भी इसी प्रकार अतीतादि द्रव्येन्द्रियों के विषय में कहना चाहिए ।

[प्र.] विशेष यह है कि पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! आठ, सोलह, चौवीस, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होती हैं । मनुष्यों को छोड़ कर शेष सबकी (तेईस दण्डकों के जीवों की) पुरस्कृत (भावी) द्रव्येन्द्रियाँ मनुष्यपन में किसी की होती हैं, किसी की नहीं होती, ऐसा नहीं कहना चाहिए ।

[७] वाणमंतर-जोइसिय-सोहम्मग जाव गेवेज्जगदेवत्ते अतीया अणंता; बद्धेल्लगा णत्थि; पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि, कस्सइ णत्थि जस्सऽत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसा वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा ।

[१०४१-७] (एक-एक नैरयिक की) वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, सौधर्म से लेकर ग्रैवेयक देव तक के रूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त हैं, बद्ध नहीं हैं और पुरस्कृत इन्द्रियाँ किसी की हैं, किसी की नहीं हैं। जिसकी हैं, उसकी आठ, सोलह, चौवीस, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त हैं।

[८] एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीया ?

गोयमा ! णत्थि।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! णत्थि।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ वा सोलस वा।

[१०४१-८ प्र.] भगवन् ! एक नैरयिक की विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित-देवत्व के रूप में कितनी अतीत द्रव्येन्द्रियाँ हैं ?

[१०४१-८ उ.] गौतम ! (वे) नहीं हैं।

[प्र.] भगवन् ! बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) नहीं हैं।

[प्र.] भगवन् ! पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी की होती हैं, किसी की नहीं होती, जिसकी होती हैं, उसकी आठ या सोलह होती हैं।

[९] सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते अतीया णत्थि; बद्धेल्लगा णत्थि; पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ।

[१०४१-९] सर्वार्थसिद्ध-देवपन में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ नहीं हैं, बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ भी नहीं हैं, पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ किसी की होती हैं, किसी की नहीं होती हैं। जिसकी होती हैं, उसकी आठ होती हैं।

१०४२. एवं जहा णेरइयदंडओ णीओ तहा असुरकुमारेण वि णेयव्वो जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणिएणं। णवरं जस्स सट्ठाणे जति बद्धेल्लगा तस्स तह भाणियव्वा।

[१०४२.] जैसे (सू. १०४१-१ से ९ में) नैरयिक (की नैरयिकादि त्रिविधरूप में पाई जाने वाली अतीत, बद्ध एवं पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों) के विषय में दण्डक कहा, उसी प्रकार असुरकुमार के विषय में भी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक तक के दण्डक कहने चाहिए। विशेष यह है कि जिसकी स्वस्थान में जितनी बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कही हैं, उसकी उतनी कहानी चाहिए।

१०४३. [१] एगमेगस्स णं भंते ! मणूसस्स णेरइयत्ते केवतिया दव्वेंदिया अतीया ?

गोयमा ! अणंता।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! णत्थि।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसा वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा।

[१०४३-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक मनुष्य की नैरयिकपन में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०४३-१ उ.] गौतम ! (वे) अनन्त हैं।

[प्र.] (भगवन् ! उसकी) बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! नहीं हैं।

[प्र.] (भगवन् ! उसकी) पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं।

[उ.] गौतम ! किसी की होती हैं, किसी की नहीं होती, जिसकी होती हैं, उसकी आठ, सोलह, चौबीस, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होती हैं।

[२] एवं जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणियत्ते । णवरं एगिंदिय-विगलिंदिएसु जस्स जत्तिया पुरेक्खडा तस्स तत्तिया भाणियव्वा ।

[१०४३-२] इसी प्रकार यावत् पंचेन्द्रियतिर्यञ्चपर्याय में (अतीत, बद्ध और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों के विषय में) कहना चाहिए । विशेष यह है कि एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में से जिसकी जितनी पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कही हैं, उसकी उतनी कहनी चाहिए।

[३] एगमेगस्स णं भंते ! मणूसस्स मणूसत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीया ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! अट्ठ ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसा वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा ।

[१०४३-३ प्र.] भगवन् ! मनुष्य की मनुष्यपर्याय में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०४३-३ उ.] गौतम ! अनन्त हैं।

[प्र.] बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) आठ हैं।

[प्र.] पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी होती हैं ?

[उ.] गौतम (वे) किसी की होती हैं, किसी की नहीं होती, जिसकी होती हैं, उसकी आठ, सोलह, चौबीस, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होती हैं ?

[४] वाणमंतर-जोतिसिय जाव गेवेज्जगदेवत्ते जहा णेरइयत्ते ।

[१०४३-४] (एक-एक मनुष्य की) वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और (सौधर्म से लेकर) यावत् ग्रैवेयक देवत्व के रूप में (अतीत, बद्ध और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों के विषय में) नैरयिकत्व रूप में उक्त (सू. १०४३-१ में उल्लिखित) अतीतादि द्रव्येन्द्रियों के समान समझना चाहिए।

[५] एगमेगस्स णं भंते ! मणूसस्स विजय-वेजयंत-जयंताऽपराजियदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीया ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ वा सोलस वा ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! णत्थि ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ वा सोलस वा ।

[१०४३-५ प्र.] भगवन् ! एक-एक मनुष्य की विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित-देवत्व के रूप में कितनी अतीत द्रव्येन्द्रियाँ हैं ?

[१०४३-५ उ.] गौतम ! किसी को होती हैं, किसी को नहीं होती हैं। जिसकी होती हैं, उसकी आठ या सोलह होती हैं।

[प्र.] बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! नहीं हैं।

[प्र.] पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी की होती हैं और किसी की नहीं होती। जिसकी होती हैं, उसकी आठ या सोलह होती हैं।

[६] एगमेगस्स णं भंते ! मणूसस्स सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! णत्थि।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ।

[१०४३-६ प्र.] भगवन् ! एक-एक मनुष्य की सर्वार्थसिद्धदेवत्वरूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०४३-६ उ.] गौतम ! (वे) किसी की होती हैं, किसी की नहीं होती हैं। जिसकी होती हैं, उसकी आठ होती हैं ?

[प्र.] (उसकी) बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी होती हैं ?

[उ.] गौतम ! नहीं होती हैं।

[प्र.] (भगवन् ! उसकी) पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी होती हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी की होती हैं, किसी की नहीं होती हैं। जिसकी होती हैं, उसकी आठ होती हैं।

१०४४. वाणमंतर-जोतिसिए जहा णेरइए (सु. १०४१)।

[१०४४] वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क देव की तथारूप में अतीत, बद्ध और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की वक्तव्यता (सू. १०४१ में उल्लिखित) नैरयिक की वक्तव्यता के समान कहना चाहिए।

१०४५. [१] सोहम्मगदेवे वि जहा णेरइए (सु. १०४१)।

णवरं सोहम्मगदेवस्स विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियस्स केवतिया दव्विंदिया अतीता ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! णत्थि।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ वा सोलस वा। सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते जहा णेरइयस्स।

[१०४५-१] सौधर्मकल्प देव की (तथारूप में अतीतादि द्रव्येन्द्रियों की वक्तव्यता) भी (सू. १०४१ में अंकित) नैरयिक की (वक्तव्यता के समान कहना चाहिए।)

[प्र.] विशेष यह है कि सौधर्मदेव की विजय, वैजयन्त जयन्त और अपराजितदेवत्व के रूप में कितनी अतीत द्रव्येन्द्रियाँ हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी की होती हैं, किसी की नहीं होती हैं। जिसकी होती हैं, उसकी आठ होती हैं।

[प्र.] (उसकी) बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! नहीं हैं।

[प्र.] (उसकी) पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी की होती हैं, किसी की नहीं होती हैं। जिसकी होती हैं, आठ या सोलह होती हैं। (सौधर्मदेव की) सर्वार्थसिद्धदेवरूप में (अतीत, बद्ध, पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की वक्तव्यता (सू. १०४१ के अनुसार) नैरयिक (की वक्तव्यता) के समान (समझनी चाहिए।)

[२] एवं जाव गेवेज्जगदेवस्स सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते ताव णेयव्वं।

[१०४५-२] (ईशानदेव से लेकर) ग्रैवेयकदेव तक की यावत् सर्वार्थसिद्धदेवत्वरूप में अतीत, बद्ध, पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की वक्तव्यता भी इसी प्रकार कहनी चाहिए।

१०४६. [१] एगमेगस्स णं भंते ! विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवस्स णेरइयत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ?

गोयमा ! अणंता।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! णत्थि।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! णत्थि।

[१०४६-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देव की नैरयिक के रूप में कितनी अतीत द्रव्येन्द्रियाँ हैं ?

[१०४६-१ उ.] गौतम ! अनन्त हैं।

[प्र.] (उसकी) बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! नहीं हैं।

[प्र.] (उसकी) पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! नहीं हैं।

[२] एवं जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणियत्ते।

[१०४६-२] इन चारों की प्रत्येक की, असुरकुमारत्व से लेकर यावत् पंचेन्द्रियतिर्यञ्च-योनिकत्वरूप में (अतीत, बद्ध, पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की वक्तव्यता भी) इसी प्रकार (समझनी चाहिए।)

[३] मणूसत्ते अतीया अणंता, बद्धेल्लगा णत्थि, पुरेक्खडा अट्ठ वा सोलस वा चउवीसा वा संखेज्जा वा ।

[१०४६-३] (इन्हीं की प्रत्येक की) मनुष्यत्व के रूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त हैं, बद्ध नहीं हैं, पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ आठ, सोलह या चौवीस होती हैं, अथवा संख्यात होती हैं ।

[४] वाणमंतर-जोतिसियत्ते जहा णेरइयत्ते (सु. १०४१) ।

[१०४६-४] (इन्हीं की प्रत्येक की) वाणव्यन्तर एवं ज्योतिष्क देवत्व के रूप में (अतीत, बद्ध, पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की वक्तव्यता सू. १०४१ में उल्लिखित) नैरयिकत्वरूप की अतीतादि की वक्तव्यता के अनुसार (कहना चाहिए ।)

[५] सोहम्मगदेवत्ते अतीया अणंता । बद्धेल्लगा णत्थि । पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सई णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसा वा संखेज्जा वा ।

[१०४६-५] (इन चारों की प्रत्येक की) सौधर्मदेवत्वरूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त हैं, बद्ध नहीं हैं और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ किसी की होती हैं, किसी की नहीं होती हैं । जिसकी होती हैं, उसकी आठ, सोलह, चौवीस अथवा संख्यात होती हैं ।

[६] एवं जाव गेवेज्जगदेवत्ते ।

[१०४६-६] (इन्हीं चारों की प्रत्येक की) (ईशानदेवत्व से लेकर) यावत् ग्रैवेयकदेवत्व के रूप में (अतीतादि द्रव्येन्द्रियों की वक्तव्यता) इसी प्रकार (समझनी चाहिए ।)

[७] विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियत्ते अतीया कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! अट्ठ ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ ।

[१०४६-७] (इन चारों की प्रत्येक की) विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवत्व के रूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ किसी की होती हैं और किसी की नहीं होती हैं । जिसकी होती हैं उसकी आठ होती हैं ।

[प्र.] बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) आठ हैं ।

[प्र.] कितनी पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी की होती हैं और किसी की नहीं होती हैं, जिसकी होती हैं, उसके आठ होती हैं ।

[८] एगमेगस्स णं भंते ! विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवस्स सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीया ?

गोयमा ! अत्थि ।
केवतिया बद्धेल्लगा ?
गोयमा ! णत्थि ।
केवतिया पुरेक्खडा ?
गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ ।

[१०४६-८ प्र.] भगवन् ! एक-एक विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देव की सर्वार्थसिद्धदेवत्व के रूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०४६-८ उ.] गौतम ! (वे) नहीं हैं ।

[प्र.] बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) नहीं हैं ।

[प्र.] पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी की होती हैं, किसी की नहीं होती हैं । जिसकी होती हैं, वे आठ होती हैं ।

१०४७. [१] एगमेगस्स णं भंते ! सव्वट्ठसिद्धगदेवस्स णेरइयत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीया ?

गोयमा ! अणंता ।
केवतिया बद्धेल्लगा ?
गोयमा ! णत्थि ।
केवतिया पुरेक्खडा ?
गोयमा ! णत्थि ।

[१०४७-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक सर्वार्थसिद्धदेव की नारकपन में कितनी द्रव्येन्द्रियाँ अतीत हैं ?

[१०४७-१ उ.] गौतम ! अनन्त हैं ।

[प्र.] (उसकी) बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! नहीं हैं ।

[प्र.] कितनी पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ हैं ?

[उ.] गौतम ! नहीं हैं ।

[२] एवं मणूसवज्जं जाव गेवेज्जगदेवत्ते । णवरं मणूसत्ते अतीया अणंता ।
केवतिया बद्धेल्लगा ?
गोयमा ! णत्थि ।
केवतिया पुरेक्खडा ?
गोयमा ! अट्ठ ।

[१०४७-२] इसी प्रकार (असुरकुमारत्व से लेकर) मनुष्यत्व को छोड़कर यावत् ग्रैवेयक-देवत्वरूप में (एक-एक सर्वार्थसिद्धदेव की) (अतीतादि द्रव्येन्द्रियों की वक्तव्यता समझनी चाहिए ।)

विशेष यह है कि (एक-एक सर्वार्थसिद्धदेव की) मनुष्यत्वरूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त हैं।

[प्र.] बद्ध (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) नहीं हैं।

[प्र.] पुरस्कृत (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) आठ हैं।

[३] विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवत्ते अतीया कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि अट्ठ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! णत्थि।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! णत्थि।

[१०४७-३] (एक-एक सर्वार्थसिद्धदेव की) विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजितदेवत्वरूप में अतीत (द्रव्येन्द्रियाँ) किसी को हैं और किसी की नहीं हैं। जिसकी होती हैं, वे आठ होती हैं।

[प्र.] (उसकी) बद्ध (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! नहीं हैं।

[प्र.] कितनी पुरस्कृत (द्रव्येन्द्रियाँ) हैं ?

[उ.] गौतम नहीं हैं।

[४] एगमेगस्स णं भंते ! सव्वट्ठसिद्धगदेवस्स सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीया ?

गोयमा ! णत्थि।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! अट्ठ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! णत्थि।

[१०४७-४ प्र.] भगवन् ! एक-एक सर्वार्थसिद्धदेव की सर्वार्थसिद्धदेवत्वरूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०४७-४] गौतम ! नहीं हैं।

[प्र.] (उसकी) बद्ध (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) आठ हैं।

[प्र.] उसकी पुरस्कृत (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) नहीं हैं।

१०४८. [१] णेरइयाणं भंते ! णेरइयत्ते केवइया दव्विंदिया अतीया ?

गोयमा ! अणंता।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! असंखेज्जा ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! अणंता ।

[१०४८-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत-से) नैरयिकों की नारकत्वरूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०४८-१ उ.] गौतम ! (वे) अनन्त हैं ।
[प्र.] (उनकी) बद्ध (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?
[उ.] गौतम ! (वे) असंख्यात हैं ।
[प्र.] (उनकी) पुरस्कृत (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?
[उ.] गौतम ! (वे) अनन्त हैं ।

[२] णेरइयाणं भंते ! असुरकुमारत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

गोयमा ! णत्थि ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! अणंता ।

[१०४८-२ प्र.] भगवन् ! (बहुत-से) नैरयिकों की असुरकुमारत्वरूप में (अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०४८-२ उ.] गौतम ! (वे) अनन्त हैं ।
[प्र.] (उनकी) बद्ध (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?
[उ.] गौतम ! नहीं हैं ।
[प्र.] (उनकी) पुरस्कृत (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?
[उ.] गौतम ! अनन्त हैं ।

[३] एवं जाव गेवेज्जगवेवत्ते ।

[१०४८-३] (बहुत-से नारकों की) नागकुमारत्व से लेकर यावत् ग्रैवेयकदेवत्वरूप में (अतीत बद्ध पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की वक्तव्यता भी इसी प्रकार (पूर्ववत्) जाननी चाहिए ।

[४] णेरइयाणं भंते ! विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियवेवत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ?

णत्थि ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

णत्थि ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

असंखेज्जा ।

[१०४८-४ प्र.] भगवन् ! (बहुत-से) नैरयिकों की विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित-देवत्व के रूप के अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०४८-४ उ.] गौतम ! नहीं हैं।

[प्र.] (उनकी) बद्ध (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[उ.] (गौतम !) नहीं हैं।

[प्र.] (उनकी) पुरस्कृत (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[उ.] (गौतम !) असंख्यात हैं।

[५] एवं सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते वि।

[१०४८-५] (नैरयिकों की) सर्वार्थसिद्धदेवत्व रूप में (अतीत बद्ध पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की वक्तव्यता) भी इसी प्रकार (जाननी चाहिए)।

१०४९. एवं जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते भाणियव्वं।

णवरं वणस्सइकाइयाणं विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवत्ते सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते य पुरेक्खडा अणंता; सव्वेसिं मणूस-सव्वट्ठसिद्धगवज्जाणं सट्ठाणे बद्धेल्लगा असंखेज्जा, परट्ठाणे बद्धेल्लगा णत्थि; वणस्सइकाइयाणं सट्ठाणे बद्धेल्लगा अणंता।

[१०४९] (असुरकुमारों से लेकर) यावत् (बहुत-से) पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों की (नैरयिकत्व से लेकर) सर्वार्थसिद्ध देवत्वरूप (तक) में (अतीत, बद्ध, पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की) प्ररूपणा इसी प्रकार (पूर्ववत्) करनी चाहिए।

विशेष यह है कि वनस्पतिकायिकों की, विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवत्व तथा सर्वार्थसिद्धदेवत्व के रूप में पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त हैं। मनुष्यों और सर्वार्थसिद्धदेवों को छोड़कर सबकी स्वस्थान में बद्ध (द्रव्येन्द्रियाँ) असंख्यात हैं, परस्थान में बद्ध (द्रव्येन्द्रियाँ) नहीं हैं। वनस्पतिकायिकों की स्वस्थान में बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त हैं।

१०५०. [१] मणुस्साणं णेरइयत्ते अतीता अणंता, बद्धेल्लगा णत्थि, पुरेक्खडा अणंता।

[१०५०-१] मनुष्यों की नैरयिकत्व के रूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त हैं, बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ नहीं हैं और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त हैं।

[२] एवं जाव गेवेज्जगदेवत्ते। णवरं सट्ठाणे अतीता अणंता, बद्धेल्लगा सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा, पुरेक्खडा अणंता।

[१०५०-२] मनुष्यों को (असुरकुमारत्व से लेकर) यावत् ग्रैवेयकदेवत्वरूप में (अतीत, बद्ध, पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की प्ररूपणा) इसी प्रकार (पूर्ववत्) (समझनी चाहिए।) विशेष यह है कि (मनुष्यों को) स्वस्थान में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त हैं, बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात हैं और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त हैं।

[३] मणूसाणं भंते ! विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ?

संखेज्जा।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

णत्थि ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा । एवं सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते वि ।

[१०५०-३ प्र.] भगवन् ! मनुष्यों की विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित-देवत्व के रूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०५०-३ उ.] (गौतम ! वे) संख्यात हैं ।

[प्र.] (उनकी) बद्ध (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[उ.] (गौतम !) नहीं हैं ।

[प्र.] (उनकी) पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] (गौतम ! वे) कदाचित् संख्यात हैं, कदाचित् असंख्यात हैं। इसी प्रकार सर्वार्थसिद्ध-देवत्वरूप में भी (अतीत, बद्ध, पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की वक्तव्यता समझ लेनी चाहिए) ।

१०५१. वाणमंतर-जोइसियाणं जहा णेरइयाणं (सु. १०४८) ।

[१०५१] (बहुत-से) वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क देवों की अतीत, बद्ध, पुरस्कृत (द्रव्येन्द्रियों) की वक्तव्यता (नैरयिकत्व से लेकर सर्वार्थसिद्धदेवत्व रूप तक में सू. १०४८ में उक्त) नैरयिकों की (वक्तव्यता के समान जानना चाहिए) ।

१०५२. सोहम्मगदेवाणं एवं चेव । णवरं विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवत्ते अतीता असंखेज्जा, बद्धेल्लगा णत्थि, पुरेक्खडा असंखेज्जा । सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते अतीता णत्थि, बद्धेल्लगा णत्थि, पुरेक्खडा असंखेज्जा ।

[१०५२] सौधर्म देवों की अतीतादि की वक्तव्यता इसी प्रकार है । विशेष यह है कि विजय, वैजयन्त, जयन्त तथा अपराजितदेवत्व के रूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ असंख्यात हैं, बद्ध नहीं हैं तथा पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ असंख्यात हैं । सर्वार्थसिद्धदेवत्व रूप में अतीत नहीं हैं, बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ भी नहीं हैं, किन्तु पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ असंख्यात हैं ।

१०५३. एवं जाव गेवेज्जगदेवाणं ।

[१०५३] (बहुत-से) (ईशानदेवों से लेकर) यावत् ग्रैवेयकदेवों की (अतीत,बद्ध, पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की वक्तव्यता भी) इसी प्रकार (समझनी चाहिए) ।

१०५४. [१] विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवाणं भंते ! णेरइयत्ते केवतिया दव्वेंदिया अतीता ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

णत्थि ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

णत्थि ।

[१०५४-१ प्र.] भगवन् ! विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवों की नैरयिकत्व के रूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०५४-१ उ.] गौतम ! (वे) अनन्त हैं ?

[प्र.] (उनकी) बद्ध (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[उ.] (गौतम !) नहीं हैं।

[प्र.] (उनकी) पुरस्कृत (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[उ.] (गौतम !) नहीं हैं।

[२] एवं जाव जोइसियत्ते। णवरमेसिं मणूसत्ते अतीया अणंता; केवतिया बद्धेल्लगा ? णत्थि; पुरेक्खडा असंखेज्जा।

[१०५४-२] इसी प्रकार यावत् ज्योतिष्कदेवत्वरूप में भी (अतीत, बद्ध, पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों के विषय में कहना चाहिए।) के विशेष यह है कि इनकी मनुष्यत्वरूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त हैं।

[प्र.] (इनकी) बद्ध (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं।

[उ.] (गौतम !) नहीं हैं।

[प्र.] (इनकी) पुरस्कृत (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?

[उ.] (गौतम ! वे) असंख्यात हैं ?

[३] एवं जाव गेवेज्जगदेवत्ते। सट्ठाणे अतीता असंखेज्जा।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

असंखेज्जा।

केवतिया पुरेक्खडा ?

असंखेज्जा।

[१०५४-३] (विजयादि चारों की) सौधर्मादि देवत्व से लेकर यावत् ग्रैवेयकदेवत्व के रूप में अतीतादि द्रव्येन्द्रियों की वक्तव्यता इसी प्रकार है। इनकी स्वस्थान में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ असंख्यात हैं।

[प्र.] बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] असंख्यात हैं।

[प्र.] (उनकी) पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] (गौतम ! पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ) असंख्यात हैं।

[४] सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते अतीता णत्थि, बद्धेल्लगा णत्थि, पुरेक्खडा असंखेज्जा।

[१०५४-४] (इन चारों देवों) की सर्वार्थसिद्धदेवत्व रूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ नहीं हैं, बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ भी नहीं हैं, किन्तु पुरस्कृत असंख्यात हैं।

१०५५. [१] सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते ! णेरइयत्ते केवतिया दव्वेंदिया अतीता ?

गोयमा ! अणंता।

केवतिया बद्धेल्लगा ?

णत्थि।

केवतिया पुरेक्खडा ?

णत्थि ।

[१०५५-१ प्र.] भगवन् ! सर्वार्थसिद्ध देवों की नैरयिकत्व के रूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०५५-१ उ.] गौतम ! (वे) अनन्त हैं ।
[प्र.] (उनकी) बद्ध (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?
[उ.] (गौतम !) नहीं हैं ।
[प्र.] (उनकी) पुरस्कृत (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?
[उ.] (गौतम !) नहीं हैं ।

[२] एवं मणूसवज्जं जाव गेवेज्जगदेवत्ते ।

[१०५५-२] मनुष्य को छोड़ कर यावत् ग्रैवेयकदेवत्व तक के रूप में भी इसी प्रकार (इनकी अतीतादि द्रव्येन्द्रियों की वक्तव्यता कहनी चाहिए ।)

[३] मणूसत्ते अतीता अणंता, बद्धेल्लगा णत्थि , पुरेक्खडा संखेज्जा ।

[१०५५-३] (इनकी) मनुष्यत्व के रूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त हैं, बद्ध नहीं हैं, पुरस्कृत संख्यात हैं ।

[४] विजय-वेजयंत-जयंतापराजियदेवत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ?
संखेज्जा ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?
नत्थि ।

केवतिया पुरेक्खडा ?
णत्थि ।

[१०५५-४ प्र.] विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवत्व के रूप में इनकी अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०५५-४ उ.] (वे) संख्यात हैं ।
[प्र.] (इनकी) बद्ध (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?
[उ.] (गौतम !) नहीं हैं ।
[प्र.] उनकी पुरस्कृत (द्रव्येन्द्रियाँ) कितनी हैं ?
[उ.] (गौतम !) नहीं हैं ।

[५] सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते ! सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ?
णत्थि ।

केवतिया बद्धेल्लगा ?
संखेज्जा ।

केवइया पुरेक्खडा ?

णत्थि । ११ दारं ॥

[१०५५-५ प्र.] भगवन् ! सर्वार्थसिद्ध देवों की सर्वार्थसिद्धदेवत्व रूप में अतीत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०५५-५ उ.] गौतम ! (वे) नहीं हैं ।

[प्र.] बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] (गौतम ! वे) संख्यात हैं ।

[प्र.] (उनकी) पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] (गौतम ! वे) नहीं हैं । ॥ ११ द्वार ॥

विवेचन—चौवीस दण्डकों की अतीत, बद्ध, पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की प्ररूपणा—प्रस्तुत ग्यारहवें द्वार के अन्तर्गत नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक समस्त जीवों की अतीत, बद्ध और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की एकत्व, बहुत्व आदि विभिन्न पहलुओं से प्ररूपणा की गई है ।

अतीतादि का स्वरूप—अतीत का अर्थ है—भूतकालीन द्रव्येन्द्रियाँ, बद्ध का अर्थ है—वर्तमान में प्राप्त द्रव्येन्द्रियाँ एवं पुरस्कृत यानी आगामीकाल में प्राप्त होने वाली द्रव्येन्द्रियाँ ।

चार पहलुओं से अतीतादि द्रव्येन्द्रियों की प्ररूपणा—(१) एक-एक नैरयिक से लेकर एक-एक सर्वार्थसिद्धदेव तक की अतीत, बद्ध, पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियों की प्ररूपणा, (२) बहुत-से नैरयिकों से लेकर बहुत-से सर्वार्थसिद्ध देवों तक की अतीतादि द्रव्येन्द्रियों की प्ररूपणा, (३) एक-एक नैरयिक से लेकर सर्वार्थसिद्ध देवों तक की नैरयिकत्व से लेकर सर्वार्थसिद्धत्व के रूप के अतीतादि द्रव्येन्द्रियों की प्ररूपणा और (४) बहुत-से नैरयिकों से सर्वार्थसिद्ध देवों तक की नैरयिकत्व से सर्वार्थसिद्धदेवत्व के रूप में अतीतादि द्रव्येन्द्रियों की प्ररूपणा ।

एक नैरयिक की पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ—एक-एक जीवविषयक पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ आठ, सोलह, सत्रह, संख्यात, असंख्यात या अनन्त बताई गई हैं, वे इस प्रकार से हैं—जो नारक अगले ही भव में मनुष्यपर्याय प्राप्त करके सिद्ध हो जाएगा, उसकी मनुष्यभवसम्बन्धी आठ ही द्रव्येन्द्रियाँ होंगी । जो नारक नरक से निकल पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनि में उत्पन्न होगा और फिर मनुष्यगति प्राप्त करके सिद्धि प्राप्त करेगा, उसकी तिर्यंचभवसम्बन्धी आठ और मनुष्यभवसम्बन्धी आठ, यों कुल मिलकर सोलह होंगी । जो नारक नरक से निकलकर पंचेन्द्रियतिर्यंच होगा, तदनन्तर एकेन्द्रियकाय में उत्पन्न होगा और फिर मनुष्यभव पाकर सिद्ध हो जाएगा, उसकी पंचेन्द्रियतिर्यंचभव की आठ, एकेन्द्रियभव की एक और मनुष्यभव की आठ, यों सब मिलकर सत्तरह द्रव्येन्द्रियाँ होंगी । जो नारक संख्यातकाल तक संसार के परिभ्रमण करेगा, उसकी संख्यात, जो असंख्यात काल तक भवभ्रमण करेगा उसकी असंख्यात और जो अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करेगा, उसकी अनन्त पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ होंगी ।

मनुष्य की आगामी (पुरस्कृत) द्रव्येन्द्रियाँ—किसी मनुष्य की होती हैं और किसी की नहीं भी होती हैं । जो मनुष्य उसी भव से सिद्ध हो जाते हैं, उनकी नहीं होती हैं, शेष मनुष्य की होती हैं तो वे आठ, नौ, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होती हैं । वह यदि अनन्तरभव में पुनः मनुष्य होकर

सिद्ध हो जाता है तो उसकी आठ द्रव्येन्द्रियाँ होती हैं। जो मनुष्य पृथ्वीकायादि में एक भव के पश्चात् मनुष्य होकर सिद्धिगामी होता है, उसकी ९ इन्द्रियाँ होती हैं। शेष भावना पूर्ववत् समझनी चाहिए।

असुरकुमारों की पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ—असुरकुमार के भव से निकलने के पश्चात् मनुष्यत्व को प्राप्त कर जो सिद्ध होता है, उसकी पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ ८ होती हैं। ईशानपर्यन्त एक एक असुरकुमारादि पृथ्वीकाय, अप्काय एवं वनस्पतिकाय में उत्पन्न होता है, वह अनन्तर भव में पृथ्वीकायादि किसी एकेन्द्रिय में जाकर तदनन्तर मनुष्यभव प्राप्त करके सिद्ध हो जाता है, उसके नौ पुरस्कृत इन्द्रियाँ होती हैं। संख्यातादि की भावना पूर्ववत् समझनी चाहिए।

पृथ्वी-अप्-वनस्पतिकाय की पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ पृथ्वीकायादि मर कर अनन्तर मनुष्यों में उत्पन्न होकर सिद्ध होते हैं, उनमें जो अनन्तरभव में मनुष्यत्व को प्राप्त करके सिद्ध हो जाता है, उसकी मनुष्यभव सम्बन्धी आठ इन्द्रियाँ होंगी। जो पृथ्वीकायादि अनन्तर एक पृथ्वीकायादि भव पाकर तदनन्तर मनुष्य होकर सिद्ध हो जाते हैं उनकी ९ इन्द्रियाँ होंगी।

तेजस्कायिक-वायुकायिक एवं विकलेन्द्रिय की पुरस्कृत द्रव्येन्द्रियाँ—तेजस्कायिक और वायुकायिक मरकर तदनन्तर मनुष्यभव नहीं प्राप्त करते। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव अनन्तर आगामी भव में मनुष्यत्व तो प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते, अतएव उनकी जघन्य नौ-नौ इन्द्रियाँ कहनी चाहिए। शेष प्ररूपणा पूर्वोक्तानुसार समझनी चाहिए।

सनत्कुमारादि की पुरस्कृत इन्द्रियाँ—सनत्कुमारादि देव च्यव करके पृथ्वीकायादि में उत्पन्न नहीं होते, किन्तु पंचेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं। अतएव उनका कथन नैरयिकों की तरह समझना चाहिए।

विजयादि चार की पुरस्कृत इन्द्रियाँ जो अनन्तरभव में ही मनुष्यभव प्राप्त करके सिद्ध होगा, उसकी ८ इन्द्रियाँ होती हैं। जो एक बार मनुष्य होकर पुनः मनुष्यभव पाकर सिद्ध होगा, उसके १६ इन्द्रियाँ होती हैं। जो बीच में एक देवत्व का अनुभव करके मनुष्य होकर सिद्धिगामी हो तो उसके २४ इन्द्रियाँ होती हैं। मनुष्यभव में आठ, देवभव में ८ और पुनः मनुष्यभव में आठ, यों कुल २४ इन्द्रियाँ होंगी। विजयादि चार विमानगत देव प्रभूत असंख्यातकाल या अनन्तकाल तक संसार में नहीं रहते। इस कारण उनकी आगामी द्रव्येन्द्रियाँ संख्यात ही कही हैं, असंख्यात या अनन्त नहीं।

सर्वार्थसिद्धदेव की पुरस्कृत इन्द्रियाँ—सर्वार्थसिद्धविमान के देव नियमतः अगले भव में सिद्ध होते हैं, इस कारण उनकी आगामी द्रव्येन्द्रियाँ ८ ही कही हैं।

अनेक मनुष्यों की बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ—कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात होती हैं। इसका कारण यह है कि किसी समय सम्मूर्च्छिम मनुष्यों का सर्वथा अभाव हो जाता है, उनका अन्तर चौबीस मुहूर्त का है। जब सम्मूर्च्छिम मनुष्य सर्वथा नहीं होते, तब मनुष्यों की बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ संख्यात होती हैं, क्योंकि गर्भज मनुष्य संख्यात ही होते हैं, किन्तु जब सम्मूर्च्छिम मनुष्य भी होते हैं, तब बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ असंख्यात होती हैं।

नारक की नारकभव अवस्था में भावी द्रव्येन्द्रियाँ—किसी नारक की भविष्यत्कालिक द्रव्येन्द्रियाँ होती हैं किसी की नहीं होती हैं। जो नारक नरक से निकलकर फिर कभी नारक पर्याय में उत्पन्न नहीं होगा, उसकी भावी द्रव्येन्द्रियाँ नहीं होती हैं। जो नारक कभी पुनः नारक में उत्पन्न होगा, उसकी

होती हैं। अगर वह एक ही बार उत्पन्न होने वाला हो तो उसकी आठ, दो बार नारकों में उत्पन्न होने वाला हो तो सोलह, तीन बार उत्पन्न होने वाला हो तो चौवीस, संख्यात बार उत्पन्न होने वाला हो तो संख्यात और असंख्यात या अनन्त बार उत्पन्न होने वाला हो तो भावी द्रव्येन्द्रियाँ भी क्रमशः असंख्यात या अनन्त होती हैं।

एक नारक की पृथ्वीकायपने में अतीत बद्ध इन्द्रियाँ—एक नारक की अतीत द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त होती हैं। बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ बिलकुल नहीं होती हैं, क्योंकि नरकभव में वर्तमान नारक का पृथ्वीकायिक के रूप में वर्तमान होना संभव नहीं है, इस कारण बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ नहीं होती हैं।

विजयादि पांच अनुत्तरौपपातिकदेवों की अतीतादि द्रव्येन्द्रियाँ—जो जीव एक बार विजयादि विमानों में उत्पन्न हो जाता है, उसका फिर से नारकों, तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों, वाणव्यन्तरों और ज्योतिष्कों में जन्म नहीं होता। अतः उनमें नारकादि संबंधी द्रव्येन्द्रियाँ सम्भव नहीं हैं। सर्वार्थसिद्ध देवों के रूप में अतीत और बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ नहीं होती हैं। नारकजीव अतीतकाल में कभी सर्वार्थसिद्ध जीव हुआ नहीं है। अतः सर्वार्थसिद्धदेवत्व रूप में उसकी द्रव्येन्द्रियाँ असम्भव हैं। सर्वार्थसिद्ध विमान में एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् मनुष्यभव पाकर जीव सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

वनस्पतिकायिकों की विजयादि के रूप में भावी द्रव्येन्द्रियाँ—अनन्त हैं, क्योंकि वनस्पतिकायिक जीव अनन्त होते हैं।

बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ मनुष्य और सर्वार्थसिद्ध देवों को छोड़कर सभी की स्वस्थान में बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ असंख्यात जाननी चाहिए। परस्थान में बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ होती नहीं हैं। क्योंकि जो जीव जिस भव में वर्तमान है, वह उसके अतिरिक्त परभव में वर्तमान नहीं हो सकता। वनस्पतिकायिकों की बद्ध द्रव्येन्द्रियाँ असंख्यात होती हैं; क्योंकि वनस्पतिकायिकों के औदारिकशरीर असंख्यात ही होते हैं।[1]

बारहवाँ भावेन्द्रियद्वार

१०५६. कति णं भंते ! भाविंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच भाविंदिया पण्णत्ता। तं जहा--सोइंदिए जाव फासिंदिए।

[१०५६ प्र.] भगवन् ! भावेन्द्रियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१०५६ उ.] गौतम ! भावेन्द्रियाँ पांच कही हैं, वे इस प्रकार— श्रोत्रेन्द्रिय से (लेकर) स्पर्शेन्द्रिय तक।

१०५७. णेरइयाणं भंते ! कति भाविंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच भाविंदिया पण्णत्ता। तं जहा - सोइंदिए जाव फासिंदिए। एवं जस्स जति इंदिया तस्स तत्तिया भाणियव्वा जाव वेमाणियाणं।

[१०५७ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों की कितनी भावेन्द्रियाँ कही गई हैं ?

[१०५७ उ.] गौतम ! भावेन्द्रियाँ पांच कही हैं, वे इस प्रकार—श्रोत्रेन्द्रिय से स्पर्शेन्द्रिय तक। इसी प्रकार जिसकी जितनी इन्द्रियाँ हों, उतनी वैमानिकों तक भावेन्द्रियाँ कह लेनी चाहिए।

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक ३१५-३१६

१०५८. एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स केवतिया भाविंदिया अतीता ?

गोयमा ! अणंता । केवतिया बद्धेल्लगा ? पंच । केवतिया पुरेक्खडा ? पंच वा दस वा एक्कारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा ।

[१०५८ प्र.] भगवन् ! एक-एक नैरयिक के कितनी अतीत भावेन्द्रियाँ हैं ?

[१०५८ उ.] गौतम ! वे अनन्त हैं ।

[प्र.] (उनकी) कितनी (भावेन्द्रियाँ) बद्ध हैं ?

[उ.] (गौतम !) (वे) पांच हैं ।

[प्र.] (उनकी) पुरस्कृत भावेन्द्रियाँ कितनी कही हैं ?

[उ.] (गौतम !) वे पांच हैं, दस हैं, ग्यारह हैं, संख्यात हैं या असंख्यात हैं अथवा अनन्त हैं ।

१०५९. एवं असुरकुमारस्स वि । णवरं पुरेक्खडा पंच वा छ वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं जाव थणियकुमारस्स ।

[१०५९] इसी प्रकार असुरकुमारों की (भावेन्द्रियों के विषय में कहना चाहिए ।) विशेष यह है कि पुरस्कृत भावेन्द्रियाँ पांच, छह, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त हैं ।

इसी प्रकार स्तनितकुमार तक की (भावेन्द्रियों के विषय में समझ लेना चाहिए ।)

१०६०. एवं पुढविकाइय-आउकाइय-वणस्सइकाइयस्स वि, बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियस्स वि । तेउक्काइय-वाउक्काइयस्स वि एवं चेव, णवरं पुरेक्खडा छ वा सत्त वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा ।

[१०६०] इसी प्रकार (एक-एक) पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय की तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय की, तेजस्कायिक एवं वायुकायिक की (अतीतादि भावेन्द्रियों के विषय में कहना चाहिए ।) विशेष यह है कि (इनकी) पुरस्कृत भावेन्द्रियाँ छह, सात, संख्यात, असंख्यात या अनन्त होती हैं ।

१०६१. पंचेंदियतिरिक्खजोणियस्स जाव ईसाणस्स जहा असुरकुमारस्स (सु. १०५९) । णवरं मणूसस्स पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि त्ति भाणियव्वं ।

[१०६१] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक से लेकर यावत् ईशानदेव की अतीतादि भावेन्द्रियों के विषय में (सू. १०५९ में उक्त) असुरकुमारों की भावेन्द्रियों की प्ररूपणा की तरह कहना चाहिए । विशेष यह कि मनुष्य की पुरस्कृत भावेन्द्रियाँ किसी की होती हैं, किसी की नहीं होती हैं; इस प्रकार (सब पूर्ववत्) कहना चाहिए ।

१०६२. सणंकुमार जाव गेवेज्जगस्स जहा णेरइयस्स (सु. १०५७-५८) ।

[१०६२] सनत्कुमार से लेकर ग्रैवेयकदेव तक की (अतीतादि भावेन्द्रियों का कथन) (सू. १०५७-१०५८ में उक्त) नैरयिकों की वक्तव्यता के समान करना चाहिए ।

१०६३. विजय- वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवस्स अतीता अणंता, बद्धेल्लगा पंच, पुरेक्खडा पंच वा दस वा पण्णरस वा संखेज्जा वा। सव्वट्ठसिद्धगदेवस्स अतीता अणंता, बद्धेल्लगा पंच।

केवतिया पुरेक्खडा ?

पंच।

[१०६३] विजय, वैजयन्त, जयन्त एवं अपराजित देव की अतीत भावेन्द्रियाँ अनन्त हैं, बद्ध पांच हैं और पुरस्कृत भावेन्द्रियाँ पांच, दस, पन्द्रह या संख्यात हैं।

सर्वार्थसिद्धदेव की अतीत भावेन्द्रियाँ अनन्त हैं, बद्ध पांच हैं।

[प्र.] पुरस्कृत भावेन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] वे पांच हैं।

१०६४. णेरइयाणं भंते ! केवतिया भाविंदिया अतीता ?

गोयमा ! अणंता। केवतिया बद्धेल्लगा ? असंखेज्जा।

केवतिया पुरेक्खडा ? अणंता।

एवं जहा वणिवविएसु पोहत्तेणं दंडओ भणिओ तहा भाविंदिएसु वि पोहत्तेणं दंडओ भाणियव्वो, णवरं वणस्सइकाइयाणं बद्धेल्लगा वि अणंता।

[१०६४ प्र.] भगवन् ! (बहुत-से) नैरयिकों की अतीत भावेन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[१०६४ उ.] गौतम ! वे अनन्त हैं।

[प्र.] (भगवन् ! उनकी) बद्ध भावेन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] (वे) असंख्यात हैं।

[प्र.] भगवन् ! पुरस्कृत भावेन्द्रियाँ कितनी हैं ?

[उ.] गौतम ! वे अनन्त हैं।

इसी प्रकार जैसे—द्रव्येन्द्रियों में पृथक्त्व (बहुवचन से) दण्डक कहा है, इसी प्रकार भावेन्द्रियों में भी पृथक्त्व (बहुवचन से) दण्डक कहना चाहिए। विशेष यह है कि वनस्पतिकायिकों की बद्ध भावेन्द्रियाँ अनन्त हैं।

१०६५. एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स णेरइयत्ते केवइया भाविंदिया अतीता ?

गोयमा ! अणंता, बद्धेल्लगा पंच, पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि पंच वा दस वा पण्णरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा। एवं असुरकुमारत्ते जाव थणियकुमारत्ते, णवरं बद्धेल्लगा णत्थि।

[१०६५ प्र.] भगवन् ! एक-एक नैरयिक की नैरयिकत्व के रूप में कितनी अतीत भावेन्द्रियाँ हैं ?

[१०६५ उ.] गौतम ! वे अनन्त हैं।

इसकी बद्ध भावेन्द्रियाँ पाँच हैं और पुरस्कृत भावेन्द्रियाँ किसी की होती हैं, किसी की नहीं होती हैं। जिसको होती हैं, उसकी पांच, दस, पन्द्रह, संख्यात, असंख्यात या अनन्त होती हैं।

इसी प्रकार (एक-एक नैरयिक की) असुरकुमारत्व से लेकर यावत् स्तनितकुमारत्व के रूप में (अतीतादि भावेन्द्रियों का कथन करना चाहिए।) विशेष यह है कि इसकी बद्ध भावेन्द्रियाँ नहीं हैं।

१०६६. [१] पुढविकाइयत्ते जाव बेइंदियत्ते जहा दव्विंदिया।

[१०६६-१] (एक-एक नैरयिक की) पृथ्वीकायत्व से लेकर यावत् द्वीन्द्रियत्व के रूप में (अतीतादि भावेन्द्रियों का कथन) द्रव्येन्द्रियों की तरह (करना चाहिए।)

[२] तेइंदियत्ते तहेव, णवरं पुरेक्खडा तिण्णि वा छ वा णव वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा।

[१०६६-२] त्रीन्द्रियत्व के रूप में भी इसी प्रकार कहना चाहिए। विशेष यह कि (इसकी) पुरस्कृत भावेन्द्रियाँ तीन, छह, नौ, संख्यात, असंख्यात या अनन्त होती हैं।

[३] एवं चउरिंदियत्ते वि णवरं पुरेक्खडा चत्तारि वा अट्ठ वा बारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा।

[१०६६-३] इसी प्रकार चतुरिन्द्रियत्व रूप के विषय में भी कहना चाहिए। विशेष यह कि (इसकी) पुरस्कृत भावेन्द्रियाँ चार, आठ, बारह, संख्यात, असंख्यात या अनन्त हैं।

१०६७. एवं एते चेव गमा चत्तारि णेयव्वा जे चेव दव्विंदिएसु। णवरं तइयगमे जाणियव्वा जस्स जइ इंदिया ते पुरेक्खडेसु भणेयव्वा। चउत्थगमे जहेव दव्वेंदिया जाव सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते केवतिया भावेंदिया अतीता ? णत्थि, बद्धेल्लगा संखेज्जा, पुरेक्खडा णत्थि ॥ १२ ॥

॥ बीओ उद्देसो समत्तो ॥

॥ पण्णवणाए भगवतीए पनरसमं इंदियपयं समत्तं ॥

[१०६७] इस प्रकार ये (द्रव्येन्द्रियों के विषय में कथित) हो चार गम यहाँ समझने चाहिए। विशेष—तृतीय गम (मनुष्य सम्बन्धी अभिलाप) में जिसकी जितनी भावेन्द्रियाँ हों, (वे) उतनी पुरस्कृत भावेन्द्रियों में समझनी चाहिए। चतुर्थ गम (देवसम्बन्धी अभिलाप) में जिस प्रकार सर्वार्थसिद्ध की सर्वार्थसिद्धत्व के रूप में कितनी भावेन्द्रियाँ अतीत हैं ? 'नहीं हैं।'

बद्ध भावेन्द्रियाँ संख्यात हैं, पुरस्कृत भावेन्द्रियाँ नहीं हैं, यहाँ तक कहना चाहिए। ॥१२॥

विवेचन—बारहवां भावेन्द्रियद्वार--प्रस्तुत बारह सूत्रों (सू. १०५६ से १०६७ तक) में नैरयिक से लेकर सर्वार्थसिद्ध तक की एकत्व-बहुत्व की अपेक्षा से तथा नैरयिकत्व से सर्वार्थसिद्धत्व तक के रूप में अतीत, बद्ध एवं पुरस्कृत इन्द्रियों का प्ररूपण किया है।

नारक की नारकत्वरूप में पुरस्कृत (भावी) भावेन्द्रियाँ—किसी की होती हैं, किसी की नहीं। जो नारक नरक से निकलकर अन्य गति में उत्पन्न होकर पुनः नरक में उत्पन्न होने वाला है, उसकी नरकपन में भावी भावेन्द्रियाँ होती हैं, किन्तु जिस जीव का वर्तमान नारकभव अन्तिम है अर्थात्—जो नरक से निकल कर फिर कभी नरक में उत्पन्न नहीं होगा, उसकी नारकत्वरूप में भावी भावेन्द्रियाँ नहीं होती हैं। जिसकी नारकरूप में भावी भावेन्द्रियाँ होती हैं, उसकी पांच, दस, पन्द्रह, संख्यात, असंख्यात या अनन्त भी होती हैं। जो भविष्य में एक बार फिर नरक में उत्पन्न होगा, उसकी पांच; जो दो बार उत्पन्न होगा, उसकी दस; तीन बार उत्पन्न होगा उसकी पन्द्रह; संख्यात, असंख्यात या अनन्त बार उत्पन्न होने वाले की संख्यात, असंख्यात या अनन्त भावी (पुरस्कृत) भावेन्द्रियाँ होती हैं। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए।

भावेन्द्रिय विषयक चार गम—जिस प्रकार द्रव्येन्द्रियों के विषय में नैरयिक, तिर्यग्योनिक, मनुष्य और देव सम्बन्धी ये चार गम कहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी चार गम समझ लेने चाहिए।[1]

॥ पन्द्रहवाँ इन्द्रियपद : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ पन्द्रहवाँ इन्द्रियपद समाप्त ॥

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक ३१७

सोलसमं पओगपयं

सोलहवाँ प्रयोगपद

प्राथमिक

- प्रज्ञापनासूत्र का यह सोलहवाँ प्रयोगपद है।
- मन-वचन-काय के आधार से होने वाला आत्मा का व्यापार प्रयोग कहलाता है। इस दृष्टि से यह पद महत्त्वपूर्ण है। अगर आत्मा न हो तो इन तीनों की विशिष्ट क्रिया नहीं हो सकती। जैनपरिभाषानुसार ये तीनों पुद्गलमय हैं। पुद्गलों का सामान्य व्यापार (गति) तो आत्मा के बिना भी हो सकता है, किन्तु जब पुद्गल मन-वचन-कायरूप में परिणत हो जाते हैं, तब आत्मा के सहकार से उनका विशिष्ट व्यापार होता है। पुद्गल का मन आदि रूप में परिणमन भी आत्मा के कर्म के अधीन है, इस कारण उनके व्यापार को आत्मव्यापार कहा जा सकता है। इसी आत्मव्यापार रूप प्रयोग के विषय में सभी पहलुओं से यहाँ विचार किया गया है।
- प्रस्तुत पद में दो मुख्य विषयों का प्रतिपादन किया गया है—(१) प्रयोग, उसके प्रकार और चौवीस दण्डकों में प्रयोगों की प्ररूपणा तथा (२) गतिप्रपात के पांच भेद और उनके प्रभेद और स्वरूप।
- सत्यादि चार मनःप्रयोग, चार वचनप्रयोग और सात औदारिक, औदारिकमिश्र आदि शरीर-कायप्रयोग, यों प्रयोग के १५ प्रकार हैं।
- तदनन्तर समुच्चय जीवों और चौवीस दण्डकों में से किस में कितने प्रयोग पाए जाते हैं? यह प्ररूपणा की गई है।
- तत्पश्चात् चौवीसदण्डकवर्ती जीवों में से किसमें कितने बहुत्व-विशिष्ट प्रयोग सदैव पाए जाते हैं तथा एकत्व-बहुत्व की अपेक्षा एकसंयोगी, द्विकसंयोगी, त्रिकसंयोगी और चतुःसंयोगी कितने विकल्प पाए जाते हैं; उनकी प्ररूपणा की गई है।
- पन्द्रह प्रकार के प्रयोगों की चर्चा समाप्त होने के बाद गतिप्रपात (गतिप्रवाद) का निरूपण है। सू. १०८६ से ११२३ तक में गति की चर्चा की गई है, जो प्रयोग से ही सम्बन्धित है।
- गतिप्रपात नामक प्रकरण में जिन-जिन के साथ गति का सम्बन्ध है, उन सब व्यवहारों का संग्रह करके गति के पांच प्रकार बताए हैं—प्रयोगगति, ततगति, बन्धनछेदनगति, उपपातगति और विहायोगति।

✤ इसमें से प्रथम प्रयोगगति तो वही है, जिसके १५ प्रकारों की चर्चा पहले की गई है। ततगति मंजिल पर पहुँचने से पहले की सारी विस्तीर्ण गति को कहा गया है, फिर जीव और शरीर का बन्धन छूटने से होने वाली बन्धनछेदनगति, फिर नारकादि चार भवोपपातगति, क्षेत्रोपपात गति और नोभवोपपात (पुद्गलों और सिद्धों की) गति का वर्णन है। अन्त में १७ प्रकार की आकाश-अवकाश से सम्बन्धित विहायोगति का वर्णन है। इन भेदों के वर्णन पर से गति की नाना प्रकार की विशेषताएं स्पष्ट प्रतीत होती हैं।[1]

✤✤

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. २ प्रस्तावना पृ. १०१ से १०३
(ख) पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ), भा. १, पृ. २६१ से २७३ तक
(ग) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३१९ से ३३० तक

सोलसमं पओगपयं

सोलहवाँ प्रयोगपद

प्रयोग और उसके प्रकार

१०६८. कइविहे णं भंते ! पओगे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पण्णरसविहे पण्णत्ते । तं जहा—सच्चमणप्पओगे १ मोसमणप्पओगे २ सच्चामोसमणप्पओगे ३ असच्चामोसमणप्पओगे ४ एवं वइप्पओगे वि चउहा ८ ओरालियसरीरकायप्पओगे ९ ओरालियमोससरीरकायप्पओगे १० वेउव्वियसरीरकायप्पओगे ११ वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगे १२ आहारगसरीरकायप्पओगे १३ आहारगमीससरीरकायप्पओगे १४ कम्मासरीरकायप्पओगे १५ ।

[१०६८ प्र.] भगवन् ! प्रयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१०६८ उ.] गौतम ! (प्रयोग) पन्द्रह प्रकार का कहा गया है । वह इस प्रकार (१) सत्य-मनःप्रयोग, (२) असत्य (मृषा) मनःप्रयोग, (३) सत्य-मृषा (मिश्र) मनःप्रयोग, (४) असत्या-मृषा मनःप्रयोग, इसी प्रकार वचनप्रयोग भी चार प्रकार का है [(५) सत्यभाषाप्रयोग, (६) मृषा-भाषाप्रयोग (७) सत्यामृषाभाषाप्रयोग और (८) असत्यामृषाभाषाप्रयोग], (९) औदारिक शरीरकाय-प्रयोग, (१०) औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोग, (११) वैक्रियशरीरकाय-प्रयोग, (१२) वैक्रियमिश्रशरीरकाय-प्रयोग, (१३) आहारकशरीरकाय-प्रयोग, (१४) आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोग और (१५) कर्म-(कार्मण) शरीरकाय-प्रयोग ।

विवेचन -प्रयोग और उसके प्रकार—प्रस्तुत सूत्र में पन्द्रह प्रकार के प्रयोगों का नामोल्लेख किया गया है ।

प्रयोग की परिभाषा—'प्र' उपसर्गपूर्वक युज् धातु से 'प्रयोग' शब्द निष्पन्न हुआ है । जिसके कारण प्रकर्षरूप से आत्मा क्रियाओं से युक्त—व्यापृत या सम्बन्धित हो, अथवा साम्परायिक और ईर्यापथ कर्म (आश्रव) से संयुक्त—सम्बद्ध हो, वह प्रयोग कहलाता है, अथवा प्रयोग का अर्थ है परिस्पन्द क्रिया -अर्थात् —आत्मा का व्यापार ।

पन्द्रह प्रकार के प्रयोगों के अर्थ—(१) **सत्यमनःप्रयोग**—सन्त का अर्थ— मुनि अथवा सत् पदार्थ । ये दोनों मुक्ति-प्राप्ति के कारण हैं । इन दोनों के विषय में यथावस्थित वस्तुस्वरूप का चिन्तन करने में जो साधु (श्रेष्ठ) हो, वह 'सत्य' मन है । अथवा जीव सत् (स्वरूप से सत्) और असत् (पररूप से असत्) रूप है, देहमात्रव्यापी है, इत्यादि रूप से यथावस्थित वस्तुचिन्तन-परायण मन सत्यमन है । सत्यमन का प्रयोग अर्थात् व्यापार सत्यमनःप्रयोग है । (२) **असत्यमनःप्रयोग**—सत्य से विपरीत असत्य है । यथा जीव नहीं है, अथवा जीव एकान्त सत्-रूप है, इत्यादि कुविकल्प करने में तत्पर मन असत्यमन है, उसका प्रयोग-व्यापार असत्यमनःप्रयोग है । (३) **सत्यमृषामनःप्रयोग**—जो सत्य और असत्य, उभयरूप चिन्तन-तत्पर हो, वह सत्यमृषामन है । जैसे—किसी वन में बड़,

पीपल, खैर, पलाश, अशोक आदि अनेक जाति के वृक्ष हैं, किन्तु अशोक वृक्षों की बहुलता होने से यह सोचना कि यह अशोकवन है। कतिपय अशोक वृक्षों का सद्भाव होने से यह सोचना सत्य है, किन्तु उनके अतिरिक्त उस वन में अन्य बड़, पीपल आदि का भी सद्भाव होने से ऐसा सोचना असत्य है। किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से ऐसा सोचना सत्यासत्य कहलाता है, परमार्थ (निश्चयनय) की दृष्टि से तो ऐसा सोचना असत्य है; क्योंकि वस्तु जैसी है, वैसी नहीं सोची गई है। (४) **असत्यामृषामनःप्रयोग** –जो सत्य भी न हो और असत्य भी न हो, ऐसा मनोव्यापार असत्यामृषामनःप्रयोग है। विप्रतिपत्ति (शंका या विवाद) होने पर वस्तुतत्त्व की सिद्धि की इच्छा से सर्वज्ञ के मतानुसार विकल्प करता है। यथा—जीव है, वह सत्-असत् रूप है। यह चिन्तन सत्य-परिभाषित होने से आराधक है और सत्यमनःप्रयोग है। जो विप्रतिपत्ति होने पर वस्तुतत्त्व की प्रतिष्ठा (स्थापना) करने की इच्छा होने पर भी सर्वज्ञमत के विरुद्ध विकल्प करता है। जैसे—जीव नहीं है अथवा जीव एकान्त नित्य है, इत्यादि। यह चिन्तन विराधक होने से असत्य है। किन्तु वस्तु की सिद्धि की इच्छा के बिना भी स्वरूपमात्र का पर्यालोचनपरक चिन्तन करना असत्यामृषामनःप्रयोग है। जैसे—किसी ने चिन्तन किया—देवदत्त से घड़ा लाना है, या अमुक व्यक्ति से गाय मांगना है, इत्यादि। यह चिन्तन स्वरूपमात्र पर्यालोचनपरक होने से न तो तथारूप सत्य है, न ही मिथ्या है; इसलिए व्यवहारनय की दृष्टि से इसे असत्यामृषा कहा जाता है। अगर किसी को ठगने या धोखा देने की बुद्धि से ऐसा चिन्तन किया जाता है तो वह असत्य के अन्तर्गत है, अन्यथा सरलभाव से वस्तुस्वरूपपर्यालोचन करना सत्य में समाविष्ट है। ऐसे असत्यामृषामन का प्रयोग असत्यामृषामनःप्रयोग है। (५-८) मन के चार प्रकार के इन प्रयोगों की तरह वचनप्रयोग भी चार प्रकार के हैं, अन्तर यही है कि वहाँ मन का प्रयोग है, यहाँ वाणी का प्रयोग है। वे चार इस प्रकार हैं -(५) सत्यवाक्प्रयोग, (६) असत्यवाक्प्रयोग, (७) सत्यामृषावाक्प्रयोग और (८) असत्यामृषावाक्प्रयोग। (९) **औदारिकशरीरकाय-प्रयोग** --औदारिक आदि का लक्षण पहले बता चुके हैं। जो शरीर उदार-स्थूल हो, उसे औदारिकशरीर कहते हैं। काय कहते हैं -पुद्गलों के समूह को अथवा अस्थि आदि के उपचय को। इन दोनों लक्षणों से युक्त काय औदारिकशरीर रूप होने से औदारिकशरीरकाय कहलाता है। उसका प्रयोग **औदारिकशरीरकाय-प्रयोग** है। यह तिर्यंचों और पर्याप्तक मनुष्यों के होता है। (१०) **औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोग**—जो काय औदारिक हो और कार्मणशरीर के साथ मिश्र हो, वह औदारिकमिश्रशरीर कहलाता है, ऐसे शरीरकाय के प्रयोग को औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोग कहते हैं। औदारिकशरीर के साथ कार्मणशरीर होने पर भी इसका नाम 'कार्मणमिश्रशरीर' न रखकर 'औदारिकमिश्र' रखा है, उसके तीन कारण हैं—(१) उत्पत्ति की अपेक्षा से औदारिक की प्रधानता होने से, (२) कादाचित्क होने से तथा (३) सन्देहरहित अभीष्ट पदार्थ का बोध कराने का हेतु होने से। अतएव औदारिकशरीरधारी मनुष्य, पंचेन्द्रियतिर्यञ्च या पर्याप्त बादर वायुकायिक-जीव वैक्रियलब्धि से सम्पन्न होकर वैक्रिया करता है, तब औदारिकशरीर की ही प्रारम्भिकता और प्रधानता होने के कारण वैक्रियमिश्र न कहलाकर वह **औदारिकमिश्र** ही कहलाता है। इसी प्रकार औदारिकशरीरधारी आहारकलब्धिसम्पन्न चतुर्दशपूर्वधर मुनि द्वारा आहारकशरीर बनाने पर औदारिक और आहारक शरीर की मिश्रता होने पर भी प्रधानता के कारण **'औदारिकमिश्र'** ही कहा जाता है। (११) **वैक्रियशरीरकाय-प्रयोग** – वैक्रियशरीर रूप काय से होने वाला प्रयोग 'वैक्रियशरीरकाय-प्रयोग' कहलाता है। यह वैक्रियशरीरपर्याप्ति से पर्याप्त जीव को होता है। (१२) **वैक्रियमिश्रशरीरकाय-प्रयोग**—देवों और नारकों की अपर्याप्त अवस्था में कार्मणशरीर के साथ मिश्रित

वैक्रियशरीर का प्रयोग। जब कोई पंचेन्द्रियतिर्यञ्च, मनुष्य या वायुकायिक जीव वैक्रियशरीरी होकर अपना कार्य सम्पन्न करके कृतकृत्य हो चुकने के पश्चात् वैक्रियशरीर को त्यागने और औदारिकशरीर में प्रवेश करने का इच्छुक होता है, तब वहाँ वैक्रियशरीर के सामर्थ्य से औदारिकशरीरकाययोग को ग्रहण करने से प्रवृत्त होने तथा वैक्रियशरीर की प्रधानता होने के कारण वह 'औदारिकमिश्र' नहीं, किन्तु **वैक्रियमिश्रशरीरकाय-प्रयोग** कहलाता है। (१३) **आहारकशरीरकाय-प्रयोग**—आहारकशरीरपर्याप्ति से पर्याप्त आहारकलब्धिधारी चतुर्दशपूर्वधर मुनि के आहारकशरीर द्वारा होने वाला प्रयोग। (१४) **आहारकमिश्रशरीर-काय-प्रयोग**—आहारकशरीरी संयमी मुनि जब अपना कार्य पूर्ण करके पुनः औदारिकशरीर को ग्रहण करता है, तब आहारकशरीर के बल से औदारिकशरीर में प्रवेश करने तथा आहारकशरीर की प्रधानता होने के कारण औदारिकमिश्रशरीर न कहलाकर आहारकमिश्रशरीर ही कहलाता है। इस प्रकार का प्रयोग आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोग है। (१५) **कार्मणशरीरकाय-प्रयोग**—विग्रहगति में तथा केवलीसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में होने वाला प्रयोग कार्मणशरीरकाय-प्रयोग कहलाता है। तैजस और कार्मण दोनों सहचर हैं, अतः एक साथ दोनों का ग्रहण किया गया है।[1]

समुच्चय जीवों और चौबीस दण्डकों में प्रयोग की प्ररूपणा

१०६९. जीवाणं भंते ! कतिविहे पओगे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पण्णरसविहे पओगे पण्णत्ते। तं जहा—सच्चमणप्पओगे जाव कम्मासरीरकायप्पओगे।

[१०६९ प्र.] भगवन् ! जीवों के कितने प्रकार के प्रयोग कहे हैं ?

[१०६९ उ.] गौतम ! जीवों के पन्द्रह प्रकार के प्रयोग कहे गये हैं, वे इस प्रकार -सत्यमनःप्रयोग से (लेकर) कार्मणशरीरकाय-प्रयोग तक।

१०७०. णेरइयाणं भंते ! कतिविहे पओगे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एक्कारसविहे पओगे पण्णत्ते। तं जहा—सच्चमणप्पओगे १ जाव असच्चामोसवइप्पओगे ८ वेउव्वियसरीरकायप्पओगे ९ वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगे १० कम्मासरीरकायप्पओगे ११।

[१०७० प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के कितने प्रकार के प्रयोग कहे हैं ?

[१०७० उ.] गौतम ! (उनके) ग्यारह प्रकार के प्रयोग कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१-८) सत्यमनःप्रयोग से लेकर असत्यामृषावचन-प्रयोग, वैक्रियशरीरकाय-प्रयोग, १०-वैक्रियमिश्रशरीरकाय-प्रयोग और ११-कार्मणशरीरकायप्रयोग।

१०७१. एवं असुरकुमाराण वि जाव थणियकुमाराणं।

[१०७१] इसी प्रकार असुरकुमारों से स्तनितकुमारों तक के (प्रयोगों के विषय में समझना चाहिए।)

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३१९

१०७२. पुढविक्काइयाणं पुच्छा ।

गोयमा ! तिविहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा ओरालियसरीरकायप्पओगे १ ओरालियमीससरीरकायप्पओगे २ कम्मासरीरकायप्पओगे ३ । एवं जाव वणप्फइकाइयाणं । णवरं वाउक्काइयाणं पंचविहे पओगे पण्णत्ते, तं जहा—ओरालियसरीरकायप्पओगे १ ओरालियमीससरीरकायप्पओगे २ वेउव्विए दुविहे ४ कम्मासरीरकायप्पओगे य ५ ।

[१०७२ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के कितने प्रयोग कहे गए हैं ?

[१०७२ उ.] गौतम ! उनके तीन प्रकार के प्रयोग कहे गए हैं । वे इस प्रकार हैं—१. औदारिकशरीरकाय-प्रयोग, २. औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोग और ३. कार्मणशरीरकाय-प्रयोग । इसी प्रकार (अप्कायिकों से लेकर) वनस्पतिकायिकों तक समझना चाहिए । विशेष यह है कि वायुकायिकों के पांच प्रकार के प्रयोग कहे हैं, वे इस प्रकार—१. औदारिकशरीरकाय-प्रयोग २. औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोग, ३-४. वैक्रियशरीरकाय-प्रयोग और वैक्रियमिश्रशरीरकाय-प्रयोग तथा ५. कार्मणशरीरकाय-प्रयोग ।

१०७३. बेइंदियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! चउव्विहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा—असच्चामोसवइप्पओगे १ ओरालियसरीरकायप्पओगे २ ओरालियमीससरीरकायप्पओगे ३ कम्मासरीरकायप्पओगे ४ । एवं जाव चउरिंदियाणं ।

[१०७३ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रियजीवों के कितने प्रकार के प्रयोग कहे गए हैं ?

[१०७३ उ.] गौतम ! (उनके) चार प्रकार के प्रयोग कहे गए हैं, वे इस प्रकार (१) असत्यामृषावचन-प्रयोग, (२) औदारिकशरीरकाय-प्रयोग, (३) औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोग और (४) कार्मणशरीरकाय-प्रयोग ।

इसी प्रकार (त्रीन्द्रिय और) चतुरिन्द्रिय जीवों के प्रयोग के विषय में समझना चाहिए ।

१०७४. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! तेरसविहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा—सच्चमणप्पओगे १ मोसमणप्पओगे २ सच्चामोसमणप्पओगे ३ असच्चामोसमणप्पओगे ४ एवं वइप्पओगे वि ८ ओरालियसरीरकायप्पओगे ९ ओरालियमीससरीरकायप्पओगे १० वेउव्वियसरीरकायप्पओगे ११ वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगे १२ कम्मासरीरकायप्पओगे १३ ।

[१०७४ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों के कितने प्रकार के प्रयोग कहे गए हैं ?

[१०७४ उ.] गौतम ! (उनके) तेरह प्रकार के प्रयोग कहे गए हैं, वे इस प्रकार—(१) सत्यमनःप्रयोग, (२) मृषामनःप्रयोग, (३) सत्यमृषामनःप्रयोग, (४) असत्यामृषामनःप्रयोग इसी तरह चार प्रकार का (५ से ८ तक) वचनप्रयोग, (९) औदारिकशरीरकाय-प्रयोग, (१०) औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोग, (११) वैक्रियशरीरकाय-प्रयोग, (१२) वैक्रियमिश्रशरीरकाय-प्रयोग और (१३) कार्मणशरीरकाय-प्रयोग ।

१०७५. मणूसाणं पुच्छा ।

गोयमा ! पण्णरसविहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा—सच्चमणप्पओगे १ जाव कम्मासरीरकायप्पओगे १५ ।

[१०७५ प्र.] भगवन् ! मनुष्यों के कितने प्रकार के प्रयोग कहे गए हैं ?

[१०७५ उ.] गौतम ! उनके पन्द्रह प्रकार के प्रयोग कहे गए हैं, वे इस प्रकार—सत्यमनःप्रयोग से लेकर कार्मणशरीरकाय-प्रयोग तक ।

१०७६. वाणमंतर जोतिसिय-वेमाणियाणं जहा णेरइयाणं (सु. १०७०) ।

[१०७६] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के प्रयोग के विषय में नैरयिकों (की सू. १०७० में अंकित वक्तव्यता) के समान (समझना चाहिए ।)

विवेचन - समुच्चय जीवों और चौवीस दण्डकों में प्रयोगों की प्ररूपणा—प्रस्तुत ८ सूत्रों (सू. १०६९ से १०७६ तक) में समुच्चय जीवों में कितने प्रयोग होते हैं ? यह प्ररूपणा की गई है ।

निष्कर्ष—समुच्चय जीवों में १५ प्रयोग होते हैं, क्योंकि नाना जीवों की अपेक्षा से सदैव पन्द्रह प्रयोग पाए जाते हैं । नैरयिकों तथा व्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिकों में ग्यारह प्रयोग पाए जाते हैं, क्योंकि इनमें औदारिक, औदारिकमिश्र, आहारक और आहारकमिश्र प्रयोग नहीं होते । वायुकायिकों को छोड़कर शेष चार पृथ्वीकायादि स्थावरों में तीन प्रयोग पाये जाते हैं—औदारिक, औदारिकमिश्र और कार्मणशरीरकाय प्रयोग । वायुकायिकों में इन तीनों के उपरांत वैक्रिय और वैक्रियमिश्रशरीरकाय-प्रयोग भी पाए जाते हैं । द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय जीवों में प्रत्येक के ४-४ प्रयोग पाए जाते हैं—असत्यामृषाभाषाप्रयोग, औदारिक, औदारिकमिश्र, कार्मणशरीरकाय प्रयोग । पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में आहारक और आहारकमिश्र को छोड़कर शेष १३ प्रयोग पाए जाते हैं, जबकि मनुष्यों में १५ ही प्रयोग पाए जाते हैं ।

समुच्चय जीवों में विभाग से प्रयोगप्ररूपणा

१०७७. जीवा णं भंते ! किं सच्चमणप्पओगी जाव किं कम्मासरीरकायप्पओगी ?

गोयमा ! जीवा सव्वे वि ताव होज्जा सच्चमणप्पओगी वि जाव वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगी वि कम्मासरीरकायप्पओगी वि, अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य २ अहवेगे य आहारगमीससरीरकायप्पओगी य ३ अहवेगे य आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य ४ चउभंगो, अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य २ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य ३ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य ४, एए जीवाणं अट्ठ भंगा ।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३२०

[१०७७ प्र.] भगवन् ! जीव सत्यमनःप्रयोगी होते हैं अथवा यावत् कार्मणशरीरकायप्रयोगी होते हैं ?

[१०७७ उ.] गौतम ! (१) जीव सभी सत्यमनःप्रयोगी भी होते हैं, यावत् मृषामनःप्रयोगी, सत्यमृषामनःप्रयोगी, असत्यामृषामनःप्रयोगी आदि तथा वैक्रियमिश्रशरीरकायप्रयोगी भी एवं कार्मणशरीरकायप्रयोगी भी, (इस प्रकार तेरह पदों के वाच्य) होते हैं, (१) अथवा एक आहारकशरीरकायप्रयोगी होता है, (२) अथवा बहुत-से आहारकशरीरकायप्रयोगी होते हैं, (३) अथवा एक आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगी होता है, (४) अथवा बहुत-से जीव आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगी होते हैं। ये चार भंग हुए। तेरह पदों वाले प्रथम भंग की इनके साथ गणना की जाए तो पांच भंग हो जाते हैं। (द्विकसंयोगी चार भंग)—१. अथवा एक आहारकशरीरकायप्रयोगी और एक आहारकमिश्रशरीरकाय प्रयोगी, २. अथवा एक आहारकशरीरकायप्रयोगी और बहुत-से आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगी, ३. अथवा बहुत-से आहारकशरीरकायप्रयोगी और एक आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगी, ४. अथवा बहुत-से आहारकशरीरकायप्रयोगी और बहुत-से आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी। ये समुच्चय जीवों के प्रयोग की अपेक्षा से आठ भंग हुए। (इनमें प्रथम भंग को मिलाने से नौ भंग होते हैं।)

विवेचन—समुच्चय जीवों में विभाग से प्रयोगप्ररूपणा प्रस्तुत सूत्र (१०७७) में समुच्चय जीवों में प्रयोग की अपेक्षा से पाए जाने वाले आठ भंगों का निरूपण किया गया है।

समुच्चय जीवों में तेरह पदों का एक भंग समुच्चय जीवों में आहारक और आहारकमिश्र को छोड़ कर शेष १३ पदों का एक भंग होता है। तात्पर्य यह है कि सदैव बहुत-से जीव सत्यमनःप्रयोगी भी पाए जाते हैं, असत्यमनःप्रयोगी भी, यावत् वैक्रियशरीरकायप्रयोगी भी पाए जाते हैं, तथैव कार्मणशरीरकायप्रयोगी भी पाए जाते हैं। नारक जीव सदैव उपपात के पश्चात् उत्तरवैक्रिय आरम्भ कर देते हैं, इसलिए सदैव वैक्रियमिश्रशरीरकायप्रयोगी भी होते हैं। वनस्पति आदि के जीव सदैव विग्रह के कारण अन्तरालगति में पाए जाते हैं, इसलिए वे सदैव कार्मणशरीरकायप्रयोगी होते हैं, किन्तु आहारकशरीरी कदाचित् सर्वथा नहीं पाए जाते; क्योंकि उनका अन्तर उत्कृष्टतः छह मास तक का सम्भव है।[1] अर्थात् छह महीनों तक एक भी आहारकशरीरी न पाया जाए, यह भी सम्भव है। जब वे पाए भी जाते हैं तो जघन्य एक, दो या तीन, तथा उत्कृष्टतः सहस्रपृथक्त्व (दो हजार से नौ हजार) तक होते हैं। इस प्रकार जब आहारकशरीरकायप्रयोगी और आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगी एक भी नहीं पाया जाता, तब बहुत जीवों की अपेक्षा से बहुवचनविशिष्ट १३ पदों वाला एक भंग होता है, क्योंकि उक्त १३ पदों वाले जीव सदैव बहुत रूप में रहते हैं।

आठ भंगों का क्रम—प्रथमभंग जब पूर्वोक्त तेरह पदों के साथ एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी पाया जाता है, तब एक भंग होता है। **द्वितीयभंग** पूर्वोक्त तेरह पद वालों के साथ बहुत-से

१. आहारगाइं लोए छम्मासे जा न होंति वि कयाई।
उक्कोसेणं नियमा, एक समयं जहन्नेणं ॥ १ ॥
होंताइं जहन्नेणं इक्कं दो तिण्णि पंच व हवंति।
उक्कोसेणं जुगवं पुहुत्तमेत्तं सहस्साणं ॥ २ ॥

आहारकशरीरकायप्रयोगी पाए जाते हैं, तब दूसरा भंग होता है। तृतीय-चतुर्थ भंग इसी प्रकार पूर्वोक्त १३ पदों के साथ जब एक जीव आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगी होता है, अथवा बहुत जीव आहारकशरीरकायप्रयोगी होते हैं, तब तीसरा और चौथा भंग होता है। यों क्रमशः ये ४ भंग हुए। **पंचम से अष्टम भंग तक**—चार भंग द्विकसंयोगी होते हैं, जो पहले बताए जा चुके हैं। पूर्वोक्त तेरह पदों वाले भंग को मिलाने से ये सब ९ भंग होते हैं।[1]

नारकों और भवनपतियों की विभाग से प्रयोगप्ररूपणा

१०७८. णेरइया णं भंते ! किं सच्चमणप्पओगी जाव किं कम्मासरीरकायप्पओगी ?

गोयमा ! णेरइया सव्वे वि ताव होज्जा सच्चमणप्पओगी वि जाव वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगी वि, अहवेगे य कम्मासरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य २।

[१०७८ प्र.] भगवन् ! नैरयिक सत्यमनःप्रयोगी होते हैं, अथवा यावत् कार्मणशरीरकायप्रयोगी होते हैं ?

[१०७८ उ.] गौतम ! नैरयिक सभी सत्यमनःप्रयोगी भी होते हैं, यावत् वैक्रियमिश्रशरीरकायप्रयोगी भी होते हैं; १—अथवा कोई एक (नैरयिक) कार्मणशरीरकायप्रयोगी होता है, २—अथवा कोई अनेक (नैरयिक) कार्मणशरीरकायप्रयोगी होते हैं।

१०७९. एवं असुरकुमारा वि जाव थणियकुमारा वि।

[१०७९] इसी प्रकार असुरकुमारों की भी यावत् स्तनितकुमारों की प्रयोगप्ररूपणा करनी चाहिए।

विवेचन— नारकों और भवनपतियों की विभाग से प्रयोगप्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रों में एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से नारकों और भवनपतिदेवों की प्रयोग-सम्बन्धी तीन भंगों की प्ररूपणा की गई है।

नारकों में सदैव पाए जाने वाले बहुत्वविशिष्ट दस पद— नारकों में सत्यमनःप्रयोगी से लेकर वैक्रियमिश्रशरीरकायप्रयोगी पर्यन्त सदैव बहुत्वविशिष्ट दस पद पाए जाते हैं,[2] किन्तु कार्मणशरीरकायप्रयोगी नारक कभी-कभी एक भी नहीं पाया जाता; क्योंकि नरकगति के उपपात का विरह बारह मुहूर्त का कहा गया है। यह एक भंग हुआ।

द्वितीय-तृतीय भंग—जब कार्मणशरीरकायप्रयोगी नारक पाए जाते हैं, तब जघन्य एक या दो और उत्कृष्ट असंख्यात पाए जाते हैं। इस दृष्टि से जब एक कार्मणशरीरकायप्रयोगी पाया जाता है, तब द्वितीय भंग होता है और जब बहुत-से कार्मणशरीरकायप्रयोगी पाये जाते हैं, तब तृतीय भंग होता है। असुरकुमारादि दशविध भवनवासियों की एकत्व-बहुत्व-विशिष्ट प्रयोग-सम्बन्धी वक्तव्यता भी इसी प्रकार समझ लेनी चाहिए।[3]

---

१. प्रज्ञापनासूत्र. मलय. वृत्ति, पत्रांक ३२३-३२४

२. भगवतीसूत्र श. ८ उ. १ में देवों और नारकों में अपर्याप्त दशा में ही वैक्रियमिश्रशरीरप्रयोग माना गया है।

३. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३२४

एकेन्द्रियों, विकलेन्द्रियों और तिर्यंचपंचेन्द्रियों की प्रयोग सम्बन्धी प्ररूपणा

१०८०. पुढविकाइया णं भंते ! किं ओरालियसरीरकायप्पओगी ओरालियमीससरीरकायप्पओगी कम्मासरीरकायप्पओगी ?

गोयमा ! पुढविकाइया णं ओरालियसरीरकायप्पओगी वि ओरालियमीससरीरकायप्पओगी वि कम्मासरीरकायप्पओगी वि । एवं जाव वणस्सइकाइयाणं । णवरं वाउक्काइया वेउव्वियसरीरकायप्पओगी वि वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगी वि ।

[१०८० प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव क्या औदारिकशरीरकाय-प्रयोगी हैं, औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी हैं अथवा कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी हैं ?

[१०८० उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव औदारिकशरीरकाय-प्रयोगी भी हैं, औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी भी हैं और कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी भी हैं ।

इसी प्रकार अप्कायिक जीवों से ले कर वनस्पतिकायिकों तक (प्रयोग सम्बन्धी वक्तव्यता कहनी चाहिए ।) विशेष यह है कि वायुकायिक वैक्रियशरीरकाय-प्रयोगी भी हैं और वैक्रियमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी भी हैं ।

१०८१. बेइंदिया णं भंते ! किं ओरालियसरीरकायप्पओगी जाव कम्मासरीरकायप्पओगी ?

गोयमा ! बेइंदिया सव्वे वि ताव होज्जा असच्चामोसवइप्पओगी वि ओरालियसरीरकायप्पओगी वि ओरालियमीससरीरकायप्पओगी वि, अहवेगे य कम्मासरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य २ । एवं जाव चउरिंदिया ।

[१०८१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव क्या औदारिकशरीरकाय-प्रयोगी हैं, अथवा यावत् कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी हैं ?

[१०८१ उ.] गौतम ! सभी द्वीन्द्रिय जीव असत्यामृषावचन-प्रयोगी भी होते हैं, औदारिकशरीरकाय-प्रयोगी भी होते हैं, औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी भी होते हैं । १—अथवा कोई एक (द्वीन्द्रिय जीव) कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है, २—या बहुत-से (द्वीन्द्रिय जीव) कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं ।

(त्रीन्द्रिय एवं) चतुरिन्द्रियों (की प्रयोग सम्बन्धी वक्तव्यता) भी इसी प्रकार (समझनी चाहिए ।)

१०८२. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया जहा णेरइया (सु. १०७८) । णवरं ओरालियसरीरकायप्पओगी वि ओरालियमीससरीरकायप्पओगी वि, अहवेगे य कम्मासरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य २ ।

[१०८२] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों की प्रयोग सम्बन्धी वक्तव्यता (सू. १०७८ में उल्लिखित) नैरयिकों की प्रयोगवक्तव्यता के समान कहना चाहिए । विशेष यह है कि यह (एक पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक) औदारिकशरीरकाय-प्रयोगी भी होता है तथा औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी

भी होता है। १—अथवा कोई एक (पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक) कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी भी होता है, २—अथवा बहुत-से (पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीव) कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं।

विवेचन—एकेन्द्रियों, विकलेन्द्रियों और तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों को विभाग से प्रयोगसम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. १०८० से १०८२ तक) में एकेन्द्रिय से लेकर तिर्यंचपंचेन्द्रिय तक के जीवों की एकत्व-बहुत्व की अपेक्षा से प्रयोगसम्बन्धी प्ररूपणा की गई है।

निष्कर्ष—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक एवं वनस्पतिकायिक जीव औदारिकशरीरकाय-प्रयोगी, औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी एवं कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी सदैव बहुसंख्या में पाए जाते हैं, इसलिए ये तीनों पद बहुवचनान्त हैं, यह एक भंग है; किन्तु वायुकायिकों में पूर्वोक्त तीन प्रयोगों के अतिरिक्त वैक्रियद्विक (वैक्रियशरीरकाय-प्रयोग एवं वैक्रियमिश्रशरीरकाय-प्रयोग) भी पाए जाते हैं। अर्थात्—वायुकायिकों में ये पांचों पद सदैव बहुत्वरूप में पाए जाते हैं। इन पांचों का बहुत्वरूप एक भंग होता है।

सभी द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीव असत्यामृषावचन-प्रयोगी होते हैं, क्योंकि वे न तो सत्यवचन का प्रयोग करते हैं, न असत्यवचन का प्रयोग करते हैं और न ही उभयरूप वचन का प्रयोग करते हैं। वे औदारिकशरीरकाय-प्रयोगी भी होते हैं और औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी भी होते हैं। यद्यपि द्वीन्द्रियादि जीवों के अन्तर्मुहूर्तमात्र उपपात का विरहकाल है, किन्तु उपपातविरहकाल का अन्तर्मुहूर्त छोटा है और औदारिकमिश्र का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण में बहुत बड़ा होता है। अतः उनमें औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी सदैव पाये जाते हैं। इस प्रकार इन तीनों का एक भंग हुआ। उनमें कभी-कभी एक भी कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी नहीं पाया जाता, क्योंकि उनके उपपात का विरह अन्तर्मुहूर्त कहा गया है। जब वे पाए जाते हैं तो जघन्यतः एक या दो और उत्कृष्टतः असंख्यात पाए जाते हैं। इस प्रकार जब एक भी कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी नहीं पाया जाता है, तब पूर्वोक्त तीनों पदों का प्रथम भंग होता है। जब एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी पाया जाता है, तब एकत्वविशिष्ट दूसरा भंग होता है। जब बहुत-से द्वीन्द्रियादि जीव कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, तब तीसरा भंग होता है।

पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों का प्रयोग विषयक कथन नारकों के समान जानना चाहिए, किन्तु उनमें विशेषता यह है कि वे नारकों की तरह वैक्रियशरीरकाय-प्रयोगी तथा वैक्रियमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी के उपरान्त औदारिकशरीरकाय-प्रयोगी और औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी भी होते हैं। इसके सिवाय ४ प्रकार के मनःप्रयोग और चार प्रकार के वचनप्रयोग, इन ८ पदों को पूर्वोक्त ४ पदों में मिलाने से कुल १२ पद हुए, जो पंचेन्द्रियतिर्यंचों में सदैव बहुत रूप में पाए जाते हैं। कार्मणशरीरकाय प्रयोगी कभी-कभी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में एक भी नहीं पाया जाता, क्योंकि उनके उपपात का विरहकाल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कहा गया है। यों जब कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी एक भी नहीं होता, तब पूर्वोक्त प्रथम भंग होता है।

जब कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी एक होता है, तब दूसरा भंग होता है और जब कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी बहुत होते हैं, तब तीसरा भंग होता है।[1]

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३२४-३२५

मनुष्यों में विभाग से प्रयोग-प्ररूपणा

१०८३. मणूसा णं भंते ! किं सच्चमणप्पओगी जाव किं कम्मासरीरकायप्पओगी ?

गोयमा ! मणूसा अत्थेगइया वि णाम होज्जा सच्चमणप्पओगी वि जाव ओरालियसरीरकायप्पओगी वि वेउव्वियसरीरकायप्पओगी वि वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगी वि, अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य २ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य ३ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य ४ अहवेगे य आहारगमीससरीरकायप्पओगी य ५ अहवेगे य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य ६ अहवेगे य कम्मगसरीरकायप्पओगी य ७ अहवेगे य कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य ८, एते अट्ठ भंगा पत्तेयं ।

अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य २ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगी य ३ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य ४ एवं एते चत्तारि भंगा, अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य २ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य ३ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य ४ चत्तारि भंगा, अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य २ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगी य ३ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ४ एते चत्तारि भंगा, अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीससरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य २ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य ३ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य ४ चत्तारि भंगा, अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य कम्मगसरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य २ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगी य ३ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य ४ चत्तारि भंगा, अहवेगे य आहारगमीसगसरीरकायप्पओगी य कम्मगसरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य आहारगमीससरीरकायप्पओगी य कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य २ अहवेगे य आहारगमीसगसरीरकायप्पओगिणो य कम्मगसरीरकायप्पओगी य ३ अहवेगे य आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य ४ चत्तारि भंगा, एवं चउवीसं भंगा ।

अहवेगे य ओरालियमीसगसरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीससरीरकायप्पओगी य १, अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगी य

आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य २, अहवेगे य ओरालियमीसगसरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीससरीरकायप्पओगो य ३ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य ४ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहरगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य ५ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य ६ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य ७ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य ८ एते अट्ठ भंगा, अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगी य कम्मयसरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगी य कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य २ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य कम्मगसरीरकायप्पओगी य ३ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य ४ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगी य कम्मगसरीरकायप्पओगी य ५ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगी य कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य ६ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगी य ७ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ८ एते अट्ठ भंगा। अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य २ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगी य ३ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ४ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगी य ५ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगी य ६ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ७ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ८ एते अट्ठ भंगा। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य २ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगी य ३ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ४ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगी य ५ अहवेगे य

आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ६ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगी य ७ अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ८ एवं एते तियसंजोएणं चत्तारि अट्ठभंगा, सव्वे वि मिलिया बत्तीसं भंगा जाणियव्वा ३२ ।

अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगी य १ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य २ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगी य ३ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ४ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगी य ५ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ६ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगी य ७ अहवेगे य ओरालियमीसगसरीरकायप्पओगी य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ८ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगी य ९ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य १० अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगी य ११ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य १२ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगी य १३ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगी य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य १४ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगी य १५ अहवेगे य ओरालियमीसासरीरकायप्पओगिणो य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य आहारगमीसासरीरकायप्पओगिणो य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य १६, एवं एते चउसंजोएणं सोलस भंगा भवंति । सव्वे वि य णं सपिंडिया असीति भंगा भवंति ८० ।

[१०८३ प्र.] भगवन् ! मनुष्य क्या सत्यमनःप्रयोगी अथवा यावत् कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं ?

[१०८३ उ.] गौतम ! मनुष्य सत्यमनःप्रयोगी यावत् (अर्थात्—चारों प्रकार के मनःप्रयोगी, चारों प्रकार के वचनप्रयोगी) औदारिकशरीरकाय-प्रयोगी भी होते हैं, वैक्रियशरीरकाय-प्रयोगी भी होते हैं, और वैक्रियमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी भी होते हैं । १. अथवा कोई एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होता है, २. अथवा अनेक (मनुष्य) औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, ३. अथवा कोई एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी होता है, ४. अथवा अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, अथवा ५. कोई एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होता है, ६. अथवा अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, ७. अथवा कोई एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है, ८. अथवा अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं । (इस प्रकार) एक-एक के (संयोग से) ये आठ भंग होते हैं ।

१. अथवा कोई एक (मनुष्य) औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी होता है, २. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, ३. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, ४. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं । इस प्रकार ये चार भंग हैं ।

१. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, २. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी हैं, ३. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होता है, ४. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं । ये (द्विकसंयोगी) चार भंग हैं ।

१. अथवा कोई एक (मनुष्य) औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और (एक) कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है, २. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, ३. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है, ४. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं । ये चार भंग हैं ।

१. अथवा एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होता है, २. अथवा एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, ३. अथवा अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होता है, ४. अथवा अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं । (इस प्रकार) ये चार भंग हैं ।

१. अथवा एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है, २. अथवा एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, ३. अथवा अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है, ४. अथवा अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं। (इस प्रकार ये) चार भंग हैं ।

१. अथवा आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है; २. अथवा एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, ३. अथवा अनेक आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगी और एक कार्मणशरीरकायप्रयोगी होता है;

४. अथवा अनेक आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकायप्रयोगी होते हैं। ये चार भंग हैं। इस प्रकार (द्विकसंयोगी कुल) चौबीस भंग हुए।

१. अथवा एक औदारिकशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होता है, २. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगी होते हैं, ३. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होता है; ४. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं; ५. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होता है; ६. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं; ७. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होता है, ८. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं। (इस प्रकार) ये आठ भंग हैं।

१. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है, २. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, ३. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है; ४. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं; ५. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है, ६. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, ७. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है; ८. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकायप्रयोगी होते हैं। (इस प्रकार) ये आठ भंग हैं।

१. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है; २. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, ३. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है; ४. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं; ५. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है; ६. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं; ७. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है; ८. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं। ये ८ भंग हैं।

१. अथवा एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है; २. अथवा एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकमिश्र-शरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं; ३. अथवा एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकमिश्रशरीरक.य-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है; ४. अथवा एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीर-काय-प्रयोगी होते हैं; ५. अथवा अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगो और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है; ६. अथवा अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगो होते हैं; ७. अथवा अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है, ८. अथवा अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं। इस प्रकार त्रिकसंयोग से ये चार अष्टभंग होते हैं। ये सब मिलकर कुल बत्तीस भंग जान लेने चाहिए ॥३२॥

१. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारक मिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है, २. अथवा एक औदारिकमिश्र-शरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, ३. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारक-शरीरकाय-प्रयोगी अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है, ४. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारक-मिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं; ५. अथवा एक औदारिकमिश्र-शरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगो होता है; ६. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहा-रकशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं; ७. अथवा एक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगो अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारक-मिश्रशरीरकाय-प्रयागी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है; ८. अथवा एक औदारिकमिश्र-शरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं; ९. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारक-शरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है; १०. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोगी, एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारक-मिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं; ११. अथवा अनेक औदारिक-मिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगो होता है, १२. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी एक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीर-काय-प्रयोगी होते हैं, १३. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, और एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है, १४. अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, एक आहारकमिश्र-शरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं, १५. अथवा अनेक औदारिकमिश्र-शरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और

एक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होता है; १६ अथवा अनेक औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकशरीरकाय-प्रयोगी, अनेक आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और अनेक कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी होते हैं। इस प्रकार चतुःसंयोगी ये सोलह भंग होते हैं तथा ये सभी (असंयोगी ८, द्विकसंयोगी २४, त्रिकसंयोगी ३२ और चतुःसंयोगी १६ मिलकर अस्सी भंग होते हैं ॥८०॥

विवेचन—मनुष्यों में त्रिविध से प्रयोग-प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र (१०८३) में असंयोगी, द्विकसंयोगी, त्रिकसंयोगी और चतुःसंयोगी ८० भंगों के द्वारा मनुष्यों में पाए जाने वाले प्रयोगों की प्ररूपणा की गई है।

मनुष्यों में सदैव पाए जाने वाले ग्यारह पद—मनुष्यों में १५ प्रकार के प्रयोगों में ११ पद (प्रयोग) तो सदैव बहुवचन से पाए जाते हैं, यथा—चारों प्रकार के मनःप्रयोगी, चारों प्रकार के वचन-प्रयोगी तथा औदारिकशरीरकाय-प्रयोगी और वैक्रियद्विकप्रयोगी (वैक्रियशरीरकायप्रयोगी और वैक्रियमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी)। मनुष्यों में वैक्रियमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी विद्याधरों की अपेक्षा से समझना चाहिए; क्योंकि विद्याधर तथा अन्य कतिपय मिथ्यादृष्टि आदि वैक्रियलब्धिसम्पन्न अन्यान्यभाव से सदैव विकुर्वणा करते पाए जाते हैं। मनुष्यों में औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी और कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी कभी-कभी सर्वथा नहीं भी पाए जाते, क्योंकि ये नवीन उपपात के समय पाए जाते हैं और मनुष्यों के उपपात का विरहकाल बारह मुहूर्त का कहा गया है। आहारकशरीरकाय-प्रयोगी और आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी भी कभी-कभी होते हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। अतः औदारिकमिश्र आदि चारों प्रयोगों का अभाव होने से उपर्युक्त बहुवचन विशिष्ट ग्यारह पदों वाला यह प्रथम भंग है।

एकसंयोगी आठ भंग—औदारिकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी एकत्व-बहुत्वविशिष्ट दो भंग, इसी प्रकार आहारकशरीरकाय-प्रयोगी दो भंग, आहारकमिश्रशरीरकाय-प्रयोगी दो भंग, कार्मणशरीरकाय-प्रयोगी दो भंग इस प्रकार एक-एक का संयोग करने पर आठ भंग होते हैं।

द्विकसंयोगी चौबीस भंग—औदारिकमिश्र एवं आहारकपद को लेकर एकवचन-बहुवचन से चार, औदारिकमिश्र तथा आहारकमिश्र इन दोनों पदों को लेकर चार, औदारिकमिश्र एवं कार्मण पद को लेकर चार, आहारक और आहारकमिश्र को लेकर चार, आहारक और कार्मण को लेकर चार, तथा आहारकमिश्र और कार्मण को लेकर चार, ये सब मिलाकर द्विकसंयोगी कुल २४ भंग होते हैं।

त्रिकसंयोगी बत्तीस भंग—औदारिकमिश्र, आहारक और आहारकमिश्र, इन तीन पदों के एकवचन और बहुवचन को लेकर ८ भंग, औदारिकमिश्र, आहारक और कार्मण इन तीनों के ८ भंग, औदारिकमिश्र, आहारकमिश्र और कार्मण, इन तीन पदों के आठ भंग और आहारक, आहारकमिश्र और कार्मण, इन तीनों पदों के आठ, ये सब मिलकर त्रिकसंयोगी कुल ३२ भंग होते हैं।

चतुःसंयोगी सोलह भंग—औदारिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कार्मण, इन चारों पदों के एकवचन और बहुवचन को लेकर सोलह भंग होते हैं। इस प्रकार असंयोगी, द्विकसंयोगी, त्रिकसंयोगी और चतुःसंयोगी मिलकर ८० भंग होते हैं।[1]

---

२. प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३२५

वाणव्यन्तरादि देवों की विभाग से प्रयोगप्ररूपणा

१०८४. वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा (सु. १०७९)।

(१०८४] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के प्रयोग (सू. १०७९ में उक्त) असुरकुमारों के प्रयोग के समान समझना चाहिए।

विवेचन - वाणव्यन्तरादि देवों की विभाग से प्रयोगप्ररूपणा--प्रस्तुत (सूत्र. १०८४) में वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की प्ररूपणा असुरकुमारों के अतिदेशपूर्वक की गई है।

पांच प्रकार का गतिप्रपात

१०८५. कतिविहे णं भंते ! गतिप्पवाए पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—पओगगती १ ततगती २ बंधणच्छेयणगती ३ उववायगती ४ विहायगती ५।

[१०८५ प्र.] भगवन् ! गतिप्रपात कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१०८५ उ.] गौतम ! (गतिप्रपात) पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—(१) प्रयोगगति, (२) ततगति, (३) बन्धनछेदनगति, (४) उपपातगति और (५) विहायोगति।

विवेचन -पांच प्रकार का गतिप्रपात--प्रस्तुत सूत्र में प्रयोगगति आदि पांच प्रकार के गतिप्रपात का प्रतिपादन किया गया है।

गतिप्रपात की व्याख्या—गमन करना, गति या प्राप्ति है। वह प्राप्ति दो प्रकार की है—देशान्तरविषयक और पर्यायान्तरविषयक। दोनों में गति शब्द का प्रयोग देखा जाता है। यथा—'देवदत्त कहां गया है ? पत्तन को गया' तथा 'कहते ही वह कोप को प्राप्त हो गया।' इस प्रकार के उभयविध लौकिक-प्रयोग की तरह उभयविध लोकोत्तर-प्रयोग भी होता है। जैसे—'परमाणु एक समय में एक लोकान्त से अपर लोकान्त (तक) को जाता है' तथा उन-उन अवस्थान्तरों को प्राप्त होता है।' अतः यहां गति का अर्थ है--एक देश से दूसरे देश को प्राप्त होना। अथवा एक पर्याय को त्याग कर दूसरे पर्याय को प्राप्त होना। गति का प्रपात गतिप्रपात कहलाता है।[1]

प्रयोगगति—विशेष व्यापार रूप प्रयोग के पन्द्रह प्रकार इसी पद में पहले कहे जा चुके हैं। प्रयोग रूप गति प्रयोगगति है। यह देशान्तरप्राप्ति रूप है, क्योंकि जीव के द्वारा प्रेरित सत्यमन आदि के पुद्गल थोड़ी या बहुत दूर देशान्तर तक गमन करते हैं।

ततगति—विस्तीर्ण गति ततगति कहलाती है। जैसे—जिनदत्त ने किसी ग्राम के लिए प्रस्थान किया है, किन्तु अभी तक उस ग्राम तक पहुँचा नहीं है, बीच रास्ते में है और एक-एक कदम आगे बढ़ रहा है। इस प्रकार की देशान्तरप्राप्ति रूप गति ततगति है। यद्यपि कदम बढ़ाना जिनदत्त के शरीर का प्रयोग ही है, इस कारण इस गति को भी प्रयोगगति के अन्तर्गत माना जा सकता है, तथापि इसमें विस्तृतता की विशेषता होने से इसका प्रयोगगति से पृथक् कथन किया गया है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए।

१. प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३२७-३२८

बन्धनछेदनगति—बन्धन का छेदन होना बन्धनछेदन है और उससे होने वाली गति **बन्धन-छेदनगति** है। यह गति जीव के द्वारा विमुक्त (छोड़े हुए) शरीर की, अथवा शरीर से च्युत (बाहर निकले हुए) जीव की होती है। कोश के फटने से एरण्ड के बीज की जो ऊर्ध्वगति होती है, वह एक प्रकार की विहायोगति है, बन्धनछेदनगति नहीं, ऐसा टीकाकार का अभिमत है।

उपपातगति—उपपात का अर्थ है -प्रादुर्भाव। वह तीन प्रकार का है—क्षेत्रोपपात, भवोपपात और नोभवोपपात। क्षेत्र का अर्थ है—आकाश, जहाँ नारकादि प्राणी, सिद्ध और पुद्गल रहते हैं। भव का अर्थ है—कर्म का संपर्क से होने वाले जीव के नारकादि पर्याय। जिसमें प्राणी कर्म के वशवर्ती होते हैं उसे **भव** कहते हैं। भव से अतिरिक्त अर्थात् —कर्मसम्पर्कजनित नारकत्व आदि पर्यायों से रहित पुद्गल **अथवा** सिद्ध **नोभव** हैं। उक्त दोनों (तथारूप पुद्गल और सिद्ध) पूर्वोक्त भव के लक्षण से रहित हैं। इस प्रकार की उपपात रूप गति **उपपातगति** कहलाती है। **विहायोगति** विहायस् अर्थात् आकाश में गति होना विहायोगति है।

गतिप्रपात के प्रभेद-भेद एवं उनके स्वरूप का निरूपण

१०८६. से किं तं पओगगती ?

पओगगती पण्णरसविहा पण्णत्ता। तं जहा—सच्चमणप्पओगगती जाव कम्मगसरीरकायप्पओगगती। एवं जहा पओगो भणिओ तहा एसा वि भाणियव्वा।

[१०८६ प्र.] (भगवन् !) वह प्रयोगगति क्या है ?

[१०८६ उ.] गौतम ! प्रयोगगति पन्द्रह प्रकार की कही है। वह इस प्रकार—सत्यमनःप्रयोगगति यावत् कार्मणशरीरकायप्रयोगगति। जिस प्रकार प्रयोग (पन्द्रह प्रकार का) कहा गया है, उसी प्रकार यह (गति) भी (पन्द्रह प्रकार की) कहनी चाहिए।

१०८७. जीवाणं भंते ! कतिविहा पओगगती पण्णत्ता ?

गोयमा ! पण्णरसविहा पण्णत्ता। तं जहा—सच्चमणप्पओगगती जाव कम्मासरीरकायप्पओगगती।

[१०८७ प्र.] भगवन् ! जीवों की प्रयोगगति कितने प्रकार की कही गई है ?

[१०८७ उ.] गौतम ! (वह) पन्द्रह प्रकार की कही गई है, वह इस प्रकार सत्यमनःप्रयोगगति यावत् कार्मणशरीरप्रयोगगति।

१०८८. णेरइयाणं भंते ! कतिविहा पओगगती पण्णत्ता ?

गोयमा ! एक्कारसविहा पण्णत्ता। तं जहा—सच्चमणप्पओगगती एवं उवउज्जिऊण जस्स जइविहा तस्स ततिविहा भाणितव्वा जाव वेमाणियाणं।

[१०८८ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों की कितने प्रकार की प्रयोगगति कही गई है ?

[१०८८ उ.] गौतम ! नैरयिकों की प्रयोगगति ग्यारह प्रकार की कही गई है, वह इस प्रकार है -सत्यमनःप्रयोगगति इत्यादि। इस प्रकार उपयोग करके (असुरकुमारों से लेकर) वैमानिक पर्यन्त जिसको जितने प्रकार की गति है, उसको उतने प्रकार की गति कहनी चाहिए।

१०८९. जीवा णं भंते ! किं सच्चमणप्पओगगती जाव कम्मगसरीरकायप्पओगगती ?

गोयमा ! जीवा सव्वे वि ताव होज्जा सच्चमणप्पओगगती वि, एवं तं चेव पुव्ववण्णियं भाणियव्वं भंगा तहेव जाव वेमाणियाणं । से त्तं पओगगती ।

[१०८९ प्र.] भगवन् ! जीव क्या सत्यमनःप्रयोगगति वाले हैं, अथवा यावत् कार्मणशरीरकाय प्रयोगगतिक हैं ?

[१०८९ उ.] गौतम ! जीव सभी प्रकार की गति वाले होते हैं, सत्यमनः प्रयोगगति वाले भी होते हैं, इत्यादि पूर्ववत् कहना चाहिए । उसी प्रकार (पूर्ववत्) (नैरयिकों से लेकर) वैमानिकों तक कहना चाहिए । यह हुई प्रयोगगति (की प्ररूपणा ।)

१०९०. से किं तं ततगती ?

ततगती जेणं जं गामं वा जाव सण्णिवेसं वा संपट्ठिते असंपत्ते अंतरापहे वट्टति । से त्तं ततगती ।

[१०९० प्र.] (भगवन् !) वह ततगति किस प्रकार की है ?

[१०९० उ.] (गौतम !) ततगति वह है, जिसके द्वारा जिस ग्राम यावत् सन्निवेश के लिए प्रस्थान किया हुआ व्यक्ति (अभी) पहुँचा नहीं, बीच मार्ग में ही है । यह है ततगति (का स्वरूप ।)

१०९१. से किं तं बंधणच्छेयणगती ?

बंधणच्छेयणगती णेगं जीवो वा सरीराओ सरीरं वा जीवाओ । से त्तं बंधणच्छेयणगती ।

[१०९१ प्र.] वह बन्धनछेदनगति क्या है ?

[१०९१ उ.] बन्धनछेदनगति वह है, जिसके द्वारा जीव शरीर से (बन्धन तोड़कर बाहर निकालता है), अथवा शरीर जीव से (पृथक् होता है ।) यह हुआ बन्धनछेदनगति (का निरूपण)

१०९२. से किं तं उववायगती ?

उववायगती तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—खेत्तोववायगती १ भवोववायगती २ णोभवोववातगती ३ ।

[१०९२ प्र.] उपपातगति कितने प्रकार की है ?

[१०९२ उ.] उपपातगति तीन प्रकार की कही गई है, यथा—१. क्षेत्रोपपातगति, २. भवोपपातगति और ३. नोभवोपपातगति ।

१०९३. से किं तं खेत्तोववायगती ?

खेत्तोववायगती पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा—णेरइयखेत्तोववातगती १ तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती २ मणुसखेत्तोववातगती ३ देवखेत्तोववातगती ४ सिद्धखेत्तोववायगती ५ ।

[१०९३ प्र.] क्षेत्रोपपातगति कितने प्रकार की है ?

[१०९३ उ.] क्षेत्रोपपातगति पांच प्रकार की कही गई है । यथा—१. नैरयिकक्षेत्रोपपातगति, २. तिर्यञ्चयोनिकक्षेत्रोपपातगति, ३. मनुष्यक्षेत्रोपपातगति, ४. देवक्षेत्रोपपातगति और ५. सिद्धक्षेत्रोपपातगति ।

१०९४. से किं तं णेरइयखेत्तोववातगती ?

णेरइयखेत्तोववायगती सत्तविहा पण्णत्ता । तं जहा -- रयणप्पभापुढविणेरइयखेत्तोववातगती जाव अहेसत्तमापुढविणेरइयखेत्तोववायगती । से त्तं णेरइयखेत्तोववायगती ।

[१०९४ प्र.] नैरयिकक्षेत्रोपपातगति कितने प्रकार की है ?

[१०९४ उ.] (वह) सात प्रकार की कही गई है—रत्नप्रभापृथ्वीनैरयिकक्षेत्रोपपातगति यावत् अधस्तनसप्तमपृथ्वीनैरयिकक्षेत्रोपपातगति । यह हुई नैरयिक क्षेत्रोपपातगति (की प्ररूपणा) ।

१०९५. से किं तं तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती ?

तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा—एगिंदियतिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती । से त्तं तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती ।

[१०९५ प्र.] तिर्यञ्चयोनिकक्षेत्रोपपातगति कितने प्रकार की है ?

[१०९५ उ.] (वह) पांच प्रकार की कही गई है, वह इस प्रकार—१. एकेन्द्रियतिर्यग्योनिकक्षेत्रोपपातगति, २. द्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकक्षेत्रोपपातगति, ३. त्रीन्द्रियतिर्यग्योनिकक्षेत्रोपपातगति, ४. चतुरिन्द्रियतिर्यग्योनिकक्षेत्रोपपातगति और ५. पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकक्षेत्रोपपातगति । यह हुआ तिर्यग्योनिकक्षेत्रोपपातगति का निरूपण ।

१०९६. से किं तं मणूसखेत्तोववायगई ?

मणूसखेत्तोववायगई दुविहा पण्णत्ता । तं जहा सम्मुच्छिममणूसखेत्तोववायगती गब्भवक्कंतियमणुस्सखेत्तोववायगई । से त्तं मणूसखेत्तोववायगती ।

[१०९६ प्र.] वह मनुष्यक्षेत्रोपपातगति कितने प्रकार की है ?

[१०९६ उ.] (वह) दो प्रकार की कही गई है । वह इस प्रकार—१. सम्मूर्च्छिम-मनुष्यक्षेत्रोपपातगति और २. गर्भज-मनुष्यक्षेत्रोपपातगति । यह हुआ मनुष्यक्षेत्रोपपातगति का प्रतिपादन ।

१०९७. से किं तं देवखेत्तोववायगती ?

देवखेत्तोववायगती चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा— भवणवइ जाव वेमाणियदेवखेत्तोववायगती । से त्तं देवखेत्तोववायगती ।

[१०९७ प्र.] वह देवक्षेत्रोपपातगति कितने प्रकार की है ?

[१०९७ उ.] (वह) चार प्रकार की कही गई है, वह इस प्रकार—१. भवनपतिदेवक्षेत्रोपपातगति, यावत् (२. वाणव्यन्तरदेवक्षेत्रोपपातगति, ३. ज्योतिष्कदेवक्षेत्रोपपातगति और) ४. वैमानिक देव क्षेत्रोपपातगति । यह हुआ देवक्षेत्रोपपातगति का निरूपण ।

१०९८. से किं तं सिद्धखेत्तोववायगती ?

सिद्धखेत्तोववायगती, अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा-- जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवयवाससपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती, जंबुद्दीवे दीवे चुल्लहिमवंत-सिहरिवासहरपव्वयसपक्खि सपडिदिसिं

सिद्धखेत्तोववायगती, जंबुद्दीवे दीवे हेमवय-हेरण्णवयवाससपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववातगती, जंबुद्दीवे दीवे सद्दावति-वियडावतिवट्टवेयड्डसपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती, जंबुद्दीवे दीवे महाहिमवंत-रुप्पिवासहरपव्वयसपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववातगती, जंबुद्दीवे दीवे हरिवास-रम्मगवाससपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववातगती, जंबुद्दीवे दीवे गंधावती-मालवंतपरियायवट्टवेयड्डसपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववातगती, जंबुद्दीवे दीवे णिसढ-णीलवंतवासहरपव्वयसपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववातगती, जंबुद्दीवे दीवे पुव्वविदेह-अवरविदेहसपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववातगती, जंबुद्दीवे दीवे देवकुरूत्तरकुरुसपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती, जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स सपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती, लवणसमुद्दे सपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती, धायइसंडे दीवे पुरिमद्धपच्छिमद्धमंदरपव्वयस्स सपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववातगती, कालोयसमुद्दे सपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववातगती, पुक्खरवरदीवड्ढपुरिमड्ढभरहेरवयवाससपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववातगती, एवं जाव पुक्खरवरदीवड्ढपच्छिमड्ढमंदरपव्वयसपक्खि सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववातगती। से त्तं सिद्धखेत्तोववातगती। से त्तं खेत्तोववातगती १।

[१०९८ प्र.] वह सिद्धक्षेत्रोपपातगति कितने प्रकार की है ?

[१०९८ उ.] सिद्धक्षेत्रोपपातगति अनेक प्रकार की कही गई है, वह इस प्रकार—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भरत और ऐरवत वर्ष (क्षेत्र) में सब दिशाओं में, सब विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति होती है, जम्बूद्वीप नामक द्वीप में क्षुद्र हिमवान् और शिखरी वर्षधरपर्वत में सब दिशाओं में और विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति होती है, जम्बूद्वीप नामक द्वीप में हैमवत और हैरण्यवत वर्ष में सब दिशाओं और विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति होती है, जम्बूद्वीप नामक द्वीप में शब्दापाती और विकटापाती वृत्तवैताढ्यपर्वत में समस्त दिशाओं-विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति होती है, जम्बूद्वीप नामक द्वीप में महाहिमवन्त और रुक्मी नामक वर्षधर पर्वतों में सब दिशाओं-विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति होती है, जम्बूद्वीप नामक द्वीप में हरिवर्ष और रम्यकवर्ष में सब दिशाओं-विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति होती है, जम्बूद्वीप नामक द्वीप में गन्धावती (गन्धापाती) माल्यवन्त-पर्याय वृत्तवैताढ्यपर्वत में समस्त दिशाओं-विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति होती है, जम्बूद्वीप नामक द्वीप में निषध और नीलवन्त नामक वर्षधर पर्वत में सब दिशाओं और विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति होती है, जम्बूद्वीप नामक द्वीप में पूर्वविदेह और अपरविदेह में सब दिशाओं और विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति होती है, जम्बूद्वीप नामक द्वीप में देवकुरु और उत्तरकुरु (क्षेत्र) में सब दिशाओं-विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति है तथा जम्बूद्वीप नामक द्वीप में मन्दरपर्वत की सब दिशाओं और विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति है। लवणसमुद्र में सब दिशाओं और विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति है, धातकीषण्डद्वीप में पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध मन्दरपर्वत की सब दिशाओं-विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति है, कालोदसमुद्र में समस्त दिशाओं-विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति है, पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पूर्वार्द्ध के भरत और ऐरवत वर्ष में सब दिशाओं और विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति है, पुष्करवरद्वीपार्द्ध के पश्चिमार्द्ध मन्दरपर्वत में सब दिशाओं-विदिशाओं में सिद्धक्षेत्रोपपातगति है।

यह हुआ सिद्धक्षेत्रोपपातगति का वर्णन। इस प्रकार क्षेत्रोपपातगति का निरूपण पूर्ण हुआ ॥१॥

१०९९. से किं तं भवोववातगती ?

भवोववातगती चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा—णेरइय० जाव देवभवोववातगती ।

से किं तं णेरइयभवोववातगती ? णेरइयभवोववातगती सत्तविहा पण्णत्ता । तं जहा० । एवं सिद्धवज्जो भेओ भाणियव्वो, जो चेव खेत्तोववातगतीए सो चेव भवोववातगतीए । से तं भवोववातगती २ ।

[१०९९ प्र.] भवोपपातगति कितने प्रकार की है ?

[१०९९ उ.] भवोपपातगति चार प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—नैरयिक-भवोपपातगति (से लेकर) देवभवोपपातगति पर्यन्त ।

[प्र.] नैरयिकभवोपपातगति किस प्रकार की है ?

[उ.] नैरयिक भवोपपातगति सात प्रकार की कही गई है, वह इस प्रकार—इत्यादि सिद्धों को छोड़ कर सब भेद (तिर्यग्योनिकभवोपपातगति के भेद, मनुष्यभवोपपातगति के भेद और देव-भवोपपातगति के भेद) कहने चाहिए । जो प्ररूपणा क्षेत्रोपपातगति के विषय में की गई थी, वही भवोपपातगति के विषय में कहनी चाहिए ।

यह हुआ भवोपपातगति का निरूपण ।

११००. से किं तं णोभवोववातगती ?

णोभवोववातगती दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—पोग्गलणोभवोववातगती य सिद्धणोभवोववातगती य ।

[११०० प्र.] वह नोभवोपपातगति किस प्रकार की है ?

[११०० उ.] नोभवोपपातगति दो प्रकार की कही है, वह इस प्रकार—पुद्गल-नोभवोपपातगति और सिद्ध-नोभवोपपातगति ।

११०१. से किं तं पोग्गलणोभवोववातगती ?

पोग्गलणोभवोववातगती जण्णं परमाणुपोग्गले लोगस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरिमंताओ पच्चत्थिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छति, पच्चत्थिमिल्लाओ वा चरिमंताओ पुरत्थिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छति, दाहिणिल्लाओ वा चरिमंताओ उत्तरिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छति, एवं उत्तरिल्लातो दाहिणिल्लं, उवरिल्लाओ हेट्ठिल्लं, हेट्ठिल्लाओ वा उवरिल्लं । से तं पोग्गलणोभवोववातगती ।

[११०१ प्र.] वह पुद्गल-नोभवोपपातगति क्या है ?

[११०१ उ.] जो पुद्गल परमाणु लोक के पूर्वी चरमान्त अर्थात् छोर से पश्चिमी चरमान्त तक एक ही समय में चला जाता है, अथवा पश्चिमी चरमान्त से पूर्वी चरमान्त तक एक समय में गमन करता है, अथवा दक्षिणी चरमान्त से उत्तरी चरमान्त तक एक समय में गति करता है, या उत्तरी चरमान्त से दक्षिणी चरमान्त तक तथा ऊपरी चरमान्त (छोर) से नीचले चरमान्त तक एवं नीचले चरमान्त से ऊपरी चरमान्त तक एक समय में ही गति करता है; यह पुद्गल-नोभवोपपातगति कहलाती है । यह हुआ पुद्गल-नोभवोपपातगति का निरूपण ।

११०२. से किं तं सिद्धणोभवोववातगती ?

सिद्धणोभवोववातगती दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—अणंतरसिद्धणोभवोववातगती य परंपरसिद्धणोभवोववातगती य ।

[११०२ प्र.] वह सिद्ध-नोभवोपपातगति कितने प्रकार की है ?

[११०२ उ.] सिद्ध-नोभवोपपातगति दो प्रकार की कही है, वह इस प्रकार - अनन्तरसिद्ध-नोभवोपपातगति और परम्परसिद्ध-नोभवोपपातगति ।

११०३. से किं तं अणंतरसिद्धणोभवोववातगति ?

अणंतरसिद्धणोभवोववातगती पन्नरसविहा पण्णत्ता । तं जहा—तित्थसिद्धअणंतरसिद्धणोभवोववातगति य जाव अणेगसिद्धणोभवोववातगती य । [से तं अणंतरसिद्धणोभवोववातगती ।]

[११०३ प्र.] वह अनन्तरसिद्ध-नोभवोपपातगति कितने प्रकार की है ?

[११०३ उ.] अनन्तरसिद्ध-नोभवोपपातगति पन्द्रह प्रकार की है । वह इस प्रकार - तीर्थसिद्ध-अनन्तरसिद्ध-नोभवोपपातगति (से लेकर) यावत् अनेकसिद्ध-अनन्तरसिद्ध-नोभवोपपातगति ।

यह हुआ उस अनन्तरसिद्ध-नोभवोपपातगति का निरूपण ।

११०४. से किं तं परंपरसिद्धणोभवोववातगती ?

परंपरसिद्धणोभवोववातगती अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा- अपढमसमयसिद्धणोभवोववातगती एवं दुसमयसिद्धणोभवोववातगती जाव अणंतसमयसिद्धणोभवोववातगती । से त्तं परंपरसिद्धणोभवोववातगती । से त्तं सिद्धणोभवोववातगती । से त्तं णोभवोववायगती ३ । से त्तं उववातगती ।

[११०४ प्र.] परम्परसिद्ध-नोभवोपपातगति कितने प्रकार की है ?

[११०४ उ.] परम्परसिद्ध-नोभवोपपातगति अनेक प्रकार की कही गई है । वह इस प्रकार —अप्रथमसमयसिद्ध-नोभवोपपातगति, एवं द्विसमयसिद्ध-नोभवोपपातगति यावत् (त्रिसमय से लेकर संख्यातसमय, असंख्यातसमयसिद्ध) अनन्तसमयसिद्ध-नोभवोपपातगति । यह हुआ परम्परसिद्ध-नोभवोपपातगति (का निरूपण ।) (इसके साथ ही) उक्त सिद्ध-नोभवोपपातगति (का वर्णन हुआ । तदनुसार) पूर्वोक्त नोभवोपपातगति (की प्ररूपणा समाप्त हुई ।) (इसकी समाप्ति के साथ ही) उपपातगति (का वर्णन पूर्ण हुआ ।)

११०५. से किं तं विहायगती ?

विहायगती सत्तरसविहा पण्णत्ता । तं जहा—फुसमाणगती १ अफुसमाणगती २ उवसंपज्जमाणगती ३ अणुवसंपज्जमाणगती ४ पोग्गलगती मंडूयगती ६ णावागती ७ णयगती ८ छायागती ९ छायाणुवायगती १० लेसागती ११ लेस्साणुवायगती १२ उद्दिस्सपविभत्तगती १३ चउपुरिसपविभत्तगती १४ वंकगती १५ पंकगती १६ बंधणविमोयणगती १७ ।

[११०५ प्र.] विहायोगति कितने प्रकार की है ?

[११०५ उ.] विहायोगति सत्तरह प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार (१) स्पृशद्-गति, २. अस्पृशद्गति, ३. उपसम्पद्यमानगति, ४. अनुपसम्पद्यमानगति, ५. पुद्गलगति, ६. मण्डूकगति, ७. नौकागति, ८. नयगति, ९. छायागति, १०. छायानुपातगति, ११. लेश्यागति, १२. लेश्यानुपात-गति, १३. उद्दिश्यप्रविभक्तगति, १४. चतुःपुरुषप्रविभक्तगति, १५. वक्रगति, १६. पंकगति और १७. बन्धनविमोचनगति।

११०६. से किं तं फुसमाणगती ?

फुसमाणगती जण्णं परमाणुपोग्गले दुपदेसिय जाव अणंतपदेसियाणं खंधाणं अण्णमण्णं फुसित्ता णं गती पवत्तइ। से त्तं फुसमाणगती १।

[११०६ प्र.] वह स्पृशद्गति क्या है ?

[११०६ उ.] परमाणु पुद्गल की अथवा द्विप्रदेशी (से लेकर) यावत् (त्रिप्रदेशी, चतुःप्रदेशी, पंचप्रदेशी, षट्प्रदेशी, सप्तप्रदेशी, अष्टप्रदेशी, नवप्रदेशी, दशप्रदेशी, संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी) अनन्तप्रदेशी स्कन्धों की एक दूसरे को स्पर्श करते हुए जो गति होती है, वह स्पृशद्गति है। यह हुआ स्पृशद्गति का वर्णन ॥ १ ॥

११०७. से किं तं अफुसमाणगती ?

अफुसमाणगती जण्णं एतेसिं चेव अफुसित्ता णं गती पवत्तइ। से त्तं अफुसमाणगती २।

[११०७ प्र.] अस्पृशद्गति किसे कहते हैं ?

[११०७ उ.] उन्हीं पूर्वोक्त परमाणु पुद्गलों से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्धों की परस्पर स्पर्श किये बिना ही जो गति होती है, वह अस्पृशद्गति है। यह हुआ अस्पृशद्गति का स्वरूप ॥ २ ॥

११०८. से किं तं उवसंपज्जमाणगती ?

उवसंपज्जमाणगती जण्णं रायं वा जुवरायं वा ईसरं वा तलवरं वा माडंबियं वा कोडुंबियं वा इब्भं वा सिट्ठिं वा सेणावइं वा सत्थवाहं वा उवसंपज्जित्ता णं गच्छति। से त्तं उवसंपज्जमाणगती ३।

[११०८ प्र.] वह उपसम्पद्यमानगति क्या है ?

[११०८ उ.] उपसम्पद्यमानगति वह है, जिसमें व्यक्ति राजा, युवराज, ईश्वर (ऐश्वर्यशाली), तलवार (किसी नृप द्वारा नियुक्त पट्टधर शासक), माडम्बिक (मण्डलाधिपति), इभ्य (धनाढ्य), सेठ, सेनापति या सार्थवाह को आश्रय करके (उनके सहयोग या सहारे से) गमन करता हो। यह हुआ उपसम्पद्यमानगति का स्वरूप ॥ ३ ॥

११०९. से किं तं अणुवसंपज्जमाणगती ?

अणुवसंपज्जमाणगती जण्णं एतेसिं चेव अण्णमण्णं अणुवसंपज्जित्ता णं गच्छति। से त्तं अणुव-संपज्जमाणगती ४।

[११०९ प्र.] वह अनुपसम्पद्यमानगति क्या है ?

[११०९ उ.] इन्हीं पूर्वोक्त (राजा आदि) का परस्पर आश्रय न लेकर जो गति होती है, वह अनुपसम्पद्यमान गति है। यह हुआ अनुपसम्पद्यमान गति का स्वरूप ॥ ४ ॥

१११०. से किं तं पोग्गलगती ?

पोग्गलगती जण्णं परमाणुपोग्गलाणं जाव अणंतपएसियाणं खंधाणं गती पवत्तति । से त्तं पोग्गलगती ५ ।

[१११० प्र.] पुद्गलगति क्या है ?

[१११० उ.] परमाणु पुद्गलों की यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्धों की गति पुद्गलगति है। यह हुआ पुद्गलगति का स्वरूप ॥ ५ ॥

११११. से किं तं मंडूयगती ?

मंडूयगती जण्णं मंडूए उप्फिडिया उप्फिडिया गच्छति । से त्तं मंडूयगती ६ ।

[११११ प्र.] मण्डूकगति का क्या स्वरूप है ?

[११११ उ.] मेंढ़क जो उछल-उछल कर गति करता है, वह मण्डूकगति कहलाती है। यह हुआ मण्डूकगति (का स्वरूप।) ॥ ६ ॥

१११२. से किं तं णावागती ?

णावागती जण्णं णावा पुव्ववेयालीओ दाहिणवेयालिं जलपहेणं गच्छति, दाहिणवेयालीओ वा अवरवेयालिं जलपहेणं गच्छति । से त्तं णावागती ७ ।

[१११२ प्र.] वह नौकागति क्या है ?

[१११२ उ.] जैसे नौका पूर्व वैताली (तट) से दक्षिण वैताली की ओर जलमार्ग से जाती है, अथवा दक्षिण वैताली से अपर वैताली की ओर जलपथ से जाती है, ऐसी गति नौकागति है। यह हुआ नौकागति का स्वरूप ॥ ७ ॥

१११३. से किं तं णयगती ?

णयगती जण्णं णेगम-संगह-ववहार-उज्जुसुय-सद्द-समभिरूढ-एवंभूयाणं णयाणं आ गती अहवा सव्वणया वि जं इच्छंति । से त्तं णयगती ८ ।

[१११३ प्र.] नयगति का क्या स्वरूप है ?

[१११३ उ.] नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत, इन सात नयों की जो प्रवृत्ति है, अथवा सभी नय जो मानते (चाहते या विवक्षा करते) हैं, वह नयगति है। यह हुआ नयगति का स्वरूप ॥ ८ ॥

१११४. से किं तं छायागती ?

छायागती जण्णं हयच्छायं वा गयच्छायं वा नरच्छायं वा किन्नरच्छायं वा महोरगच्छायं वा गंधव्वच्छायं वा उसहच्छायं वा रहच्छायं वा छत्तच्छायं वा उवसंपज्जित्ता णं गच्छति । से त्तं छायागती ९ ।

[१११४ प्र.] छायागति किसे कहते हैं ?

[१११४ उ.] अश्व की छाया, हाथी की छाया, मनुष्य की छाया, किन्नर की छाया, महोरग की छाया, गन्धर्व की छाया, वृषभछाया, रथछाया, छत्रछाया का आश्रय करके (छाया का अनुसरण करके या छाया का आश्रय लेने के लिए) जो गमन होता है, वह छायागति है। यह है छायागति का वर्णन ॥ ९ ॥

१११५. से किं तं छायाणुवातगती ?

छायाणुवातगती जण्णं पुरिसं छाया अणुगच्छति णो पुरिसे छायं अणुगच्छति। से तं छायाणुवातगती १०।

[१११५ प्र.] छायानुपातगति किसे कहते हैं ?

[१११५ उ.] छाया पुरुष आदि अपने निमित्त का अनुगमन करती है, किन्तु पुरुष छाया का अनुगमन नहीं करता, वह छायानुपातगति है। यह हुआ छायानुपातगति (का स्वरूप।) ॥ १० ॥

१११६. से किं तं लेस्सागती ?

लेस्सागती जण्णं कण्हलेस्सा णीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति, एवं णीललेस्सा काउलेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव ताफासत्ताए परिणमति, एवं काउलेस्सा वि तेउलेस्सं, तेउलेस्सा वि पम्हलेस्सं, पम्हलेस्सा वि सुक्कलेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव परिणमति। से तं लेस्सागती ११।

[१११६ प्र.] लेश्यागति का क्या स्वरूप है ?

[१११६ उ.] कृष्णलेश्या (के द्रव्य) नीललेश्या (के द्रव्य) को प्राप्त होकर उसी के वर्णरूप में, उसी के गन्धरूप में, उसी के रसरूप में तथा उसी के स्पर्शरूप में बार-बार जो परिणत होती है, इसी प्रकार नीललेश्या भी कापोतलेश्या को प्राप्त होकर उसी के वर्णरूप में यावत् उसी के स्पर्शरूप में जो परिणत होती है, इसी प्रकार कापोतलेश्या भी तेजोलेश्या को, तेजोलेश्या पद्मलेश्या को तथा पद्मलेश्या शुक्ललेश्या को प्राप्त होकर जो उसी के वर्णरूप में यावत् उसी के स्पर्शरूप में परिणत होती है, वह लेश्यागति है।

यह है लेश्यागति का स्वरूप ॥ ११ ॥

१११७. से किं तं लेस्साणुवायगती ?

लेस्साणुवायगती जल्लेस्साइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेति तल्लेस्सेसु उववज्जति। तं जहा—कण्हलेस्सेसु वा जाव सुक्कलेस्सेसु वा। से तं लेस्साणुवायगती १२।

[१११७. प्र.] लेश्यानुपातगति किसे कहते हैं ?

[१११७. उ.] जिस लेश्या के द्रव्यों को ग्रहण करके (जीव) काल करता (मरता) है, उसी लेश्या वाले (जीवों) में उत्पन्न होता है। जैसे -कृष्णलेश्या वाले यावत् शुक्ललेश्या वाले द्रव्यों में। (इस प्रकार की गति) लेश्यानुपातगति है।

यह हुआ लेश्यानुपातगति का निरूपण ॥ १२ ॥

१११८. से किं तं उद्दिस्सपविभत्तगती ?

उद्दिस्सपविभत्तगती जेणं आयरियं वा उवज्झायं वा थेरं वा पवत्तिं वा गणिं वा गणहरं वा गणावच्छेइयं वा उद्दिसिय २ गच्छति । से त्तं उद्दिस्सपविभत्तगती १३ ।

[१११८ प्र.] उद्दिश्यप्रविभक्तगति का क्या स्वरूप है ?

[१११८ उ.] आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक, गणि, गणधर अथवा गणावच्छेदक को लक्ष्य (उद्देश्य) करके जो गमन किया जाता है, वह उद्दिश्यप्रविभक्तगति है ।

यह हुआ उद्दिश्यप्रविभक्तगति का स्वरूप ॥१३॥

१११९. से किं तं चउपुरिसपविभत्तगती ?

चउपुरिसपविभत्तगती से जहाणामए चत्तारि पुरिसा समगं पट्ठिता समगं पज्जवट्ठिया १ समगं पट्ठिया विसमं पज्जवट्ठिया २ विसमं पट्ठिया समगं पज्जवट्ठिया ३ विसमं पट्ठिया विसमं पज्जवट्ठिया ४ । से त्तं चउपुरिसपविभत्तगती १४ ।

[१११९ प्र.] चतुःपुरुषप्रविभक्तगति किसे कहते हैं ?

[१११९ उ.] जैसे—१. किन्हीं चार पुरुषों का एक साथ प्रस्थान हुआ और एक ही साथ पहुँचे, २. (दूसरे) चार पुरुषों का एक साथ प्रस्थान हुआ, किन्तु वे एक साथ नहीं (आगे-पीछे) पहुँचे, ३. (तीसरे) चार पुरुषों का एक साथ प्रस्थान नहीं (आगे-पीछे) हुआ, किन्तु पहुँचे चारों एक साथ, तथा ४. (चौथे) चार पुरुषों का प्रस्थान एक साथ नहीं (आगे-पीछे) हुआ और एक साथ भी नहीं (आगे-पीछे) पहुँचे, इन चारों पुरुषों की चतुर्विकल्पात्मकगति चतुःपुरुषप्रविभक्तगति है । यह हुआ चतुःपुरुषप्रविभक्तगति का स्वरूप ॥१४॥

यह है वक्रगति का निरूपण ॥ १५ ॥

११२०. से किं तं वंकगती ?

वंकगती चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा—घट्टणया १ थंभणया २ लेसणया ३ पवडणया ४ । से त्तं वंकगती १५ ।

[११२० प्र.] वक्रगति किस प्रकार की है ?

[११२० उ.] वक्रगति चार प्रकार की कही गई है । वह इस प्रकार—(१) घट्टन से, (२) स्तम्भन से, (३) श्लेषण से और (४) प्रपतन से ।

यह हुआ वंकगति (का स्वरूप) ॥१५॥

११२१. से किं तं पंकगती ?

पंकगती से जहाणामए केइ पुरिसे सेयंसि वा पंकंसि वा उदयंसि वा कायं उव्वहिया २ गच्छति । से त्तं पंकगती १६ ।

[११२१ प्र.] पंकगति का क्या स्वरूप है ?

[११२१ उ.] जैसे कोई पुरुष कादे में, कीचड़ में अथवा जल में (अपने) शरीर को दूसरे के साथ जोड़कर गमन करता है, (उसकी) यह (गति) पंकगति है ।

११२२. से किं तं बंधणविमोयणगती ?

बंधणविमोयणगती अण्णं अंबाण वा अंबाडगाण वा माउलुंगाण वा बिल्लाण वा कविट्ठाण वा भल्लाण वा फणसाण वा दाडिमाण वा पारेवताण वा अक्खोडाण वा चोराण वा बोराण वा तिंदुयाण वा पक्काणं परियागयाणं बंधणाओ विप्पमुक्काणं णिव्वाघाएणं अहे वीससाए गती पवत्तइ । से त्तं बंधणविमोयणगती १७ । [से त्तं विहायगती । से त्तं गइप्पवाए ।]

॥ पण्णवणाए भगवतीए सोलसमं पओगपयं समत्तं ॥

[११२२ प्र.] वह बन्धनविमोचनगति क्या है ?

[११२२ उ.] अत्यन्त पक कर तैयार हुए, स्वाभाविक बन्धन से विमुक्त (छूटे हुए) आम्रों, आम्रातकों, बिजौरों, बिल्वफलों (बेल के फलों) कवीठों, भद्र नामक फलों, कटहलों (पनसों), दाड़िमों, पारेवत नामक फलविशेषों, अखरोटों, चोर फलों (चारों), बोरों अथवा तिन्दुकफलों की रुकावट (व्याघात) न हो तो स्वभाव से ही जो अधोगति होती है, वह बन्धनविमोचनगति है ।

यह हुआ बन्धनविमोचनगति का स्वरूप ॥१७॥ इसके साथ ही विहायोगति की प्ररूपणा पूर्ण हुई ।

यह हुआ गतिप्रपात का वर्णन ।

विवेचन—गतिप्रपात के भेद-प्रभेद एवं उनके स्वरूप का निरूपण—प्रस्तुत ३७ सूत्रों (सू. १०८६ से ११२२ तक) में प्रयोगगति आदि पांचों प्रकार के गतिप्रपातों के स्वरूप एवं प्रकारों की प्ररूपणा की गई है ।

विहायोगति की व्याख्या आकाश में होने वाली गति को विहायोगति कहते हैं । वह १७ प्रकार की है । (१) **स्पृशद्गति**—परमाणु आदि अन्य वस्तुओं के साथ स्पृष्ट हो-होकर अर्थात्—परस्पर सम्बन्ध को प्राप्त हो करके जो गमन करते हैं, वह स्पृशद्गति कहलाती है । (२) **अस्पृशद्-गति**—परमाणु आदि अन्य परमाणु आदि से अस्पृष्ट रहकर यानि परस्पर सम्बन्ध का अनुभव न करके जो गमन करते हैं, वह अस्पृशद्गति है । जैसे—परमाणु एक ही समय में एक लोकान्त से अपर लोकान्त तक पहुँच जाता है । (३) **उपसम्पद्यमानगति**—किसी दूसरे का आश्रय लेकर (यानी दूसरे के सहारे से) गमन करना । जैसे—धन्ना सार्थवाह के आश्रय से धर्मघोष आचार्य का गमन । (४) **अनुप-सम्पद्यमानगति**—बिना किसी का आश्रय लिये मार्ग में गमन करना ।(५) **पुद्गलगति**—पुद्गल की गति । (६) **मण्डूकगति**—मेंढक की तरह उछल-उछल कर चलना । (७) **नौकागति**—नौका द्वारा महानदी आदि में गमन करना । (८) **नयगति**—नैगमादि नयों द्वारा स्वमत की पुष्टि करना अथवा सभी नयों द्वारा परस्पर सापेक्ष होकर प्रमाण से अबाधित वस्तु की व्यवस्थापना करना । (९) **छाया-गति**—छाया का अनुसरण (अनुगमन) करके अथवा उसके सहारे से गमन करना । (१०) **छायानु-पातगति**—छाया का अपने निमित्तभूत पुरुष का अनुपात—अनुसरण करके गति करना छायानुपात-गति है, क्योंकि छाया पुरुष का अनुसरण करती है, किन्तु पुरुष छाया का अनुसरण नहीं करता । (११) **लेश्यागति**—तिर्यंचों और मनुष्यों के कृष्णादि लेश्या के द्रव्य नीलादि लेश्या के द्रव्यों को

१. ग्रन्थाग्रम् ५०००

प्राप्त करके तद्रूप में परिणत होते हैं, वह लेश्यागति है। (१२) **लेश्यानुपातगति**—लेश्या के अनुपात अर्थात् —अनुसार गमन करना लेश्यानुपातगति है। जीव लेश्याद्रव्यों का अनुसरण करता है, लेश्याद्रव्य जीव का अनुसरण नहीं करता। जैसा कि मूलपाठ में कहा गया है—जिस लेश्या के द्रव्यों को ग्रहण करके जीव काल करता है, वह उसी लेश्या में उत्पन्न होता है। (१३) **उद्दिश्यप्रविभक्तगति**—प्रविभक्त यानि प्रतिनियत आचार्यादि का उद्देश्य करके उनके पास से धर्मोपदेश सुनने या उनसे प्रश्न पूछने के लिए जो गमन किया जाता है, वह उद्दिश्यप्रविभक्तगति है। (१४) **चतुःपुरुषप्रविभक्तगति**—चार प्रकार के पुरुषों की चार प्रकार की प्रविभक्त —प्रतिनियत गति चतुःपुरुषप्रविभक्तगति कहलाती है। (१५) **वक्रगति**—चार प्रकार से वक्र टेढी-मेढी गति करना। वक्रगति के चार प्रकार ये हैं—**घट्टनता**—खंजा (लंगड़ी) चाल (गति), **स्तम्भनता**—गर्दन में धमनी आदि नाड़ी का स्तम्भन होना अथवा आत्मा के अंगप्रदेशों का स्तब्ध हो जाना स्तम्भनता है, **श्लेषणता**—घुटनों आदि के साथ जांघों आदि का संयोग होना **श्लेषणता** है, **प्रपतन**—ऊपर से गिरना। (१६) **पंकगति**—पंक अर्थात् कीचड़ में गति करना। उपलक्षण से पंक शब्द से 'जल' का भी ग्रहण करना चाहिए। अतः पंक अथवा जल में अपने शरीर को किसी के साथ बांध कर उसके बल से चलना पंकगति है। (१७) **बन्धनविमोचनगति**—आम आदि फलों का अपने वृन्त (बंधन) से छूट कर स्वभावतः नीचे गिरना, बन्धनविमोचनगति है।[1]

सपक्ष सप्रतिदिक्— पक्ष का अर्थ है—पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण रूप पार्श्व। प्रतिदिक् का अर्थ है- विदिशाएँ, इनके साथ।

॥ प्रज्ञापनासूत्र : सोलहवाँ प्रयोगपद समाप्त ॥

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३२८-३२९

सत्तरसमं लेस्सापयं

सत्तरहवाँ लेश्यापद

प्राथमिक

- प्रज्ञापनासूत्र का यह सत्तरहवाँ 'लेश्यापद' है।
- 'लेश्या' आत्मा के साथ कर्मों को श्लिष्ट करने वाली है। जीव का यह एक परिणाम-विशेष है। इसलिए आध्यात्मिक विकास में अवरोधक होने से लेश्या पर सभी पहलुओं से विचार करना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से इस पद में छह उद्देशकों द्वारा लेश्या का सांगोपांग विचार किया गया है।
- लेश्या का मुख्य कारण मन-वचन-काया का योग है। योगनिमित्तक होने पर भी लेश्या योगान्तर्गत कृष्णादि द्रव्यरूप है। योगान्तर्गत द्रव्यों में कषायों को उत्तेजित करने का सामर्थ्य है। अतः जहाँ कषाय से अनुरंजित आत्मा का परिणाम हुआ, वहाँ लेश्या अशुभ, अशुभतर एवं अशुभतम बनती जाती है, जहाँ अध्यवसाय केवल योग के साथ होता है, वहाँ लेश्या प्रशस्त एवं शुभ होती जाती है।[1]
- प्रस्तुत पद के छह उद्देशकों में से प्रथम उद्देशक में नारक आदि चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के आहार, शरीर, श्वासोच्छ्वास, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया और आयुष्य की समता-विषमता के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् सकारण विचार किया गया है। इसके पश्चात् कृष्णादि लेश्या-विशिष्ट २४ दण्डकवर्ती जीवों के विषय में पूर्वोक्त आहारादि सप्त द्वारों की दृष्टि से विचारणा की गई है।
- द्वितीय उद्देशक में लेश्या के ६ भेद बता कर नरकादि चार गतियों के जीवों में से छह लेश्याओं में से किसके कितनी लेश्याएँ होती हैं, इसकी चर्चा की गई है। साथ ही कृष्णादिलेश्याविशिष्ट चौवीस दण्डकीय जीवों के अल्पबहुत्व की विस्तृत प्ररूपणा की गई है। अन्त में कृष्णादि-लेश्यायुक्त जीवों में कौन किससे अल्पर्द्धिक या महर्द्धिक है? इसका विचार किया गया है।
- तृतीय उद्देशक में कृष्णादिलेश्यायुक्त चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के उत्पाद और उद्वर्तन के सम्बन्ध में एकत्व-बहुत्व एवं सामूहिक लेश्या की अपेक्षा से चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। इस पर से जन्मकाल और मृत्युकाल में कौन-सा जीव किस लेश्या वाला होता है, यह स्पष्ट फलित हो जाता है। तत्पश्चात् उस-उस लेश्या वाले जीवों के अवधिज्ञान की विषयमर्यादा तथा उस-उस लेश्या वाले जीव में कितने और कौन-से ज्ञान होते हैं? यह प्ररूपणा की गई है।

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय: वृत्ति, पत्रांक ३२९-३३०
(ख) 'लेश्याभिरात्मनि कर्माणि संश्लिष्यन्ते। योग-परिणामो लेश्या। जम्हा अयोगिकेवली अलेस्सो।'
—आवश्यक चूर्णि
(ग) जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. २४७

- चतुर्थ उद्देशक में बताया गया है कि एक लेश्या का, अन्य लेश्या के रूप में परिणमन किस प्रकार होता है। छहों लेश्याओं के पृथक्-पृथक् वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की प्ररूपणा की गई है। तत्पश्चात् कृष्णादि लेश्याओं के कितने परिणाम, प्रदेश, प्रदेशावगाह, वर्गणा एवं स्थान होते हैं, इसकी प्ररूपणा की गई है। अन्त में कृष्णादि लेश्याओं के स्थान की जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम दृष्टि से द्रव्य, प्रदेश एवं द्रव्य-प्रदेश की अपेक्षा से अल्पबहुत्व की विस्तृत प्ररूपणा की गई है।
- पंचम उद्देशक के प्रारम्भ में तो चतुर्थ उद्देशक के परिणामाधिकार की पुनरावृत्ति की गई है; उसके पश्चात् ऐसा निरूपण है कि उस-उस लेश्या का अन्य लेश्या के रूप में तथा उनके वर्णादि रूप में परिणमन नहीं होता। वृत्तिकार इस पूर्वापर विरोध का समाधान करते हुए कहते हैं कि चतुर्थ उद्देशक में एक लेश्या का अन्य लेश्या के रूप में परिणत होने का जो विधान है, वह तिर्यञ्चों और मनुष्यों की अपेक्षा से समझना चाहिए तथा पंचम उद्देशक में एक लेश्या का दूसरी लेश्या के रूप में परिणत होने का जो निषेध है, वह देवों और नारकों की अपेक्षा से समझना चाहिए।
- छठे उद्देशक में भरतादि विविध क्षेत्रों में रहने वाले मनुष्यों और मनुष्य-स्त्रियों की लेश्या सम्बन्धी चर्चा की गई है। इसके बाद यह प्रतिपादन किया गया है कि जनक और जननी की जो लेश्या होती है, वही लेश्या जन्य की होनी चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। जनक और जन्य की या जननी और जन्य की लेश्याएँ सम भी हो सकती हैं, विषम भी।[1]
- प्रस्तुत लेश्यापद इतना विस्तृत एवं छह उद्देशकों में विभक्त होते हुए भी उत्तराध्ययन आदि आगम-ग्रन्थों में उस-उस लेश्यावाले जीवों के अध्यवसायों की तथा उनके लक्षण, स्थिति, गति एवं परिणति की जैसी विस्तृत चर्चा है तथा भगवतीसूत्र आदि में लेश्या के द्रव्य और भाव, इन दो भेदों का जो वर्णन मिलता है, वह इसमें नहीं है। कहीं-कहीं वर्णन में पुनरावृत्ति भी हुई है।[2]

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. २, प्रस्तावना पृ. १०४ से १०७ तक (ख) पण्णवणासुत्तं भा. १, पृ. २७४ से ३०३ तक

२. (क) उत्तराध्ययन अ. ३४, गा. २१ से ६१ तक (ख) लेश्याकोष (संपा. मोहनलाल बांठिया.)
(ख) Doctrine of the Jainas (Sheubring)
(ग) भगवतीसूत्र श. १२, उद्देशक ५, सू. ४५२ पत्र ५७२
(घ) षट्खण्डागम पु. १, पृ. १३२, ३८६; पु. ३ पृ. ४५९; पु. ४ पृ. २९०

सत्तरसमं लेस्सापयं : पढमो उद्देसओ

सत्तरहवाँ लेश्यापद : प्रथम उद्देशक

प्रथम उद्देशक में वर्णित सप्त द्वार

११२३. आहार सम सरीरा उस्सासे १ कम्म २ वण्ण ३ लेस्सासु ४ ।
समवेदण ५ समकिरिया ६ समाउया ७ चेव बोद्धव्वा ।।२०९।।[1]

[११२३ प्रथम-उद्देशक अधिकारगाथार्थ—] १. समाहार, सम-शरीर और (सम) उच्छ्वास, २. कर्म, ३. वर्ण, ४. लेश्या, ५. समवेदना, ६. समक्रिया तथा ७. समायुष्क, (इस प्रकार सात द्वार प्रथम उद्देशक में) जानने चाहिए ।।२०९।।

विवेचन—प्रथम उद्देशक में लेश्या से सम्बन्धित सप्तद्वार—प्रस्तुत सूत्र में लेश्यासम्बन्धी सम-आहार, शरीर-उच्छ्वासादि सातों द्वारों का निरूपण किया गया है।

आहारादि प्रत्येक पद के साथ 'सम' शब्द प्रयोग—प्रस्तुत गाथा के पूर्वार्द्ध में 'सम' शब्द का प्रयोग एक बार किया गया है, उसका सम्बन्ध प्रत्येक पद के साथ जोड़ लेना चाहिए। जैसे समाहार, समशरीर, समउच्छ्वास, समकर्म, समवर्ण, समलेश्या, समवेदना, समक्रिया और समायुष्क।

लेश्या की व्याख्या—जिसके द्वारा आत्मा कर्मों के साथ श्लेष को प्राप्त होता है, वह **लेश्या** है। लेश्या की शास्त्रीय परिभाषा है—कृष्णादि द्रव्यों के सान्निध्य से होने वाला आत्मा का परिणाम **लेश्या** है। कहा भी है—जैसे स्फटिक मणि के पास जिस वर्ण की वस्तु रख दी जाती है, स्फटिक मणि उसी वर्ण वाली प्रतीत होती है, उसी प्रकार कृष्णादि द्रव्यों के संसर्ग से आत्मा में भी उसी तरह का परिणाम होता है। वही परिणाम **लेश्या** कहलाता है।[2]

लेश्या का निमित्तकारण : योग या कषाय ? कृष्णादि द्रव्य क्या है ? इसका उत्तर यह है कि योग के सद्भाव में लेश्या का सद्भाव होता है, योग का अभाव होने पर लेश्या का भी अभाव हो जाता है। इस प्रकार योग के साथ लेश्या का अन्वय-व्यतिरेक देखा जाता है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि लेश्या योगनिमित्तक है। लेश्या योगनिमित्तक होने पर भी योग के अन्तर्गत द्रव्यरूप है, योग-निमित्तक कर्मद्रव्यरूप नहीं। अगर लेश्या को कर्मद्रव्यरूप माना जाएगा तो प्रश्न होगा—लेश्या घातिकर्मद्रव्यरूप है या अघातिकर्मद्रव्यरूप ? लेश्या घातिकर्मद्रव्यरूप तो हो नहीं सकती, क्योंकि सयोगी केवली में घातिकर्मों का अभाव होने पर भी लेश्या का सद्भाव होता है। वह अघातिकर्म-

---

१ **पाठान्तर** किन्हीं प्रतियों में प्रस्तुत सात द्वारों के बदले 'आहार' के साथ शरीर और उच्छ्वास को सम्मिलित न मान कर पृथक्-पृथक् माना है, अतएव नौ द्वार गिनाए हैं।—सं.

२. (क) प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३२९
(ख) कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्त्तते ॥

द्रव्य भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि अयोगिकेवली में अघातिकर्मों का सद्भाव होने पर भी लेश्या का अभाव होता है। अतएव पारिशेष्यन्याय से लेश्या को योगान्तर्गत द्रव्य ही मानना उचित है। वे ही योगान्तर्गत द्रव्य जब तक कषायों की विद्यमानता है, तब तक उनके उदय को भड़काने वाले होते हैं; क्योंकि योग के अन्तर्गत द्रव्यों में कषाय के उदय को भड़काने का सामर्थ्य देखा जाता है। लेश्या कर्मों की स्थिति का कारण नहीं है, किन्तु कषाय स्थिति के कारण हैं। जो लेश्याएँ कषायोदयान्तर्गत होती हैं, वे ही अनुभागबन्ध का हेतु हैं।[1]

नैरयिकों में समाहारादि सात द्वारों की प्ररूपणा

११२४. णेरइया णं भंते ! सव्वे समाहारा सव्वे समसरीरा सव्वे समुस्सासणिस्सासा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइया णो सव्वे समाहारा जाव णो सव्वे समुस्सास-णिस्सासा ?

गोयमा ! णेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा -- महासरीरा य अप्पसरीरा य। तत्थ णं जे ते महासरीरा ते णं बहुतराए पोग्गले आहारेंति बहुतराए पोग्गले परिणामेंति बहुतराए पोग्गले उस्ससंति बहुतराए पोग्गले णीससंति, अभिक्खणं आहारेंति अभिक्खणं परिणामेंति अभिक्खणं ऊससंति अभिक्खणं णीससंति। तत्थ णं जे ते अप्पसरीरा ते णं अप्पतराए पोग्गले आहारेंति अप्पतराए पोग्गले परिणामेंति अप्पतराय पोग्गले ऊससंति अप्पतराए पोग्गले णीससंति आहच्च आहारेंति आहच्च परिणामेंति आहच्च ऊससंति आहच्च णीससंति, से एतेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ णेरइया णो सव्वे समाहारा णो सव्वे समसरीरा णो सव्वे समुस्सासणीसासा १।

[११२४ प्र.] भगवन् ! क्या नारक सभी समान आहार वाले हैं, सभी समान शरीर वाले हैं तथा सभी समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले होते हैं ?

[११२४ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[प्र.] भगवन् ! किस हेतु से आप ऐसा कहते हैं कि नारक सभी समाहार नहीं हैं, यावत् सम उच्छ्वास-निःश्वास वाले नहीं होते ?

[उ.] गौतम ! नारक दो प्रकार के हैं, वे इस प्रकार महाशरीर वाले और अल्पशरीर वाले। उनमें से जो महाशरीर वाले नारक होते हैं, वे बहुत अधिक पुद्गलों का आहार करते हैं, प्रभूततर पुद्गलों को परिणत करते हैं, बहुत-से पुद्गलों का उच्छ्वास लेते हैं और बहुत से पुद्गलों का निःश्वास छोड़ते हैं। वे बार-बार आहार करते हैं, बार-बार (पुद्गलों को) परिणत करते हैं, बार-बार उच्छ्वसन करते हैं और बार-बार निःश्वसन करते हैं। उनमें जो छोटे (अल्प) शरीर वाले हैं, वे अल्पतर (थोड़े) पुद्गलों का आहार करते हैं, अल्पतर पुद्गलों को परिणत करते हैं, अल्पतर पुद्गलों का उच्छ्वास लेते हैं और अल्पतर पुद्गलों का निःश्वास छोड़ते हैं। वे कदाचित्

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३३०-३३१
(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका, भाग ४, पृ. ४-५

आहार करते हैं, कदाचित् (पुद्गलों को) परिणत करते हैं तथा कदाचित् उच्छ्वसन करते हैं और कदाचित् निःश्वसन करते हैं। इस हेतु से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि नारक सभी समान आहार वाले नहीं होते, समान शरीर वाले नहीं होते और न ही समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले होते हैं। —प्रथम द्वार ॥१॥

११२५. णेरइया णं भंते सव्वे समकम्मा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? णेरइया णो सव्वे समकम्मा ?

गोयमा ! णेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पुव्वोववण्णगा य पच्छोववण्णगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववण्णगा ते णं अप्पकम्मतरागा । तत्थ णं जे ते पच्छोववण्णगा ते णं महाकम्मतरागा, एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ णेरइया णो सव्वे समकम्मा २ ।

[११२५ प्र.] भगवन् ! नैरयिक क्या सभी समान कर्म वाले होते हैं ?

[११२५ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[प्र.] भगवन् ! किस हेतु से आप ऐसा कहते हैं कि नारक सभी समान कर्म वाले नहीं होते ?

[उ.] गौतम ! नारक दो प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार -पूर्वोपपन्नक (पहले उत्पन्न हुए) और पश्चादुपपन्नक (पीछे उत्पन्न हुए) । उनमें जो पूर्वोपपन्नक हैं, वे (अपेक्षाकृत) अल्प कर्म वाले हैं और उनमें जो पश्चादुपपन्नक हैं, वे महाकर्म (बहुत कर्म) वाले हैं । इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि नैरयिक सभी समान कर्म वाले नहीं होते । द्वितीय द्वार ॥२॥

११२६. णेरइया णं भंते ! सव्वे समवण्णा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइया णो सव्वे समवण्णा ?

गोयमा ! णेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पुव्वोववण्णगा य पच्छोववण्णगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववण्णगा ते णं विसुद्धवण्णतरागा । तत्थ णं जे ते पच्छोववण्णगा ते णं अविसुद्धवण्णतरागा, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ णेरइया णो सव्वे समवण्णा ३ ।

[११२६ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक सभी समान वर्ण वाले होते हैं ?

[११२६ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[प्र.] भगवन् ! किस हेतु से आप ऐसा कहते हैं कि नैरयिक सभी समान वर्ण वाले नहीं होते ?

[उ.] गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक । उनमें से जो पूर्वोपपन्नक हैं, वे अधिक विशुद्ध वर्ण वाले होते हैं और उनमें जो पश्चादुपपन्नक होते हैं, वे अविशुद्ध वर्ण वाले होते हैं । इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि नैरयिक सभी समान वर्ण वाले नहीं होते । —तृतीय द्वार ॥३॥

११२७. एवं अहेव वण्णेण भणिया तहेव लेस्सासु वि विसुद्धलेस्सतरागा अविसुद्धलेस्सतरागा य भाणियव्वा ४।

[११२७] जैसे वर्ण की अपेक्षा से नारकों को विशुद्ध और अविशुद्ध कहा है, वैसे ही लेश्या की अपेक्षा भी नारकों को विशुद्ध और अविशुद्ध कहना चाहिए। —चतुर्थद्वार ॥४॥

११२८. णेरइया णं भंते ! सव्वे समवेयणा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइया णो सव्वे समवेयणा ?

गोयमा ! णेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सण्णिभूया य असण्णिभूया य। तत्थ णं जे ते सण्णिभूया ते णं महावेदणतरागा। तत्थ णं जे ते असण्णिभूया ते णं अप्पवेदणतरागा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ नेरइया नो सव्वे समवेयणा ५।

[११२८ प्र.] भगवन् ! सभी नारक क्या समान वेदना वाले होते हैं ?

[११२८ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[प्र.] भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं कि सभी नारक समवेदना वाले नहीं होते ?

[उ.] गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के कहे हैं, वे इस प्रकार—संज्ञीभूत (जो पूर्वभव में संज्ञी पंचेन्द्रिय थे) और असंज्ञीभूत (जो पूर्वभव में असंज्ञी थे)। उनमें जो संज्ञीभूत होते हैं, वे अपेक्षाकृत महान् वेदना वाले होते हैं और उनमें जो असंज्ञीभूत होते हैं, वे अल्पतर वेदना वाले होते हैं। इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी नैरयिक समवेदना वाले नहीं होते।

—पंचमद्वार ॥५॥

११२९. णेरइया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइया णो सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! णेरइया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मद्दिट्ठी मिच्छद्दिट्ठी सम्मामिच्छद्दिट्ठी। तत्थ णं जे ते सम्मद्दिट्ठी तेसि णं चत्तारि किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया १ परिग्गहिया २ मायावत्तिया ३ अपच्चक्खाणकिरिया ४। तत्थ णं जे ते मिच्छद्दिट्ठी जे य सम्मामिच्छद्दिट्ठी तेसि नियताओ पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया १ परिग्गहिया २ मायावत्तिया ३ अपच्चक्खाणकिरिया ४ मिच्छादंसणवत्तिया ५, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ णेरइया णो सव्वे समकिरिया ६।

[११२९ प्र.] भगवन् ! सभी नारक क्या समान क्रिया वाले होते हैं ?

[११२९ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[प्र.] भगवन् ! किस हेतु से आप ऐसा कहते हैं कि सभी नारक समान क्रिया वाले नहीं होते ?

[उ.] गौतम ! नारक तीन प्रकार के कहे हैं—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि। उनमें से जो सम्यग्दृष्टि हैं, उनके चार क्रियाएँ होती हैं, वे इस प्रकार—१. आरम्भिकी, २. पारिग्रहिकी, ३. मायाप्रत्यया और ४. अप्रत्याख्यानक्रिया। जो मिथ्यादृष्टि हैं तथा जो सम्यग्-मिथ्यादृष्टि हैं, उनके नियत (निश्चितरूप से) पांच क्रियाएँ होती हैं—१. आरम्भिकी, २. पारिग्रहिकी, ३. मायाप्रत्यया, ४. अप्रत्याख्यानक्रिया और ५. मिथ्यादर्शनप्रत्यया। हे गौतम ! इस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि सभी नारक समान क्रिया वाले नहीं होते। —छठा द्वार ॥ ६ ॥

११३०. णेरइया णं भंते ! सव्वे समाउया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?

गोयमा ! णेरइया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—अत्थेगइया समाउया समोववण्णगा १ अत्थेगइया समाउया विसमोववण्णगा २ अत्थेगइया विसमाउया समोववण्णगा ३ अत्थेगइया विसमाउया विसमोववण्णगा ४, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ णेरइया णो सव्वे समाउया णो सव्वे समोववण्णगा ७।

[११३० प्र.] भगवन् ! क्या सभी नारक समान आयुष्य वाले हैं ?

[११३० उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि सभी नारक समान आयु वाले नहीं होते ?

[उ.] गौतम ! नैरयिक चार प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार—१. कई नारक समान आयु वाले और समान (एक साथ) उत्पत्ति वाले होते हैं, २. कई समान आयु वाले, किन्तु विषम उत्पत्ति (आगे-पीछे उत्पन्न होने) वाले होते हैं, ३. कई विषम (असमान) आयु वाले और एक साथ उत्पत्ति वाले होते हैं तथा ४. कई विषम आयु वाले और विषम ही उत्पत्ति वाले होते हैं। इस कारण से हे गौतम ! सभी नारक न तो समान आयु वाले होते हैं और न ही समान उत्पत्ति (एक साथ उत्पन्न होने) वाले होते हैं। —सप्तम द्वार ॥७॥

विवेचन—नैरयिकों में समाहारादि सप्त द्वारों की प्ररूपणा—प्रस्तुत सात सूत्रों में नैरयिकों में आहार आदि पूर्वोक्त सात द्वारों से सम्बन्धित समानता-असमानता की चर्चा की गई है।

महाशरीर-अल्पशरीर—जिन नारकों का शरीर अपेक्षाकृत विशाल होता है, वे महाशरीर और जिनका शरीर अपेक्षाकृत छोटा होता है, वे अल्पशरीर कहलाते हैं। नारक जीव का शरीर छोटे से छोटा (जघन्य) अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण होता है और बड़े से बड़ा (उत्कृष्ट) शरीर पांच सौ धनुष का होता है। यह प्रमाण भवधारणीय शरीर की अपेक्षा से है, उत्तरवैक्रिय शरीर की अपेक्षा से जघन्य अंगुल का असंख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट एक हजार धनुष-प्रमाण होता है।

शंका-समाधान—नारकों की आहारसम्बन्धी विषमता पहले न बतलाकर पहले शरीर-सम्बन्धी विषमता क्यों बतलाई गई है ? इसका कारण यह है कि शरीरों की विषमता बतला देने पर आहार, उच्छ्वास आदि की विषमता शीघ्र समझ में आ जाती है। इस आशय से दूसरे स्थान में प्रतिपाद्य शरीर-सम्बन्धी प्रश्न का समाधान पहले किया गया है।

महाशरीरादिविशिष्ट नारकों में विसदृशता क्यों ? जो नारक महाशरीर होते हैं, वे अपने से अल्प शरीर वाले नारकों की अपेक्षा बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं, क्योंकि उनका शरीर बड़ा होता है। लोक में यह प्रसिद्ध है कि महान् शरीर वाले हाथी आदि अपने से छोटे शरीर वाले खरगोश आदि से अधिक आहार करते हैं। किन्तु यह कथन बाहुल्य की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि कोई-कोई तथाविध मनुष्य के समान बड़े शरीर वाला होकर भी अल्पाहारी होता है और कोई-कोई छोटे शरीर वाला होकर भी अतिभोजी होता। यहाँ अल्पता और महत्ता भी सापेक्ष समझनी चाहिए।

नारक जीव सातावेदनीय के अनुभव के विपरीत असातावेदनीय का उदय होने से ज्यों-त्यों महाशरीर वाले, अत्यन्त दुःखी एवं तीव्र आहाराभिलाषा वाले होते हैं, त्यों-त्यों वे बहुत अधिक पुद्गलों का आहार करते हैं तथा बहुत अधिक पुद्गलों को परिणत करते हैं। परिणमन आहार किये हुए पुद्गलों के अनुसार होता है। यहाँ परिणाम के विषय में प्रश्न न होने पर भी उसका प्रतिपादन कर दिया गया है, क्योंकि वह आहार का कार्य है। इसी प्रकार महाशरीर वाले होने से वे बहुत अधिक पुद्गलों को उच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते हैं और निःश्वास के रूप में छोड़ते हैं। जो बड़े शरीर वाले (विशालकाय) होते हैं, वे अपनी जाति के लघुकायों की अपेक्षा बहुत उच्छ्वास-निःश्वास वाले होते हैं तथा दुःखित भी अधिक होते हैं, इसलिए ऐसे नारक दुःखित भी अधिक कहे गए हैं।

आहारादि की कालकृत विषमता—अपेक्षाकृत महाशरीर वाले अपनी अपेक्षा लघुशरीर वालों से शीघ्र और शीघ्रतर तथा पुनः पुनः आहार ग्रहण करते देखे जाते हैं। जब आहार बार-बार करते हैं तो उसका परिणमन भी बार-बार करते हैं तथा वे बार-बार उच्छ्वास ग्रहण करते और निःश्वास छोड़ते हैं। आशय यह है कि महाकाय नारक महाशरीर वाले होने से अत्यन्त दुःखित होने के कारण निरन्तर उच्छ्वासादि क्रिया करते रहते हैं। जो नारक अपेक्षाकृत लघुकाय होते हैं, वे महाकाय नारकों की अपेक्षा अल्पतर पुद्गलों का आहार करते हैं, अल्पतर पुद्गलों को ही परिणत करते हैं। तथा अल्पतर पुद्गलों को ही उच्छ्वास के रूप में ग्रहण करते हैं और निःश्वास के रूप में छोड़ते हैं। वे कदाचित् आहार करते हैं, सदैव नहीं। तात्पर्य यह है कि महाकाय नारकों के आहार का जितना व्यवधानकाल है, उसकी अपेक्षा लघुकाय नारकों के आहार का व्यवधानकाल (अन्तर) अधिक है। कदाचित् आहार करने के कारण वे (अल्पाहारी) उसका परिणणमन भी कदाचित् करते हैं, सदा नहीं। इसी प्रकार वे कदाचित् उच्छ्वास लेते हैं और कदाचित् ही निःश्वास छोड़ते हैं। क्योंकि लघुकाय नारक महाकाय नारकों की अपेक्षा अल्प दुःख वाले होने से निरन्तर उच्छ्वास-निःश्वास क्रिया नहीं करते, किन्तु बीच में व्यवधान डालकर करते हैं। अथवा अपर्याप्तिकाल में अल्पशरीर वाले होने से लोमाहार की अपेक्षा से वे आहार नहीं करते तथा श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति पूर्ण न होने से उच्छ्वास नहीं लेते; अन्य काल (पर्याप्तिकाल) में आहार और उच्छ्वास लेते हैं।[1]

पूर्वोत्पन्न और पश्चादुत्पन्न नारकों में कर्म, वर्ण लेश्या का अन्तर—जो नारक पहले उत्पन्न हो चुके हैं, वे अल्पकर्म वाले होते हैं, क्योंकि पूर्वोत्पन्न नारकों को उत्पन्न हुए अपेक्षाकृत अधिक समय व्यतीत हो चुका है, वे नरकायु, नरकगति और असातावेदनीय आदि कर्मों की बहुत

१. प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३३२-३३३

निर्जरा कर चुके होते हैं, उनके ये कर्म थोड़े ही शेष रहे होते हैं। इस कारण पूर्वोत्पन्न नारक अल्पकर्म वाले कहे गए हैं। किन्तु जो नारक बाद में उत्पन्न हुए हैं, वे महाकर्म वाले होते हैं, क्योंकि उनकी नरकायु, नरकगति तथा असातावेदनीय आदि कर्म थोड़े ही निर्जीर्ण हुए हैं, बहुत-से कर्म अभी शेष हैं। इस कारण वे अपेक्षाकृत महाकर्म वाले हैं।

यह कथन समान स्थिति वाले नारकों की अपेक्षा से समझना चाहिए, अन्यथा रत्नप्रभापृथ्वी में किसी उत्कृष्ट आयु वाले नारक की आयु का बहुत-सा भाग निर्जीर्ण हो चुका हो, वह सिर्फ एक पल्योपम ही शेष रह गया हो, दूसरी ओर उस समय कोई जघन्य दस हजार वर्षों की स्थिति वाला नारक पश्चात् उत्पन्न हुआ हो तो भी इस पश्चादुत्पन्न नारक की अपेक्षा उक्त पूर्वोत्पन्न नारक भी महान् कर्म वाला ही होता है।

इसी प्रकार जिन्हें उत्पन्न हुए अपेक्षाकृत अधिक समय व्यतीत हो चुका है, वे विशुद्धतर वर्ण वाले होते हैं। नारकों में अप्रशस्त (अशुभ) वर्णनामकर्म के उत्कट अनुभाग का उदय होता है, किन्तु पूर्वोत्पन्न नारकों के उस अशुभ अनुभाग का बहुत-सा भाग निर्जीर्ण हो चुकता है, स्वल्प भाग शेष रहता है। वर्णनामकर्म पुद्गलविपाकी प्रकृति है। अतएव पूर्वोत्पन्न नारक विशुद्धतर वर्ण वाले होते हैं, जब कि पश्चादुत्पन्न नारक अविशुद्धतर वर्ण वाले होते हैं, क्योंकि भव के कारण होने वाले उनके अशुभ नामकर्म का अधिकांश अशुभ तीव्र अनुभाग निर्जीर्ण नहीं होता, सिर्फ थोड़े-से भाग की ही निर्जरा हो पाती है। इस कारण बाद में उत्पन्न नारक अविशुद्धतर वर्ण वाले होते हैं। यह कथन भी समान स्थिति वाले नारकों की अपेक्षा से समझना चाहिए।

इसी प्रकार पूर्वोत्पन्न नारक अप्रशस्त लेश्याद्रव्यों के बहुत-से भाग को निर्जीर्ण कर चुकते हैं, इस कारण वे विशुद्धतर लेश्या वाले होते हैं, जबकि पश्चादुत्पन्न नारक अप्रशस्त लेश्याद्रव्यों के अल्पतम भाग की ही निर्जरा कर पाते हैं, उनके बहुत-से अप्रशस्त लेश्याद्रव्य शेष बने रहते हैं।[1]

संज्ञीभूत और असंज्ञीभूत नारकों की वेदना में अन्तर —जो जीव पहले (अतीत में) संज्ञी-पंचेन्द्रिय थे और फिर नरक में उत्पन्न हुए हैं, वे संज्ञीभूत नारक कहलाते हैं और जो उनसे विपरीत हों, वे असंज्ञीभूत कहलाते हैं। जो नारक संज्ञीभूत होते हैं, वे अपेक्षाकृत महावेदना वाले होते हैं, क्योंकि जो (भूतकाल में) संज्ञी थे, उन्होंने उत्कट अशुभ अध्यवसाय के कारण उत्कट अशुभ कर्मों का बन्ध किया है तथा वे महानारकों में उत्पन्न हुए हैं। इसके विपरीत जो नारक असंज्ञीभूत हैं, वे अल्पतर वेदना वाले होते हैं। असंज्ञी जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति में से किसी भी गति का बन्ध कर सकते हैं। अतएव वे नरकायु का बन्ध करके नरक में उत्पन्न होते हैं, किन्तु अति तीव्र अध्यवसाय न होने से रत्नप्रभापृथ्वी के अन्तर्गत अति तीव्रवेदना न हो ऐसे नारकावासों में ही उत्पन्न होते हैं। अथवा संज्ञी का तात्पर्य यहाँ सम्यग्दृष्टि है। संज्ञीभूत अर्थात् सम्यग्दृष्टि नारक पूर्वकृत अशुभ कर्मों के लिए मानसिक दुःख-परिताप का अनुभव करने के कारण अधिक वेदना वाले होते हैं। असंज्ञीभूत (मिथ्यादृष्टि) नारक को ऐसा परिताप नहीं होता, अतएव वह अल्पवेदना वाला होता है।[2]

---

१. प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३३३

२. वही, मलय. वृत्ति. पत्रांक ३३४

आरम्भिकी आदि क्रियाओं के लक्षण--**आरम्भिकी**—जीव-हिंसाकारी प्रवृत्ति (व्यापार) आरम्भ कहलाती है। आरम्भ से होने वाली कर्मबंधकारणभूत क्रिया **आरम्भिकी** है। धर्मोपकरणों से भिन्न पदार्थों का ममत्ववश स्वीकार करना अथवा धर्मोपकरणों के प्रति मूर्च्छा होना परिग्रह है, उसके कारण होने वाली क्रिया **पारिग्रहिकी क्रिया** है। माया, उपलक्षण से क्रोधादि के निमित्त से होने वाली क्रिया **मायाप्रत्यया** है। **अप्रत्याख्यान क्रिया**--अप्रत्याख्यान पापों से अनिवृत्ति के कारण होने वाली क्रिया। **मिथ्यादर्शनप्रत्यया**—मिथ्यात्व के कारण होने वाली क्रिया। **शंका-समाधान**—यद्यपि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार कर्मबन्ध के कारण बताए गए हैं, जबकि यहाँ आरम्भिकी आदि क्रियाएँ कर्मबन्ध की कारण बताई गई हैं, अतः दोनों में विरोध है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यहाँ आरम्भ और परिग्रह शब्द से 'योग' को ग्रहण किया गया है क्योंकि योग आरम्भ-परिग्रहरूप होता है, अतएव इनमें कोई विरोध नहीं है।[1]

असुरकुमारादि भवनपतियों में समाहारादि सप्त प्ररूपणा

११३१. असुरकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा ? स च्चेव पुच्छा।

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, जहा णेरइया (सु. ११२४)।

[११३१ प्र.] भगवन् ! सभी असुरकुमार क्या समान आहार वाले हैं ? इत्यादि पृच्छा (पूर्ववत्)।

[११३१ उ.] यह अर्थ समर्थ नहीं है। (शेष सब निरूपण) (सू. ११२४ के अनुसार) नैरयिकों (की आहारादि-प्ररूपणा) के समान (जानना चाहिए)।

११३२. असुरकुमारा णं भंते ! सव्वे समकम्मा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?

गोयमा ! असुरकुमारा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पुव्वोववण्णगा य पच्छोववण्णगा य। तत्थ णं जे ते पुव्वोववण्णगा ते णं महाकम्मतरागा। तत्थ णं जे ते पच्छोववण्णगा ते णं अप्पकम्मतरागा, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ असुरकुमारा णो सव्वे समकम्मा।

[११३२ प्र.] भगवन् ! सभी असुरकुमार समान कर्म वाले हैं ?

[११३२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[प्र.] भगवन् ! किस हेतु से कहते हैं कि सभी असुरकुमार समान कर्म वाले नहीं हैं ?

[उ.] गौतम ! असुरकुमार दो प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार—पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक। उनमें जो पूर्वोपपन्नक हैं, वे महाकर्म वाले हैं। उनमें जो पश्चादुपपन्नक हैं, वे अल्पतरकर्म वाले हैं। इसी कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी असुरकुमार समान कर्म वाले नहीं हैं।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३३५

११३३. [१] एवं वण्ण-लेस्साए पुच्छा ।

तत्थ णं जे ते पुव्वोववण्णगा ते णं अविसुद्धवण्णतरागा । तत्थ णं जे ते पच्छोववण्णगा ते णं विसुद्धवण्णतरागा, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति असुरकुमारा सव्वे णो समवण्णा ।

[११३३-१ प्र.] इसी प्रकार वर्ण और लेश्या के लिए प्रश्न कहना चाहिए । (भगवन् ! असुरकुमार क्या सभी समान वर्ण और समान लेश्या वाले हैं ?)

[११३३-१ उ.] गौतम ! (पूर्वोक्त) दो प्रकार के असुरकुमारों में जो पूर्वोपपन्नक हैं, वे अविशुद्धतर वर्ण वाले हैं तथा उनमें जो पश्चादुपपन्नक हैं, वे विशुद्धतर वर्ण वाले हैं । इस कारण गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी असुरकुमार समान वर्ण वाले नहीं होते ।

[२] एवं लेस्साए वि ।

[११३३-२] इसी प्रकार लेश्या के विषय में (कहना चाहिए ।)

११३४. वेदणाए जहा णेरइया (सु. ११२८) ।

[११३४] (असुरकुमारों की) वेदना के विषय में (सू. ११२८ में उक्त) नैरयिकों (की वेदनाविषयक प्ररूपणा) के समान (कहना चाहिए ।)

११३५. अवसेसं जहा णेरइयाणं (सु. ११२९-३०) ।

[११३५] असुरकुमारों की क्रिया एवं आयु के विषय में शेष सब निरूपण (सू. ११२९-११३० के उल्लिखित) नैरयिकों (की क्रिया एवं आयुविषयक निरूपण) के समान (समझना चाहिए ।)

११३६. एवं जाव थणियकुमारा ।

[११३६] इसी प्रकार (असुरकुमारों के आहारादि विषयक निरूपण की तरह नागकुमारों से लेकर) स्तनितकुमारों तक (का निरूपण समझना चाहिए ।)

विवेचन—असुरकुमारादि भवनपतियों की समाहारादि-प्ररूपणा—प्रस्तुत छह सूत्रों (सू. ११३१ से ११३६ तक) में असुरकुमारादि दस प्रकार के भवनपतिदेवों की आहारादि सप्त द्वारों द्वारा प्ररूपणा की गई है ।

असुरकुमारों आदि का महाशरीर-लघुशरीर—असुरकुमारों का अधिक से अधिक बड़ा शरीर सात हाथ का होता है । भवधारणीय शरीर की अपेक्षा से यह प्रमाण है । उनके लघुशरीर का जघन्यप्रमाण अंगुल के असंख्यातवें भाग का समझना चाहिए । उत्तरवैक्रिय की अपेक्षा उनका महाशरीर उत्कृष्ट एक लाख योजन और लघुशरीर जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है । इस प्रकार जो असुरकुमार भवधारणीय शरीर की अपेक्षा जितने बड़े शरीर वाले होते हैं, वे उतने ही अधिक पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, और जितने लघुशरीर वाले हैं, वे उतने ही कम पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं ।

पूर्वोत्पन्न-पश्चादुत्पन्न असुरकुमारादि कर्म के विषय में नारकों से विपरीत—नारकों के विषय में कहा गया था कि पूर्वोत्पन्न नारक अल्पकर्मा और पश्चादुत्पन्न नारक महाकर्मा होते हैं, किन्तु असुरकुमार जो पूर्वोत्पन्न हैं, वे महाकर्मा और जो पश्चादुत्पन्न हैं, वे अल्पकर्मा होते

हैं। इसका कारण यह है कि असुरकुमार अपने भव का त्याग करके या तो तिर्यञ्चयोनि में उत्पन्न होते हैं, या मनुष्ययोनि में। तिर्यञ्चयोनि में उत्पन्न होने वाले कई एकेन्द्रियों में--पृथ्वीकाय, अप्काय या वनस्पतिकाय में उत्पन्न होते हैं और कई पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में भी उत्पन्न होते हैं। जो मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, वे कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, अकर्मभूमिज और सम्मूच्छिम मनुष्यों में नहीं। वहाँ छह महीना आयु शेष रहने पर परभव-सम्बन्धी आयु का बन्ध करते हैं। आयु के बन्ध के समय एकान्त तिर्यञ्चयोग्य अथवा एकान्त मनुष्ययोग्य प्रकृतियों का उपचय करते हैं। इस कारण पूर्वोत्पन्न असुरकुमार महाकर्म वाले होते हैं किन्तु जो बाद में उत्पन्न हुए हैं, उन्होंने अभी तक परभवसम्बन्धी आयुष्य नहीं बांधा है और न ही तिर्यञ्च या मनुष्य के योग्य प्रकृतियों का उपचय किया होता है, इस कारण वे अल्पतर कर्म वाले होते हैं। यह सूत्र भी पूर्ववत् समान स्थिति वाले, समान भववाले परिमित असुरकुमारों की अपेक्षा से समझना चाहिए।[1]

पूर्वोत्पन्न असुरकुमार अविशुद्ध वर्ण-लेश्यावाले, पश्चादुत्पन्न इसके विपरीत—असुरकुमारों को भव की अपेक्षा से प्रशस्त वर्णनामकर्म के शुभ तीव्र अनुभाग का उदय होता है। पूर्वोत्पन्न असुरकुमारों का शुभ अनुभाग बहुत-सा क्षीण हो चुकता है, इस कारण वे अविशुद्धतर वर्ण वाले होते है, किन्तु जो असुरकुमार बाद में उत्पन्न हुए हैं, उनके वर्णनाम कर्म के शुभ अनुभाग का बहुत-सा भाग क्षीण नहीं होता, विद्यमान होता है, अतएव वे विशुद्धतर वर्ण वाले होते हैं।

लेश्या के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। इस विषय में युक्ति यह है कि जो असुरकुमार पहले उत्पन्न हुए हैं, उन्होंने अपनी उत्पत्ति के समय से ही तीव्र अनुभाव वाले लेश्याद्रव्यों को भोग-भोग कर उनका बहुत भाग क्षीण कर दिया है। अब उनके मन्द अनुभाग वाले अल्प लेश्याद्रव्य ही शेष रहे हैं। इस कारण पूर्वोत्पन्न असुरकुमार अविशुद्धलेश्या वाले होते हैं और पश्चात् उत्पन्न होने वाले इनसे विपरीत होने के कारण विशुद्धतर लेश्या वाले होते हैं।[2]

पृथ्वीकायिकों से तिर्यंचपंचेन्द्रियों तक में समाहारादि सप्त प्ररूपणा

११३७. पुढविक्काइया आहार-कम्म-वण्ण-लेस्सादि जहा णेरइया (सु. ११२४-२७)।

[११३७] जैसे (सू. ११२४ से ११२७ तक में) नैरयिकों के (आहार आदि के) विषय में कहा है, उसी प्रकार पृथ्वीकायिकों के (सम-विषम) आहार, कर्म, वर्ण और लेश्या के विषय में कहना चाहिए।

११३८. पुढविक्काइया णं भंते ! सव्वे समवेदणा ?

हंता गोयमा ! सव्वे समवेयणा।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?

गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे असण्णी असण्णीभूयं अणियत्तं वेदणं वेदेंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे समवेदणा।

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३३६

२. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३३६-३३७
(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ४ पृ. ३८

[११३८ प्र.] भगवन् ! क्या सभी पृथ्वीकायिक समान वेदना वाले होते हैं ?

[११३८ उ.] हाँ गौतम ! सभी समान वेदना वाले होते हैं।

[प्र.] भगवन् ! किस हेतु से आप ऐसा कहते हैं ?

[उ.] गौतम ! सभी पृथ्वीकायिक असंज्ञी होते हैं। वे असंज्ञीभूत और अनियत वेदना वेदते (अनुभव करते) हैं। इस कारण हे गौतम ! सभी पृथ्वीकायिक समवेदना वाले हैं।

११३९. पुढविक्काइया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?

हंता गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे समकिरिया।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे माइमिच्छद्दिट्ठी, तेसि णं एवतियाओ पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया १ परिग्गहिया २ मायावत्तिया ३ अपच्चक्खाणकिरिया ४ मिच्छादंसणवत्तिया ५।

[११३९ प्र.] भगवन् ! सभी पृथ्वीकायिक समान क्रिया वाले होते हैं ?

[११३९ उ.] हाँ गौतम ! सभी पृथ्वीकायिक समक्रिया वाले होते हैं।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ.] गौतम ! सभी पृथ्वीकायिक मायी-मिथ्यादृष्टि होते हैं, उनके नियत (निश्चित) रूप से पांचों क्रियाएँ होती हैं। यथा—(१) आरम्भिकी, (२) पारिग्रहिकी, (३) मायाप्रत्यया, (४) अप्रत्याख्यानक्रिया और (५) मिथ्यादर्शनप्रत्यया। (इसी कारण) गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी पृथ्वीकायिक समान क्रियाओं वाले होते हैं।

११४०. एवं जाव चउरिंदिया।

[११४०] पृथ्वीकायिकों के समान ही (अप्कायिकों, तेजस्कायिकों, वायुकायिकों, वनस्पतिकायिकों, द्वीन्द्रियों, त्रीन्द्रियों) यावत् चतुरिन्द्रियों की (समान वेदना और समान क्रिया कहनी चाहिए)।

११४१. पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा णेरइया (सु. ११२४-३०)। णवरं किरियाहिं सम्मद्दिट्ठी मिच्छद्दिट्ठी सम्मामिच्छद्दिट्ठी। तत्थ णं जे ते सम्मद्दिट्ठी ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—असंजया य संजयासंजया य। तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसि णं तिण्णि किरियाओ कज्जंति, तं जहा आरंभिया परिग्गहिया मायावत्तिया। तत्थ णं जे ते असंजया तेसि णं चत्तारि किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया १ परिग्गहिया २ मायावत्तिया ३ अपच्चक्खाणकिरिया ४। तत्थ णं जे ते मिच्छद्दिट्ठी जे य सम्मामिच्छद्दिट्ठी तेसि णं एवइयाओ पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया १ परिग्गहिया २ मायावत्तिया ३ अपच्चक्खाणकिरिया ४ मिच्छादंसणवत्तिया ५। सेसं तं चेव।

[११४१] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों का (आहारादि सप्तद्वार विषयक कथन) (सू. ११२४ से ११३० तक में उक्त) नैरयिक जीवों के (आहारादि विषयक कथन के) अनुसार समझना चाहिए।

विशेष यह कि क्रियाओं में नारकों से कुछ विशेषता है। पंचेन्द्रियतिर्यञ्च तीन प्रकार के हैं, यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि। उनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे दो प्रकार के हैं—असंयत और संयतासंयत। जो संयतासंयत हैं, उनको तीन क्रियाएँ लगती हैं, वे इस प्रकार—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी और मायाप्रत्यया। जो असंयत होते हैं, उनको चार क्रियाएँ लगती हैं।) वे इस प्रकार- १. आरम्भिकी, २. पारिग्रहिकी, ३. मायाप्रत्यया और ४. अप्रत्याख्यानक्रिया। (पूर्वोक्त) इन तीनों में से जो मिथ्यादृष्टि हैं और जो सम्यग्-मिथ्यादृष्टि हैं, उनको निश्चित रूप से पांच क्रियाएँ लगती हैं, वे इस प्रकार—१. आरम्भिकी, २. पारिग्रहिकी, ३. मायाप्रत्यया, ४. अप्रत्याख्यानक्रिया और ५. मिथ्यादर्शनप्रत्यया। शेष सब निरूपण उसी प्रकार (पूर्ववत् करना चाहिए।)

विवेचन—पृथ्वीकायिकों से लेकर तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों तक की समाहारादि सप्तद्वार प्ररूपणा—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. ११३७ से ११४१ तक) में पृथ्वीकायिकों से लेकर तिर्यंचपंचेन्द्रियों तक आहारादि सप्तद्वारों की प्ररूपणा की गई है।

पृथ्वीकायिकों के अल्पशरीर-महाशरीर—यद्यपि सभी पृथ्वीकायिकों का शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होता है, तथापि आगम में बताया है कि[1] एक पृथ्वीकायिक दूसरे पृथ्वीकायिक से अवगाहना की अपेक्षा से चतुःस्थानपतित है, इत्यादि; तदनुसार वे अपेक्षाकृत महाशरीर और अल्पशरीर सिद्ध होते हैं। जो पृथ्वीकायिक महाशरीर होते हैं, वे महाशरीर होने के कारण लोमाहार से प्रभूत पुद्गलों का आहार करते हैं, उच्छ्वास लेते हैं तथा बार-बार आहार करते हैं और श्वासोच्छ्वास लेते हैं। जो अल्पशरीर होते हैं, वे लघुशरीरी होने से अल्प आहार और अल्प श्वासोच्छ्वास लेते हैं, आहार और उच्छ्वास भी कदाचित् लेते हैं, वह पर्याप्त-अपर्याप्त-अवस्था की अपेक्षा से समझना चाहिए।

पृथ्वीकायिकादि समवेदना वाले क्यों? —सभी पृथ्वीकायिक असंज्ञी अर्थात् मिथ्यादृष्टि अथवा अमनस्क होते हैं। वे असंज्ञीभूत और अनियत वेदना का वेदन करते हैं। तात्पर्य यह है कि मत्त-मूर्च्छित आदि की तरह वेदना का अनुभव करते हुए भी वे नहीं समझ पाते कि यह मेरे पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का परिणाम है, क्योंकि वे असंज्ञी और मिथ्यादृष्टि होते हैं।

मायी का अर्थ—यहां माया का अर्थ केवल मायाकषाय नहीं, किन्तु उपलक्षण से अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्टय है। अतः मायी का अर्थ यहाँ अनन्तानुबन्धी कषायोदयवान् होने से मिथ्यादृष्टि है।[2]

मनुष्य में समाहारादि सप्त द्वारों की प्ररूपणा

११४२. मणूसाणं भंते! सव्वे समाहारा?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं?

गोयमा! मणूसा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—महासरीरा य अप्पसरीरा य। तत्थ णं जे ते

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३३९

(ख) 'पुढविकाइए पुढविकाइयस्स ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए।'

—प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक ३३९ में उद्धृत

२. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३३९

महासरीरा ते णं बहुयराए पोग्गले आहारेंति जाव बहुतराए पोग्गले णीससंति, आहच्च आहारेंति० आहच्च णीससंति। तत्थ णं जे ते अप्पसरीरा ते णं अप्पतराए पोग्गले आहारेंति जाव अप्पतराए पोग्गले णीससंति, अभिक्खणं आहारेंति जाव अभिक्खणं णीससंति, एएणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ मणूसा सव्वे णो समाहारा। सेसं जहा णेरइयाणं (सु. ११२५-३०)। णवरं किरियाहिं मणूसा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मद्दिट्ठी मिच्छद्दिट्ठी सम्मामिच्छद्दिट्ठी। तत्थ णं जे ते सम्मद्दिट्ठी ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—संजया असंजया संजयासंजया। तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सरागसंजया य वीयरागसंजया य. तत्थ णं जे ते वीयरागसंजया ते णं अकिरिया। तत्थ णं जे ते सरागसंजया ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पमत्तसंजया य अपमत्तसंजया य, तत्थ णं जे ते अपमत्तसंजया तेसिं एगा मायावत्तिया किरिया कज्जति, तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया तेसिं दो किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया मायावत्तिया य। तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसिं तिण्णि किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया १ परिग्गहिया २ मायावत्तिया ३। तत्थ णं जे ते असंजया तेसिं चत्तारि किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया १ परिग्गहिया २ मायावत्तिया ३ अपच्चक्खाणकिरिया ४। तत्थ णं जे ते मिच्छद्दिट्ठी जे य सम्मामिच्छद्दिट्ठी तेसिं णेयइयाओ पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया १ परिग्गहिया २ मायावत्तिया ३ अपच्चक्खाणकिरिया ४ मिच्छादंसणवत्तिया ५। सेसं जहा णेरइयाणं।

[११४२ प्र.] भगवन्! मनुष्य क्या सभी समान आहार वाले होते हैं?

[११४२ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[प्र.] भगवन्! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि सब मनुष्य समान आहार वाले नहीं हैं?

[उ.] गौतम! मनुष्य दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—महाशरीर वाले और अल्प-(छोटे-) शरीर वाले। उनमें जो महाशरीर वाले हैं, वे बहुत-से पुद्गलों का आहार करते हैं, यावत् बहुत-से पुद्गलों का निःश्वास लेते हैं तथा कदाचित् आहार करते हैं, यावत् कदाचित् निःश्वास लेते हैं। उनमें जो अल्पशरीर वाले हैं, वे अल्पतर पुद्गलों का आहार करते हैं, यावत् अल्पतर पुद्गलों का निःश्वास लेते हैं; बार-बार आहार लेते हैं, यावत् बार-बार निःश्वास लेते हैं। इस कारण हे गौतम! ऐसा कहा जाता है कि सभी मनुष्य समान आहार वाले नहीं हैं। शेष सब वर्णन (सू. ११२५ से ११३० तक में उक्त) नैरयिकों (के कर्मादि छह द्वारों के निरूपण) के अनुसार (समझ लेना चाहिए।) किन्तु क्रियाओं की अपेक्षा से (नारकों से किञ्चित्) विशेषता है। (वह इस प्रकार है—) मनुष्य तीन प्रकार के कहे गए हैं, यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि। इनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे तीन प्रकार के कहे गए हैं, जैसे कि—संयत, असंयत और संयतासंयत। जो संयत हैं, वे दो प्रकार के कहे हैं—सरागसंयत और वीतरागसंयत। इनमें जो वीतरागसंयत हैं, वे अक्रिय (क्रियारहित) होते हैं। उनमें जो सरागसंयत होते हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत। इनमें जो अप्रमत्तसंयत होते हैं, उनमें एक मायाप्रत्यया क्रिया ही होती है। जो प्रमत्तसंयत होते हैं, उनमें दो क्रियाएँ होती हैं, आरम्भिकी और मायाप्रत्यया। उनमें जो संयतासंयत होते हैं, उनमें तीन क्रियाएँ पाई जाती हैं, यथा—१. आरम्भिकी, २. पारि-

ग्रहिकी और ३. मायाप्रत्यया। उनमें जो असंयत हैं, उनमें चार क्रियाएँ पाई जाती हैं, यथा—१. आरम्भिकी, २. पारिग्रहिकी, ३. मायाप्रत्यया और ४. अप्रत्याख्यानक्रिया; किन्तु उनमें जो मिथ्यादृष्टि हैं, अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं, उनमें निश्चितरूप से पांचों क्रियाएँ होती हैं, यथा—१. आरम्भिकी, २. पारिग्रहिकी, ३. मायाप्रत्यया, ४. अप्रत्याख्यानक्रिया और ५. मिथ्यादर्शन-प्रत्यया। शेष (आयुष्य का) कथन (उसी प्रकार समझ लेना चाहिए,) जैसा नारकों का (किया गया है।)

विवेचन—मनुष्यों में समाहारादि सप्त द्वारों की प्ररूपणा प्रस्तुत सूत्र (११४२) में मनुष्य में आहारादि सप्त द्वारों की प्ररूपणा की गई है।

महाशरीर मनुष्यों में आहार एवं उच्छ्वास-निःश्वास-विषयक विशेषता—सामान्यतया महाशरीर मनुष्य बहुतर पुद्गलों का आहार परिणमन तथा उच्छ्वासरूप में ग्रहण और निःश्वासरूप में त्याग करते हैं; किन्तु देवकुरु आदि यौगलिक महाशरीर मनुष्य कवलाहार के रूप में कदाचित् ही आहार करते हैं। उनका[1] आहार अष्टमभक्त से होता है, अर्थात्—वे बीच में तीन-तीन दिन छोड़ कर आहार करते हैं। वे कभी-कभी ही उच्छ्वास और निःश्वास लेते हैं, क्योंकि वे शेष मनुष्यों की अपेक्षा अत्यन्त सुखी होते हैं, इस कारण उनका उच्छ्वास-निश्वास कादाचित्क (कभी-कभी) होता है।

अल्पशरीर मनुष्यों के बार-बार आहार एवं उच्छ्वास का कारण—अल्पशरीर वाले मनुष्य बार-बार अल्प आहार करते रहते हैं, क्योंकि छोटे बच्चे अल्पशरीर वाले होते हैं, वे बार-बार थोड़ा-थोड़ा आहार करते देखे जाते हैं तथा अल्पशरीर वाले सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में सतत आहार सम्भव है; अल्पशरीर वालों में उच्छ्वास-निःश्वास भी बार-बार देखा जाता है, क्योंकि उनमें प्रायः दुःख की बहुलता होती है।

पूर्वोत्पन्न मनुष्यों में शुद्ध वर्णादि—जो मनुष्य पूर्वोत्पन्न होते हैं, उनमें तारुण्य के कारण शुद्ध वर्ण आदि होते हैं।

सरागसंयत एवं वीतरागसंयत का स्वरूप—जिनके कषायों का उपशम या क्षय नहीं हुआ है, किन्तु जो संयमी हैं, वे सरागसंयमी कहलाते हैं, किन्तु जिनके कषायों का सर्वथा उपशम या क्षय हो चुका है, वे वीतरागसंयमी कहलाते हैं। वीतरागसंयमी में वीतरागत्व के कारण आरम्भादि कोई क्रिया नहीं होती। सरागसंयतों में जो अप्रमत्त संयमी होते हैं, उनमें एकमात्र मायाप्रत्यया और उसमें भी केवल संज्वलनमायाप्रत्यया क्रिया होती है, क्योंकि वे कदाचित् प्रवचन (धर्मसंघ) की बदनामी को दूर करने एवं शासन की रक्षा करने में प्रवृत्त होते हैं। उनका कषाय सर्वथा क्षीण नहीं हुआ है। किन्तु जो प्रमत्तसंयत होते हैं, वे प्रमादयोग के कारण आरम्भ में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए उनमें आरम्भिकी क्रिया सम्भव है तथा क्षीणकषाय न होने के कारण उनमें मायाप्रत्यया क्रिया भी समझ लेनी चाहिए। शेष सब वर्णन स्पष्ट है।[2]

वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिकों की आहारादि विषयक प्ररूपणा

११४३. वाणमंतराणं जहा असुरकुमाराणं (सु. ११३१-३५)।

१. 'अट्ठमभत्तस्स आहारो' इति वचनात्।

२. प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४०-३४१

[११४३] जैसे असुरकुमारों की (आहारादि की वक्तव्यता सू. ११३१ से ११३५ तक में कही है,) उसी प्रकार वाणव्यन्तर देवों की (आहारादि संबंधी वक्तव्यता कहनी चाहिए।)

११४४. एवं जोइसिय-वेमाणियाण वि। णवरं ते वेदणाए दुविहा पण्णत्ता, तं जहा माइमिच्छद्दिट्ठीउववण्णगा य अमाइसम्मद्दिट्ठीउववण्णगा य। तत्थ णं जे ते माइमिच्छद्दिट्ठीउववण्णगा ते णं अप्पवेदणतरागा। तत्थ णं जे ते अमाइसम्मद्दिट्ठीउववण्णगा ते णं महावेदणतरागा, सेएणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ०। सेसं तहेव।

[११४४] इसी प्रकार ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के आहारादि के विषय में भी कहना चाहिए। विशेष यह है कि वेदना की अपेक्षा वे दो प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार—मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक। उनमें जो मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक हैं, वे अल्पतर वेदना वाले हैं और जो अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक हैं, वे महावेदना वाले हैं। इसी कारण हे गौतम! सब वैमानिक समान वेदना वाले नहीं हैं। शेष (आहार, वर्ण, कर्म आदि संबंधी सब कथन) पूर्ववत् (असुरकुमारों और वाणव्यन्तरों के समान) समझ लेना चाहिए।

विवेचन वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवों की आहारादिविषयक प्ररूपणा— प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. ११४३-११४४) में वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की आहारादिविषयक वक्तव्यता असुरकुमारों के अतिदेशपूर्वक कही गई है।

वाणव्यन्तरों की समाहारादि वक्तव्यता—असुरकुमार दो प्रकार के होते हैं—संज्ञीभूत और असंज्ञीभूत। जो संज्ञीभूत होते हैं, वे महावेदना वाले और जो असंज्ञीभूत होते हैं, वे अल्पवेदना वाले; इत्यादि कथन किया गया है, उसी प्रकार वाणव्यन्तरों के विषय में भी जानना चाहिए। व्याख्याप्रज्ञप्ति में कहा है—'असंज्ञी जीवों की उत्पत्ति देवगति में हो तो जघन्य भवनवासियों में और उत्कृष्ट वाणव्यन्तरों में होती है।'[1] अतः असुरकुमारों में असंज्ञी जीवों की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार जो युक्ति असुरकुमारों के विषय में कही है, वही यहाँ भी जान लेनी चाहिए।

असुरकुमारों से ज्योतिष्क, वैमानिकों की वेदना में अन्तर जैसे असुरकुमारों में कोई असंज्ञी भूत और कोई संज्ञीभूत कहे हैं, वैसे ही ज्योतिष्कों और वैमानिकों में उनके स्थान में मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक कहना चाहिए, क्योंकि ज्योतिष्कनिकाय और वैमानिकनिकाय में असंज्ञी जीव उत्पन्न नहीं होते। इसमें युक्ति यह है कि असंज्ञियों की आयु की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग की होती है, जबकि ज्योतिष्कों की जघन्यस्थिति भी पल्योपम के असंख्येयभाग की होती है, और वैमानिकों की एक पल्योपम की है। अतएव यह निश्चित है कि उनमें असंज्ञियों का उत्पन्न होना संभव नहीं है।[2]

सलेश्य चौवीसदण्डकवर्ती जीवों की आहारादि सप्तद्वार-प्ररूपणा

११४५. सलेस्सा णं भंते! णेरइया सव्वे समाहारा समसरीरा समुस्सासणिस्सासा? सव्वेसु पुच्छा।

---

१. 'असण्णीणं जहन्नेणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं वाणमंतरेसु।' —व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक १, उद्देशक २

२. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४१

एवं जहा ओहिओ गमओ (सु. ११२४-४४) भणिओ तहा सलेस्सगमओ वि निरवसेसो भाणियव्वो जाव वेमाणिया।

[११४५ प्र.] भगवन् ! सलेश्य (लेश्या वाले) सभी नारक समान आहार वाले, समान शरीर वाले और समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले हैं ? (इसी प्रकार आगे के द्वारों के विषय में भी) वही (पूर्ववत्) पृच्छा है, (इसका क्या समाधान ?)

[११४५ उ.] (गौतम !) इस प्रकार जैसे सामान्य (समुच्चय नारकों का—औधिक) गम (सू. ११२४ से ११४४ तक में) कहा है, उसी प्रकार सभी सलेश्य (नारकों के सप्तद्वारों के विषय का) समस्त गम यावत् वैमानिकों तक कहना चाहिए।

विवेचन—सलेश्य चौवीसदण्डकवर्ती जीवों की आहारादि सप्तद्वार-प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र (११४५) में लेश्यावाले नारकों से लेकर वैमानिकों तक समाहारादि सात द्वारों के विषय में प्ररूपणा की गई है।

कृष्णादिलेश्याविशिष्ट चौवीस दण्डकों में समाहारादि सप्तद्वार-प्ररूपणा

११४६. कण्हलेस्सा णं भंते ! णेरइया सव्वे समाहारा समसरीरा समुस्सासणिस्सासा पुच्छा ?

गोयमा ! जहा ओहिया (सु. ११२४-३०)। णवरं णेरइया वेदणाए माइमिच्छद्दिट्ठिउववण्णगा य अमाइसम्मद्दिट्ठिउववण्णगा य भाणियव्वा। सेसं तहेव जहा ओहियाणं।

[११४६ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या वाले सभी नैरयिक समान आहार वाले, समान शरीर वाले और समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले होते हैं। इत्यादि प्रश्न है।

[११४६ उ.] गौतम ! जैसे (सू. ११२४ से ११३० तक में) सामान्य (औधिक) नारकों का आहारादिविषयक कथन किया गया है, उसी प्रकार कृष्णलेश्या वाले नारकों का कथन भी समझ लेना चाहिए। विशेषता इतनी है कि वेदना की अपेक्षा नैरयिक मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक, (ये दो प्रकार के) कहने चाहिए। शेष (कर्म, वर्ण, लेश्या, क्रिया और आयुष्य आदि के विषय में) समुच्चय नारकों के विषय में जैसा कहा है, उसी प्रकार (यहाँ भी समझ लेना चाहिए।)

११४७. असुरकुमारा जाव वाणमंतरा एते जहा ओहिया (सु. ११३१-४३)। णवरं मणूसाणं किरियाहिं विसेसो, जाव तत्थ णं जे ते सम्मद्दिट्ठी ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—संजया असंजया संजयासंजया य, जहा ओहियाणं (सु. ११४२)।

[११४७] (कृष्णलेश्यायुक्त) असुरकुमारों से (लेकर नागकुमार आदि भवनपति, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय, मनुष्य और) यावत् वाणव्यन्तर के आहारादि सप्त द्वारों के विषय में उसी प्रकार कहना चाहिए, जैसा (सू. ११३१ से ११४३ तक में) समुच्चय असुरकुमारादि के विषय में कहा गया है। मनुष्यों में (समुच्चय से) क्रियाओं की अपेक्षा कुछ विशेषता है। जिस प्रकार समुच्चय मनुष्यों का क्रियाविषयक कथन सूत्र ११४२ में किया गया है, उसी प्रकार कृष्णलेश्यायुक्त मनुष्यों का कथन भी यावत्—"उनमें से जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे तीन प्रकार

के कहे गए हैं, वे इस प्रकार—संयत, असंयत और संयतासंयत"; (इत्यादि सब कथन पूर्ववत् करना चाहिए।)

११४८. जोइसिय-वेमाणिया आइल्लिगासु तिसु लेस्सासु ण पुच्छिज्जंति।

[११४८] ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विषय में प्रारम्भ की तीन लेश्याओं (कृष्ण, नील और कापोत लेश्या) को लेकर प्रश्न नहीं करना चाहिए।

११४९. एवं जहा किण्हलेस्सा विचारिया तहा णीललेस्सा विचारियव्वा।

[११४९] इसी प्रकार जैसे कृष्णलेश्या वालों (चौवीसदण्डकवर्ती जीवों) का विचार किया है, उसी प्रकार नीललेश्या वालों का भी विचार कर लेना चाहिए।

११५०. काउलेस्सा णेरइएहिंतो आरब्भ जाव वाणमंतरा। णवरं काउलेस्सा णेरइया वेदणाए जहा ओहिया (सु. ११२८)।

[११५०] कापोतलेश्या वाले नैरयिकों से प्रारम्भ करके (दस भवनपति, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रियतिर्यञ्च, मनुष्य एवं) वाणव्यन्तरों तक का सप्तद्वारादिविषयक कथन भी इसी प्रकार समझना चाहिए। विशेषता यह है कि कापोतलेश्या वाले नैरयिकों का वेदना के विषय में प्रतिपादन (सू. ११२८ में उक्त) समुच्चय (औधिक नारकों) के समान (जानना चाहिए।)

११५१. तेउलेस्साणं भंते! असुरकुमाराणं ताओ चेव पुच्छाओ।

गोयमा! जहेव ओहिया तहेव (सु. ११३१-३५)। णवरं वेदणाए जहा जोतिसिया (सु. ११४४)।

[११५१ प्र.] भगवन्! तेजोलेश्या वाले असुरकुमारों के समान आहारादि सप्तद्वारविषयक प्रश्न उसी प्रकार हैं, इनका क्या समाधान है?

[११५१ उ.] गौतम! जैसे (लेश्यादिविशेषणरहित) समुच्चय असुरकुमारों का आहारादि-विषयक कथन (सू. ११३१ से ११३५ तक में) किया है, उसी प्रकार तेजोलेश्याविशिष्ट असुर-कुमारों की आहारादिसम्बन्धी वक्तव्यता समझ लेनी चाहिए। विशेषता यह है कि वेदना के विषय में जैसे (सू. ११४४ में) ज्योतिष्कों की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार यहाँ भी कहनी चाहिए।

११५२. पुढवि-आउ-वणस्सइ-पंचेंदियतिरिक्ख-मणूसा जहा ओहिया (११३७-३९, ११४१-४२) तहेव भाणियव्वा। णवरं मणूसा किरियाहिं जे संजया ते पमत्ता य अपमत्ता य भाणियव्वा, सरागा वीयरागा णत्थि।

[११५२] (तेजोलेश्या वाले) पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, वनस्पतिकायिक, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और मनुष्यों का कथन उसी प्रकार करना चाहिए, जिस प्रकार (सू. ११३७ से ११३९ तक और ११४१-११४२) औधिक सूत्रों में किया गया है। विशेषता यह है कि क्रियाओं की अपेक्षा से

तेजोलेश्या वाले मनुष्यों के विषय में कहना चाहिए कि जो संयत हैं, वे प्रमत्त और अप्रमत्त दो प्रकार के हैं तथा सरागसंयत और वीतरागसंयत (ये दो भेद तेजोलेश्या वाले मनुष्यों में) नहीं होते।

११५३. वाणमंतरा तेउलेस्साए जहा असुरकुमारा (सु. ११५१)।

[११५३] तेजोलेश्या की अपेक्षा से वाणव्यन्तरों का कथन (सू. ११५१ में उक्त) असुरकुमारों के समान समझना चाहिए।

११५४. एवं जोतिसिय-वेमाणिया वि। सेसं तं चेव।

[११५४] इसी प्रकार तेजोलेश्याविशिष्ट ज्योतिष्क और वैमानिकों के विषय में भी पूर्ववत् कहना चाहिए। शेष आहारादि पदों के विषय में पूर्वोक्त असुरकुमारों के समान ही समझना चाहिए।

११५५. एवं पम्हलेस्सा वि भाणियव्वा, णवरं जेसिं अत्थि। सुक्कलेस्सा वि तहेव जेसिं अत्थि। सव्वं तहेव जहा ओहियाणं गमओ। णवरं पम्हलेस्स-सुक्कलेस्साओ पंचेंदियतिरिक्खजोणिय-मणूस-वेमाणियाणं चेव, ण सेसाणं ति।

॥ पण्णवणाए लेस्सापए पढमो उद्देसओ समत्तो ॥

[११५५] इसी (तेजोलेश्या वालों की) तरह पद्मलेश्या वालों के लिये भी (आहारादि के विषय में) कहना चाहिए। विशेष यह है कि जिन जीवों में पद्मलेश्या होती है, उन्हीं में उसका कथन करना चाहिए। शुक्ललेश्या वालों का आहारादिविषयक कथन भी इसी प्रकार है, किन्तु उन्हीं जीवों में कहना चाहिए, जिनमें वह होती है तथा जिस प्रकार (विशेषणरहित) औधिकों का गम (पाठ) कहा है, उसी प्रकार (पद्म-शुक्ललेश्याविशिष्ट जीवों का आहारादिविषयक) सब कथन करना चाहिए। इतना विशेष है कि पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों, मनुष्यों और वैमानिकों में ही होती है, शेष जीवों में नहीं।

विवेचन—कृष्णादिलेश्याविशिष्ट चौवीस दण्डकों में समाहारादि सप्तद्वार-प्ररूपणा—प्रस्तुत दस सूत्रों (सू. ११४६ से ११५५ तक) में कृष्णादिलेश्याओं से युक्त नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक के समाहार आदि सप्तद्वारों के विषय में प्ररूपणा की गई है।

कृष्णलेश्याविशिष्टनैरयिकों के नौ पदों के विषय में—जैसे विशेषण रहित सामान्य (औधिक) नारकों का आहार, शरीर, उच्छ्वास-निःश्वास, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया और उपपात (अथवा आयुष्य), इन नौ द्वारों की अपेक्षा से कथन पहले किया गया है, वैसे ही कृष्णलेश्या-विशिष्ट नैरयिकों के विषय में कथन करना चाहिए। किन्तु सामान्य नारकों से कृष्णलेश्याविशिष्ट नारकों में वेदना के विषय में कुछ विशेषता है, वह इस प्रकार—वेदना की अपेक्षा नैरयिक दो प्रकार के हैं—मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक, किन्तु औधिक नारकसूत्र की तरह असंज्ञीभूत और संज्ञीभूत नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सिद्धान्तानुसार असंज्ञी जीव प्रथम पृथ्वी में कृष्णलेश्या वाले नारक नहीं होते। पंचम आदि जिस नरकपृथ्वी में कृष्णलेश्या पाई जाती है, उसमें असंज्ञी जीव उत्पन्न नहीं होते। अतएव कृष्णलेश्यावान् नारकों में संज्ञीभूत और असंज्ञीभूत, ये भेद नहीं होते। इनमें मायी और मिथ्यादृष्टि नारक महावेदना वाले होते हैं, क्योंकि वे (नारक)

अत्यन्त उत्कृष्ट अशुभ स्थिति का उपार्जन करते हैं। मायी मिथ्यादृष्टि नारकों को उस अत्युत्कृष्ट अशुभ स्थिति में महावेदना होती है, इसके विपरीत अन्य अमायी सम्यग्दृष्टि नारकों को अपेक्षाकृत अल्प वेदना होती है। इसके अतिरिक्त शेष आहारादि पदों के विषय में पूर्वोक्त समुच्चय नारकों के समान ही कृष्णलेश्याविशिष्ट नारकों का कथन करना चाहिए।

कृष्णलेश्याविशिष्ट मनुष्यों की क्रियाविषयक प्ररूपणा—इसमें समुच्चय से कुछ विशेषता है। वस्तुतः कृष्णलेश्याविशिष्ट मनुष्य सम्यग्दृष्टि आदि के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इनमें से सम्यग्दृष्टि मनुष्यों के तीन प्रकार हैं संयमी, असंयमी और संयमासंयमी। जैसे—औधिक (सामान्य) मनुष्यों के विषय में इन तीनों की क्रियाओं का कथन किया गया है, वैसे ही कृष्णलेश्याविशिष्ट मनुष्यों के विषय में भी कहना चाहिए। जैसे कि वीतरागसंयत मनुष्यों में कोई क्रिया नहीं होती। सरागसंयत मनुष्यों में दो क्रियाएँ होती हैं आरम्भिकी और मायाप्रत्यया। कृष्णलेश्या प्रमत्तसंयतों में होती है, अप्रमत्तसंयतों में नहीं। सभी प्रकार के आरम्भ प्रमादयोग में होते हैं, अतः प्रमत्तसंयतों में आरम्भिकी क्रिया होती है और क्षीणकषाय न होने से उनमें मायाप्रत्यया क्रिया भी होती है। किन्तु जो संयतासंयत हैं, उनमें आरम्भिकी, पारिग्रहिकी और मायाप्रत्यया, ये तीन तथा असंयत मनुष्य में इन तीनों के उपरांत चौथी अप्रत्याख्यानक्रिया भी पाई जाती है।[1]

कापोतलेश्या वाले नारकों का वेदनासूत्र—कापोतलेश्याविशिष्ट नारकों का वेदनाविषयक कथन समुच्चय नारकों के समान समझना चाहिए, यथा कापोतलेश्याविशिष्ट नारक दो प्रकार के कहे हैं—संज्ञीभूत और असंज्ञीभूत, इत्यादि प्रकार से समझना चाहिए। असंज्ञी जीव भी प्रथम नरक-पृथ्वी में उत्पन्न होता है, जहाँ कि कापोतलेश्या का सद्भाव है।[2]

तेजोलेश्याविशिष्ट असुरकुमारादि की वक्तव्यता—सिद्धान्तानुसार नारक, तेजस्कायिक, वायुकायिक तथा विकलेन्द्रिय जीवों में तेजोलेश्या नहीं होती, इसलिए तेजोलेश्या की अपेक्षा से सर्वप्रथम असुरकुमारों का कथन किया है। तेजोलेश्याविशिष्ट असुरकुमारों का वेदना के सिवाय शेष आहारादि षट्द्वारों के विषय में कथन औधिक अर्थात्—समुच्चय असुरकुमारों के समान समझना चाहिए। इनके वेदनासूत्र के विषय में ज्योतिष्क देवों के वेदनासूत्र के समान समझना चाहिए। अर्थात्—इसकी अपेक्षा से असुरकुमारों के संज्ञीभूत, असंज्ञीभूत ये दो भेद न करके मायि-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायि-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक, ये दो भेद कहने चाहिए, क्योंकि असंज्ञी जीवों की तेजोलेश्यावालों में उत्पत्ति असंभव है।

तेजोलेश्याविशिष्ट मनुष्यों का क्रियासूत्र—क्रियाओं की अपेक्षा से संयत मनुष्य दो प्रकार के कहने चाहिए—प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत। इन दोनों में तेजोलेश्या सम्भव है। सरागसंयत और वीतरागसंयत ये भेद तेजोलेश्याविशिष्ट मनुष्यों में नहीं करने चाहिए, क्योंकि वीतरागसंयतों में तेजोलेश्या सम्भव नहीं है। वह सरागसंयतों में पाई जाती है।

---

१. (क) 'असन्नी खलु पढमं' —प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४२ में उद्धृत
(ख) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४२

२. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४३

तेजोलेश्यायुक्त वाणव्यन्तरों का कथन—इनका कथन असुरकुमारों के समान समझना चाहिए। ऐसी स्थिति में तेजोलेश्याविशिष्ट वाणव्यन्तरों के संज्ञीभूत और असंज्ञीभूत, यों दो भेद न करके मायि-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक, और अमायि-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक, ये दो भेद कहने चाहिए, क्योंकि तेजोलेश्यावाले वाणव्यन्तरों में[1] असंज्ञीजीवों का उत्पाद नहीं होता।

पद्मलेश्या-शुक्ललेश्या-विशिष्ट जीवों के आहारादिसूत्र—इन दोनों लेश्याओं वाले जीवों के आहारादिसूत्र तेजोलेश्या के समान समझने चाहिए। विशेषतः यह है कि जिन जीवों में ये दो लेश्याएँ पाई जाती हों, उन्हीं के विषय में ये सूत्र कहने चाहिए, अन्य जीवों के विषय में नहीं। ये दोनों लेश्याएँ पंचेन्द्रियतिर्यंचों, मनुष्यों और वैमानिक देवों में ही पाई जाती हैं, शेष जीवों में नहीं।[2]

॥ सत्तरहवाँ लेश्यापद : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४३

२. वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४३

सत्तरसमं लेस्सापयं : बीओ उद्देसओ

सत्तरहवाँ लेश्यापद : द्वितीय उद्देशक

लेश्या के भेदों का निरूपण

११५६. कति णं भंते ! लेस्साओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! छल्लेस्साओ पण्णत्ताओ । तं जहा—कण्हलेस्सा १ णीललेस्सा २ काउलेस्सा ३ तेउलेस्सा ४ पम्हलेस्सा ५ सुक्कलेस्सा ६ ।

[११५६ प्र.] भगवन् ! लेश्याएँ कितनी कही गई हैं ?

[११५६ उ.] गौतम ! लेश्याएँ छह कही गई हैं। वे इस प्रकार—(१) कृष्णलेश्या, (२) नीललेश्या, (३) कापोतलेश्या, (४) तेजोलेश्या, (५) पद्मलेश्या और (६) शुक्ललेश्या।

विवेचन—लेश्या के भेदों का निरूपण—प्रस्तुत सूत्रों में लेश्या के कृष्ण आदि छह भेदों का निरूपण किया गया है।

कृष्णलेश्या आदि के शब्दार्थ—कृष्णद्रव्यरूप अथवा कृष्णद्रव्य-जनित लेश्या कृष्णलेश्या कहलाती है। इसी प्रकार नीललेश्या आदि का शब्दार्थ भी समझ लेना चाहिए।[1]

चौवीस दण्डकों में लेश्यासम्बन्धी प्ररूपणा

११५७. णेरइयाणं भंते ! कति लेस्साओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! तिण्णि । तं जहा—किण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेस्सा ।

[११५७ प्र.] नैरयिकों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[११५७ उ.] गौतम ! (उनमें) तीन लेश्याएँ होती हैं। वे इस प्रकार—(१) कृष्णलेश्या, (२) नीललेश्या और (३) कापोतलेश्या।

११५८. तिरिक्खजोणियाणं भंते ! कति लेस्साओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! छल्लेस्साओ । तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

[११५८ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चयोनिक जीवों में कितनी लेश्याएँ कही गई हैं ?

[११५८ उ.] गौतम ! (उनमें) छह लेश्याएँ होती हैं, वे इस प्रकार—कृष्णलेश्या से लेकर शुक्ललेश्या तक।

११५९. एगिंदियाणं भंते ! कति लेस्साओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! चत्तारि लेस्साओ । तं जहा—कण्हलेस्सा जाव तेउलेस्सा ।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४४

[११५९ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीवों में कितनी लेश्याएँ कही हैं ?

[११५९ उ.] गौतम ! (उनमें) चार लेश्याएँ होती हैं। वे इस प्रकार कृष्णलेश्या से तेजो-लेश्या तक।

११६०. पुढविक्काइयाणं भंते ! कति लेस्साओ ?

गोयमा ! एवं चेव।

[११६० प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[११६० उ.] गौतम ! इनमें भी इसी प्रकार (चार लेश्याएँ समझनी चाहिए।)

११६१. आउ-वणस्सइकाइयाण वि एवं चेव।

[११६१] इसी प्रकार अप्कायिकों और वनस्पतिकायिकों में भी चार लेश्याएँ (जाननी चाहिए।)

११६२. तेउ-वाउ-बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियाणं जहा णेरइयाणं (सु. ११५७)।

[११६२] तेजस्कायिक, वायुकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों में (सू. ११५७ में उक्त) नैरयिकों की तरह (तीन लेश्याएँ होती हैं।)

११६३. [१] पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?

गोयमा ! छल्लेस्साओ, कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा।

[११६३-१ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[११६३-१ उ.] गौतम ! (उनमें) छह लेश्याएँ होती हैं, यथा—कृष्णलेश्या से शुक्ललेश्या तक।

[२] सम्मुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?

गोयमा ! जहा णेरइयाणं (सु. ११५७)।

[११६३-२ प्र.] भगवन् ! सम्मूर्च्छिम-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीवों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[११६३-२ उ.] गौतम ! नारकों के समान (प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ) समझनी चाहिए।

[३] गब्भवक्कंतियपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?

गोयमा ! छल्लेसाओ, तं जहा --कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा।

[११६३-३ प्र.] भगवन् ! गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[११६३-३ उ.] गौतम ! (उनमें) छह लेश्याएँ होती हैं—कृष्णलेश्या से शुक्ललेश्या तक।

[४] तिरिक्खजोणिणीणं पुच्छा ?

गोयमा ! छल्लेसाओ एताओ चेव।

[११६३-४ प्र.] भगवन् ! गर्भज तिर्यञ्चयोनिक स्त्रियों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[११६३-४ उ.] गौतम ! ये ही (कृष्ण आदि) छह लेश्याएँ होती हैं।

११६४. [१] मणुस्साणं पुच्छा ?

गोयमा ! छल्लेसाओ एताओ चेव।

[११६४-१ प्र.] भगवन् ! मनुष्यों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[११६४-१ उ.] गौतम ! ये ही छह लेश्याएँ होती हैं।

[२] सम्मुच्छिममणुस्साणं पुच्छा ?

गोयमा ! जहा णेरइयाणं (सु. ११५७)।

[११६४-२ प्र.] भगवन् ! सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[११६४-२ उ.] गौतम ! जैसे नारकों में प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ कही हैं, वैसे ही सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में भी होती हैं।

[३] गब्भवक्कंतियमणूसाणं पुच्छा ?

गोयमा ! छल्लेसाओ, तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेसा।

[११६४-३ प्र.] भगवन् ! गर्भज मनुष्यों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[११६४-३ उ.] गौतम ! (उनमें) छह लेश्याएँ होती हैं—कृष्णलेश्या से लेकर शुक्ललेश्या तक।

[४] मणुस्सीणं पुच्छा ?

गोयमा ! एवं चेव।

[११६४-४ प्र.] भगवन् ! गर्भज मानुषी (स्त्री) में कितनी लेश्याएँ कही हैं ?

[११६४-४ उ.] गौतम ! (जैसे गर्भज मनुष्यों में छह लेश्याएँ होती हैं) इसी प्रकार (गर्भज स्त्रियों में भी) छह लेश्याएँ समझनी चाहिए।

११६५. [१] देवाणं पुच्छा ?

गोयमा ! छ एताओ चेव।

[११६५-१ प्र.] भगवन् ! देवों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[११६५-१ उ.] गौतम ! ये ही छह लेश्याएँ होती हैं।

[२] देवीणं पुच्छा ?

गोयमा ! चत्तारि। तं जहा— कण्हलेस्सा जाव तेउलेस्सा।

[११६५-२ प्र.] भगवन् ! देवियों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[११६५-२ उ.] गौतम ! (उनमें) चार लेश्याएँ होती हैं, वे इस प्रकार—कृष्णलेश्या से लेकर तेजोलेश्या तक।

११६६. [१] भवणवासीणं भंते ! देवाणं पुच्छा ?
गोयमा ! एवं चेव ।

[११६६-१ प्र.] भगवन् ! भवनवासी देवों में कितनी लेश्याएँ कही गई हैं ?
[११६६-१ उ.] गौतम ! इसी प्रकार (पूर्ववत्) इनमें चार लेश्याएँ (होती हैं ।)

[२] एवं भवणवासिणीण वि ।

[११६६-२] इसी प्रकार भवनवासी देवियों में भी चार लेश्याएँ समझनी चाहिए ।

११६७. [१] वाणमंतरदेवाणं पुच्छा ?
गोयमा ! एवं चेव ।

[११६७-१ प्र.] भगवन् ! वाणव्यन्तर देवों में कितनी लेश्याएँ कही हैं ?
[११६७-१ उ.] गौतम ! इसी प्रकार चार लेश्याएँ (समझनी चाहिए ।)

[२] एवं वाणमंतरीण वि ।

[११६७-२] वाणव्यन्तर देवियों में भी ये ही चार लेश्याएँ समझनी चाहिए ।

११६८. [१] जोइसियाणं पुच्छा ?
गोयमा ! एगा तेउलेस्सा ।

[११६८-१ प्र.] ज्योतिष्क देवों के सम्बन्ध में प्रश्न है ?
[११६८-१ उ.] गौतम ! इनमें एकमात्र तेजोलेश्या होती है ।

[२] एवं जोइसिणीण वि ।

[११६८-२] इसी प्रकार ज्योतिष्क देवियों के विषय में (जानना चाहिए ।)

११६९. [१] वेमाणियाणं पुच्छा ?
गोयमा ! तिण्णि । तं जहा तेउलेस्सा पम्हलेस्सा सुक्कलेस्सा ।

[११६९-१ प्र.] भगवन् ! वैमानिक देवों में कितनी लेश्याएँ हैं ?
[११६९-१ उ.] गौतम ! (उनमें) तीन लेश्याएँ हैं—१. तेजोलेश्या, २. पद्मलेश्या और ३. शुक्ललेश्या ।

[२] वेमाणिणीणं पुच्छा ?
गोयमा ! एगा तेउलेसा ।

[११६९-२ प्र.] वैमानिक देवियों की लेश्या सम्बन्धी पृच्छा है ?
[११६९-२ उ.] गौतम ! उनमें एकमात्र तेजोलेश्या होती है ।

विवेचन चौवीस दण्डकों में लेश्यासम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत तेरह सूत्रों में नारक से

वैमानिक देवियों पर्यन्त समस्त संसारी जीवों में से किसमें कितनी लेश्याएँ पाई जाती हैं ?, यह प्रतिपादन किया है।

सम्बन्धित संग्रहणी गाथायें इस प्रकार हैं—

किण्हानीला काऊ तेऊलेसा य भवणवंतरिया।
जोइस-सोहम्मीसाण तेऊलेसा मुणेयव्वा ॥ १ ॥
कप्पे सणंकुमारे माहिंदे चेव बंभलोए य।
एएसु पम्हलेसा, तेण परं सुक्कलेसा उ ॥ २ ॥
पुढवी-आऊ-वणस्सइ-बायर-पत्तेय लेस चत्तारि।
गब्भय-तिरिय-नरेसु छल्लेसा, तिण्णि सेसाणं ॥ ३ ॥

संग्रहणीगाथार्थ—भवनवासियों और व्यन्तर देवों में कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या होती हैं। ज्योतिष्कों तथा सौधर्म और ईशान देवों में केवल तेजोलेश्या होती है। सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक में पद्मलेश्या और उनसे आगे के कल्पों में शुक्ललेश्या होती है। बादर पृथ्वीकाय, अप्काय और प्रत्येक वनस्पतिकाय में प्रारम्भ की चार लेश्याएँ, गर्भज तिर्यञ्चों और मनुष्यों में छह लेश्याएँ और शेष जीवों में प्रथम की तीन लेश्याएँ होती हैं।[1]

सलेश्य अलेश्य जीवों का अल्पबहुत्व

११७०. एतेसि णं भंते ! सलेस्साणं जीवाणं कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साणं अलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४[2] ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा संखेज्जगुणा, तेउलेस्सा संखेज्जगुणा, अलेस्सा अणंतगुणा, काउलेस्सा अणंतगुणा, णीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, सलेस्सा विसेसाहिया।

[११७० प्र.] भगवन् ! इन सलेश्य, कृष्णलेश्या से लेकर शुक्ललेश्या तक के और अलेश्य जीवों में कौन, किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११७० उ.] गौतम ! सबसे थोड़े जीव शुक्ललेश्या वाले हैं, (उनसे) पद्मलेश्या वाले संख्यातगुणे हैं, (उनसे) तेजोलेश्या वाले संख्यातगुणे हैं, (उनसे) अलेश्य अनन्तगुणे हैं, उनसे कापोतलेश्या वाले अनन्तगुणे हैं, उनसे नीललेश्या वाले विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाले विशेषाधिक हैं और सलेश्य उनसे भी विशेषाधिक हैं।

विवेचन सलेश्य-अलेश्य आदि जीवों का अल्पबहुत्व—प्रस्तुत सूत्र में सलेश्य, कृष्णलेश्या से लेकर शुक्ललेश्या वाले जीवों और अलेश्य जीवों के अल्पबहुत्व का विचार किया गया है।

अल्पबहुत्व की समीक्षा—शुक्ललेश्या वाले सबसे कम इसलिए कहे गए हैं कि शुक्ललेश्या

---

१. प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४४

२. जहाँ भी 'अप्पा वा' के आगे '४' का अंक है, वहाँ वह 'बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा' इन शेष तीनों पदों सहित चार पदों का सूचक है।

कतिपय पंचेन्द्रियतिर्यंचों में, मनुष्यों में और लान्तक आदि कल्पों के देवों में ही पाई जाती है। उनकी अपेक्षा संख्यातगुणे अधिक पद्मलेश्या वाले जीव कहे हैं, क्योंकि वह पंचेन्द्रियतिर्यंचों में, मनुष्यों में तथा सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक नामक कल्पों में पाई जाती है। उनसे संख्यातगुणे अधिक तेजोलेश्या वाले जीव इसलिए कहे गए हैं कि तेजोलेश्या बादर पृथ्वीकायिकों, बादर अप्कायिकों, प्रत्येक वनस्पतिकायिकों में तथा पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में, मनुष्यों में, भवनपति, वाणव्यन्तर ज्योतिष्क, सौधर्म और ईशान देवों में पाई जाती है। तेजोलेश्यी जीवों की अपेक्षा अलेश्य जीव अनन्तगुणे अधिक इसलिए कहे गए हैं, क्योंकि सिद्ध जीव अनन्त हैं और वे अलेश्य हैं। अलेश्यों की अपेक्षा कापोतलेश्या वाले वनस्पतिकायिक जीव अनन्तगुणित होने से कापोतलेश्या वाले जीव अलेश्यों से अनन्तगुणे अधिक हैं। क्लिष्ट और क्लिष्टतर अध्यवसाय वाले जीव अपेक्षाकृत अधिक होते हैं, इस कारण कापोतलेश्या वालों की अपेक्षा नीललेश्या वाले और नीललेश्या वालों की अपेक्षा कृष्णलेश्या वाले जीव विशेषाधिक होते हैं।[1]

विविधलेश्याविशिष्ट चौवीसदण्डकवर्ती जीवों का अल्पबहुत्व

११७१. एतेसि णं भंते ! णेरइयाणं कण्हलेस्साणं नीललेस्साणं काउलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा णेरइया कण्हलेसा, णीललेस्सा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा।

[११७१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या वाले नारकों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११७१ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े कृष्णलेश्या वाले नारक हैं, उनसे असंख्यातगुणे नीललेश्या वाले हैं और उनसे भी असंख्यातगुणे कापोतलेश्या वाले हैं।

११७२. एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियाणं कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा तिरिक्खजोणिया सुक्कलेसा, एवं जहा ओहिया (सु. ११७०) णवरं अलेस्सवज्जा।

[११७२ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या से लेकर शुक्ललेश्या वाले तिर्यंचयोनिकों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य और विशेषाधिक हैं ?

[११७२ प्र.] गौतम ! सबसे कम तिर्यञ्च शुक्ललेश्या वाले हैं इत्यादि जैसे पहले सूत्र ११७० में औधिक (समुच्चय) का प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिए। विशेषता यह है कि तिर्यञ्चों में अलेश्य नहीं कहना चाहिए, (क्योंकि उनमें अलेश्य होना सम्भव नहीं है)।

११७३. एतेसि णं भंते ! एगिंदियाणं कण्हलेस्साणं जाव तेउलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

---

१. प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४५

गोयमा ! सव्वत्थोवा एगिंदिया तेउलेस्सा, काउलेस्सा अणंतगुणा, णीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया ।

[११७३ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या से लेकर तेजोलेश्या तक के एकेन्द्रियों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य और विशेषाधिक हैं ?

[११७३ उ.] गौतम ! सबसे कम तेजोलेश्या वाले एकेन्द्रिय हैं, उनसे अनन्तगुणे अधिक कापोतलेश्या वाले एकेन्द्रिय हैं, उनसे नीललेश्या वाले विशेषाधिक हैं और उनसे भी कृष्णलेश्या वाले विशेषाधिक हैं ।

११७४. एतेसि णं भंते ! पुढविक्काइयाणं कण्हलेस्साणं जाव तेउलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! जहा ओहिया एगिंदिया (सु. ११७३) । णवरं काउलेस्सा असंखेज्जगुणा ।

[११७४ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या से लेकर तेजोलेश्या तक के पृथ्वीकायिकों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११७४ उ.] गौतम ! जिस प्रकार समुच्चय एकेन्द्रियों का (सू. ११७३ में) कथन किया है, उसी प्रकार पृथ्वीकायिकों (के अल्पबहुत्व) का कथन करना चाहिए । विशेषता इतनी है कि कापोतलेश्या वाले पृथ्वीकायिक असंख्यातगुणे हैं ।

११७५. एवं आउक्काइयाण वि ।

[११७५] इसी प्रकार कृष्णादिलेश्या वाले अप्कायिकों में अल्पबहुत्व का निरूपण भी समझ लेना चाहिए ।

११७६. एतेसि णं भंते ! तेउक्काइयाणं कण्हलेस्साणं णीललेस्साणं काउलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा तेउक्काइया काउलेस्सा, णीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया ।

[११७६ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या वाले, नीललेश्या वाले और कापोतलेश्या वाले तेजस्कायिकों में कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११७६ उ.] गौतम ! सबसे कम कापोतलेश्या वाले तेजस्कायिक हैं, उनसे नीललेश्या वाले विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाले विशेषाधिक हैं ।

११७७. एवं वाउक्काइयाण वि ।

[११७७] इसी प्रकार (कृष्णादिलेश्याविशिष्ट) वायुकायिकों का भी अल्पबहुत्व (समझ लेना चाहिए) ।

११७८. एतेसि णं भंते ! वणस्सइकाइयाणं कण्हलेस्साणं जाव तेउलेस्साण य० ?

जहा एगिंदियओहियाणं (सु. ११७३) ।

[११७८ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या से लेकर तेजोलेश्या वाले वनस्पतिकायिकों में (कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं) ?

[११७८ उ.] गौतम ! जैसे (सू. ११७३ में) समुच्चय (औधिक) एकेन्द्रिय जीवों का अल्प-बहुत्व कहा है, उसी प्रकार वनस्पतिकायिकों का अल्पबहुत्व समझ लेना चाहिए।

११७९. बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियाणं जहा तेउक्काइयाणं (सु. ११७६)।

[११७९] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों का अल्पबहुत्व (सू. ११७६ में उक्त) तेजस्कायिकों के समान है।

११८०. [१] एतेसि णं भंते ! पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! जहा ओहियाणं तिरिक्खजोणियाणं (सु. ११७२)। णवरं काउलेस्सा असंखेज्जगुणा।

[११८०-१ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या वालों से लेकर यावत् शुक्ललेश्या वाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत तुल्य, और विशेषाधिक हैं ?

[११८०-१ उ.] गौतम ! जैसे (सू. ११७२ में कृष्णादिलेश्याविशिष्ट) औधिक (समुच्चय) तिर्यञ्चों का अल्पबहुत्व कहा है, उसी प्रकार पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों का अल्पबहुत्व कहना चाहिए। विशेषता यह है कि कापोतलेश्या वाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्च असंख्यातगुणे हैं।

[२] सम्मुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जहा तेउक्काइयाणं। (सु. ११७६)।

[११८०-२] (कृष्णादिलेश्यायुक्त) सम्मूर्च्छिम-पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों का अल्पबहुत्व (सू. ११७६ में उक्त) तेजस्कायिकों के (अल्पबहुत्व के) समान (समझना चाहिए)।

[३] गब्भवक्कंतियपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जहा ओहियाणं तिरिक्खजोणियाणं (सु. ११७२)। णवरं काउलेस्सा संखेज्जगुणा।

[११८०-३] (कृष्णादिलेश्याविशिष्ट) गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों का अल्पबहुत्व समुच्चय पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों के (सू. ११७२ में उक्त) अल्पबहुत्व के समान जान लेना चाहिए। विशेषता यह है कि कापोतलेश्या वाले (गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्च) संख्यातगुणे (कहने चाहिए)।

[४] एवं तिरिक्खजोणिणीयाण वि।

[११८०-४] (जैसे गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों का अल्पबहुत्व कहा है,) इसी प्रकार गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक स्त्रियों का भी (अल्पबहुत्व कहना चाहिए)।

[५] एतेसि णं भंते ! सम्मुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं गब्भवक्कंतियपंचेंदियतिरिक्ख-जोणियाण य कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतियपंचेंदियतिरिक्खजोणिया सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा संखेज्जगुणा, तेउलेस्सा संखेज्जगुणा, काउलेस्सा संखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्सा सम्मुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा, णीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया ।

[११८०-५ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या वालों से लेकर शुक्ललेश्यायुक्त सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों और गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य और विशेषाधिक हैं ?

[११८०-५ उ.] गौतम ! सबसे कम शुक्लेश्या वाले गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक हैं, उनसे पद्मलेश्यावाले संख्यातगुणे हैं, उनसे तेजोलेश्याविशिष्ट संख्यातगुणे हैं, उनसे नीललेश्याविशिष्ट (गर्भज-तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्यायुक्त विशेषाधिक हैं, उनसे कापोतलेश्या वाले सम्मूर्च्छिम-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक असंख्यातगुणे हैं, उनसे नीललेश्या वाले विशेषाधिक हैं और उनसे भी कृष्णलेश्या वाले सम्मूर्च्छिम-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक विशेषाधिक हैं ।

[६] एतेसि णं भंते ! सम्मुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीण य कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! जहेव पंचमं (सु. ११८० [५]) तहा इमं पि छट्ठं भाणियव्वं ।

[११८०-६ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाली से लेकर शुक्ललेश्या वाले सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों और तिर्यञ्चयोनिक स्त्रियों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य और विशेषाधिक हैं ?

[११८०-६ उ.] गौतम ! जैसे (सू. ११८०-५ में) पंचम (कृष्णादिलेश्यायुक्त तिर्यञ्चयोनिक सम्बन्धी) अल्पबहुत्व कहा है, वैसे ही यह छठा (सम्मूर्च्छिम-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और तिर्यञ्चयोनिक स्त्रियों का कृष्णलेश्यादिविषयक) अल्पबहुत्व कहना चाहिए ।

[७] एतेसि णं भंते ! गब्भवक्कंतियपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीण य कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतियपंचेंदियतिरिक्खजोणिया सुक्कलेस्सा सुक्कलेस्साओ तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, पम्हलेस्सा गब्भवक्कंतियपंचेंदियतिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, पम्हलेस्साओ तिरिक्खजोणिणीओ, संखेज्जगुणाओ, तेउलेस्सा० संखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ० संखेज्ज गुणाओ, काउलेस्सा० संखेज्जगुणा, णीललेस्सा० विसेसाहिया, कण्हलेस्सा० विसेसाहिया, काउ-लेस्साओ० संखेज्जगुणाओ, णीललेस्साओ० विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ० विसेसाहियाओ ।

[११८०-७ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णालेश्या वालों से लेकर शुक्ललेश्या वाले गर्भज पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों और तिर्यञ्चस्त्रियों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य और विशेषाधिक हैं ?

[११८०-७ उ.] गौतम ! सबसे कम शुक्ललेश्या वाले गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक हैं, उनसे संख्यातगुणी शुक्ललेश्या वाली गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चस्त्रियां हैं, उनसे पद्मलेश्या वाले गर्भज पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक संख्यातगुणे हैं, उनसे पद्मलेश्या वाली गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चस्त्रियाँ संख्यातगुणी हैं, उनसे तेजोलेश्या वाले ० संख्यातगुणे हैं, उनसे तेजोलेश्या वाली तिर्यञ्चस्त्रियां संख्यातगुणी हैं, उनसे कापोतलेश्या वाले गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्च संख्यातगुणे हैं, उनसे नीललेश्या वाले (गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चस्त्रियां) संख्यातगुणी हैं, उनसे नीललेश्या वाली (गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चस्त्रियां) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाली (गर्भज-पंचेन्द्रियस्त्रियां) विशेषाधिक हैं।

[८] एतेसि णं भंते ! सम्मुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं गब्भवक्कंतियपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीण य कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणिया सुक्कलेस्सा, सुक्कलेस्साओ तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, पम्हलेस्सा गब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, पम्हलेस्साओ तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, तेउलेस्सा गब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, काउलेस्सा तिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, णीललेस्सा० विसेसाहिया, कण्हलेस्सा० विसेसाहिया, काउलेस्साओ० संखेज्जगुणाओ० णीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ० विसेसाहियाओ, काउलेस्सा सम्मुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा, णीललेस्सा० विसेसाहिया, कण्हलेस्सा० विसेसाहिया।

[११८०-८ प्र.] भगवन् ! कृष्णा लेश्या वाले से लेकर शुक्ललेश्या वाले इन सम्मूच्छिम-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों, गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों तथा तिर्यञ्चयोनिकस्त्रियों में कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११८०-८ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े शुक्ललेश्या वाले गर्भज (पंचेन्द्रिय) तिर्यञ्चयोनिक हैं, उनसे शुक्ललेश्या वाली (गर्भज पंचेन्द्रिय) तिर्यञ्चस्त्रियां संख्यातगुणी हैं, उनसे पद्मलेश्या वाले गर्भज पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक संख्यातगुणे हैं, उनसे पद्मलेश्या वाली (गर्भज-पंचेन्द्रिय-) तिर्यञ्चस्त्रियां संख्यातगुणी हैं, उनसे तेजोलेश्या वाले गर्भज पंचेन्द्रियतिर्यञ्च संख्यातगुणे हैं, उनसे तेजोलेश्या वाली (गर्भज-पंचेन्द्रिय-) तिर्यञ्चस्त्रियां संख्यातगुणी हैं, उनसे कापोतलेश्या वाले (गर्भज-पंचेन्द्रिय-) तिर्यञ्चयोनिक संख्यातगुणे हैं, उनसे नीललेश्या वाले (तथारूप तिर्यञ्च) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाले (तथारूप-तिर्यञ्च) विशेषाधिक हैं, उनसे कापोतलेश्या वाली (तथारूप तिर्यञ्चस्त्रियां) संख्यातगुणी हैं, उनसे नीललेश्या वाली (तथारूप तिर्यञ्चस्त्रियां) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाली (तथारूप तिर्यञ्चस्त्रियां) विशेषाधिक हैं, (उनसे कापोतलेश्या वाले सम्मूच्छिम-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक असंख्यातगुणे हैं, उनसे नीललेश्या वाले (सम्मूच्छिम पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाले सम्मूच्छिम-पंचेन्द्रियतिर्यञ्च विशेषाधिक हैं।

[९] एतेसि णं भंते ! पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीण य कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचेंदियतिरिक्खजोणिया सुक्कलेसा, सुक्कलेस्साओ० संखेज्जगुणाओ, पम्हलेस्सा० संखेज्जगुणा, पम्हलेस्साओ० संखेज्जगुणाओ, तेउलेस्सा० संखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ० संखेज्जगुणाओ, काउलेस्सा० संखेज्जगुणाओ, णीललेस्सा० विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ० विसेसाहियाओ, काउलेस्सा० असंखेज्जगुणा, णीललेस्सा० विसेसाहिया, कण्हलेस्सा० विसेसाहिया ।

[११८०-९ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या वाले से लेकर शुक्ललेश्या वाले पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों और तिर्यञ्चस्त्रियों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत्व, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११८०-९ उ.] गौतम ! सबसे कम शुक्ललेश्या वाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक हैं, उनसे शुक्ललेश्या वाली पंचेन्द्रियतिर्यंतिर्यञ्च स्त्रियां संख्यातगुणी हैं, उनसे पद्मलेश्या वाले (पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च) संख्यातगुणे हैं, उनसे पद्मलेश्या वाली (पंचेन्द्रियतिर्यञ्च स्त्रियां) संख्यातगुणी हैं, उनसे तेजोलेश्या वाले (पंचेन्द्रियतिर्यञ्च) संख्यातगुणे हैं, उनसे तेजोलेश्या वाली (पंचेन्द्रियतिर्यञ्च स्त्रियां) संख्यातगुणी हैं, उनसे कापोतलेश्या वाली (पंचेन्द्रियतिर्यञ्च स्त्रियां) संख्यातगुणी हैं, उनसे नीललेश्या वाली (पंचेन्द्रियतिर्यञ्च स्त्रियां) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाली (पंचेन्द्रियतिर्यञ्च स्त्रियां) विशेषाधिक हैं, उनसे कापोतलेश्या वाले (पंचेन्द्रियतिर्यञ्च) असंख्यात गुणे हैं, उनसे नीललेश्या वाले (पंचेन्द्रियतिर्यञ्च) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाले (पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च) विशेषाधिक हैं ।

[१०] एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीण य कण्हलेस्साणं जाव सुक्क-लेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! जहेव णवमं अप्पाबहुगं तहा इमं पि, णवरं काउलेस्सा तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा । एवं एते दस अप्पाबहुगा तिरिक्खजोणियाणं ।

[११८०-१० प्र.] भगवन् ! इन तिर्यञ्चयोनिकों और तिर्यञ्चयोनिक स्त्रियों में से कृष्णलेश्या से लेकर शुक्ललेश्या वालों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य और विशेषाधिक हैं ?

[११८०-१० उ.] गौतम ! जैसे नौवाँ कृष्णादिलेश्या वाले तिर्यञ्चयोनिकसम्बन्धी अल्प-बहुत्व कहा है, वैसे यह दसवाँ भी समझ लेना चाहिए । विशेषता यह है कि कापोतलेश्या वाले तिर्यञ्चयोनिक अनन्तगुणे होते हैं, कहना चाहिए ।

इस प्रकार ये (पूर्वोक्त) दस अल्पबहुत्व तिर्यञ्चों के कहे गए हैं ।

११८१. एवं मणूसाणं पि अप्पाबहुगा आणियव्वा । णवरं पच्छिमगं अप्पाबहुगं णत्थि ।

[११८१] इसी प्रकार (कृष्णादिलेश्याविशिष्ट) मनुष्यों का भी अल्पबहुत्व कहना चाहिए । परन्तु उनका अंतिम अल्पबहुत्व नहीं है ।

११८२. [१] एतेसि णं भंते ! देवाणं कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा देवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा, णीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, तेउलेस्सा संखेज्जगुणा ।

[११८२-१ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या वाले से लेकर शुक्ललेश्या वाले देवों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११८२-१ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े शुक्ललेश्या वाले देव हैं, उनसे पद्मलेश्या वाले देव असंख्यातगुणे हैं, उनसे कपोतलेश्यी देव असंख्यातगुणे हैं, उनसे नीललेश्या वाले देव विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाले देव विशेषाधिक हैं और उनसे भी तेजोलेश्या वाले देव संख्यातगुणे हैं।

[२] एतेसि णं भंते ! देवीणं कण्हलेस्साणं जाव तेउलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवाओ देवीओ काउलेस्साओ, णीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ ।

[११८२-२ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या वाली यावत् तेजोलेश्या वाली देवियों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११८२-२ उ.] गौतम ! सबसे थोड़ी कपोतलेश्या वाली देवियां हैं, उनसे नीललेश्या वाली (देवियां) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाली (देवियां) विशेषाधिक हैं और उनसे भी तेजोलेश्या वाली (देवियां) संख्यातगुणी हैं ।

[३] **एतेसि णं भंते ! देवाणं देवीण य कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?**

गोयमा ! सव्वत्थोवा देवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ देवीओ संखेज्जगुणाओ, णीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्सा देवा संखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।

[११८२-३ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या वाले यावत् शुक्ललेश्या वाले देवों और देवियों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११८२-३ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े शुक्ललेश्या वाले देव हैं, उनसे पद्मलेश्या वाले (देव) असंख्यातगुणे हैं, उनसे कापोतलेश्या वाले (देव) असंख्यातगुणे हैं, उनसे नीललेश्या वाले (देव) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाले (देव) विशेषाधिक हैं, उनसे कापोतलेश्या वाली देवियां संख्यातगुणी हैं, उनसे नीललेश्या वाली (देवियां) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाली (देवियां) विशेषाधिक हैं, उनसे तेजोलेश्या वाले देव संख्यातगुणे हैं, उनसे भी तेजोलेश्या वाली देवियाँ संख्यातगुणी हैं ।

११८३. [१] **एतेसि णं भंते ! भवणवासीणं देवाणं कण्हलेस्साणं जाव तेउलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?**

गोयमा ! सव्वत्थोवा भवणवासी देवा तेउलेस्सा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा, णीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया ।

[११८३-१ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या वाले, यावत् तेजोलेश्या वाले भवनवासी देवों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११८३-१ उ.] गौतम ! सबसे कम तेजोलेश्या वाले भवनवासी देव हैं, उनसे कापोतलेश्या वाले (भवनवासी देव) असंख्यातगुण है, उनसे नीललेश्या वाले विशेषाधिक हैं और उनसे भी कृष्णलेश्या वाले (भवनवासी देव) विशेषाधिक हैं ।

[२] एतेसि णं भंते ! भवणवासिणीणं देवीणं कण्हलेस्साणं जाव तेउलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! एवं चेव ।

[११८३-२ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या वाली यावत् तेजोलेश्या वाली भवनवासी देवियों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११८३-२ उ.] गौतम ! (जैसे कृष्णलेश्या वाले से लेकर तेजोलेश्या पर्यन्त भवनवासी देवों का अल्पबहुत्व कहा है) इसी प्रकार उनकी देवियों का भी अल्पबहुत्व कहना चाहिए ।

[३] एतेसि णं भंते ! भवणवासीणं देवाणं देवीण य कण्हलेस्साणं जाव तेउलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा भवणवासी देवा तेउलेस्सा, भवणवासिणीओ तेउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ, काउलेस्सा भवणवासी असंखेज्जगुणा, णीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्जगुणाओ, णीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ ।

[११८३-३ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या, यावत् तेजोलेश्या वाले भवनवासी देवों और देवियों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ।

[११८३-३ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े तेजोलेश्या वाले भवनवासी देव हैं, उनसे तेजोलेश्या वाली भवनवासी देवियां संख्यातगुणी हैं, उनसे कापोतलेश्या वाले भवनवासी देव असंख्यातगुणे हैं, उनसे नीललेश्या वाले (भवनवासी देव) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्यी (भवनवासी देव) विशेषाधिक हैं, उनसे कापोतलेश्या वाली भवनवासी देवियां संख्यातगुणी हैं, उनसे नीललेश्या वाली (भवनवासी देवियां) विशेषाधिक हैं और उनसे भी कृष्णलेश्या वाली भवनवासी देवियां विशेषाधिक हैं ।

११८४. एवं वाणमंतराण वि तिण्णेव अप्पाबहुया जहेव भवणवासीणं तहेव भाणियव्वा (११८३ [१-३]) ।

[११८४] जिस प्रकार (सू. ११८३-१ से ३ तक में) भवनवासी देव-देवियों का अल्पबहुत्व कहा है, इसी प्रकार वाणव्यन्तरों के तीनों ही (देवों, देवियों और देव-देवियों का सम्मिलित) प्रकारों का अल्पबहुत्व कहना चाहिए।

११८५. एतेसि णं भंते ! जोइसियाणं देवाणं देवीण य तेउलेस्साणं कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जोइसियदेवा तेउलेस्सा, जोइसिणिदेवीओ तेउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ।

[११८५ प्र.] भगवन् ! इन तेजोलेश्या वाले ज्योतिष्क देवों-देवियों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११८५ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े तेजोलेश्या वाले ज्योतिष्क देव हैं, उनसे तेजोलेश्या वाली ज्योतिष्क देवियां संख्यातगुणी हैं।

११८६. एतेसि णं भंते ! वेमाणियाणं देवाणं तेउलेस्साणं पम्हलेस्साणं सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४।

गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउलेस्सा असंखेज्जगुणा।

[११८६ प्र.] भगवन् ! इन तेजोलेश्या वाले, पद्मलेश्या वाले और शुक्ललेश्या वाले वैमानिक देवों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११८६ उ.] गौतम ! सबसे कम शुक्ललेश्या वाले वैमानिक देव हैं, उनसे पद्मलेश्या वाले असंख्यात गुणे हैं और उनसे भी तेजोलेश्या वाले (देव) असंख्यातगुणे हैं।

११८७. एतेसि णं भंते ! वेमाणियाणं देवाणं देवीण य तेउलेस्साणं पम्हलेस्साणं सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुक्कलेस्सा पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउलेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ वेमाणिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ।

[११८७ प्र.] भगवन् ! इन तेजोलेश्या वाले, पद्मलेश्या वाले और शुक्ललेश्या वाले वैमानिक देवों और देवियों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[११८७ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े शुक्ललेश्या वाले वैमानिक देव हैं, उनसे पद्मलेश्या वाले (वैमानिक देव) असंख्यातगुणे हैं, उनसे तेजोलेश्या वाले (वैमानिक देव) असंख्यातगुणे हैं, (उनसे) तेजोलेश्या वाली वैमानिक देवियां संख्यातगुणी हैं।

११८८. एतेसि णं भंते ! भवणवासीणं वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाण य देवाणं कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउलेस्सा

असंखेज्जगुणा; तेउलेस्सा भवणवासी देवा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा, णीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया; तेउलेस्सा वाणमंतरा देवा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा, णीललेस्सा विसेसाहिया, किण्हलेस्सा विसेसाहिया; तेउलेस्सा जोइसियदेवा संखेज्जगुणा।

[११८८ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या वाले यावत् शुक्ललेश्या वाले भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११८८ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े शुक्ललेश्या वाले वैमानिक देव हैं, उनसे पद्मलेश्या वाले (वैमानिकदेव) असंख्यातगुणे हैं, उनसे तेजोलेश्या वाले (वैमानिक देव) असंख्यातगुणे हैं, उनसे तेजोलेश्या वाले भवनवासी देव असंख्यातगुणे हैं, उनसे कापोतलेश्या वाले (भवनवासी देव) असंख्यातगुणे हैं, उनसे नीललेश्या वाले (भवनवासी देव) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाले (भवनवासी देव) विशेषाधिक हैं, उनसे तेजोलेश्या वाले वाणव्यन्तर देव असंख्यातगुणे हैं, उनसे कापोतलेश्या वाले (वाणव्यन्तर देव) असंख्यातगुणे हैं, उनसे नीललेश्या वाले (वाणव्यन्तर देव) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाले (वाणव्यन्तर देव) विशेषाधिक हैं, उनसे भी तेजोलेश्या वाले ज्योतिष्क देव संख्यातगुणे हैं।

११८९. एतासिं णं भंते ! भवणवासिणीणं वाणमंतरीण जोइसिणीणं वेमाणिणीण य कण्हलेस्साणं जाव तेउलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवाओ देवीओ वेमाणिणीओ तेउलेस्साओ; भवणवासिणीओ तेउलेस्साओ असंखेज्जगुणाओ, काउलेस्साओ असंखेज्जगुणाओ, णीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ; तेउलेस्साओ वाणमंतरीओ देवीओ असंखेज्जगुणाओ, काउलेस्साओ असंखेज्जगुणाओ, णीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्साओ जोइसिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ।

[११८९ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या वाली से लेकर तेजोलेश्या वाली भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवियों में से कौन (देवियां), किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११८९ उ.] गौतम ! सबसे थोड़ी तेजोलेश्या वाली वैमानिक देवियां हैं, उनसे तेजोलेश्या वाली भवनवासी देवियाँ असंख्यातगुणी हैं, उनसे कापोतलेश्या वाली (भवनवासी देवियां) असंख्यातगुणी हैं, उनसे नीललेश्या वाली (भवनवासी देवियाँ) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाली (भवनवासीदेवियाँ) विशेषाधिक हैं, उनसे तेजोलेश्या वाली वाणव्यन्तर देवियाँ असंख्यातगुणी अधिक हैं, उनसे कापोतलेश्या वाली (वाणव्यन्तर देवियाँ) असंख्यातगुणी हैं, उनसे नीललेश्या वाली (वाणव्यन्तर देवियाँ) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाली (वाणव्यन्तर देवियाँ) विशेषाधिक हैं। उनसे तेजोलेश्या वाली ज्योतिष्क देवियाँ संख्यातगुणी हैं।

११९०. एतेसिं णं भंते ! भवणवासीणं जाव वेमाणियाणं देवाण य देवीण कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउलेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ वेमाणिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ, तेउलेस्सा भवणवासी देवा

असंखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ भवणवासिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ, काउलेस्सा भवणवासी असंखेज्जगुणा, णीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्जगुणाओ, णीललेसाओ विसेसाहियाओ, कण्हलेसाओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्सा वाणमंतरा असंखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ वाणमंतरीओ संखेज्जगुणाओ, काउलेस्सा वाणमंतरा असंखेज्जगुणा, णीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ वाणमंतरीओ संखेज्जगुणाओ, णीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्सा जोइसिया संखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ जोइसिणीओ संखेज्जगुणाओ।

[११९० प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले से लेकर शुक्ललेश्या वाले तक के भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों और देवियों में से कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११९० उ.] गौतम ! सबसे थोड़े शुक्ललेश्या वाले वैमानिक देव हैं, उनसे पद्मलेश्या वाले (वैमानिक देव) असंख्यातगुणे हैं, उनसे तेजोलेश्या वाले (वैमानिक देव) असंख्यातगुणे हैं, उनसे तेजोलेश्या वाली वैमानिक देवियाँ संख्यातगुणी हैं, उनसे तेजोलेश्या वाले भवनवासी देव असंख्यातगुणे हैं, उनसे तेजोलेश्या वाली भवनवासी देवियाँ संख्यातगुणी हैं, उनसे कापोतलेश्या वाले भवनवासी देव असंख्यातगुणे हैं, उनसे नीललेश्या वाले (भवनवासी देव) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाले (भवनवासी देव) विशेषाधिक हैं, उनसे कापोतलेश्या वाली (भवनवासी देवियाँ) संख्यातगुणी हैं, उनसे नीललेश्या वाली (भवनवासी देवियाँ) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाली (भवनवासी देवियाँ) विशेषाधिक हैं, उनसे तेजोलेश्या वाले वाणव्यन्तर देव असंख्यातगुणे हैं, उनसे तेजोलेश्या वाली वाणव्यन्तर देवियाँ संख्यातगुणी हैं, उनसे कापोतलेश्या वाले वाणव्यन्तर देव असंख्यातगुणे हैं, उनसे नीललेश्या वाले (वाणव्यन्तर देव) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाले (वाणव्यन्तर देव) विशेषाधिक हैं, उनसे कापोतलेश्या वाली (वाणव्यन्तर देवियाँ) संख्यातगुणी हैं, उनसे नीललेश्या वाली (वाणव्यन्तर देवियाँ) विशेषाधिक हैं, उनसे कृष्णलेश्या वाली (वाणव्यन्तर देवियाँ) विशेषाधिक हैं; उनसे तेजोलेश्या वाले ज्योतिष्क देव संख्यातगुणे हैं, उनसे तेजोलेश्या वाली ज्योतिष्क देवियाँ संख्यातगुणी हैं।

विवेचन - विविध लेश्याविशिष्ट चौवीस दण्डकवर्ती जीवों का अल्पबहुत्व प्रस्तुत बीस सूत्रों (सू. ११७१ से ११९० तक) में कृष्णादिलेश्याविशिष्ट चौवीस दण्डकों के विभिन्न लिंगादियुक्त जीवों के विविध अपेक्षाओं से अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है।

कृष्ण-नील-कापोतलेश्यायुक्त नारकों का अल्पबहुत्व—नारकों में केवल तीन ही लेश्याएँ पाई जाती हैं—कृष्ण, नील और कापोत। जैसा कि कहा है—प्रारम्भ की दो नरकपृथ्वियों में कापोत, तीसरी नरकपृथ्वी में मिश्र (कापोत और नील), चौथी में नील, पांचवीं में मिश्र (नील और कृष्ण), छठी में कृष्ण और सातवीं पृथ्वी में महाकृष्ण लेश्या होती है। यही कारण है कि नारकों में कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्या वालों के अल्पबहुत्व का विचार किया गया है।

सबसे कम कृष्णलेश्या वाले नारक इस कारण बताए गए हैं कि कृष्णलेश्या पांचवीं पृथ्वी के कतिपय नारकों तथा छठी और सातवीं पृथ्वी के नारकों में ही पाई जाती है। कृष्णलेश्या वाले

नारक की अपेक्षा नीललेश्या वाले नारक असंख्यातगुणे इसलिए होते हैं कि नीललेश्या कतिपय तृतीय पृथ्वी के, चौथी पृथ्वी के और कतिपय पंचम पृथ्वी के नारकों में पाई जाती है और पूर्वोक्त नारकों से असंख्यातगुणे अधिक हैं। नीललेश्यी नारकों की अपेक्षा कापोतलेश्या वाले नारक इसलिए असंख्यातगुणे अधिक हैं कि कापोतलेश्या प्रथम एवं द्वितीय पृथ्वी के तथा तृतीय पृथ्वी के कतिपय नरकावासों में पाई जाती है और वे नारक पूर्वोक्त नारकों से असंख्यातगुणे अधिक हैं।[1]

तिर्यंचों के अल्पबहुत्व में समुच्चय से विशेषता—समुच्चय सलेश्य जीवों की अल्पबहुत्व की तरह तिर्यंचों के अल्पबहुत्व का निर्देश किया गया है, परन्तु समुच्चय से एक विशेषता यह है कि समुच्चय में अलेश्य का भी अल्पबहुत्व कहा गया है, जिसे तिर्यंचों में नहीं कहना चाहिए, क्योंकि तिर्यञ्चों के अलेश्य होना संभव नहीं है।[2]

एकेन्द्रियों के अल्पबहुत्व की समीक्षा एकेन्द्रियों में ४ लेश्याएँ ही पाई जाती हैं—कृष्ण, नील, कापोत और तेजस्। अतः यहाँ इन्हीं चारों लेश्याओं से विशिष्ट एकेन्द्रियों का ही अल्पबहुत्व प्रदर्शित किया गया है। सबसे कम एकेन्द्रिय तेजोलेश्या वाले इसलिए हैं कि तेजोलेश्या कतिपय बादर पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों के अपर्याप्त अवस्था में ही पाई जाती है। तेजोलेश्याविशिष्ट एकेन्द्रियों की अपेक्षा कापोतलेश्या वाले अनन्तगुणे अधिक हैं, क्योंकि कापोतलेश्या अनन्त सूक्ष्म एवं बादर निगोद जीवों में पाई जाती है। कापोतलेश्या वालों से नील-लेश्या वाले और इनसे कृष्णलेश्या वाले एकेन्द्रिय पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार विशेषाधिक कहे गए हैं। पृथ्वी-जल-वनस्पतिकायिकों में चार लेश्याएँ होने के कारण इनका अल्पबहुत्व समुच्चय एकेन्द्रिय के समान है और तेजस्काय, वायुकाय में कृष्ण, नील, कापोत तीन ही लेश्याएँ हैं। अतः तेजोलेश्या को छोड़कर शेष तीन लेश्याओं वाले तेजस्कायिकों एवं वायुकायिकों का अल्पबहुत्व बताया गया है। सबसे अल्प कापोतलेश्यी, उनसे विशेषाधिक क्रमशः नीललेश्यी और कृष्णलेश्यी हैं। यही अल्पबहुत्व विकलेन्द्रियों में निर्दिष्ट है।[3]

कृष्णादिलेश्याविशिष्ट पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों का दशविध अल्पबहुत्व—यों तो समुच्चय तिर्यञ्चों में अल्पबहुत्व के समान ही है, किन्तु जैसे समुच्चय तिर्यञ्च कापोतलेश्या वाले अनन्तगुणे बताए हैं, वैसे कापोतलेश्या वाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्च अनन्त नहीं हो सकते, किन्तु वे असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि सभी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च मिलकर भी असंख्यात ही हैं।

सामान्य पंचेन्द्रियतिर्यञ्च के इस सूत्र के साथ ही निम्नोक्त विशिष्ट पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों के आठ और एक समुच्चय तिर्यंचों का, यों ९ सूत्र और हैं—यथा—(२) सम्मूर्च्छिम-पंचेन्द्रियतिर्यंच का, (३) गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यञ्च का, (४) गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यंच स्त्रियों का, (५) गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यंचों और सम्मूर्च्छिम-पंचेन्द्रियतिर्यंचों का सम्मिलित, (६) सम्मूर्च्छिम-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और तिर्यंच-स्त्रियों का, (७) गर्भज-पंचेन्द्रियतिर्यंचों और तिर्यञ्चस्त्रियों का, (८) सम्मूर्च्छिम एवं गर्भज

१. (क) 'काउय दोसु, तइयाए मीसिया, नीलिया चउत्थीए।
पंचमियाए मिस्सा, कण्हा तत्तो परमकण्हा॥
(ख) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४६
२. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४७
३. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४७

पंचेन्द्रियतिर्यंचों और गर्भज-तिर्यञ्चस्त्रियों का, (९) पंचेन्द्रियतिर्यंचों और तिर्यंचस्त्रियों का और (१०) तिर्यञ्चों और तिर्यंचस्त्रियों का सम्मिलित अल्पबहुत्व ।[1]

एक बात विशेषत: ध्यान देने योग्य है कि सभी लेश्याओं में स्त्रियों की संख्या अधिक पाई जाती है । यों भी सभी तिर्यञ्च पुरुषों की अपेक्षा तिर्यञ्च स्त्रियों की संख्या तिगुनी और तीन अधिक होती है,[2] ऐसा सैद्धान्तिकों का मन्तव्य है । यही कारण है कि सप्तम अल्पबहुत्व में तिर्यञ्च स्त्रियाँ संख्यातगुणी अधिक बताई हैं । फिर आठवें के बाद नौवें अल्पबहुत्व में भी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च स्त्रियाँ अधिक बताई गई हैं, तत्पश्चात् दसवें अल्पबहुत्व में भी तिर्यञ्चस्त्रियों की संख्या अधिक प्रतिपादित हैं ।[3]

मनुष्यों के अल्पबहुत्व में पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों के अल्पबहुत्व से विशेषता– यों तो मनुष्यों के अल्पबहुत्व की प्राय: सभी वक्तव्यता पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों के अल्पबहुत्व के समान ही है, किन्तु मनुष्यों में पिछला अर्थात् दसवां अल्पबहुत्व नहीं होता, क्योंकि मनुष्य में अनन्तसंख्या सम्भव नहीं है । इस कारण **'कापोतलेश्या वाले अनन्तगुणे हैं'** यह भाग मनुष्यों में सम्भव नहीं है ।[4]

चारों निकायों के देवों का अल्पबहुत्व - **(१) समुच्चय देवों का अल्पबहुत्व** सबसे थोड़े शुक्ललेश्या वाले देव इसलिए हैं कि शुक्ललेश्या लान्तक आदि ऊपर के देवलोकों में ही पाई जाती है । शुक्ललेश्यी देवों से पद्मलेश्यी देव असंख्यातगुणे अधिक हैं, क्योंकि सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक कल्प में पद्मलेश्या होती है और वहां के देव लान्तककल्प आदि के देवों की अपेक्षा असंख्यातगुणे अधिक हैं । पद्मलेश्यी देवों से कापोतलेश्यी देव असंख्यातगुणे अधिक हैं, क्योंकि कापोतलेश्या भवनवासी और वाणव्यन्तर देवों में पाई जाती है, जो कि उनकी अपेक्षा असंख्यातगुणे हैं । उनसे नीललेश्यी देव विशेषाधिक इसलिए हैं कि बहुत-से भवनवासियों और वाणव्यन्तरों में नीललेश्या पाई जाती है । नीललेश्यी देवों से कृष्णलेश्यी देव विशेषाधिक होते हैं, क्योंकि अधिकांश भवनपति और वाणव्यन्तर देवों में कृष्णलेश्या होती है । इन सब की अपेक्षा से तेजोलेश्याविशिष्ट देव संख्यातगुणे अधिक हैं, क्योंकि बहुत-से भवनवासियों में, समस्त ज्योतिष्क देवों में तथा सौधर्म-ऐशान देवों में तेजोलेश्या का सद्भाव है ।

(२) सलेश्य समुच्चय देवियों के अल्पबहुत्व की समीक्षा– कापोतलेश्या वाली देवियाँ सबसे कम इसलिए हैं कि भवनवासी एवं व्यन्तर देवियों में ही कापोतलेश्या होती है, उनसे नीललेश्यायुक्त देवियाँ विशेषाधिक हैं क्योंकि बहुत-सी भवनवासी और वाणव्यन्तर देवियों में नीललेश्या पाई जाती है । इनकी अपेक्षा कृष्णलेश्या वाली देवियाँ विशेषाधिक हैं, क्योंकि अधिकांश भवनपति, वाणव्यन्तर

---

१. ओहिय पणिंदि १ समुच्छिया २ य गब्भे ३ तिरिक्ख इत्थीओ ४ ।
संमुच्छिमगब्भतिरिया ५, मुच्छतिरिक्खी य ६, गब्भंमि ७ ॥१॥
संमुच्छिमगब्भइत्थी ८, पणिंदितिरिगित्थीया ९ य ओहित्थी १० ।
दस अप्पबहुगभेया तिरियाणं होंति नायव्वा ॥२॥
—प्रज्ञापना. म. वृत्ति, पत्रांक ३४९ में उद्धृत

२. 'तिगुणातिरूवअहिया तिरियाणं इत्थिया मुणेयव्वा ।'

३. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४७

४. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४९

देवियों में कृष्णलेश्या का सद्भाव होता है। इनकी अपेक्षा भी तेजोलेश्या वाली देवियाँ संख्यातगुणी अधिक हैं, क्योंकि तेजोलेश्या सभी ज्योतिष्क देवियों में तथा सौधर्म-ऐशान देवियों में पाई जाती है। एक बात विशेषतः ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि देवियाँ सौधर्म और ऐशानकल्पों तक ही उत्पन्न होती हैं, आगे नहीं। अतएव उनमें इन कल्पों के योग्य प्रारम्भ की चार लेश्याएँ ही सम्भव हैं। इसी कारण तेजोलेश्या तक ही इनका अल्पबहुत्व बतलाया है।

(३) **सलेश्य देवों की अपेक्षा देवियों की संख्या अधिक**· सैद्धान्तिक तथ्य यह है कि देवों की अपेक्षा देवियाँ बत्तीसगुनी और बत्तीस अधिक हैं। यही कारण है कि कापोत, नील, कृष्ण और तेजोलेश्या वाले देवों की अपेक्षा देवियाँ कहीं संख्यातगुणी अधिक हैं, कहीं विशेषाधिक हैं।

तेजोलेश्यी ज्योतिष्क देव-देवियों का अल्पबहुत्व—ज्योतिष्क देवों के सम्बन्ध में यहाँ एक ही अल्पबहुत्वसूत्र का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि ज्योतिष्कनिकाय में एकमात्र तेजोलेश्या ही होती है, कोई अन्य लेश्या नहीं होती। इसी कारण ज्योतिष्क देवों और देवियों का पृथक्-पृथक् अल्पबहुत्व-सूत्र निर्दिष्ट नहीं किया है।[1]

सलेश्य सामान्य जीवों और चौबीस दण्डकों में ऋद्धिक अल्पबहुत्व का विचार

११९१. एतेसि णं भंते ! जीवाणं कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पिड्ढिया वा महिड्ढिया वा ?

गोयमा ! कण्हलेस्सेहिंतो णीललेस्सा महिड्ढिया, णीललेस्सेहिंतो काउलेस्सा महिड्ढिया, एवं काउलेस्सेहिंतो तेउलेस्सा महिड्ढिया, तेउलेस्सेहिंतो पम्हलेस्सा महिड्ढिया, पम्हलेस्सेहिंतो सुक्कलेस्सा महिड्ढिया, सव्वप्पिड्ढिया जीवा किण्हलेस्सा, सव्वमहिड्ढिया जीवा सुक्कलेस्सा।

[११९१ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्या वाले, यावत् शुक्ललेश्या वाले जीवों में से कौन, किनसे अल्प ऋद्धिवाले अथवा महती ऋद्धि वाले होते हैं ?

[११९१ उ.] गौतम ! कृष्णलेश्या वालों से नीललेश्या वाले महर्द्धिक हैं, नीललेश्या वालों से कापोतलेश्या वाले महर्द्धिक हैं, कापोतलेश्या वालों से तेजोलेश्या वाले महर्द्धिक हैं, तेजोलेश्या वालों से पद्मलेश्या वाले महर्द्धिक हैं और पद्मलेश्या वालों से शुक्ललेश्या वाले महर्द्धिक हैं। कृष्णलेश्या वाले जीव सबसे अल्प ऋद्धि वाले हैं और शुक्ललेश्या वाले जीव सबसे महती ऋद्धि वाले हैं।

११९२. एतेसि णं भंते ! णेरइयाणं कण्हलेस्साणं णीललेस्साणं काउलेस्साणं य कतरे कतरेहिंतो अप्पिड्ढिया वा महिड्ढिया वा ?

गोयमा ! कण्हलेस्सेहिंतो णीललेस्सा महिड्ढिया, णीललेस्सेहिंतो काउलेस्सा महिड्ढिया, सव्वप्पिड्ढिया णेरइया कण्हलेस्सा, सव्वमहिड्ढिया णेरइया काउलेस्सा।

[११९२ प्र.] भगवन् ! इन कृष्णलेश्यी, नीललेश्यी और कापोतलेश्यी नारकों में कौन, कितनी अल्प ऋद्धि वाले अथवा महती ऋद्धि वाले हैं ?

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३४९-३५०
(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ४, पृ. १३१ से १३९ तक

[११९२ उ.] गौतम ! कृष्णलेश्यी नारकों से नीललेश्यी नारक महर्द्धिक है, नीललेश्यी नारकों से कापोतलेश्यी नारक महर्द्धिक हैं। कृष्णलेश्या वाले नारक सबसे अल्प ऋद्धि वाले हैं और कापोतलेश्या वाले नारक सबसे महती ऋद्धि वाले हैं।

११९३. एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियाणं कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पिड्ढिया वा महिड्ढिया वा ?

गोयमा ! जहा जीवा ।

[११९३ प्र.] भगवन् ! इस कृष्णलेश्या वाले यावत् शुक्ललेश्या वाले तिर्यञ्चयोनिकों में से कौन, किनसे अल्पर्द्धिक अथवा महर्द्धिक हैं ?

[११९३ उ.] गौतम ! जैसे समुच्चय जीवों की (कृष्णादिलेश्याओं की अपेक्षा से) अल्पर्द्धिकता-महर्द्धिकता कही है, उसी प्रकार तिर्यञ्चयोनिकों की (कृष्णादिलेश्याओं की अपेक्षा से अल्पर्द्धिकता और महर्द्धिकता) कहनी चाहिए ।

११९४. एतेसि णं भंते ! एगिंदियतिरिक्खजोणियाणं कण्हलेस्साणं जाव तेउलेस्साण य कतरे कतरेहिंतो अप्पिड्ढिया वा महिड्ढिया वा ?

गोयमा ! कण्हलेस्सेहिंतो, एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो णीललेस्सा महिड्ढिया णीललेस्सेहिंतो काउलेस्सा महिड्ढिया, काउलेस्सेहिंतो तेउलेस्सा महिड्ढिया, सव्वप्पिड्ढिया एगिंदियतिरिक्खजोणिया कण्हलेस्सा, सव्वमहिड्ढिया तेउलेस्सा ।

[११९४ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले, यावत् तेजोलेश्या वाले एकेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों में से कौन, किससे अल्पर्द्धिक हैं, अथवा महर्द्धिक हैं ?

[११९४ उ.] गौतम ! कृष्णलेश्या वाले एकेन्द्रिय तिर्यञ्चों की अपेक्षा नीललेश्या वाले एकेन्द्रिय महर्द्धिक हैं, नीललेश्या वाले (एकेन्द्रियों) से कापोतलेश्या वाले (एकेन्द्रिय) महर्द्धिक हैं, कापोतलेश्या वालों से तेजालेश्या वाले (एकेन्द्रिय) महर्द्धिक हैं। सबसे अल्पऋद्धि वाले कृष्णलेश्याविशिष्ट एकेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक हैं और सबसे महाऋद्धि वाले तेजोलेश्या वाले एकेन्द्रिय हैं।

११९५. एवं पुढविकाइयाण वि ।

[११९५] इसी प्रकार (सामान्य एकेन्द्रिय तिर्यञ्चों की अल्पर्द्धिकता और महर्द्धिकता की तरह कृष्णादिचतुर्लेश्याविशिष्ट) पृथ्वीकायिकों की (अल्पर्द्धिकता-महर्द्धिकता के विषय में समझ लेना चाहिए।)

११९६. एवं एतेणं अभिलावेणं जहेव लेस्साओ भावियाओ तहेव णेयव्वं जाव चउरिंदिया ।

[११९६] इस प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों तक जिनमें जितनी लेश्याएँ जिस क्रम से विचारी--कही गई हैं, उसी क्रम से इस (पूर्वोक्त) आलापक के अनुसार उनकी अल्पर्द्धिकता-महर्द्धिकता समझ लेनी चाहिए ।

११९७. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीणं सम्मुच्छिमाणं गब्भवक्कंतियाण य सव्वेसिं भाणियव्वं जाव अप्पिड्ढिया वेमाणिया देवा तेउलेस्सा, सव्वमहिड्ढिया वेमाणिया देवा सुक्कलेस्सा।

[११९७] इसी प्रकार पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों, तिर्यञ्चस्त्रियों, सम्मूच्छिमों और गर्भजों—सभी की कृष्णलेश्या से लेकर शुक्ललेश्यापर्यन्त यावत् वैमानिक देवों में जो तेजोलेश्या वाले हैं, वे सबसे अल्पर्द्धिक हैं और जो शुक्ललेश्या वाले हैं, वे सबसे महर्द्धिक हैं, (यहाँ तक अल्पर्द्धिकता-महर्द्धिकता का कथन करना चाहिए।)

११९८. केइ भणंति—चउवीसदंडएणं इड्ढी भाणियव्वा।

॥ बीओ उद्देसओ समत्तो ॥

[११९८] कई आचार्यों का कहना है कि चौवीस दण्डकों को लेकर ऋद्धि का कथन करना चाहिए।

विवेचन—सलेश्य सामान्यजीवों तथा चौवीस दण्डकों में अल्पर्द्धिकता-महर्द्धिकता-विचार—प्रस्तुत आठ सूत्रों (११९१ से ११९८ तक) में कृष्णादिलेश्याविशिष्ट सामान्यजीवों और चौवीस दण्डकवर्ती जीवों की अल्पर्द्धिकता और महर्द्धिकता का विचार प्रस्तुत किया गया है।

निष्कर्ष—पूर्व-पूर्व की लेश्या वाले अल्पर्द्धिक हैं और क्रमशः उत्तरोत्तर लेश्या वाले महर्द्धिक हैं। इसी प्रकार नारकों, तिर्यञ्चों, मनुष्यों और देवों के विषय में, जिनमें जितनी लेश्याओं की प्ररूपणा की गई, उनमें उनका विचार करके अनुक्रम से अल्पर्द्धिकता और महर्द्धिकता समझ लेनी चाहिए।

अप्कायिकों से चतुरिन्द्रिय जीवों तक—इनमें जो कृष्णलेश्या वाले हैं, वे सबसे कम ऋद्धि वाले हैं और तेजोलेश्या वाले सबसे महाऋद्धि वाले हैं। इसी प्रकार सर्वत्र कह लेना चाहिए।[1]

॥ सत्तरहवाँ लेश्यापद : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१ प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक २५२

सत्तरसमं लेस्सापयं : तइओ उद्देसओ

सत्तरहवाँ लेश्यापद : तृतीय उद्देशक

चौवीसदण्डकवर्ती जीवों में उत्पाद-उद्वर्त्तन-प्ररूपणा

११९९. [१] णेरइए णं भंते ! णेरइएसु उववज्जति ? अणेरइए णेरइएसु उववज्जति ?
गोयमा ! णेरइए णेरइएसु उववज्जइ, णो अणेरइए णेरइएसु उववज्जति ।

[११९९-१ प्र.] भगवन् ! नारक नारकों में उत्पन्न होता है, अथवा अनारक नारकों में उत्पन्न होता है ?

[११९९-१ उ.] गौतम ! नारक नारकों में उत्पन्न होता है, अनारक नारकों में उत्पन्न नहीं होता ।

[२] एवं जाव वेमाणियाणं ।

[११९९-२] इसी प्रकार (नारकों के समान ही असुरकुमार आदि भवनपतियों से लेकर) यावत् वैमानिकों की उत्पत्तिसम्बन्धी वक्तव्यता कहनी चाहिए ।

१२००. [१] णेरइए णं भंते ! णेरइएहिंतो उव्वट्टइ ? अणेरइए णेरइएहिंतो उव्वट्टति ?
गोयमा ! अणेरइए णेरइएहिंतो उव्वट्टति, णो णेरइए णेरइएहिंतो उव्वट्टति ।

[१२००-१ प्र.] भगवन् ! नारक नारकों (नरकभव) से उद्वर्त्तन करता (निकलता) है, अथवा अनारक नारकों से उद्वर्त्तन करता है ?

[१२००-१ उ.] गौतम ! अनारक (नारक से भिन्न) नारकों (नारकभव) से उद्वर्त्तन करता (निकलता) है, (किन्तु) नारक नारकों से उद्वृत्त नहीं होता ।

[२] एवं जाव वेमाणिए । णवरं जोतिसिय-वेमाणिएसु चयणं ति अभिलाओ कायव्वो ।

[१२००-२] इसी प्रकार (नारकों के समान ही) यावत् वैमानिकों तक उद्वर्त्तन-सम्बन्धी कथन करना चाहिए । विशेष यह है कि ज्योतिष्कों और वैमानिकों के विषय में ('उद्वर्त्तन' के स्थान में) 'च्यवन' शब्द का प्रयोग (अभिलाप) करना चाहिए ।

विवेचन चौवीसदण्डकवर्ती जीवों में उत्पाद-उद्वर्त्तन-प्ररूपणा- प्रस्तुत चार सूत्रों में नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक के उत्पाद एवं उद्वर्तन के सम्बन्ध में ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से सैद्धान्तिक प्ररूपणा की गई है ।

प्रश्नोत्तर का आशय—प्रस्तुत दो सूत्रों में दो प्रश्न हैं--१. प्रथम प्रश्न उत्पत्तिविषयक है । नैरयिक नैरयिकों में उत्पन्न होता है, अनैरयिक नहीं । इसका अर्थ यह है कि नारक ही नरकभव

में उत्पन्न होता है, क्योंकि नारकभवोपग्राहक आयु ही भव का कारण है । अतः जब नरकायु का उदय होता है, तभी जीव को नरकभव की प्राप्ति होती है तथा जब मनुष्यायु का उदय होता है, तब मनुष्यभव प्राप्त होता है । इसलिए ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से नारकायु आदि के वेदन के प्रथम समय में ही नारक आदि संज्ञा का व्यवहार होने लगता है । २. दूसरा प्रश्न उद्वर्तन विषयक है । उसका अर्थ है—नारक से भिन्न (अनारक) नारकभव से (नारकों से) उद्वर्तन करता है अर्थात् निकलता है । इसका तात्पर्य यह है कि जब तक किसी जीव के नरकायु का उदय बना हुआ है, तब तक वह नारक कहलाता है और जब नरकायु का उदय नहीं रहता, तब वह अनारक (नारकभिन्न) कहलाने लगता है । अतः जब तक नरकायु का उदय है, तब तक कोई जीव नरक से नहीं निकल सकता । इसी कारण कहा गया है--नारक नरक से उद्वृत्त नहीं होता, बल्कि वही जीव नरक से उद्वर्तन करता है, जो अनारक हो, (जिसके नरकायु का उदय न रह गया हो) । निष्कर्ष यह है कि आगामी भव की आयु का उदय होने पर जीव वर्त्तमान भव से उद्वृत्त होता है और जिस भव-सम्बन्धी आयु का उदय हो, उसी नाम से उसका व्यवहार होता है ।

इसी प्रकार असुरकुमार आदि शेष २३ दण्डकों के उत्पाद एवं उद्वर्तन के विषय में समझ लेना चाहिए ।[1]

लेश्यायुक्त चौवीसदण्डकवर्ती जीवों की उत्पाद-उद्वर्तनप्ररूपणा

१२०१. [१] से णूणं भंते ! कण्हलेस्से णेरइए कण्हलेस्सेसु णेरइएसु उववज्जति ? कण्हलेस्से उव्वट्टति ? जल्लेस्से उववज्जति तल्लेसे उव्वट्टति ?

हंता गोयमा ! कण्हलेसे णेरइए कण्हलेसेसु णेरइएसु उववज्जति, कण्हलेसे उव्वट्टति, जल्लेसे उववज्जति तल्लेसे उव्वट्टति ।

[१२०१-१ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या वाला नारक कृष्णलेश्या वाले नारकों में ही उत्पन्न होता है ? कृष्णलेश्या वाला ही (नारकों में से) उद्वृत्त होता है ? (अर्थात्--) जिस लेश्या वाला होकर उत्पन्न होता है, उसी लेश्या वाला होकर उद्वर्त्तन करता है ?

[१२०१-१ उ.] हाँ, गौतम ! कृष्णलेश्या वाला नारक कृष्णलेश्या वाले नारकों में उत्पन्न होता है, कृष्णलेश्या वाला होकर ही (वहाँ से) उद्वृत्त होता है । जिस लेश्या वाला होकर उत्पन्न होता है, उसी लेश्या वाला होकर उद्वर्त्तन करता (निकलता) है ।

[२] एवं णीललेसे वि काउलेसे वि ।

[१२०१-२] इसी प्रकार नीललेश्या वाले और कापोतलेश्या वाले (नारक के उत्पाद और उद्वर्त्तन के सम्बन्ध में) भी (समझ लेना चाहिए ।)

१२०२. एवं असुरकुमारा वि जाव थणियकुमारा वि । णवरं तेउलेस्सा अब्भहिया ।

[१२०२] असुरकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों तक भी इसी प्रकार से उत्पाद और उद्वर्त्तन का कथन करना चाहिए । विशेषता यह है कि इनके सम्बन्ध में तेजोलेश्या का कथन (अभिलाप) अधिक करना चाहिए ।

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३५३

१२०३. [१] से णूणं भंते ! कण्हलेसे पुढविक्काइए कण्हलेस्सेसु पुढविक्काइएसु उववज्जति ? कण्हलेस्से उव्वट्टति ? जल्लेसे उववज्जति तल्लेसे उव्वट्टति ?

हंता गोयमा ! कण्हलेस्से पुढविक्काइए कण्हलेस्सेसु पुढविक्काइएसु उववज्जति ; सिए कण्हलेस्से उव्वट्टति, सिय नीललेसे उव्वट्टति, सिय काउलेसे उव्वट्टति, सिय जल्लेसे उव्वज्जइ तल्लेसे उव्वट्टति ।

[१२०३-१ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या वाला पृथ्वीकायिक कृष्णलेश्या वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है ? तथा क्या कृष्णलेश्या वाला हो कर (वहाँ से) उद्वर्त्तन करता है ? जिस लेश्या वाला हो कर उत्पन्न होता है, (क्या) उसी लेश्या वाला हो कर (वहाँ से) उद्वर्त्तन करता (मरता) है ?

[१२०३-१ उ.] हाँ, गौतम ! कृष्णलेश्या वाला पृथ्वीकायिक कृष्णलेश्या वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है, (किन्तु) उद्वर्त्तन (मरण) कदाचित् कृष्णलेश्या वाला हो कर, कदाचित् नीललेश्या वाला हो कर और कदाचित् कापोतलेश्या वाला होकर करता है। (अर्थात्) जिस लेश्या वाला हो कर उत्पन्न होता है, कदाचित् उस लेश्या वाला हो कर उद्वर्त्तन करता है। और (कदाचित् अन्य लेश्यावाला होकर मरण करता है।)

[२] एवं नीललेस्सा काउलेस्सा वि ।

[१२०३-२] इसी प्रकार नीललेश्या वाले और कापोतलेश्या वाले (पृथ्वीकायिक के उत्पाद और उद्वर्त्तन के सम्बन्ध में) भी (समझ लेना चाहिए।)

[३] से णूणं भंते ! तेउलेस्से पुढविक्काइए तेउलेस्सेसु पुढविक्काइएसु उववज्जइ ? पुच्छा ।

हंता गोयमा ! तेउलेसे पुढविकाइए तेउलेसेसु पुढविक्काइएसु उववज्जति, सिय कण्हलेसे उव्वट्टइ, सिय नीललेसे उव्वट्टइ, सिय काउलेसे उव्वट्टति; तेउलेसे उववज्जति, णो चेव णं तेउलेस्से उव्वट्टति ।

[१२०३-३ प्र.] भगवन् ! तेजोलेश्या वाला पृथ्वीकायिक क्या तेजोलेश्या वाल पृथ्वीकायिकों में ही उत्पन्न होता है ? तेजोलेश्या वाला हो कर ही उद्वर्त्तन करता है ?, (इत्यादि पूर्ववत्) पृच्छा।

[१२०३-३ उ.] हाँ, गौतम ! तेजोलेश्या वाला पृथ्वीकायिक तेजोलेश्या वाले पृथ्वीकायिकों में ही उत्पन्न होता है, (किन्तु) उद्वर्त्तन कदाचित् कृष्णलेश्या वाला हो कर, कदाचित् नीललेश्या वाला हो कर, कदाचित् कापोतलेश्या वाला होकर करता है, (वह) तेजोलेश्या से युक्त हो कर उत्पन्न होता है, (परन्तु) तेजोलेश्या से युक्त होकर उद्वर्त्तन नहीं करता।

[४] एवं आउक्काइय-वणस्सइकाइया वि ।

[१२०३-४] अप्कायिकों और वनस्पतिकायिकों की (उत्पाद-उद्वर्त्तनसम्बन्धी) वक्तव्यता भी इसी प्रकार (पृथ्वीकायिकों के समान) समझनी चाहिए।

[५] तेऊ वाऊ एवं चेव । णवरं एतेसिं तेउलेस्सा णत्थि ।

[१२०३-५] तेजस्कायिकों और वायुकायिकों की (उत्पाद-उद्वर्त्तनसम्बन्धी वक्तव्यता) इसी प्रकार है (किन्तु) विशेषता यह है कि इनमें तेजोलेश्या नहीं होती ।

१२०४. बिय-तिय-चउरिंदिया एवं चेव तिसु लेसासु ।

[१२०४] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों का (उत्पाद-उद्वर्त्तन सम्बन्धी कथन) भी इसी प्रकार तीनों (कृष्ण, नील एवं कापोत) लेश्याओं में जानना चाहिए ।

१२०५. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा य जहा पुढविक्काइया आदिल्लियासु तिसु लेस्सासु भणिया (सु. १२०३ [१-२]) तहा छसु वि लेसासु भाणियव्वा । णवरं छप्पि लेसाओ चारियव्वाओ ।

[१२०५] पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों और मनुष्यों का (उत्पाद उद्वर्त्तन सम्बन्धी) कथन भी छहों लेश्याओं में उसी प्रकार है, जिस प्रकार (सू. १२०३—१-२ में) पृथ्वीकायिकों का (उत्पाद-उद्वर्त्तन-सम्बन्धी कथन) प्रारम्भ की तीन लेश्याओं (के विषय) में कहा है । विशेषता यही है कि (पूर्वोक्त तीन लेश्या के बदले यहाँ) छहों लेश्याओं का कथन (अभिलाप) कहना चाहिए ।

१२०६. वाणमंतरा जहा असुरकुमारा (सु. १२०२ ।)

[१२०६] वाणव्यन्तर देवों की (उत्पाद-उद्वर्त्तन-सम्बन्धी वक्तव्यता सू. १२०२ में उक्त) असुरकुमारों (की वक्तव्यता) के समान (जाननी चाहिए ।)

१२०७. [१] से णूणं भंते ! तेउलेस्से जोइसिए तेउलेसेसु जोइसिएसु उववज्जति ? जहेव असुरकुमारा ।

[१२०७-१ प्र.] भगवन् ! क्या तेजोलेश्या वाला ज्योतिष्क देव तेजोलेश्या वाले ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होता है ? (क्या वह तेजोलेश्यायुक्त होकर ही च्यवन करता है ?)

[१२०७-१ उ.] जैसा असुरकुमारों के विषय में कहा गया है, वैसा ही कथन ज्योतिष्कों के विषय में समझना चाहिए ।

[२] एवं वेमाणिया वि । णवरं दोण्ह वि चयंतीति अभिलावो ।

[१२०७-२] इसी प्रकार वैमानिक देवों के उत्पाद और उद्वर्त्तन के विषय में भी कहना चाहिए । विशेषता यह है कि दोनों प्रकार के (ज्योतिष्क और वैमानिक) देवों के लिए ('उद्वर्त्तन करते हैं,' इसके स्थान में) 'च्यवन करते हैं' ऐसा अभिलाप (करना चाहिए ।)

विवेचन—लेश्यायुक्त चौवीसदण्डकवर्ती जीवों को उत्पाद-उद्वर्त्तन-प्ररूपणा—प्रस्तुत सात सूत्रों (१२०१ से १२०७ तक) में लेश्या की अपेक्षा से चौवीसदण्डकवर्ती जीवों को उत्पाद और उद्वर्त्तन की प्ररूपणा की गई है ।

नारकों और देवों में उत्पाद और उद्वर्त्तन का नियम—जीव जिस लेश्यावाला होता है, वह उसी लेश्या वालों में उत्पन्न होता है तथा उसी लेश्या वाला होकर वहाँ से उद्वर्त्तन करता (मरता)

है। उदाहरणार्थ—कृष्णलेश्या वाला नारक कृष्णलेश्या वाले नारकों में उत्पन्न होता है और जब उद्वर्त्तन करता है, तब कृष्णलेश्या वाला होकर ही उद्वर्त्तन करता है, अन्य लेश्या से युक्त होकर नहीं। इसका कारण यह है कि पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च अथवा मनुष्य पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चायु अथवा मनुष्यायु का पूरी तरह से क्षय होने से अन्तर्मुहूर्त पहले उसी लेश्या से युक्त हो जाता है, जिस लेश्या वाले नारक में उत्पन्न होने वाला होता है। तत्पश्चात् उसी अप्रतिपतित परिणाम से नरकायु का वेदन करता है। अतएव कहा है—कृष्णलेश्या वाला नारक कृष्णलेश्या वाले नारकों में ही उत्पन्न होता है, अन्य लेश्या वाले नारकों में उत्पन्न नहीं होता। तत्पश्चात् वहाँ कृष्णलेश्या वाला ही बना रहता है, उसकी लेश्या बदलती नहीं है; क्योंकि देवों और नारकों की लेश्या भव का क्षय होने तक बदलती नहीं है। इसी प्रकार नीललेश्या वाला या कापोतलेश्या वाला नारक उसी लेश्यावाले नारकों में उत्पन्न होता है, अन्य लेश्या वालों में नहीं और न अन्य लेश्या वाला नीललेश्या या कापोतलेश्या वालों में उत्पन्न होता है। नारकों की उद्वर्त्तना के सम्बन्ध में भी यही नियम है कि नीललेश्या वालों में उत्पन्न नारक नीललेश्यायुक्त होकर ही वहाँ से उद्वृत्त होता है, अन्य लेश्यायुक्त होकर नहीं।[1]

पृथ्वीकायिक आदि की उद्वर्तना के सम्बन्ध में -पृथ्वीकायिक आदि तिर्यञ्चों और मनुष्यों की उद्वर्त्तना के विषय में यह नियम एकान्तिक नहीं है कि जिस लेश्या वालों में वह उत्पन्न हो, उसी लेश्या से युक्त होकर उद्वर्तन करे। वह कदाचित् कृष्णलेश्या वाला होकर उदवर्तन करता है, कदाचित् नीललेश्या वाला होकर और कदाचित् कापोतलेश्या वाला होकर उद्वर्तन करता है तथा कदाचित् वह जिस लेश्या वालों में उत्पन्न होता है, उसी लेश्या वाला होकर उद्वर्तन करता है। इसका कारण यह है कि तिर्यञ्चों और मनुष्यों का लेश्या-परिणाम अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थायी रहता है, उसके पश्चात् बदल जाता है।[2] अतएव जो पृथ्वीकायिकादि जिस लेश्या से युक्त होकर उत्पन्न होता है, वह कदाचित् उसी लेश्या से युक्त होकर उद्वर्तन करता है, कदाचित् अन्य लेश्या से युक्त होकर भी उद्वर्तन करता है। तेजोलेश्या से युक्त पृथ्वीकायिक उत्पन्न तो होता है लेकिन तेजोलेश्या से युक्त होकर उद्वृत्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि जब भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म-ईशान कल्पों के देव तेजोलेश्या से युक्त होकर अपने भव का त्याग करके पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होते हैं, तब कुछ काल तक अपर्याप्त अवस्था में उनमें तेजोलेश्या भी पायी जाती है, किन्तु उसके पश्चात् तेजोलेश्या नहीं रहती, क्योंकि पृथ्वीकायिक जीव अपने भव-स्वभाव से ही तेजोलेश्या के योग्य द्रव्यों को ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं। इस अभिप्राय से कहा है कि तेजोलेश्या से युक्त होकर पृथ्वीकायिक उत्पन्न तो होता है, किन्तु तेजोलेश्या से युक्त होकर उद्वृत्त नहीं होता।[3]

पृथ्वीकायिकों की तरह अप्कायिकादि की चार वक्तव्यताएँ—जिस प्रकार पृथ्वीकायिकों की कृष्ण, नील, कापोत एवं तेजोलेश्या सम्बन्धी चार वक्तव्यताएँ कही हैं, उसी प्रकार अप्कायिकों और वनस्पतिकायिकों की भी चार वक्तव्यताएँ कहनी चाहिए, क्योंकि अपर्याप्त अवस्था में उनमें भी तेजोलेश्या पाई जाती है।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३५३

२. 'अंतोमुहुत्तंमि गए, सेसए आउं (चेव)।
लेसाहिं परिणयाहिं जीवा वच्चंति परलोयं॥'

३. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३५४

तेजस्कायिकों, वायुकायिकों तथा विकलेन्द्रियों में तीन वक्तव्यताएँ- तेजस्कायिकों, वायुकायिकों और विकलेन्द्रियों में तेजोलेश्या नहीं होती, क्योंकि उसका होना संभव नहीं है।[1]

सामूहिक लेश्या की अपेक्षा से चौवीसदण्डकों में उत्पाद-उद्वर्तननिरूपण

१२०८. से णूणं भंते ! कण्हलेस्से नीललेस्से काउलेस्से णेरइए कण्हलेस्सेसु णीललेस्सेसु काउलेस्सेसु णेरइएसु उववज्जति ? कण्हलेस्से णीललेस्से काउलेस्से उव्वट्टति जल्लेसे उववज्जति तल्लेसे उव्वट्टति ?

हंता गोयमा ! कण्हलेस्स-णीललेस्स-काउलेस्सेसु उववज्जति, जल्लेसे उववज्जति तल्लेसे उव्वट्टति ।

[१२०८ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या वाला नैरयिक क्या क्रमशः कृष्णलेश्या वाले, नीललेश्या वाले और कापोतलेश्या वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ? क्या वह (क्रमशः) कृष्णलेश्या वाला, नीललेश्या वाला तथा कापोतलेश्या वाला होकर ही (वहाँ से) उद्वर्त्तन करता है ? (अर्थात्—) (जो नारक) जिस लेश्या से युक्त होकर उत्पन्न होता है, क्या वह उसी लेश्या से युक्त होकर मरण करता है ?

[१२०८ उ.] हाँ, गौतम ! (वह क्रमशः) कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या वाले नारकों में उत्पन्न होता है और जो नारक जिस लेश्या वाला होकर उत्पन्न होता है, वह उसी लेश्या से युक्त होकर मरण करता है ।

१२०९. से णूणं भंते ! कण्हलेस्से जाव तेउलेस्से असुरकुमारे कण्हलेस्सेसु जाव तेउलेस्सेसु असुरकुमारेसु उववज्जति ?

एवं जहेव नेरइए (सु. १२०८) तहा असुरकुमारे वि जाव थणियकुमारे वि ।

[१२०९ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या वाला, यावत् तेजोलेश्या वाला असुरकुमार (क्रमशः) कृष्णलेश्या वाले यावत् तेजोलेश्या वाले असुरकुमारों में उत्पन्न होता है ? (और क्या वह कृष्णलेश्या वाला यावत् तेजोलेश्या वाला होकर ही असुरकुमारों से उद्वृत होता है ?)

[१२०९ उ.] हाँ, गौतम ! जैसे (सू. १२०८ में नैरयिक के उत्पाद-उद्वर्त्तन के सम्बन्ध में कहा, वैसे ही असुरकुमार के विषय में भी, यावत् स्तनितकुमार के विषय में भी कहना चाहिए ।

१२१०. [१] से णूणं भंते ! कण्हल्लेसे जाव तेउल्लेसे पुढविकाइए कण्हल्लेसेसु जाव तेउल्लेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जति ? एवं पुच्छा जहा असुरकुमाराणं ।

हंता गोयमा ! कण्हलेस्से जाव तेउलेस्से पुढविकाइए कण्हलेस्सेसु जाव तेउलेस्सेसु पुढविक्काइएसु उववज्जति, सिय कण्हलेस्से उवट्टति सिय णीललेस्से सिय काउलेस्से उव्वट्टति, सिय जल्लेस्से उववज्जइ तल्लेसे उव्वट्टइ, तेउलेस्से उववज्जइ, णो चेव णं तेउलेस्से उव्वट्टति ।

[१२१०-१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाला यावत् तेजोलेश्या वाला पृथ्वीकायिक, क्या (क्रमशः) कृष्णलेश्या वाले यावत् तेजोलेश्या वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है ? (और क्या वह

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३५४

जिस लेश्या से युक्त होकर उत्पन्न होता है, उसी लेश्या से युक्त होकर उद्वृत्त होता है ? इस प्रकार जैसी पृच्छा असुरकुमारों के विषय में की गई है, वैसी ही यहाँ भी समझ लेनी चाहिए।

[१२१०-१ उ.] हाँ, गौतम ! कृष्णलेश्या वाला यावत् तेजोलेश्या वाला पृथ्वीकायिक (क्रमशः) कृष्णलेश्या वाले यावत् तेजोलेश्या वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है, (किन्तु कृष्णलेश्या में उत्पन्न होने वाला वह पृथ्वीकायिक) कदाचित् कृष्णलेश्यायुक्त होकर उद्वर्त्तन करता है, कदाचित् नीललेश्या से युक्त होकर उद्वर्त्तन करता है तथा कदाचित् कापोतलेश्या से युक्त होकर उद्वर्त्तन करता है, कदाचित् जिस लेश्या वाला होकर उत्पन्न होता है, उसी लेश्या वाला होकर उद्वर्त्तन करता है। (विशेष यह है कि वह) तेजोलेश्या से युक्त होकर उत्पन्न तो होता है, किन्तु तेजोलेश्या वाला होकर उद्वृत्त नहीं होता।

[२] एवं आउक्काइय-वणप्फइकाइया वि भाणियव्वा।

[१२१०-२] अप्कायिकों और वनस्पतिकायिकों के (सामूहिकरूप से उत्पाद-उद्वर्त्तन के) विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए।

[३] से णूणं भंते ! कण्हलेस्से णीललेस्से काउलेस्से तेउक्काइए कण्हलेसेसु णीललेसेसु काउलेसेसु तेउक्काइएसु उववज्जति ? कण्हलेसे णीललेसे काउलेसे उव्वट्टति ? जल्लेसे उववज्जति तल्लेसे उव्वट्टति ?

हंता गोयमा ! कण्हलेस्से णीललेस्से काउलेस्से तेउक्काइए कण्हलेसेसु णीललेसेसु काउलेसेसु तेउक्काइएसु उववज्जति, सिय कण्हलेसे उव्वट्टति सिय णीललेसे सिय काउलेस्से उव्वट्टति, सिय जल्लेसे उववज्जति तल्लेसे उव्वट्टति।

[१२१०-३ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या वाला तेजस्कायिक, (क्रमशः) कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या वाले तेजस्कायिकों में ही उत्पन्न होता है ? तथा क्या वह (क्रमशः) कृष्णलेश्या वाला, नीललेश्या वाला तथा कापोतलेश्या वाला होकर ही उद्वृत्त होता है ? (अर्थात् वह) जिस लेश्या से युक्त होकर उत्पन्न होता है, क्या उसी लेश्या से युक्त होकर उद्वृत्त होता है ?

[१२१०-३ उ.] हाँ, गौतम ! कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या वाला तेजस्कायिक, (क्रमशः) कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या वाले तेजस्कायिकों में उत्पन्न होता है, किन्तु कदाचित् कृष्णलेश्या से युक्त होकर उद्वर्त्तन करता है, कदाचित् नीललेश्या से युक्त होकर, कदाचित् कापोतलेश्या से युक्त होकर उद्वर्त्तन करता है। (अर्थात्) कदाचित् जिस लेश्या से युक्त होकर उत्पन्न होता है, उसी लेश्या से युक्त होकर उद्वर्त्तन करता है, (कदाचित् अन्य लेश्या से युक्त होकर भी उद्वर्त्तन करता है।)

[४] एवं वाउक्काइया बेइंदिय-तेइंदिया-चउरिंदिया वि भाणियव्वा।

[१२१०-४] इसी प्रकार वायुकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के (उत्पाद उद्वर्त्तन के) सम्बन्ध में कहना चाहिए।

१२११. से णूणं भंते ! कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे पंचेंदियतिरिक्खजोणिए कण्हलेसेसु जाव सुक्कलेसेसु पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जति ? पुच्छा।

हंता गोयमा ! कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से पंचेंदियतिरिक्खजोणिए कण्हलेस्सेसु जाव सुक्कलेस्सेसु पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जति, सिय कण्हलेस्से उव्वट्टति जाव सिय सुक्कलेस्से उव्वट्टति, सिय जल्लेसे उववज्जति तल्लेसे उव्वट्टति ।

[१२११ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या वाला यावत् शुक्ललेश्या वाला पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक (क्रमशः) कृष्णलेश्या वाले यावत् शुक्ललेश्या वाले पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न होता है ? और क्या उसी कृष्णादि लेश्या से युक्त होकर (मरण) करता है ? इत्यादि पृच्छा ।

[१२११ उ.] हाँ गौतम ! कृष्णलेश्या वाला यावत् शुक्ललेश्या वाला पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक (क्रमशः) कृष्णलेश्या वाले यावत् शुक्ललेश्या वाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न होता है, किन्तु उद्वर्त्तन (मरण) कदाचित् कृष्णलेश्या वाला होकर करता है, कदाचित् नीललेश्या वाला होकर करता है, यावत् कदाचित् शुक्ललेश्या से युक्त होकर करता है, (अर्थात्) कदाचित् जिस लेश्या से युक्त होकर उत्पन्न होता है, उसी लेश्या से युक्त होकर उद्वर्त्तन करता है, (कदाचित् अन्य लेश्या से युक्त होकर भी उद्वर्त्तन करता है ।)

१२१२. एवं मणूसे वि ।

[१२१२] मनुष्य भी इसी प्रकार (पंचेन्द्रियतिर्यञ्च के समान छहों लेश्याओं में से किसी भी लेश्या से युक्त होकर उसी लेश्या वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है तथा इसका उद्वर्त्तन भी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के समान समझना चाहिए ।)

१२१३. वाणमंतरे जहा असुरकुमारे (सु. १२०९) ।

[१२१३] वाणव्यन्तर देव का (सामूहिक लेश्यायुक्त उत्पाद और उद्वर्तन सू. १२०९ में उक्त) असुरकुमार की तरह समझना चाहिए ।

१२१४. जोइसिय-वेमाणिए वि एवं चेव । नवरं जस्स जल्लेसा, दोण्ह वि चयणं ति भाणियव्वं ।

[१२१४] ज्योतिष्क और वैमानिक देव का उत्पाद-उद्वर्त्तनसम्बन्धी कथन भी इसी प्रकार (असुरकुमारों के समान) ही समझना चाहिए । विशेष यह है कि जिसमें जितनी लेश्याएँ हों, उतनी लेश्याओं का कथन करना चाहिए तथा दोनों (ज्योतिष्कों और वैमानिकों) के लिए उद्वर्त्तन के स्थान में 'च्यवन' शब्द कहना चाहिए ।

विवेचन—चौवीसदण्डकवर्ती जीवों का लेश्या की अपेक्षा से सामूहिक उत्पाद-उद्वर्त्तन सम्बन्धी निरूपण—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू.१२०८ से १२१४ तक) में चौवीसदण्डकवर्ती प्रत्येक दण्डकीय जीव की संभावित लेश्याओं को लेकर सामूहिकरूप से उत्पाद-उद्वर्तन की पुनः प्ररूपणा की गई है ।

इन सूत्रों के पुनरावर्तन का कारण—यद्यपि नारकों से वैमानिकों तक चौवीस दण्डकों के क्रम से प्रत्येक दण्डक के जीव की एक-एक लेश्या को लेकर उत्पाद और उद्वर्त्तनसम्बन्धी प्ररूपणा पूर्वसूत्रों (१२०१ से १२०७ तक) में की जा चुकी है, तथापि विभिन्न लेश्या वाले बहुत-से नारकों के उस-उस गति में उत्पन्न होने की स्थिति में अन्यथा वस्तुस्थिति की संभावना की जा सकती है, क्योंकि एक-

एक में रहने वाले धर्म की अपेक्षा समुदाय का धर्म कहीं अन्य प्रकार का भी देखा जाता है। इसी आशंका के निवारणार्थ जिनमें जितनी लेश्याएँ सम्भव हैं, उनकी उतनी सब लेश्याओं को एक साथ लेकर पूर्वोक्त विषय सामूहिकरूप से पुनः सूत्रबद्ध किया गया है।[1]

कृष्णादिलेश्या वाले नैरयिकों में अवधिज्ञान-दर्शन से जानने-देखने का तारतम्य

१२१५. [१] कण्हलेस्से णं भंते ! णेरइए कण्हलेस्सं णेरइयं पणिहाए ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे समभिलोएमाणे केवतियं खेत्तं जाणइ ? केवतियं खेत्तं पासइ ?

गोयमा ! णो बहुयं खेत्तं जाणइ णो बहुयं खेत्तं पासइ, णो दूरं खेत्तं जाणइ णो दूरं खेत्तं पासति, इत्तरियमेव खेत्तं जाणइ इत्तरियमेव खेत्तं पासइ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ कण्हलेसे णं णेरइए तं चेव जाव इत्तरियमेव खेत्तं पासइ ?

गोयमा ! से जहाणामए केइ पुरिसे बहुसमरमणिज्जंसि भूमिभागंसि ठिच्चा सव्वओ समंता समभिलोएज्जा, तए णं से पुरिसे धरणितलगतं पुरिसं पणिहाए सव्वओ समंता समभिलोएमाणे समभिलोएमाणे णो बहुयं खेत्तं जाव पासइ जाव इत्तरियमेव खेत्तं पासइ।

सेएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ कण्हलेसे णं णेरइए जाव इत्तरियमेव खेत्तं पासइ।

[१२१५-१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाला नैरयिक कृष्णलेश्या वाले दूसरे नैरयिक की अपेक्षा अवधि (ज्ञान) के द्वारा सभी दिशाओं और विदिशाओं में (सब ओर) समवलोकन करता हुआ कितने क्षेत्र को जानता है और (अवधिदर्शन से) कितने क्षेत्र को देखता है ?

[१२१५-१ उ.] गौतम ! (एक कृष्णलेश्यी नारक दूसरे कृष्णालेश्यावान् नारक की अपेक्षा) न तो बहुत अधिक क्षेत्र को जानता है और न बहुत क्षेत्र को देखता है, (वह) न बहुत दूरवर्ती क्षेत्र को जानता है और न बहुत दूरवर्ती क्षेत्र को देख पाता है, (वह) थोड़े से अधिक क्षेत्र को जानता है और थोड़े-से ही अधिक क्षेत्र को देख पाता है।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि कृष्णलेश्या युक्त नारक न बहुत क्षेत्र को जानता है ·····(इत्यादि) यावत् थोड़े से ही क्षेत्र को देख पाता है ?

[उ.] गौतम ! जैसे कोई पुरुष अत्यन्त सम एवं रमणीय भू-भाग पर स्थित होकर चारों ओर (सभी दिशाओं और विदिशाओं में) देखे, तो वह पुरुष भूतल पर स्थित (किसी दूसरे) पुरुष की अपेक्षा से सभी दिशाओं-विदिशाओं में बार-बार देखता हुआ न तो बहुत अधिक क्षेत्र को जानता है और न बहुत अधिक क्षेत्र देख पाता है, यावत् (वह) थोड़े ही अधिक क्षेत्र को जानता और देख पाता है। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि कृष्णलेश्या वाला नारक ····यावत् थोड़े ही क्षेत्र को देख पाता है।

[२] णीललेसे णं भंते ! णेरइए कण्हलेसं णेरइयं पणिहाय ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे समभिलोएमाणे केवतियं खेत्तं जाणइ ? केवतियं खेत्तं पासइ ?

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३५५

गोयमा ! बहुतरागं खेत्तं जाणइ बहुतरागं खेत्तं पासइ, दूरतरागं खेत्तं जाणइ दूरतरागं खेत्तं पासइ, वितिमिरतरागं खेत्तं जाणइ वितिमिरतरागं खेत्तं पासइ, विसुद्धतरागं खेत्तं जाणइ विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णीललेस्से णं णेरइए कण्हलेस्सं णेरइयं पणिहाय जाव विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ ?

गोयमा ! से जहाणामए केइ पुरिसे बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ पव्वयं दुरूहति, दुरूहित्ता सव्वओ समंता समभिलोएज्जा, तए णं से पुरिसे धरणितलगयं पुरिसं पणिहाय सव्वओ समंता समभिलोएमाणे समभिलोएमाणे बहुतरागं खेत्तं जाणइ जाव विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ ।

से एतेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ णीललेस्से णेरइए कण्हलेस्सं णेरइयं जाव विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ ।

[१२१५-२ प्र.] भगवन् ! नीललेश्या वाला नारक, कृष्णलेश्या वाले नारक की अपेक्षा सभी दिशाओं और विदिशाओं में अवधि (ज्ञान) के द्वारा देखता हुआ कितने क्षेत्र को जानता है और कितने क्षेत्र को (अवधिदर्शन से) देखता है ?

[१२१५-२ उ.] गौतम ! (वह नीललेश्यी नारक कृष्णलेश्यी नारक की अपेक्षा) बहुतर क्षेत्र को जानता है और बहुतर क्षेत्र को देखता है, दूरतर क्षेत्र को जानता है और दूरतर क्षेत्र को देखता है, (वह) क्षेत्र को वितिमिरतर (भ्रान्तिरहित रूप से) जानता है तथा क्षेत्र को वितिमिरतर देखता है, (वह) क्षेत्र को विशुद्धतर (अत्यन्त स्फुट रूप से) जानता है तथा क्षेत्र को विशुद्धतर (रूप से) देखता है ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि नीललेश्या वाला नारक, कृष्णलेश्या वाले नारक की अपेक्षा यावत् क्षेत्र को विशुद्धतर जानता है तथा क्षेत्र को विशुद्धतर देखता है ?

[उ.] गौतम ! जैसे कोई पुरुष अतीव सम, रमणीय भूमिभाग से पर्वत पर चढ़ कर सभी दिशाओं-विदिशाओं में अवलोकन करे, तो वह पुरुष भूतल पर स्थित पुरुष की अपेक्षा, सब तरफ देखता-देखता हुआ बहुतर क्षेत्र को जानता-देखता है, यावत् क्षेत्र को विशुद्धतर जानता-देखता है। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि नीललेश्या वाला नारक, कृष्णलेश्या वाले नारक की अपेक्षा क्षेत्र को यावत् विशुद्धतर (रूप से) जानता-देखता है ।

[३] काउलेसे णं भंते ! णेरइए णीललेस्सं णेरइयं पणिहाय ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे समभिलोएमाणे केवतियं खेत्तं जाणइ ? केवतियं खेत्तं पासइ ?

गोयमा ! बहुतरागं खेत्तं जाणइ बहुतरागं खेत्तं पासइ जाव विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ ?

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ काउलेसे णं णेरइए जाव विसुद्धतरागं खेत्तं पासइ ?

गोयमा ! से जहाणामए केइ पुरिसे बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ पव्वतं दुरूहति, दुरूहित्ता रुक्खं दुरूहति, दुरूहित्ता दो वि पादे उच्चाविय सव्वओ समंता समभिलोएज्जा, तए णं से पुरिसे पव्वतगयं धरणितलगयं च पुरिसं पणिहाय सव्वओ समंता समभिलोएमाणे समभिलोएमाणे बहुतरागं खेत्तं जाणइ बहुतरागं खेत्तं पासइ जाव वितिमिरतरागं (विसुद्धतरागं) खेत्तं पासइ ।

से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ काउलेस्से णं णेरइए णीललेस्सं णेरइयं पणिहाय तं चेव जाव वितिमिरतरागं (विसुद्धतरागं) खेत्तं पासइ ।

[१२१५-३ प्र.] भगवन् ! कापोतलेश्या वाला नारक नीललेश्या वाले नारक की अपेक्षा अवधि (ज्ञान) से सभी दिशाओं-विदिशाओं में (सब ओर) देखता-देखता कितने क्षेत्र को जानता है कितने (अधिक) क्षेत्र को देखता है ?

[१२१५-३ उ.] गौतम ! (वह कापोतलेश्यी नारक नीललेश्यी नारक की अपेक्षा) बहुतर क्षेत्र को जानता है, बहुतर क्षेत्र को देखता है, दूरतर क्षेत्र को जानता है, दूरतर क्षेत्र को देखता है तथा यावत् क्षेत्र को विशुद्धतर (रूप से) जानता-देखता है ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि कापोतलेश्यी नारक,.....यावत् विशुद्धतर क्षेत्र को जानता-देखता है ?

[उ.] गौतम ! जैसे कोई पुरुष अत्यन्त सम एवं रमणीय भूभाग से पर्वत पर चढ़ जाए, फिर पर्वत से वृक्ष पर चढ़ जाए, तदनन्तर वृक्ष पर दोनों पैरों को ऊँचा करके चारों दिशाओं-विदिशाओं में (सब ओर) जाने-देखे तो वह बहुत क्षेत्र को जानता है, बहुतर क्षेत्र को देखता है यावत् उस क्षेत्र को निर्मलतर (विशुद्धतर रूप से) जानता-देखता है । इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि कापोतलेश्या वाला नैरयिक नीललेश्या वाले नारक की अपेक्षा.....यावत् (अधिक) क्षेत्र को वितिमिरतर (निर्मलतर एवं विशुद्धतर रूप से) जानता और देखता है ।

विवेचन—कृष्णादिलेश्या वाले नैरयिकों में अवधिज्ञान-दर्शन से जानने-देखने का तारतम्य—प्रस्तुत सूत्र (१२१५-१, २, ३) में कृष्णादिलेश्या विशिष्ट नारकों के द्वारा अवधिज्ञान-दर्शन से जानने-देखने के तारतम्य का निरूपण किया गया है ।

कृष्णलेश्यी दो नारकों में अवधिज्ञान से जानने-देखने में अधिक अन्तर नहीं—कृष्णलेश्यी एक नारक दूसरे कृष्णलेश्यी नारक से बहुत अधिक क्षेत्र को नहीं जानता-देखता, थोड़े-से ही अधिक क्षेत्र को जानता-देखता है । इस कथन का तात्पर्य यह है कि एक कृष्णलेश्यी दूसरे कृष्णलेश्यी नारक से योग्यता में विशुद्धि वाला होने पर भी बहुत अधिक दूरवर्ती क्षेत्र को अवधिज्ञान-दर्शन से नहीं जान-देख पाता, बल्कि थोड़े ही अधिक क्षेत्र को जान-देख पाता है । यह कथन एक ही नरकपृथ्वी के नारकों की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि सातवीं नरक का कृष्णलेश्यी नारक जघन्य आधा गाऊ और उत्कृष्ट एक गाऊ जानता है, जबकि छठी नरक का कृष्णलेश्यावान् नारक जघन्य एक गाऊ और उत्कृष्ट डेढ गाऊ जानता है, पांचवीं-छठी नरकपृथ्वी वाला कृष्णलेश्यी नारक जघन्य डेढ गाऊ और उत्कृष्ट किञ्चित् न्यून दो गाऊ जानता है । इस प्रकार विविध पृथ्वी के कृष्णलेश्यी नारकों के जानने-देखने में अन्तर होने से दोषापत्ति होगी; इसलिए एक ही नरकपृथ्वी के कृष्णलेश्यी नारकों की अपेक्षा से यह कथन यथार्थ है । अधिक न देखने-जानने का कारण यह है कि जैसे दो व्यक्ति समतल भूमि पर खड़े होकर इधर-उधर देखें तो उनमें से एक अपने नेत्रों की निर्मलता के कारण भले अधिक देखे किन्तु कुछ ही अधिक क्षेत्र को जान-देख सकता है, बहुत अधिक दूर तक नहीं । इसी प्रकार कोई कृष्णलेश्यी नारक अपनी योग्यतानुसार दूसरे नारक की अपेक्षा अतिविशुद्ध हो तो भी वह कुछ ही अधिक क्षेत्र को जान-देख पाता है, बहुत अधिक क्षेत्र को नहीं ।[1]

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३५६

नीललेश्या और कापोतलेश्या वाले का उत्तरोत्तर स्फुट ज्ञान-दर्शन—(१) जैसे कोई व्यक्ति समतल भूभाग से पर्वतारूढ़ होकर चारों ओर देखे तो वह भूतल पर खड़े हुए पुरुष की अपेक्षा क्षेत्र को दूर तक, अधिक स्पष्ट, विशुद्धतर जानता-देखता है, वैसे ही नीललेश्या वाला नारक भूमितल-स्थानीय कृष्णलेश्या वाले नारक की अपेक्षा अपने अवधिज्ञान से क्षेत्र को अतीव दूर तक निर्मलतर, विशुद्धतर जानता-देखता है। (२) जैसे कोई व्यक्ति समतल भूमि से पर्वतारूढ होकर और फिर वहाँ वृक्ष पर चढ़ कर, दोनों पैर ऊँचे करके देखे तो वह नीचे भूतल पर स्थित और पर्वत पर स्थित पुरुषों की अपेक्षा अधिक दूरतर क्षेत्र को अतीव स्फुट एवं विशुद्धतर देखता है, वैसे ही वृक्षस्थानीय कापोतलेश्या वाला, पर्वतस्थानीय नीललेश्यावान् एवं भूमितलस्थानीय कृष्णलेश्यावान् की अपेक्षा अवधिज्ञान से बहुत दूर तक के क्षेत्र को विशुद्धतर जानता-देखता है।[1]

कृष्णादिलेश्यायुक्त जीवों में ज्ञान की प्ररूपणा

१२१६. [१] कण्हलेस्से णं भंते ! जीवे कतिसु णाणेसु होज्जा ?

गोयमा ! दोसु वा तिसु वा चउसु वा णाणेसु हुज्जा, दोसु होमाणे आभिणिबोहिय-सुयणाणेसु होज्जा, तिसु होमाणे आभिणिबोहिय-सुयणाण-ओहिणाणेसु होज्जा, अहवा तिसु होमाणे आभिणिबोहिय-सुयणाण-मणपज्जवणाणेसु होज्जा, चउसु होमाणे आभिणिबोहियणाण-सुयणाण-ओहिणाण-मणपज्जवणाणेसु होज्जा।

[१२१६-१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाला जीव कितने ज्ञानों में होता है ?

[१२१६-१ उ.] गौतम ! (वह) दो, तीन अथवा चार ज्ञानों में होता है। यदि दो (ज्ञानों) में हो तो आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान में होता है, तीन (ज्ञानों) में हो तो आभिनिबोधिक, श्रुत और अवधिज्ञान में होता है, अथवा तीन (ज्ञानों) में हो तो आभिनिबोधिक श्रुतज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में होता है और चार ज्ञानों में हो तो आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में होता है।

[२] एवं जाव पम्हलेस्से।

[१२१६-२] इसी प्रकार (नील, कापोत और तेजोलेश्या) यावत् पद्मलेश्या वाले जीव में पूर्वोक्त सूत्रानुसार ज्ञानों की प्ररूपणा समझ लेना चाहिए।

१२१७. सुक्कलेस्से णं भंते ! जीवे कइसु णाणेसु होज्जा ?

गोयमा ! दोसु वा तिसु वा चउसु वा एगम्मि वा होज्जा, दोसु होमाणे आभिणिबोहियणाण० एवं जहेव कण्हलेस्साणं (सु. १२२६ [१]) तहेव भाणियव्वं जाव चउहिं, एगम्मि होमाणे एगम्मि केवलणाणे होज्जा।

॥ पण्णवणाए भगवतीए लेस्सापदे तइओ उद्देसओ समत्तो ॥

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३५६

[१२१७ प्र.] भगवन् ! शुक्ललेश्या वाला जीव कितने ज्ञानों में होता है ?

[१२१७ उ.] गौतम ! शुक्ललेश्यी जीव दो, तीन, चार या एक ज्ञान में होता है। यदि दो (ज्ञानों) में हो तो आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान में होता है, तीन या चार ज्ञानों में हो तो (सू. १२१६-१ में) जैसा कृष्णलेश्या वालों का कथन किया था, उसी प्रकार यावत् चार ज्ञानों में होता है, यहाँ तक कहना चाहिए। यदि एक ज्ञान में हो तो एक केवलज्ञान में होता है।

विवेचन—कृष्णादिलेश्यायुक्त जीवों में ज्ञान-प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रों (१२१६-१२१७) में कृष्णलेश्या से लेकर शुक्ललेश्या तक से युक्त जीव पांच ज्ञानों में से कितने ज्ञानों वाला होता है ? इसका प्रतिपादन किया गया है।

अवधिज्ञानरहित मनःपर्यायज्ञान—किसी-किसी में अवधिज्ञानरहित मनःपर्यायज्ञान भी होता है, 'सिद्धप्राभृत' आदि ग्रन्थों में इसका अनेकबार प्रतिपादन किया गया है तथा प्रत्येक ज्ञान की क्षयोपशमसामग्री विचित्र होती है। आमर्ष-औषधि आदि लब्धियों से युक्त किसी अप्रमत्त चारित्री को विशिष्ट विशुद्ध अध्यवसाय में मनःपर्यायज्ञानावरण के क्षयोपशम की सामग्री प्राप्त हो जाती है, किन्तु अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम की सामग्री प्राप्त नहीं होती। उसे अवधिज्ञान के बिना भी मनःपर्यायज्ञान होता है।

कृष्णलेश्यावान् में मनःपर्यायज्ञान कैसे ?—यहाँ शंका हो सकती है कि मनःपर्यायज्ञान तो अतिविशुद्ध परिणाम वाले व्यक्ति को होता है और कृष्णलेश्या संक्लेशमय परिणाम रूप होती है। ऐसी स्थिति में कृष्णलेश्या वाले जीव में मनःपर्यायज्ञान कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि प्रत्येक लेश्या के अध्यवसायस्थान असंख्यात लोकाकाशप्रदेशों जितने हैं। उनमें से कोई-कोई मन्द अनुभाव वाले अध्यवसायस्थान होते हैं, जो प्रमत्तसंयत में पाए जाते हैं। यद्यपि मनःपर्यायज्ञान अप्रमत्तसंयत जीव को ही उत्पन्न होता है, परन्तु उत्पन्न होने के बाद वह प्रमत्तदशा में भी रहता है। इस दृष्टि से कृष्णलेश्यावाला जीव भी मनःपर्यायज्ञानी हो सकता है।[1]

शुक्ललेश्या वाले की विशेषता—शुक्ललेश्या वाला जीव केवलज्ञान में भी हो सकता है। केवलज्ञान शुक्ललेश्या के ही होता है अन्य किसी में नहीं।[2] यही अन्य लेश्या वालों से शुक्ललेश्या वाले की विशेषता है।

॥ सत्तरहवां लेश्यापद : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३५७

२. वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३५८

सत्तरसमं लेस्सापयं : चउत्थो उद्देसओ

सत्तरहवाँ लेश्यापद : चतुर्थ उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक के अधिकारों की गाथा

१२१८. परिणाम १ वण्ण २ रस ३ गंध ४ सुद्ध ५ अपसत्थ ६ संकिलिट्ठुण्हा ७-८ ।
गति ९ परिणाम १० पवेसावगाह ११-१२ वग्गण १३ ठाणाणमप्पबहुं १४-१५ ॥ ॥२१०॥

[१२१८. चतुर्थ उद्देशक की अधिकार गाथा का अर्थ—] (१) परिणाम, (२) वर्ण, (३) रस, (४) गन्ध, (५) शुद्ध (-अशुद्ध), (६) (प्रशस्त-) अप्रशस्त, (७) संक्लिष्ट (-असंक्लिष्ट), (८) उष्ण (-शीत), (९) गति, (१०) परिणाम, (११) प्रदेश (-प्ररूपणा), (१२) अवगाह, (१३) वर्गणा, (१४) स्थान (-प्ररूपणा) और (१५) अल्पबहुत्व, (ये पन्द्रह अधिकार चतुर्थ उद्देशक में कहे जाएँगे) ॥२१०॥

लेश्या के छह प्रकार

१२१९. कति णं भंते ! लेस्साओ पण्णत्ताओ ?
गोयमा ! छल्लेसाओ पण्णत्ताओ । तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

[१२१९ प्र.] भगवन् ! लेश्याएँ कितनी हैं ?
[१२१९ उ.] गौतम ! लेश्याएँ छह हैं, वे इस प्रकार—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या ।

प्रथम परिणामाधिकार

१२२०. से णूणं भंते ! कण्हलेस्सा णीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ?

हंता गोयमा ! कण्हलेस्सा णीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमति ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ कण्हलेस्सा णीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ?

गोयमा ! से जहाणामए खीरे दूसिं पप्प सुद्धे वा वत्थे रागं पप्प तारूवत्ताए तावण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ।

सेएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ कण्हलेस्सा णीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ।

[१२२० प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या नीललेश्या को प्राप्त हो कर उसी रूप में, उसी के वर्णरूप में, उसी के गन्धरूप में, उसी के रसरूप में, उसी के स्पर्शरूप में पुनः पुनः परिणत होती है ?

[१२२० उ.] हाँ, गौतम ! कृष्णलेश्या नीललेश्या को प्राप्त होकर उसी रूप में यावत् पुनः पुनः परिणत होती है ।

[प्र.] भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि कृष्णलेश्या नीललेश्या को प्राप्त करके उसी रूप में यावत् बार-बार परिणत होती है ?

[उ.] गौतम ! जैसे छाछ आदि खटाई का जावण (दूष्य) पाकर दूध अथवा शुद्ध वस्त्र, रंग (लाल, पीला आदि का सम्पर्क) पाकर उस रूप में, उसी के वर्ण-रूप में, उसी के गन्ध-रूप में, उसी के रस-रूप में, उसी के स्पर्श-रूप में पुनः पुनः परिणत हो जाता है, इसी प्रकार हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि कृष्णलेश्या नीललेश्या को पा कर उसी के रूप में यावत् पुनः पुनः परिणत होती है ।

१२२१. एवं एतेणं अभिलावेणं णीललेस्सा काउलेस्सं पप्प, काउलेस्सा तेउलेस्सं पप्प, तेउलेस्सा पम्हलेस्सं पप्प, पम्हलेस्सा सुक्कलेस्सं पप्प जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ।

[१२२१] इसी प्रकार (पूर्वोक्त) कथन (अभिलाप) के अनुसार नीललेश्या कापोतलेश्या को प्राप्त होकर, कापोतलेश्या तेजोलेश्या को प्राप्त होकर, तेजोलेश्या पद्मलेश्या को प्राप्त होकर और पद्मलेश्या शुक्ललेश्या को प्राप्त होकर उसी के रूप में और यावत् (उसी के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के रूप में) पुनः पुनः परिणत हो जाती है ।

१२२२. से णूणं भंते ! कण्हलेस्सा णीललेस्सं काउलेस्सं तेउलेस्सं पम्हलेस्सं सुक्कलेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ?

हंता गोयमा ! कण्हलेस्सा णीललेस्सं पप्प जाव सुक्कलेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति किण्हलेस्सा णीललेस्सं जाव सुक्कलेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ?

गोयमा ! से जहाणामए वेरुलियमणी सिया किण्हसुत्तए वा णीलसुत्तए वा लोहियसुत्तए वा हालिद्दसुत्तए वा सुक्किल्लसुत्तए वा आइए समाणे तारूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ।

सेएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ किण्हलेस्सा णीललेस्सं पप्प जाव सुक्कलेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ।

[१२२२ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या क्या नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या को प्राप्त होकर उन्हीं के स्वरूप में (उनमें से किसी भी लेश्या के रूप में), उन्हीं के वर्णरूप में, उन्हीं के गन्धरूप में, उन्हीं के रसरूप में, उन्हीं के स्पर्शरूप में पुनः पुनः परिणत होती है ?

[१२२२ उ.] हाँ, गौतम ! कृष्णलेश्या, नीललेश्या को यावत् शुक्ललेश्या को प्राप्त हो कर उन्हीं के स्वरूप में यावत् (उनमें से किसी भी लेश्या के वर्णादिरूप में) पुनः पुनः परिणत होती है ।

[प्र.] भगवन् ! किस हेतु से आप ऐसा कहते हैं कि कृष्णलेश्या, नीललेश्या को यावत् शुक्ल-लेश्या को प्राप्त होकर उन्हीं के स्वरूप में यावत् (उन्हीं के वर्णादिरूप मे) पुनः पुनः परिणत हो जाती है ?

[उ.] गौतम ! जैसे कोई वैडूर्यमणि काले सूत्र में या नीले सूत्र में, लाल सूत्र में या पीले सूत्र में अथवा श्वेत (शुक्ल) सूत्र में पिरोने पर वह उसी के रूप में यावत् (उसी के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के रूप में) पुनः पुनः परिणत हो जाती है, इसी प्रकार हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि कृष्णलेश्या, नीललेश्या यावत् शुक्ललेश्या को प्राप्त होकर उन्हीं के रूप में यावत् उन्हीं के वर्णादि-रूप में पुनः पुनः परिणत हो जाती है ।

१२२३. से णूणं भंते ! णीललेस्सा किण्हलेस्सं जाव सुक्कलेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमंति ?

हंता गोयमा ! एवं चेव ।

[१२२३ प्र.] भगवन् ! क्या नीललेश्या, कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या को पाकर उन्हीं के स्वरूप में यावत् (उन्हीं के वर्णादिरूप में) बार-बार परिणत होती है ?

[१२२३ उ.] हाँ गौतम ! ऐसा ही है, (जैसा कि ऊपर कहा गया है ।)

१२२४. एवं काउलेस्सा कण्हलेस्सं णीललेस्सं तेउलेस्सं पम्हलेस्सं सुक्कलेस्सं, एवं तेउलेस्सा किण्हलेसं णीललेसं काउलेसं पम्हलेसं सुक्कलेसं, एवं पम्हलेस्सा कण्हलेसं णीललेसं काउलेसं तेउलेसं सुक्कलेस्सं ।

[१२२४] इसी प्रकार कापोतलेश्या, कृष्णलेश्या, नीललेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या को प्राप्त होकर, इसी प्रकार तेजोलेश्या, कृष्णलेश्या, कापोतलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या को प्राप्त होकर, इसी प्रकार पद्मलेश्या, कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या को प्राप्त होकर (उनके स्वरूप में तथा उनके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के रूप में परिणत हो जाती है ।)

१२२५. से णूणं भंते ! सुक्कलेस्सा किण्ह० णील० काउ० तेउ० पम्हलेस्सं पप्प जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ?

हंता गोयमा ! एवं चेव ।

[१२२५ प्र.] भगवन् ! क्या शुक्ललेश्या, कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या और पद्मलेश्या को प्राप्त होकर यावत् (उन्हीं के स्वरूप में तथा उन्हीं के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के रूप में) बार-बार परिणत होती है ?

[१२२५ उ.] हाँ गौतम ! ऐसा ही है, (जैसा कि ऊपर कहा गया है ।)

विवेचन—प्रथम परिणामाधिकार—प्रस्तुत छह सूत्रों (सू. १२२० से १२२५) में कृष्णादि लेश्याओं की विभिन्न वर्णादिरूप में परिणत होने की प्ररूपणा की गई है ।

लेश्याओं के परिणाम की व्याख्या—परिणाम का अर्थ यहाँ परिवर्तन है । अर्थात्—एक लेश्या का दूसरी लेश्या के रूप में तथा उसी के वर्णादि के रूप में परिणत हो जाना लेश्यापरिणाम है ।

कृष्णलेश्या का नीललेश्या के रूप में परिणमन—प्रस्तुत में कृष्णलेश्या अर्थात् कृष्णलेश्या के द्रव्य, नीललेश्या को अर्थात् नीललेश्या के द्रव्यों को प्राप्त होकर, यानी परस्पर एक दूसरे के अवयवों के संस्पर्श को पाकर उसी के नीललेश्या के रूप में अर्थात् नीललेश्या के स्वभाव के रूप में

बार-बार परिणत होती है। तात्पर्य यह है कि कृष्णलेश्या का स्वभाव नीललेश्या के स्वभाव के रूप में बदल जाता है। स्वभाव का किस प्रकार परिवर्तन होता है ? इसे विशद रूप में बताते हैं—कृष्णलेश्या नीललेश्या के वर्ण के रूप में, गन्ध के रूप में, रस के रूप में और स्पर्श के रूप में परिणत—परिवर्तित हो जाती है। यह परिणमन अनेकों बार होता है। इसका आशय यह है कि जब कोई कृष्णलेश्या के परिणमन वाला मनुष्य या तिर्यञ्च भवान्तर में जाने वाला होता है और वह नीललेश्या के योग्य द्रव्यों को ग्रहण करता है, तब नीललेश्या के द्रव्यों के सम्पर्क से वे कृष्णलेश्या-योग्य द्रव्य तथारूप जीव-परिणामरूप सहकारी कारण को पाकर नीललेश्या के द्रव्य रूप के परिणत हो जाते हैं; क्योंकि पुद्गलों के विविध प्रकार से परिणत—परिवर्तित होने का स्वभाव है। तत्पश्चात् वह जीव केवल नीललेश्या के योग्य द्रव्यों के सम्पर्क से नीललेश्या के परिणमन से युक्त होकर काल करके भवान्तर में उत्पन्न होता है। यह सिद्धान्तवचन है कि[1] 'जीव जिस लेश्या के द्रव्यों को ग्रहण करके काल करता (मरता) है, उसी लेश्या वाला होकर उत्पन्न होता है', तथा वही तिर्यंच अथवा मनुष्य उसी भव में विद्यमान रहता हुआ जब कृष्णलेश्या में परिणत होकर नीललेश्या के रूप—स्वभाव में परिणत होता है, तब भी कृष्णलेश्या के द्रव्य तत्काल ग्रहण किए हुए नीललेश्या के द्रव्यों के सम्पर्क से नीललेश्या के द्रव्यों के रूप में परिणत (परिवर्तित) हो जाते हैं। इसी तथ्य को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं - जैसे छाछ आदि किसी खट्टी वस्तु के संयोग से दूध के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में परिवर्तन हो जाता है, वह तक्र (छाछ) आदि के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के रूप में परिणत हो जाता है, इसी प्रकार शुक्ल वस्त्र लाल आदि किसी रंग का संयोग पाकर उसी रूप में पलट जाता है। इसी प्रकार कृष्णलेश्यायोग्य द्रव्यों का स्वरूप तथा उसके वर्ण-गन्धादि नीललेश्यायोग्य द्रव्यों के सम्पर्क से नीललेश्या के वर्णादिरूप में परिवर्तित हो जाते हैं। यहाँ तिर्यंचों और मनुष्यों के लेश्याद्रव्यों का पूर्णरूप से तद्रूप में परिणमन माना गया है। देवों और नारकों के लेश्याद्रव्य भवपर्यन्त स्थायी रहते हैं।[2]

पूर्व-पूर्व लेश्या का उत्तरोत्तर लेश्या के रूप में परिणमन—सूत्र १२२०-१२२१ में यह बताया गया है कि पूर्व-पूर्व लेश्या उत्तर-उत्तर लेश्या को प्राप्त होकर उसी के वर्णादि रूप में परिणत हो जाती है।

किसी भी एक लेश्या का अन्य समस्त लेश्याओं के रूप के परिणमन—सू. १२२२ से १२२५ तक यह बताया गया है कि कोई भी एक लेश्या क्रम से या व्युत्क्रम से किसी भी अन्य लेश्या के वर्ण-गन्धादिरूप में परिणत हो सकती है। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना है कि कोई भी एक लेश्या परस्पर विरुद्ध होने से एक ही साथ अनेक लेश्याओं में परिणत नहीं होती। एक लेश्या का अन्य सभी लेश्याओं में से किसी एक लेश्या के रूप में परिणमन कैसे हो जाता है ? इस सम्बन्ध में दृष्टान्त यह है कि जैसे एक ही वैडूर्यमणि उन-उन उपाधिद्रव्यों के सम्पर्क से उस-उस रूप में परिणत हो जाती है, इसी प्रकार एक लेश्याद्रव्य भी कृष्ण, नील आदि रूपों में परिणत हो जाते हैं। इसी अंश में दृष्टान्त की समानता समझनी चाहिए, अन्य अनिष्ट अंशों में नहीं।[3]

---

१. जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ, तल्लेसे उववज्जइ। —प्रज्ञा. म. वृ., प. ३५९

२. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३५९-३६०

३. वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३५९-३६०

द्वितीय वर्णाधिकार

१२२६. कण्हलेस्सा णं भंते ! वण्णेणं केरिसिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहाणामए जीमूए इ वा अंजणे इ वा खंजणे इ वा कज्जले इ वा गवले इ वा गवलवलए इ वा जंबूफलए इ वा अद्दारिट्ठए इ वा परपुट्ठे इ वा भमरे इ वा भमरावली इ वा गयकलभे इ वा किण्हकेसे इ वा आगासथिग्गले इ वा किण्हासोए इ वा किण्हकणवीरए इ वा किण्हबंधुजीवए इ वा ।

भवेतारूवा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, किण्हलेस्सा णं एत्तो अणिट्ठतरिया चेव अकंततरिया चेव अप्पियतरिया चेव अमणुण्णतरिया चेव अमणामतरिया चेव वण्णेणं पण्णत्ता ।

[१२२६ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वर्ण से कैसी है ?

[१२२६ उ.] गौतम ! जैसे कोई जीमूत (वर्षारम्भकालिक मेघ) हो, अथवा (आँखों में आंजने का सौवीरादि) अंजन (काला सुरमा अथवा अंजन नामक रत्न) हो, अथवा खंजन (गाड़ी की धुरी में लगा हुआ कीट-औंधन, अथवा दीवट के लगा मैल (कालमल) हो, कज्जल (काजल) हो, गवल (भैंस का सींग) हो, अथवा गवलवृन्द (भैंस के सींगों का समूह) हो, अथवा जामुन का फल हो, या गीला अरीठा (या अरीठे का फूल) हो, या परपुष्ट (कोयल) हो, भ्रमर हो, या भ्रमरों की पंक्ति हो, अथवा हाथी का बच्चा हो या काले केश हों, अथवा आकाशथिग्गल (शरद्ऋतु के मेघों के बीच का आकाशखण्ड)हो, या काला अशोक हो, काला कनेर हो, अथवा काला बन्धुजीवक (विशिष्ट वृक्ष) हो, (इनके समान कृष्णलेश्या काले वर्ण की है ।)

[प्र.] (भगवन् !) क्या कृष्णलेश्या (वास्तव में) इसी रूप की होती है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है । कृष्णलेश्या इससे भी अनिष्टतर है, अधिक अकान्त (असुन्दर), अधिक अप्रिय, अधिक अमनोज्ञ और अधिक अमनाम (अत्यधिक अवांछनीय) वर्ण वाली कही गई है ।

१२२७. णीललेस्सा णं भंते ! केरिसिया वण्णेणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहाणामए भिंगे इ वा भिंगपत्ते इ वा चासे इ वा चासपिच्छे इ वा सुए इ वा सुयपिच्छे इ वा सामा इ वा वणराई इ वा उच्चंतए इ वा पारेवयगीवा इ वा मोरगीवा इ वा हलधरवसणे इ वा अयसिकुसुमए इ वा बाणकुसुमए इ वा अंजणकेसियाकुसुमए इ वा णीलुप्पले इ वा नीलासोए इ वा णीलकणवीरए इ वा णीलबंधुजीवए इ वा ।

भवेतारूवा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, एत्तो जाव अमणामतरिया चेव वण्णेणं पण्णत्ता ?

[१२२७ प्र.] भगवन् ! नीललेश्या वर्ण से कैसी है ?

[१२२७ उ.] गौतम ! जैसे कोई भृंग (पक्षी) हो, भृंगपत्र हो, अथवा पपीहा (चास पक्षी हो, या चासपक्षी की पांख हो, या शुक (तोता) हो, तोते की पांख हो, श्यामा (प्रियंगुलता)

हो, अथवा वनराजि हो, या दन्तराग (उच्चन्तक) हो, या कबूतर की ग्रीवा हो, अथवा मोर की ग्रीवा हो, या हलधर (बलदेव) का (नील) वस्त्र हो, या अलसी का फूल हो, अथवा वण (बाण) वृक्ष का फूल हो, या अंजनकेसि का कुसुम हो, नीलकमल हो, अथवा नील अशोक हो, नीला कनेर हो, अथवा नीला बन्धुजीवक वृक्ष हो, (इनके समान नीललेश्या नीले वर्ण की है।)

[प्र.] भगवन् ! क्या नीललेश्या (वस्तुतः) इस रूप की होती है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ (योग्य) नहीं है । नीललेश्या इससे भी अनिष्टतर, अधिक अकान्त, अधिक अप्रिय, अधिक अमनोज्ञ और अधिक अमनाम वर्ण से कही गई है।

१२२८. काउलेस्सा णं भंते ! केरिसिया वण्णेणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहाणामए खयरसारे इ वा कयरसारे इ वा धमाससारे इ वा तंबे इ वा तंबकरोडए इ वा तंबच्छिवाडिया इ वा वाइंगणिकुसुमए इ वा कोइलच्छदकुसुमए इ वा ◁ जवासाकुसुमे इ वा कलकुसुमे इ वा ▷ ?

भवेतारूवा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, काउलेस्सा णं एत्तो अणिट्ठतरिया जाव अमणामतरिया चेव वण्णेणं पण्णत्ता ।

[१२२८ प्र.] भगवन् ! कापोतलेश्या वर्ण से कैसी है ?

[१२२८ उ.] गौतम ! जैसे कोई खदिर (खैर-कत्था) के वृक्ष का सार भाग(मध्यवर्ती भाग) हो, खैर कर सार हो, अथवा धमास वृक्ष का सार हो, ताम्बा हो, या ताम्बे का कटोरा हो, या ताम्बे की फली हो, या बैंगन का फूल हो, कोकिलच्छद (तैलकण्टक) वृक्ष का फूल हो, अथवा जवासा का फूल हो, अथवा कलकुसुम हो, (इनके समान वर्ण वाली कापोतलेश्या है।)

[प्र.] भगवन् ! क्या कपोतलेश्या ठीक इसी रूप की है ?

[उ.] यह अर्थ समर्थ नहीं है। कापोतलेश्या वर्ण से इससे भी अनिष्टतर यावत् अमनाम (अत्यन्त अवांछनीय) कही है।

१२२९. तेउलेस्सा णं भंते ! केरिसिया वण्णेणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहाणामए ससरुहिरे इ वा उरब्भरुहिरे इ वा वराहरुहिरे इ वा संबररुहिरे इ वा मणुस्सरुहिरे इ वा बालिंदगोवे इ वा बालदिवागरे इ वा संझब्भरागे इ वा गुंजद्धरागे इ वा जाइहिंगुलए इ वा पवालंकुरे इ वा लक्खारसे इ वा लोहियक्खमणी इ वा किमिरागकंबले इ वा गयतालुए इ वा चीणपिट्ठरासी इ वा पालियायकुसुमे इ वा जासुमणाकुसुमे इ वा किंसुयपुप्फरासी इ वा रत्तुप्पले इ वा रत्तासोगे इ वा रत्तकणवीरए इ वा रत्तबंधुजीवए इ वा ?

भवेयारूवा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, तेउलेस्सा णं एसो इट्ठतरिया चेव जाव मणामतरिया चेव वण्णेणं पण्णत्ता ।

◁▷ इस चिन्ह के सूचित पाठ मलयगिरि वृत्ति में नहीं है।

[१२२९ प्र.] भगवन् ! तेजोलेश्या वर्ण से कैसी है ?

[१२२९ उ.] गौतम ! जैसे कोई खरगोश का रक्त हो, मेष (मेंढे) का रुधिर हो, सूअर का रक्त हो, सांभर का रुधिर हो, मनुष्य का रक्त हो, या इन्द्रगोप (वीरबहूटी) नामक कीड़ा हो, अथवा बाल-इन्द्रगोप हो, या बाल-सूर्य (उगते समय का सूरज) हो, सन्ध्याकालीन लालिमा हो, गुंजा (चिरमी) के आधे भाग की लालिमा हो, उत्तम (जातिमान्) हींगलू हो, प्रवाल (मूंगे) का अंकुर हो, लाक्षारस हो, लोहिताक्षमणि हो, किरमिची रंग का कम्बल हो, हाथी का तालु (तलुआ) हो, चीन नामक रक्तद्रव्य के आटे की राशि हो, पारिजात का फूल हो, जपापुष्प हो, किंशुक (टेसू) के फूलों की राशि हो, लाल कमल हो, लाल अशोक हो, लाल कनेर हो, अथवा लालबन्धुजीवक हो, (ऐसे रक्त वर्ण की तेजोलेश्या होती है।)

[प्र.] भगवन् ! क्या तेजोलेश्या इसी रूप की होती है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। तेजोलेश्या इन से भी इष्टतर, यावत् (अधिक कान्त, अधिक प्रिय, अधिक मनोज्ञ और) अधिक मनाम वर्ण वाली होती है।

१२३०. पम्हलेस्सा णं भंते ! केरिसिया वण्णेणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहाणामए चंपे इ वा चंपयछल्ली इ वा चंपयभेदे इ वा हलिद्दा इ वा हलिद्दगुलिया इ वा हलिद्दाभेए इ वा हरियाले इ वा हरियालगुलिया इ वा हरियालभेए इ वा चिउरे इ वा चिउररागे इ वा सुवण्णसिप्पी इ वा वरकणगणिहसे इ वा वरपुरिसवसणे इ वा अल्लइकुसुमे इ वा चंपयकुसुमे इ वा कणियारकुसुमे इ वा कुहंडियाकुसुमे इ वा सुवण्णजूहिया इ वा सुहिरण्णियाकुसुमे इ वा कोरेंटमल्लदामे इ वा पीयासोगे इ वा पीयकणवीरए इ वा पीयबंधुजीवए इ वा।

भवेतारूवा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, पम्हलेस्सा णं एसो इट्ठतरिया चेव जाव मणामतरिया चेव वण्णेणं पण्णत्ता।

[१२३० प्र.] भगवन् ! पद्मलेश्या वर्ण से कैसी है ?

[१२३० उ.] जैसे कोई चम्पा हो, चम्पक की छाल हो, चम्पक का टुकड़ा हो, हल्दी हो, हल्दी की गुटिका (गोली) हो, हरताल हो, हरताल की गुटिका (गोली) हो, हरताल का टुकड़ा हो, चिकुर नामक पीत वस्तु हो, चिकुर का रंग हो, या स्वर्ण की शुक्ति हो, उत्तम स्वर्ण-निकष (कसौटी पर खींची हुई स्वर्णरेखा) हो, श्रेष्ठ पुरुष (वासुदेव) का पीताम्बर हो, अल्लकी का फूल हो, चम्पा का फूल हो, कनेर का फूल हो, कूष्माण्ड (कोले) की लता का पुष्प हो, स्वर्णयूथिका (जूही) का फूल हो, सुहिरण्यिका-कुसुम हो, कोरंट के फूलों की माला हो, पीत अशोक हो, पीला कनेर हो, अथवा पीला बन्धुजीवक हो, (इनके समान पद्मलेश्या पीले वर्ण की कही गई है।)

[प्र.] भगवन् ! क्या पद्मलेश्या (वास्तव में ही) ऐसे रूप वाली होती है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। पद्मलेश्या वर्ण में इनसे भी इष्टतर, यावत् अधिक मनाम (वांछनीय) होती है।

१२३१. सुक्कलेस्सा णं भंते ! केरिसया वण्णेणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहाणामए अंके इ वा संखे इ वा चंदे इ वा कुंदे इ वा दगे इ वा दगरए इ वा दही इ वा दहिधणे इ वा खीरे इ वा खीरपूरे इ वा सुक्कछिवाडिया इ वा पेहुणमिंजिया इ वा धंतधोयरुप्पपट्टे इ वा सारइयबलाहए इ वा कुमुदपत्ते इ वा पोंडरियदले इ वा सालिपिट्ठरासी इ वा कुडगपुप्फरासी इ वा सिंदुवारवरमल्लदामे इ वा सेयासोए इ वा सेयकणवीरे इ वा सेयबंधुजीवए इ वा ।

भवेतारूया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, सुक्कलेस्सा णं एत्तो इट्ठतरिया चेव कंततरिया चेव पियतरिया चेव मणुण्णतरिया चेव मणामतरिया चेव वण्णेणं पण्णत्ता ।

[१२३१ प्र.] भगवन् ! शुक्ललेश्या वर्ण से कैसी है ?

[१२३१ उ.] गौतम ! जैसे कोई अंकरत्न हो, शंख हो, चन्द्रमा हो, कुन्द (पुष्प) हो, उदक (स्वच्छ जल) हो, जलकण हो, दही हो, जमा हुआ दही (दधिपिण्ड) हो, दूध हो, दूध का उफान हो, सूखी फली हो, मयूरपिच्छ की भिंजी हो, तपा कर धोया हुआ चांदी का पट्ट हो, शरद् ऋतु का बादल हो, कुमुद का पत्र हो, पुण्डरीक कमल का पत्र हो, चावलों (शालिधान्य) के आटे का पिण्ड (राशि) हो, कुटज के पुष्पों की राशि हो, सिन्धुवार के श्रेष्ठ फूलों की माला हो, श्वेत अशोक हो, श्वेत कनेर हो, अथवा श्वेत बन्धुजीवक हो, (इनके समान शुक्ललेश्या श्वेतवर्ण की कही है ।)

[प्र.] भगवन् ! क्या शुक्ललेश्या ठीक ऐसे ही रूप वाली है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । शुक्ललेश्या इनसे भी वर्ण में इष्टतर यावत् अधिक मनाम होती है ।

१२३२. एयाओ णं भंते ! छल्लेस्साओ कतिसु वण्णेसु साहिज्जंति ?

गोयमा ! पंचसु वण्णेसु साहिज्जंति । तं जहा—कण्हलेसा कालएणं वण्णेणं साहिज्जति, णीललेस्सा णीलएणं वण्णेणं साहिज्जति, काउलेस्सा कालल्लोहिएणं वण्णेणं साहिज्जति, तेउलेस्सा लोहिएणं वण्णेणं साहिज्जइ, पम्हलेस्सा हालिद्दएणं वण्णेणं साहिज्जइ, सुक्कलेस्सा सुक्किलएणं वण्णेणं साहिज्जइ ।

[१२३२ प्र.] भगवन् ! ये छहों लेश्याएँ कितने वर्णों द्वारा कही जाती हैं ?

[१२३२ उ.] गौतम ! (ये) पांच वर्णों वाली हैं । वे इस प्रकार हैं कृष्णलेश्या काले वर्ण द्वारा कही जाती है, नीललेश्या नीले वर्ण द्वारा कही जाती है, कापोतलेश्या काले और लाल वर्ण द्वारा कही जाती है, तेजोलेश्या लाल वर्ण द्वारा कही जाती है, पद्मलेश्या पीले वर्ण द्वारा कही जाती है और शुक्ललेश्या श्वेत (शुक्ल) वर्ण द्वारा कही जाती है ।

विवेचन—द्वितीय : वर्णाधिकार—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. १२२६ से १२३२ तक) में पृथक्-पृथक् छहों लेश्याओं के वर्णों की विभिन्न वर्ण वाली वस्तुओं से उपमा देकर प्ररूपणा की गई है ।

कृष्णलेश्या के लिए अनिष्टतर आदि पांच विशेषण क्यों ?--कृष्णलेश्या वर्षारम्भकालीन काले कजरारे मेघ आदि उल्लिखित काली वस्तुओं से भी अधिक अनिष्ट होती है, यह बताने के लिए कृष्णलेश्या के लिए अनिष्टतर विशेषण का प्रयोग किया गया है। किन्तु कस्तूरी जैसी कोई-कोई वस्तु अनिष्ट (काली) होने पर भी कान्त (कमनीय) होती है, परन्तु कृष्णलेश्या ऐसी भी नहीं है। यह बताने हेतु कृष्णलेश्या के लिए **अकान्ततर** (अत्यन्त अकमनीय) विशेषण का प्रयोग किया गया है। कोई वस्तु अनिष्ट और अकान्त होने पर भी किसी को प्रिय होती है, किन्तु कृष्णलेश्या प्रिय भी नहीं होती, यह बताने हेतु कृष्णलेश्या के लिए **अप्रियतर** (अत्यन्त अप्रिय) विशेषण प्रयोग किया गया है। इसी कारण कृष्णलेश्या **अमनोज्ञतर** (अत्यन्त अमनोज्ञ) होती है। वास्तव में उसके स्वरूप का सम्यक् परिज्ञान होने पर मन उसे किंचित् भी उपादेय नहीं मानता। कड़वी औषध जैसी कोई वस्तु अमनोज्ञतर होने पर भी मध्यमस्वरूप होती है किन्तु कृष्णलेश्या सर्वथा अमनोज्ञ है; यह अभिव्यक्त करने के लिए उसके लिए **'अमनामतर'** (सर्वथा अवांछनीय) विशेषण का प्रयोग किया गया है।[1]

इसी प्रकार नीललेश्या और कापोतलेश्या के लिए शास्त्रकार ने इन्हीं पांच विशेषणों का प्रयोग किया है। जबकि अन्त की तीन लेश्याओं के लिए इनसे ठीक विपरीत **'इष्टतर'** आदि पांच विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

'साहिज्जंति' पद का अर्थ—कही जाती है, प्ररूपित की जाती हैं।[2]

तृतीय रसाधिकार

१२३३. कण्हलेस्सा णं भंते ! केरिसिया आसाएणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहाणामए णिंबे इ वा णिंबसारे इ वा णिंबछल्ली इ वा णिंबफाणिए इ वा कुडए इ वा कुडगफले इ वा कुडगछल्ली इ वा कुडगफाणिए इ वा कडुगतुंबी इ वा कडुगतुम्बीफले इ वा खारतउसी इ वा खारतउसीफले इ वा देवदाली इ वा देवदालिपुप्फे इ वा मियवालुंकी इ वा मियवालुंकीफले इ वा घोसाडिए इ वा घोसाडइफले इ वा कण्हकंदए इ वा वज्जकंदए इ वा ।

भवेतारूवा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, कण्हलेस्सा णं एत्तो अणिट्ठतरिया चेव जाव अमणामतरिया चेव अस्साएणं पण्णत्ता ।

[१२३३ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या आस्वाद (रस) से कैसी कही है ?

[१२३३ उ.] गौतम ! जैसे कोई नीम हो, नीम का सार हो, नीम की छाल हो, नीम का क्वाथ (काढ़ा) हो, अथवा कुटज हो, या कुटज का फल हो, अथवा कुटज की छाल हो, या कुटज का क्वाथ (काढ़ा) हो, अथवा कड़वी तुम्बी हो, या कटुक तुम्बीफल (कड़वा तुम्बा) हो, कड़वी ककड़ी (त्रपुषी) हो, या कड़वी ककड़ी का फल हो, अथवा देवदाली (रोहिणी) हो या देवदाली (रोहिणी) का पुष्प हो, या मृगवालुंकी हो अथवा मृगवालुंकी का फल हो, या कड़वी घोषातिकी हो, अथवा कड़वी घोषातिकी का फल हो, या कृष्णकन्द हो, अथवा वज्रकन्द हो; (इन वनस्पतियों के कटु रस के समान कृष्णलेश्या का रस (स्वाद) कहा गया है।)

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३६२

२. वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३६२

[प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या रस से इसी रूप की होती है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। कृष्णलेश्या स्वाद में इन (उपर्युक्त वस्तुओं के रस) से भी अनिष्टतर, अधिक अकान्त अधिक अप्रिय, अधिक अमनोज्ञ और अतिशय अमनाम है।

१२३४. णीललेस्सा पुच्छा।

गोयमा ! से जहाणामए भंगी ति वा भंगीरए इ वा पाढा इ वा चविता इ वा चित्तामूलए इ वा पिप्पलीमूलए इ वा पिप्पली इ वा पिप्पलिचुण्णे इ वा मिरिए इ वा मिरियचुण्णे इ वा सिंगबेरे इ वा सिंगबेरचुण्णे इ वा।

भवेतारूवा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, णीललेस्सा णं एत्तो जाव अमणामतरिया चेव अस्साएणं पण्णत्ता।

[१२३४ प्र.] भगवन् ! नीललेश्या आस्वाद में कैसी है ?

[१२३४ उ.] गौतम ! जैसे कोई भृंगी (एक प्रकार की मादक वनस्पति) हो, अथवा भृंगी (वनस्पति) का कण (रज) हो, या पाठा (नामक वनस्पति) हो, या चविता हो अथवा चित्रमूलक (वनस्पति) हो, या पिप्पलीमूल (पीपरामूल) हो, या पीपल हो, अथवा पीपल का चूर्ण हो, (मिर्च हो, या मिर्च का चूरा हो, शृंगबेर (अदरक) हो, या शृंगबेर (सूखी अदरक=सोंठ) का चूर्ण हो; (इन सबके रस के समान चरपरा (तिक्त) नीललेश्या का आस्वाद (रस) कहा गया है।)

[प्र.] भगवन् ! क्या नीललेश्या रस से इसी रूप की होती है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। नीललेश्या रस (आस्वाद) में इससे भी अनिष्टतर, अधिक अकान्त, अधिक अप्रिय, अधिक अमनोज्ञ और अत्यधिक अमनाम (अवांछनीय) कही गयी है।

१२३५. काउलेस्साए पुच्छा।

गोयमा ! से जहाणामए अंबाण वा अंबाडगाण वा माउलुंगाण वा बिल्लाण वा कविट्ठाण वा भट्ठाण[1] वा फणसाण वा दालिमाण वा पारेवयाण वा अक्खोडाण वा पोराण वा बोराण वा तेंदुयाण वा अपक्काणं अपरियागाणं वण्णेणं अणुववेयाणं गंधेणं अणुववेयाणं फासेणं अणुववेयाणं।

भवेतारूवा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, जाव एत्तो अमणामतरिया चेव काउलेस्सा अस्साएणं पण्णत्ता।

[१२३५ प्र.] भगवन् ! कापोतलेश्या आस्वाद में कैसी है ?

[१२३५ उ.] गौतम ! जैसे कोई आम्रों का, आम्राटक के फलों का, बिजौरों का, बिल्व-फलों (बेल के फलों) का, कवीठों का, भट्ठों का, पनसों (कटहलों) का, दाड़िमों (अनारों) का,

१. पाठान्तर—'भट्ठाण' के बदले श्रीजीवविजयकृत स्तबक में 'भच्चाण' पाठान्तर है, अर्थ किया गया है—भर्च वृक्ष के फल तथा श्री धनविमलगणिकृत स्तबक में 'भट्टाण' पाठान्तर है, जिसका अर्थ किया गया है—अपक्व जैसी द्राक्षा। —सं.

पारावत नामक फलों का, अखरोटों का, प्रौढ़—बड़े बेरों का, बेरों का तिन्दुकों के फलों का, जो कि अपक्व हों, पूरे पके हुए न हों, वर्ण से रहित हों, गन्ध से रहित हों और स्पर्श से रहित हों; (इनके आस्वाद—रस के समान कापोतलेश्या का रस (स्वाद) कहा गया है।)

[प्र.] भगवन् ! क्या कापोतलेश्या रस से इसी प्रकार की होती है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। कापोतलेश्या स्वाद में इनसे भी अनिष्टतर यावत् अत्यधिक अमनाम कही है।

१२३६. तेउलेस्सा णं पुच्छा ?

गोयमा ! से जहाणामए अंबाण वा जाव तेंदुयाण वा पक्काणं परियावण्णाणं वण्णेणं उववेताणं पसत्थेणं जाव फासेणं जाव एत्तो मणामतरिया चेव तेउलेस्सा अस्साएणं पण्णत्ता।

[१२३६ प्र.] भगवन् ! तेजोलेश्या आस्वाद में कैसी है ?

[१२३६ उ.] गौतम ! जैसे किन्हीं आम्रों के यावत् (आम्राटकों से लेकर) तिन्दुकों तक के फल जो कि परिपक्व हों, पूर्ण परिपक्व अवस्था को प्राप्त हों, परिपक्व अवस्था के प्रशस्त वर्ण से, गन्ध से और स्पर्श से युक्त हों, (इनका जैसा स्वाद होता है, वैसा ही तेजोलेश्या का है।)

[प्र.] भगवन् ! क्या तेजोलेश्या इस आस्वाद की होती है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। तेजोलेश्या स्वाद में इनसे भी इष्टतर यावत् अधिक मनाम होती है।

१२३७. पम्हलेस्साए पुच्छा ?

गोयमा ! से जहाणामए चंदप्पभा इ वा मणिसिलागा इ वा वरसीधू इ वा वरवारुणी ति वा पत्तासवे इ वा पुप्फासवे इ वा फलासवे इ वा चोयासवे इ वा आसवे इ वा मधू इ वा मेरए इ वा कविसाणए इ वा खज्जूरसारए इ वा मुद्दियासारए इ वा सपक्कखोयरसे इ वा अट्ठपिट्ठणिट्ठिया इ वा जंबूफलकालिया इ वा वरपसण्णा इ वा आसला मासला पेसला ईसी ओट्टावलंबिणी ईसिं वोच्छेयकडुई ईसी तंबच्छिकरणी उक्कोसमयपत्ता वण्णेणं उववेया जाव फासेणं आसायणिज्जा वीसायणिज्जा पीणणिज्जा विंहणिज्जा दीवणिज्जा दप्पणिज्जा मयणिज्जा सव्विंदिय-गायपल्हायणिज्जा।

भवेतारूवा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, पम्हलेस्सा णं एत्तो इट्ठतरिया चेव जाव मणामतरिया चेव अस्साएणं पण्णत्ता ?

[१२३७ प्र.] भगवन् ! पद्मलेश्या का आस्वाद कैसा है ?

[१२३७ उ.] गौतम ! जैसे कोई चन्द्रप्रभा नामक मदिरा, मणिशलाका मद्य, श्रेष्ठ सीधु नामक मद्य हो, उत्तम वारुणी (मदिरा) हो, (धातकी के) पत्तों से बनाया हुआ आसव हो, पुष्पों का आसव हो, फलों का आसव हो, चोय नाम के सुगन्धित द्रव्य से बना आसव हो, अथवा सामान्य आसव हो, मधु (मद्य) हो, मैरेयक या कापिशायन नामक मद्य हो, खजूर का सार हो, द्राक्षा (का) सार हो, सुपक्व इक्षुरस हो, अथवा (शास्त्रोक्त) अष्टविध पिष्टों द्वारा तैयार की हुए वस्तु हो, या

जामुन के फल की तरह काली (स्वादिष्ट वस्तु) हो, या उत्तम प्रसन्ना नाम की मदिरा हो, (जो) अत्यन्त स्वादिष्ट हो, प्रचुर रस से युक्त हो, रमणीय हो, (अतएव आस्वादयुक्त होने से) झटपट ओठों से लगा ली जाए (अर्थात् जो मुखमाधुर्यकारिणी हो तथा) जो पीने के पश्चात् (इलायची, लौंग आदि द्रव्यों के मिश्रण के कारण) कुछ तीखी-सी हो, जो आंखों को ताम्रवर्ण की बना दे तथा उत्कृष्ट मादक (मदप्रापक) हो, जो प्रशस्त वर्ण, गन्ध और स्पर्श से युक्त हो, जो आस्वादन करने योग्य हो, विशेष रूप से आस्वादन करने योग्य हो, जो प्रीणनीय (तृप्तिकारक) हो, बृंहणीय—वृद्धिकारक हो, उद्दीपन करने वाली, दर्पजनक, मदजनक तथा सभी इन्द्रियों और शरीर (गात्र) को आह्लादजनक हो, इनके रस के समान पद्मलेश्या का रस (आस्वाद) होता है ?

[प्र.] भगवन् ! क्या पद्मलेश्या के रस का स्वरूप ऐसा ही होता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। पद्मलेश्या तो स्वाद (रस) में इससे भी इष्टतर यावत् अत्यधिक मनाम कही है।

१२३८. सुक्कलेस्सा णं भंते ! केरिसिया अस्साएणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहाणामए गुले इ वा खंडे इ वा सक्करा इ वा मच्छंडिया इ वा पप्पडमोदए इ वा भिसकंदे इ वा पुप्फुत्तरा इ वा पउमुत्तरा इ वा आयंसिया इ वा सिद्धत्थिया इ वा आगासफालिओवमा इ वा अणोवमाइ वा ?

भवेतारूवा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, सुक्कलेस्सा णं एत्तो इट्ठतरिया चेव कंततरिया चेव पियतरिया चेव मणामतरिया चेव अस्साएणं पण्णत्ता।

[१२३८ प्र.] भगवन् ! शुक्ललेश्या स्वाद में कैसी है ?

[१२३८ उ.] गौतम ! जैसे कोई गुड़ हो, खांड हो, या शक्कर हो, या मिश्री हो, (अथवा मत्स्यण्डी (खांड से बनी शक्कर) हो, पर्पटमोदक (एक प्रकार का मोदक अथवा मिश्री का पापड़ और लड्डू) हो, भिस (बिस) कन्द हो, पुष्पोत्तर नामक मिष्ठान्न हो, पद्मोत्तरा नाम की मिठाई हो, आदंशिका (सन्देश ?) नामक मिठाई हो, या सिद्धार्थिका नाम की मिठाई हो, आकाशस्फटिकोपमा नामक मिठाई हो, अथवा अनुपमा नामक मिष्ठान्न हो; (इनके स्वाद के समान शुक्ललेश्या का स्वाद (रस) है।)

[प्र.] भगवन् ! क्या शुक्ललेश्या स्वाद में ऐसी होती है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। शुक्ललेश्या आस्वाद में इनसे भी इष्टतर, अधिक कान्त (कमनीय), अधिक प्रिय एवं अत्यधिक मनोज्ञ—मनाम कही गई है।

विवेचन—तृतीय रसाधिकार—प्रस्तुत छह सूत्रों (सू. १२३३ से १२३८ तक) में छहों लेश्याओं के रसों का पृथक्-पृथक् विविध वस्तुओं के रसों की उपमा देकर निरूपण किया गया है।[1]

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक ३६५-३६६

चतुर्थ गन्धाधिकार से नवम गति-अधिकार तक का निरूपण

१२३९. कति णं भंते ! लेस्साओ दुब्भिगंधाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! तओ लेस्साओ दुब्भिगंधाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—किण्हलेस्सा णीललेस्सा काउलेस्सा।

[१२३९ प्र.] भगवन् ! दुर्गन्ध वाली कितनी लेश्याएँ कही हैं ?

[१२३९ उ.] गौतम ! तीन लेश्याएँ दुर्गन्ध वाली कही हैं, वे इस प्रकार—कृष्णलेश्या नीललेश्या और कापोतलेश्या।

१२४०. कति णं भंते ! लेस्साओ सुब्भिगंधाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! तओ लेस्साओ सुब्भिगंधाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—तेउलेस्सा पम्हलेस्सा सुक्कलेस्सा।

[१२४० प्र.] भगवन् ! कितनी लेश्याएँ सुगन्ध वाली कही हैं ?

[१२४० उ.] गौतम ! तीन लेश्याएँ सुगन्ध वाली कही हैं, वे इस प्रकार—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या।

१२४१. एवं तओ अविसुद्धाओ तओ विसुद्धाओ, तओ अप्पसत्थाओ तओ पसत्थाओ, तओ संकिलिट्ठाओ तओ असंकिलिट्ठाओ, तओ सीयलुक्खाओ तओ निद्धुण्हाओ, तओ दुग्गइगामिणीओ तओ सुगइगामिणीओ।

[१२४१] इसी प्रकार (पूर्ववत् क्रमशः) तीन (लेश्याएँ) अविशुद्ध और तीन विशुद्ध हैं, तीन अप्रशस्त हैं और तीन प्रशस्त हैं, तीन संक्लिष्ट हैं और तीन असंक्लिष्ट हैं, तीन शीत और रूक्ष (स्पर्श वाली) हैं, और तीन उष्ण और स्निग्ध (स्पर्श वाली) हैं, (तथैव) तीन दुर्गतिगामिनी (दुर्गति में ले जाने वाली) हैं और तीन सुगतिगामिनी (सुगति में ले जाने वाली) हैं।

विवेचन—चौथे गन्धाधिकार से नौवें गति-अधिकार तक की प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. १२३९ से १२४१ तक) में तीन-तीन दुर्गन्धयुक्त-सुगन्धयुक्त लेश्याओं का, अविशुद्ध-विशुद्ध का, अप्रशस्त-प्रशस्त का, संक्लिष्ट-असंक्लिष्ट का, शीत-रूक्ष, उष्ण-स्निग्ध स्पर्शयुक्त का, दुर्गतिगामिनी-सुगतिगामिनी का निरूपण किया गया है।

४—**गन्धद्वार**—प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ मृतमहिष आदि के कलेवरों से भी अनन्तगुणी दुर्गन्ध वाली हैं तथा अन्त की तीन लेश्याएँ पीसे जाते हुए सुगन्धित वास एवं सुगन्धित पुष्पों से भी अनन्तगुणी उत्कृष्ट सुगन्ध वाली होती हैं।[1]

---

१. तुलना—जह गोमडस्स गंधो नागमडस्स व जहा अहिमडस्स।
एत्तो उ अणंतगुणो लेस्साणं अपसत्थाणं ॥ १ ॥
जहा सुरभिकुसुमगंधो गंधवासाण पिस्समाणाण।
एत्तो उ अणंतगुणो पसत्थलेस्साण तिण्हं पि ॥ २ ॥ —उत्तराध्ययन

५. **अविशुद्ध-विशुद्ध द्वार**—प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ अप्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाली होने से अविशुद्ध और अन्त की तीन लेश्याएँ प्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाली होने से विशुद्ध होती हैं।

६. **अप्रशस्त-प्रशस्तद्वार**—आदि की तीन लेश्याएँ अप्रशस्त होती हैं, क्योंकि वे अप्रशस्त द्रव्य-रूप होने के कारण अप्रशस्त अध्यवसाय की तथा अन्त की तीन लेश्याएँ प्रशस्त होती हैं, क्योंकि वे प्रशस्त द्रव्यरूप होने से प्रशस्त अध्यवसाय की निमित्त होती हैं।

७. **संक्लिष्टाऽसंक्लिष्ट द्वार**—प्रथम की तीन लेश्याएँ संक्लिष्ट होती हैं, क्योंकि वे संक्लेश-मय आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान के योग्य अध्यवसाय को उत्पन्न करती तथा अन्तिम तीन लेश्याएँ असंक्लिष्ट हैं, क्योंकि वे धर्मध्यान के योग्य अध्यवसाय को उत्पन्न करती हैं।

८. **स्पर्श-प्ररूपणाधिकार**—प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ शीत और रूक्ष स्पर्श वाली हैं, इनके शीत और रूक्ष स्पर्श चित्त में अस्वस्थता उत्पन्न करने के निमित्त हैं, जबकि अन्त की तीन लेश्याएँ उष्ण और स्निग्ध स्पर्श वाली हैं। इनके उष्ण और स्निग्ध स्पर्श चित्त में सन्तोष उत्पन्न करने के निमित्त होते हैं। यद्यपि लेश्याद्रव्यों के कर्कश आदि स्पर्श आगे कहे गए हैं, परन्तु यहाँ उन्हीं स्पर्शों का कथन किया गया है, जो चित्त में अस्वस्थता-स्वस्थता पैदा करने में निमित्त बनते हैं।

९. **दुर्गति-सुगति द्वार**—प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ संक्लिष्ट अध्यवसाय की कारण होने से दुर्गति में ले जाने वाली हैं, जबकि अन्तिम तीन प्रशस्त अध्यवसाय की कारण होने से सुगति में ले जाने वाली हैं।[1]

दशम परिणामाधिकार

१२४२. कण्हलेस्सा णं भंते ! कतिविधं परिणामं परिणमति ?

गोयमा ! तिविहं वा नवविहं वा सत्तावीसतिविहं वा एक्कासीतिविहं वा बेतेयालसतविहं वा बहुं वा बहुविहं वा परिणामं परिणमति। एवं जाव सुक्कलेस्सा।

[१२४२ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या कितने प्रकार के परिणाम में परिणत होती है ?

[१२४२ उ.] गौतम ! कृष्णलेश्या तीन प्रकार के, नौ प्रकार के, सत्ताईस प्रकार के, इक्यासी प्रकार के या दो सौ तेतालीस प्रकार के अथवा बहुत-से या बहुत प्रकार के परिणाम में परिणत होती है। कृष्णलेश्या के परिणामों के कथन की तरह नीललेश्या से लेकर शुक्ललेश्या तक के परिणामों का भी कथन करना चाहिए।

विवेचन—दसवाँ परिणामाधिकार—प्रस्तुत सूत्र में कृष्णादि छहों लेश्याओं के विभिन्न प्रकार के परिणामों से परिणत होने की प्ररूपणा की गई है।

परिणामों के प्रकार—(१) **तीन**—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट परिणाम। (२) **नौ**—इन तीनों में से प्रत्येक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद करने से नौ प्रकार का परिणाम होता है। (३) **सत्ताईस**—इन्हीं नौ में प्रत्येक के पुनः तीन-तीन भेद करने पर २७ भेद हो जाते हैं। (४) **इक्यासी**—इन्हीं २७ भेदों के फिर वे ही जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट भेद करने पर इक्यासी प्रकार हो जाते

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३६७

हैं। (५) दो सौ तेतालीस भेद—उनके पुनः तीन-तीन भेद करने पर २४३ भेद होते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर भेद-प्रभेद किये जाएँ तो बहुत और बहुत प्रकार के परिणमन कृष्णलेश्या के होते हैं। ऐसे ही परिणामों के प्रकार शुक्ललेश्या तक समझ लेने चाहिए।[1]

ग्यारहवें प्रदेशाधिकार से चौदहवें स्थानाधिकार तक की प्ररूपणा

१२४३. कण्हलेस्सा णं भंते ! कतिपदेसिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! अणंतपदेसिणा पण्णत्ता। एवं जाव सुक्कलेस्सा।

[१२४३ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या कितने प्रदेश वाली कही है ?

[१२४३ उ.] गौतम ! (कृष्णलेश्या) अनन्तप्रदेशों वाली है (क्योंकि कृष्णलेश्यायोग्य परमाणु अनन्तानन्त संख्या वाले हैं)। इसी प्रकार (नीललेश्या से) यावत् शुक्ललेश्या तक (प्रदेशों का कथन करना चाहिए।)

१२४४. कण्हलेस्सा णं भंते ! कइपएसोगाढा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जपएसोगाढा पण्णत्ता। एवं जाव सुक्कलेस्सा।

[१२४४ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या आकाश के कितने प्रदेशों में अवगाढ़ है ?

[१२४४ उ.] गौतम ! (कृष्णलेश्या) असंख्यात आकाश प्रदेशों में अवगाढ़ है। इसी प्रकार शुक्ललेश्या तक असंख्यात प्रदेशावगाढ़ समझनी चाहिए।

१२४५. कण्हलेस्साए णं भंते ! केवतियाओ वग्गणाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अणंताओ वग्गणाओ पण्णत्ताओ। एवं जाव सुक्कलेस्साए।

[१२४५ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या की कितनी वर्गणाएँ कही गई हैं ?

[१२४५ उ.] गौतम ! (उनकी) अनन्त वर्गणाएँ कही गई हैं। इसी प्रकार यावत् शुक्ल-लेश्या तक की (वर्गणाओं का कथन करना चाहिए।)

१२४६. केवतिया णं भंते ! कण्हलेस्साठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा कण्हलेस्साठाणा पण्णत्ता। एवं जाव सुक्कलेस्साए।

[१२४६ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या के स्थान (तर-तमरूप भेद) कितने कहे गये हैं ?

[१२४६ उ.] गौतम ! कृष्णलेश्या के असंख्यात स्थान कहे गए हैं। इसी प्रकार शुक्ललेश्या तक (के स्थानों की प्ररूपणा करनी चाहिए।)

विवेचन—ग्यारहवें प्रदेशाधिकार से चौदहवें स्थानाधिकार तक की प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों में प्रदेश, प्रदेशावगाढ़, वर्गणा और स्थान की प्ररूपणा की गई है।

कृष्णादि लेश्याएँ अनन्तप्रादेशिकी—कृष्णादि छहों लेश्याओं में से प्रत्येक के योग्य परमाणु अनन्त-अनन्त होने से उन्हें अनन्तप्रादेशिकी कहा है।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३६८

कृष्णादि लेश्याएँ असंख्यात प्रदेशावगाढ़—यहाँ प्रदेश का अर्थ आकाश प्रदेश है, क्योंकि अवगाहन आकाश के प्रदेशों में ही होता है। यद्यपि एक-एक लेश्या की वर्गणाएँ अनन्त-अनन्त हैं, तथापि उन सबका अवगाहन असंख्यात आकाश प्रदेशों में ही हो जाता है, क्योंकि सम्पूर्ण लोकाकाश के असंख्यात ही प्रदेश हैं।

कृष्णादिलेश्याएँ अनन्त वर्गणायुक्त औदारिक शरीर आदि के योग्य परमाणुओं के समूह के समान कृष्णलेश्या के योग्य परमाणुओं के समूह को कृष्णलेश्या की वर्गणा कहा गया है। ये वर्गणाएँ वर्णादि के भेद से अनन्त होती हैं।[1]

कृष्णादि लेश्याओं के असंख्यात स्थान—लेश्यास्थान कहते हैं—प्रकर्ष-अपकर्षकृत अर्थात् अविशुद्धि और विशुद्धि की तरतमता से होने वाले भेदों को। जब भावरूप कृष्णादि लेश्याओं का चिन्तन किया जाता है, तब एक-एक लेश्या के प्रकर्ष-अपकर्ष कृत स्वरूपभेदरूप स्थान, काल की अपेक्षा से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों के समयों के बराबर हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से—असंख्यात लोकाकाश प्रदेशों के बराबर स्थान अर्थात् विकल्प हैं। कहा भी है—असंख्यात उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों के जितने समय होते हैं, अथवा असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश हों, उतने ही लेश्याओं के स्थान (विकल्प) हैं। किन्तु विशेषता यह है कि कृष्णादि तीन अशुभ भावलेश्याओं के स्थान संक्लेशरूप होते हैं और तेजोलेश्यादि तीन शुभ भावलेश्याओं के स्थान विशुद्ध होते हैं।

इन भावलेश्याओं के कारणभूत द्रव्यसमूह भी स्थान कहलाते हैं। यहाँ उन्हीं को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इस उद्देशक में कृष्णादिलेश्याद्रव्यों का ही प्ररूपण किया गया है। वे स्थान प्रत्येक लेश्या के असंख्यात होते हैं। तथाविध एक ही परिणाम के कारणभूत अनन्त द्रव्य भी एक ही प्रकार के अध्यवसाय के हेतु होने से स्थूल रूप से एक ही कहलाते हैं। उनमें से प्रत्येक के दो भेद हैं—जघन्य और उत्कृष्ट। जो जघन्य लेश्यास्थानरूप परिणाम के कारण हों, वे जघन्य और उत्कृष्ट लेश्यास्थानरूप परिणाम के कारण हों, वे उत्कृष्ट कहलाते हैं। जो जघन्य स्थानों के समीपवर्ती मध्यम स्थान हैं, उनका समावेश जघन्य में और जो उत्कृष्टस्थानों के निकटवर्ती हैं, उनका अन्तर्भाव उत्कृष्ट में हो जाता है। ये एक-एक स्थान, अपने एक ही मूल स्थान के अन्तर्गत होते हुए भी परिणाम-गुण-भेद के तारतम्य से असंख्यात हैं। आत्मा में जघन्य एक गुण अधिक, दो गुण अधिक लेश्याद्रव्यरूप उपाधि के कारण असंख्य लेश्या-परिणामविशेष होते हैं। व्यवहारदृष्टि से वे सभी अल्पगुण वाले होने से जघन्य कहलाते हैं। उनके कारणभूत द्रव्यों के स्थान भी जघन्य कहलाते हैं। इसी प्रकार उत्कृष्ट स्थान भी असंख्यात समझ लेने चाहिए।[2]

पन्द्रहवाँ : अल्पबहुत्वाधिकार

१२४७. एतेसि णं भंते ! कण्हलेस्साठाणाणं जाव सुक्कलेस्साठाणाण य जहण्णगाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जहण्णगा काउलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए, जहण्णगा णीललेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहण्णगा कण्हलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहण्णगा तेउलेस्स-

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३६८

२. वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३६९

ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहण्णगा पम्हलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहण्णगा सुक्कलेस्साठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा। पदेसट्ठयाए—सव्वत्थोवा जहण्णगा काउलेस्साठाणा पएसट्ठयाए, जहण्णगा णीललेस्सठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहण्णगा कण्हलेस्साठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहण्णगा तेउलेस्सठाणा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहण्णगा पम्हलेस्सठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहण्णगा सुक्कलेस्साठाणा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा; दव्वट्ठपदेसट्ठयाए—सव्वत्थोवा जहण्णगा काउलेस्सठाणा दव्वट्ठयाए, जहण्णगा णीललेस्सट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हलेस्सट्ठाणा तेउलेस्सट्ठाणा पम्हलेस्सट्ठाणा, जहण्णगा सुक्कलेस्सट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जहण्णएहिंतो सुक्कलेस्सठाणेहिंतो दव्वट्ठयाए जहण्णगा काउलेस्सट्ठाणा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, जहण्णगा णीललेस्सट्ठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं जाव सुक्कलेस्सट्ठाणा।

[१२४७ प्र.] भगवन्! इन कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या के जघन्य स्थानों में से द्रव्य की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से और द्रव्य तथा प्रदेशों की अपेक्षा से कौन, किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं?

[१२४७ उ.] गौतम! द्रव्य की अपेक्षा से, सबसे थोड़े जघन्य कापोतलेश्यास्थान हैं, उनसे नीललेश्या के जघन्य स्थान द्रव्य की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, उनसे कृष्णलेश्या के जघन्य स्थान द्रव्य की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, उनसे तेजोलेश्या के जघन्य स्थान द्रव्य की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, उनसे पद्मलेश्या के जघन्य स्थान द्रव्य की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, उनसे शुक्ललेश्या के जघन्यस्थान द्रव्य की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं।

प्रदेशों की अपेक्षा से—सबसे थोड़े कापोतलेश्या के जघन्य स्थान हैं, उनसे नीललेश्या के जघन्य स्थान प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, उनसे कृष्णलेश्या के जघन्य स्थान प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, (उनसे) तेजोलेश्या के जघन्य स्थान प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, उनसे पद्मलेश्या के जघन्य स्थान प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, उनसे शुक्ललेश्या के जघन्य स्थान प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं।

द्रव्य और प्रदेशों की अपेक्षा से सबसे कम कापोतलेश्या के जघन्य स्थान द्रव्य की अपेक्षा से हैं, उनसे नीललेश्या के जघन्य स्थान द्रव्य की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, उनसे जघन्य कृष्णलेश्यास्थान, तेजोलेश्यास्थान, पद्मलेश्या तथा इसी प्रकार शुक्ललेश्यास्थान द्रव्य की अपेक्षा से (क्रमशः) असंख्यातगुणे हैं। द्रव्य की अपेक्षा से शुक्ललेश्या के जघन्य स्थानों से, कापोतश्लेया के जघन्य स्थान प्रदेशों की अपेक्षा से अनन्तगुणे हैं, उनसे नीललेश्या के जघन्य स्थान प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, इसी प्रकार कृष्णलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या एवं शुक्ललेश्या के जघन्य स्थान प्रदेशों की अपेक्षा से उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे हैं।

१२४८. एतेसि णं भंते! कण्हलेस्सट्ठाणाणं जाव सुक्कलेस्सट्ठाणाण य उक्कोसगाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४?

गोयमा! सव्वत्थोवा उक्कोसगा काउलेस्सट्ठाणा दव्वट्ठयाए, उक्कोसगा णीललेस्सट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं जहेव जहण्णगा तहेव उक्कोसगा वि, णवरं उक्कोस त्ति अभिलावो।

[१२४८ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या के उत्कृष्ट स्थानों (से लेकर) यावत् शुक्ललेश्या के उत्कृष्ट स्थानों में द्रव्य की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से तथा द्रव्य और प्रदेशों की अपेक्षा से कौन, किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[१२४८ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े कापोतलेश्या के उत्कृष्ट स्थान द्रव्य की अपेक्षा से हैं। (उनसे) नीललेश्या के उत्कृष्ट स्थान द्रव्य की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं। इसी प्रकार जघन्यस्थानों के अल्पबहुत्व की तरह उत्कृष्ट स्थानों का भी अल्पबहुत्व समझ लेना चाहिए। विशेषता यह है कि 'जघन्य' शब्द के स्थान में (यहाँ) 'उत्कृष्ट' शब्द कहना चाहिए।

१२४९. एतेसि णं भंते ! कण्हलेस्सट्ठाणाणं जाव सुक्कलेस्सट्ठाणाण य जहण्णुक्कोसगाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जहण्णगा काउलेस्सट्ठाणा दव्वट्ठयाए, जहण्णया णीललेस्सट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हलेस्सट्ठाणा तेउलेस्सट्ठाणा पम्हलेस्सट्ठाणा, जहण्णगा सुक्कलेसट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा। जहण्णएहिंतो सुक्कलेस्सट्ठाणेहिंतो दव्वट्ठयाए उक्कोसा काउलेस्सट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, उक्कोसा नीललेसट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हलेसट्ठाणा तेउलेसट्ठाणा पम्हलेसट्ठाणा, उक्कोसा सुक्कलेस्सट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा। पदेसट्ठयाए—सव्वत्थोवा जहण्णगा काउलेस्सट्ठाणा पएसट्ठयाए, जहण्णगा णीललेसट्ठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं जहेव दव्वट्ठयाए तहेव पएसट्ठयाए वि भाणियव्वं, णवरं पएसट्ठयाए त्ति अभिलावविसेसो। दव्वट्ठपएसट्ठयाए—सव्वत्थोवा जहण्णगा काउलेस्सट्ठाणा दव्वट्ठयाए, जहण्णगा णीललेसट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हलेसट्ठाणा तेउलेसट्ठाणा पम्हलेसट्ठाणा, जहण्णया सुक्कलेसट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा। जहण्णएहिंतो सुक्कलेसट्ठाणेहिंतो दव्वट्ठयाए उक्कोसा काउलेसट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, उक्कोसा णीललेसट्ठाणाए दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हलेसट्ठाणा तेउलेसट्ठाणा पम्हलेसट्ठाणा, उक्कोसगा सुक्कलेसट्ठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा। उक्कोसएहिंतो सुक्कलेसट्ठाणेहिंतो दव्वट्ठयाए जहण्णगा काउलेसट्ठाणा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, जहण्णगा णीललेसट्ठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हलेसट्ठाणा तेउलेसट्ठाणा पम्हलेसट्ठाणा, जहण्णगा सुक्कलेसट्ठाणा असंखेज्जगुणा, जहण्णएहिंतो सुक्कलेसट्ठाणेहिंतो पदेसट्ठयाए उक्कोसा काउलेसट्ठाणा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, उक्कोसया णीललेसट्ठाणा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, एवं कण्हलेसट्ठाणा तेउलेसट्ठाणा पम्हलेसट्ठाणा, उक्कोसया सुक्कलेसट्ठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा।

॥ पण्णवणाए भगवतीए लेस्सापदे चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

[१२४९ प्र.] भगवन् ! इस कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या के जघन्य और उत्कृष्ट स्थानों में द्रव्य की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से तथा द्रव्य और प्रदेशों (उभय) की अपेक्षा से कौन, किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[१२४९ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े द्रव्य की अपेक्षा से कापोतलेश्या के जघन्य स्थान हैं, उनसे नीललेश्या के जघन्य स्थान द्रव्य की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, इसी प्रकार कृष्णलेश्या

तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के जघन्य स्थान द्रव्य की अपेक्षा से (उत्तरोत्तर) असंख्यातगुणे हैं। द्रव्य की अपेक्षा से जघन्य शुक्ललेश्यास्थानों से उत्कृष्ट कापोतलेश्यास्थान असंख्यातगुणे हैं, उनसे नीललेश्या के उत्कृष्ट स्थान द्रव्य की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, इसी प्रकार कृष्णलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के उत्कृष्ट स्थान (उत्तरोत्तर) द्रव्य की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं।

प्रदेशों की अपेक्षा से सबसे कम कापोतलेश्या के जघन्य स्थान हैं, उनसे नीललेश्या के जघन्य स्थान, प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, इसी प्रकार जैसे द्रव्य की अपेक्षा से अल्पबहुत्व का कथन किया गया है, वैसे ही प्रदेशों की अपेक्षा से भी अल्पबहुत्व कहना चाहिए। विशेषता यह है कि यहाँ 'प्रदेशों की अपेक्षा से' ऐसा कथन करना चाहिए। द्रव्य और प्रदेशों की अपेक्षा से सबसे थोड़े कापोतलेश्या के जघन्य स्थान द्रव्य की अपेक्षा से हैं, उनसे नीललेश्या के जघन्य स्थान द्रव्य की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, इसी प्रकार कृष्णलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के जघन्य स्थान द्रव्य की अपेक्षा से (उत्तरोत्तर) असंख्यातगुणे हैं। द्रव्य की अपेक्षा से जघन्य शुक्ललेश्या स्थानों से उत्कृष्ट कापोतलेश्या स्थान असंख्यातगुणे हैं, उनसे नीललेश्या के उत्कृष्ट स्थान द्रव्य की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, इसी प्रकार कृष्णलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या एवं शुक्ललेश्या के उत्कृष्ट स्थान द्रव्य की अपेक्षा से (उत्तरोत्तर) असंख्यातगुणे हैं। द्रव्य की अपेक्षा से उत्कृष्ट शुक्ललेश्यास्थानों से जघन्य कापोतलेश्यास्थान प्रदेशों की अपेक्षा से अनन्तगुणे हैं, उनसे जघन्य नीललेश्या प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, इसी प्रकार कृष्णलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या एवं शुक्ललेश्या के जघन्यस्थान प्रदेशों की अपेक्षा से (उत्तरोत्तर) असंख्यातगुणे हैं। प्रदेश की अपेक्षा से जघन्य शुक्ललेश्यास्थानों से, उत्कृष्ट कापोतलेश्यास्थान प्रदेशों से असंख्यातगुणे हैं, उनसे उत्कृष्ट नीललेश्यास्थान प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं, इसी प्रकार कृष्णलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या एवं शुक्ललेश्या के उत्कृष्टस्थान प्रदेशों की अपेक्षा से (उत्तरोत्तर) असंख्यातगुणे हैं।

विवेचन—पञ्चदशवां अल्पबहुत्वाधिकार—प्रस्तुत तीन सूत्रों में छहों लेश्याओं के जघन्य और उत्कृष्ट स्थानों का द्रव्य की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से और द्रव्य-प्रदेशों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व का प्रतिपादन किया गया है।

निष्कर्ष—जघन्य और उत्कृष्ट स्थानों में द्रव्य की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से तथा द्रव्य एवं प्रदेशों की अपेक्षा से सबसे कम कापोतलेश्या के स्थान हैं, उससे नील, कृष्ण, तेजो, पद्म एवं शुक्ललेश्या के स्थान उत्तरोत्तर प्रायः असंख्यातगुणे हैं, क्वचित् प्रदेशों की अपेक्षा शुक्ललेश्यास्थानों से कापोतलेश्यास्थान अनन्तगुणे कहे गए हैं।[1]

॥ सत्तरहवां लेश्यापद : चतुर्थपद उद्देशक समाप्त ॥

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३७०

सत्तरसमं लेस्सापयं : पंचमो उद्देसओ

सत्तरहवाँ लेश्यापद : पंचम उद्देशक

लेश्याओं के छह प्रकार

१२५०. कति णं भंते लेस्साओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! छल्लेसाओ पण्णत्ताओ । तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

[१२५० प्र.] भगवन् ! लेश्याएँ कितनी हैं ?

[१२५० उ.] गौतम ! लेश्याएँ छह हैं—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या ।

लेश्याओं के परिणामभाव की प्ररूपणा

१२५१. से णूणं भंते ! कण्हलेस्सा णीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ?

एत्तो आढत्तं जहा चउत्थुद्देसए तहा भाणियव्वं जाव वेरुलियमणिदिट्ठंतो त्ति ।

[१२५१ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या नीललेश्या को प्राप्त होकर उसी के स्वरूप में, उसी के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के रूप में पुनः पुनः परिणत हो जाती है ?

[१२५१ उ.] यहाँ से प्रारम्भ करके यावत् वैडूर्यमणि के दृष्टान्त तक जैसे चतुर्थ उद्देशक में कहा है, वैसे ही कहना चाहिए ।

१२५२. से णूणं भंते ! कण्हलेस्सा णीललेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए णो तावण्णत्ताए णो तागंधत्ताए णो तारसत्ताए णो ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ?

हंता गोयमा ! कण्हलेस्सा णीललेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए णो तावण्णत्ताए णो तागंधत्ताए णो तारसत्ताए णो ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति ?

गोयमा ! आगारभावमायाए वा से सिया पलिभागभावमायाए वा से सिया कण्हलेस्सा णं सा, णो खलु सा णीललेस्सा, तत्थ गता उस्सक्कति से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति कण्हलेस्सा णीललेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ?

[१२५२ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या नीललेश्या को प्राप्त होकर नीललेश्या के स्वभाव-रूप में तथा उसी के वर्णरूप में, गन्धरूप में, रसरूप में एवं स्पर्शरूप में बार-बार परिणत नहीं होती है ?

[१२५२ उ.] हाँ, गौतम ! कृष्णलेश्या को प्राप्त होकर न तो उनके स्वभावरूप में, न

उसेके वर्णरूप में, न इसके गन्धरूप में, न उसके रसरूप में और न उसके स्पर्शरूप में बार-बार परिणत होती है।

[प्र.] भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि कृष्णलेश्या नीललेश्या को प्राप्त होकर, न तो उसके स्वरूप में यावत् (न उसके वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शरूप में) बार-बार परिणत होती है ?

[उ.] गौतम ! वह (कृष्णलेश्या) आकार भावमात्र से हो, अथवा प्रतिभाग भावमात्र (प्रतिबिम्बमात्र) से (नीललेश्या) होती है। (वास्तव में) यह कृष्णलेश्या ही (रहती) है, वह नीललेश्या नहीं हो जाती। वह (कृष्णलेश्या) वहाँ रही हुई उत्कर्ष को प्राप्त होती है, इसी हेतु से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि कृष्णलेश्या नीललेश्या को प्राप्त होकर न तो उसके स्वरूप में, यावत् (न ही उसके वर्ण-गंध-रस स्पर्शरूप में) बारबार परिणत होती है।

१२५३. से णूणं भंते ! णीललेस्सा काउलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ?

हंता गोयमा ! णीललेस्सा काउलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णीललेस्सा काउलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ?

गोयमा ! आगारभावमायाए वा से सिया पलिभागभावमायाए वा सिया णीललेस्सा णं सा, णो खलु सा काउलेस्सा, तत्थ गता उस्सक्कति वा ओसक्कति वा, सेएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ णीललेस्सा काउलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति।

[१२५३ प्र.] भगवन् ! क्या नीललेश्या, कापोतलेश्या को प्राप्त होकर न तो उसके स्वरूप में यावत् (न ही उसके वर्ण-गंध-रस-स्पर्शरूप में) बारबार परिणत होती है ?

[१२५३ उ.] हाँ, गौतम ! नीललेश्या कापोतलेश्या को प्राप्त होकर न उसके स्वरूप में यावत् (न ही उसके वर्ण-गंध-रस-स्पर्शरूप में) बारबार परिणत होती है।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं कि नीललेश्या, कापोतलेश्या को प्राप्त होकर न उसके स्वरूप में, यावत् पुनःपुनः परिणत होती है ?

[उ.] गौतम ! वह (नीललेश्या) आकारभावमात्र से ही, अथवा प्रतिबिम्बमात्र से (कापोतलेश्या) होती है, (वास्तव में) वह नीललेश्या ही (रहती) है; वास्तव में वह कापोतलेश्या नहीं हो जाती। वहाँ रही हुई (वह नीललेश्या) घटती-बढ़ती रहती है। इसी कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि नीललेश्या कापोतलेश्या को प्राप्त होकर न तो तद्रूप में यावत् (न ही उसके वर्ण-गंध-रस-स्पर्शरूप में) बारबार परिणत होती है।

१२५४. एवं काउलेस्सा तेउलेस्सं पप्प, तेउलेस्सा पम्हलेस्सं पप्प, पम्हलेस्सा सुक्कलेस्सं पप्प।

[१२५४] इसी प्रकार कापोतलेश्या तेजोलेश्या को प्राप्त होकर, तेजोलेश्या पद्मलेश्या को प्राप्त होकर और पद्मलेश्या शुक्ललेश्या को प्राप्त होकर (उसी के स्वरूप में, अर्थात्—वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शरूप में परिणत नहीं होती, ऐसा पूर्वयुक्तिपूर्वक समझना चाहिए।)

१२५५. से णूणं भंते ! सुक्कलेस्सा पम्हलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव परिणमति ?

हंता गोयमा ! सुक्कलेस्सा तं चेव।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सुक्कलेस्सा जाव णो परिणमति ?

गोयमा ! आगारभावमायाए वा जाव सुक्कलेस्सा णं सा, णो खलु सा पम्हलेस्सा, तत्थ गता ओसक्कति, सेएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव णो परिणमति।

॥ लेस्सापदे पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥

[१२५५ प्र.] भगवन् ! क्या शुक्ललेश्या, पद्मलेश्या को प्राप्त होकर उसके स्वरूप में यावत् (उसके वर्ण-गंध-रस-स्पर्शरूप में पुनः पुनः) परिणत नहीं होती ?

[१२१५ उ.] हाँ गौतम ! शुक्ललेश्या पद्मलेश्या को पा कर उसके स्वरूप में परिणत नहीं होती, इत्यादि सब वही (पूर्ववत् कहना चाहिए।)

[प्र.] भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि शुक्ललेश्या (पद्मलेश्या को प्राप्त होकर) यावत् (उसके स्वरूप में तथा उसके वर्ण-गन्ध-रस स्पर्शरूप में) परिणत नहीं होती ?

[उ.] गौतम ! आकारभावमात्र से अथवा प्रतिबिम्बमात्र से यावत् (वह शुक्ललेश्या पद्मलेश्या-सी प्रतीत होती है), वह (वास्तव में) शुक्ललेश्या ही है, निश्चय ही वह पद्मलेश्या नहीं होती। शुक्ललेश्या वहाँ (स्व-स्वरूप में) रहती हुई अपकर्ष (हीनभाव) को प्राप्त होती है। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि यावत् (शुक्ललेश्या पद्मलेश्या को प्राप्त होकर उसके स्वरूप में) परिणत नहीं होती।

विवेचन—लेश्याओं के परिणामभाव की प्ररूपणा--प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. १२५१ से १२५५ तक) में एक लेश्या का दूसरी लेश्या को प्राप्त कर उसके स्वरूप में परिणत होने का निषेध किया गया है।

पूर्वापर विरोधी कथन कैसे और क्या समाधान ?—यहाँ आशंका होती है कि पूर्व सूत्रों (सू. १२२० से १२२५ चतुर्थ उद्देशक, परिणामाधिकार) में कृष्णादि लेश्याओं को, नीलादि लेश्याओं के स्वरूप में तथा उनके वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शरूप में परिणत होने का विधान किया गया है, परन्तु यहाँ उसके तद्रूप-परिणमन का निषेध किया गया है। ये दोनों कथन पूर्वापर विरोधी हैं। इसका क्या समाधान ? वृत्तिकार इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि पहले परिणमन का जो विधान किया गया है, वह तिर्यंचों और मनुष्यों की अपेक्षा से है और इन सूत्रों में परिणमन का निषेध किया गया है, वह देवों और नारकों की अपेक्षा से है। इस प्रकार दोनों कथन विभिन्न अपेक्षाओं से होने के कारण पूर्वापरविरोधी नहीं हैं। देव और नारक अपने पूर्वभवगत अन्तिम अन्तर्मुहूर्त से लेकर आगामी भव के प्रथम अन्तर्मुहूर्त तक उसी लेश्या में अवस्थित होते हैं। अर्थात् उनकी जो लेश्या पूर्वभव के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में थी, वही वर्तमान देवभव या नारकभव में भी कायम रहती है और आगामी भव के प्रथम अन्तर्मुहूर्त में भी रहती है। इस कारण देवों और नारकों के कृष्णलेश्यादि के द्रव्यों का परस्पर सम्पर्क होने पर भी वे एक-दूसरे को अपने स्वरूप में परिणत नहीं करते।

लेश्याओं का परस्पर सम्पर्क होने पर भी एक दूसरे के रूप में परिणत क्यों नहीं ? इस प्रश्न का समाधान मूल में किया गया है कि कृष्णलेश्या आकार भाव मात्र से ही अथवा प्रतिबिम्बमात्र से ही नीललेश्या होती है, वास्तव में वह नीललेश्या नहीं बन जाती। आकारभाव का अर्थ है—छाया-मात्र या सिर्फ झलक। आशय यह है कि कृष्णलेश्या के द्रव्यों पर नीललेश्या के द्रव्यों की छाया पड़ती है, इस कारण वह नीललेश्या-सी प्रतीत होती है। अथवा जैसे दर्पण आदि पर प्रतिबिम्ब पड़ने पर दर्पणादि उस वस्तु-से प्रतीत होने लगते हैं। उसी प्रकार कृष्णलेश्या के साथ नीललेश्या का सन्निधान (निकटता) होने पर कृष्णलेश्या पर नीललेश्या के द्रव्यों का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब कृष्णलेश्याद्रव्य नीललेश्याद्रव्यों के रूप में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, किन्तु उनमें परिणम्य-परिणामकभाव घटित नहीं होता। जैसे दर्पण अपने आप में दर्पण ही रहता है, उसमें प्रतिबिम्बित होने वाली वस्तु नहीं बन जाता। इसी प्रकार कृष्णलेश्या पर नीललेश्या का प्रतिबिम्ब पड़ने पर वह नीललेश्या-सी प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में वह नीललेश्या में परिणत नहीं होती, वह कृष्णलेश्या ही बनी रहती है। यों प्रतिबिम्ब या छाया के अभिप्राय से मूल में कहा परिणमन उसमें नहीं होता। इसी अभिप्राय से मूल में कहा गया है—यह वस्तुतः कृष्णलेश्या ही है, नीललेश्या नहीं, क्योंकि उसने अपने स्वरूप का परित्याग नहीं किया है। जैसे दर्पण आदि जपाकुसुम आदि औपाधिक द्रव्यों के सन्निधान से उनके प्रतिबिम्ब-मात्र को धारण करते हुए दर्पण आदि ही बने रहते हैं तथा जपाकुसुमादि भी दर्पण नहीं बन जाते। इसी प्रकार कृष्णलेश्या नीललेश्या नहीं बन जाती, अपितु कृष्णलेश्या से नीललेश्या विशुद्ध होने के कारण कृष्णलेश्या अपने स्वरूप में स्थित रहती हुई नीललेश्या के आकारभावमात्र या प्रतिबिम्ब-मात्र को धारण करती हुई किञ्चित् विशुद्ध हो जाती है। इसी अभिप्राय से यहाँ कहा गया है—**'तत्थ गता ओस्सक्कति'**—उस रूप में रहती हुई कृष्णलेश्या (नीललेश्या के सन्निधान से) उत्कर्ष को प्राप्त होती है। किन्तु शुक्ललेश्या से पद्मलेश्या हीनपरिणाम वाली होने से पद्मलेश्या के सन्निधान से उसके आकारभाव या प्रतिबिम्बमात्र को धारण करके कुछ अविशुद्ध हो जाती है— अपकर्ष को प्राप्त हो जाती है।[1]

अन्य लेश्याओं के सम्बन्ध में अतिदेश—यद्यपि मूलपाठ में अन्य लेश्याओं सम्बन्धी वक्तव्यता नहीं दी है, तथापि मूल टीकाकार ने उनके सम्बन्ध में व्याख्या की है। इसलिए शुक्ललेश्या के साथ जिस प्रकार पद्मलेश्या की वक्तव्यता है उसी प्रकार पद्मलेश्या के साथ तेजोलेश्या, कापोतलेश्या, नीललेश्या और कृष्णलेश्या सम्बन्धी वक्तव्यता तेजोलेश्या के साथ कापोत, नील और कृष्णलेश्या-विषयक वक्तव्यता, कापोतलेश्या के साथ नील और कृष्णलेश्या-विषयक वक्तव्यता तथा नीललेश्या को लेकर कृष्णलेश्या सम्बन्धी वक्तव्यता घटित कर लेनी चाहिए।[2]

॥ सत्तरहवाँ लेश्यापद : पंचम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३७१-३७२

२. वही मलय. वृत्ति, पत्रांक ३७२

सत्तरसमं लेस्सापयं : छट्ठो उद्देसओ

सत्तरहवाँ लेश्यापद : छठा उद्देशक

लेश्या के छह प्रकार

१२५६. कति णं भंते ! लेस्साओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! छल्लेसाओ पण्णत्ताओ । तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

[१२५६ प्र.] भगवन् ! लेश्याएँ कितनी हैं ?

[१२५६ उ.] गौतम ! छह लेश्याएँ कही गई हैं—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या ।

मनुष्यों में लेश्याओं की प्ररूपणा

१२५७. [१] मणूसाणं भंते ! कति लेस्साओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! छल्लेसाओ पण्णत्ताओ । तं जहा कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

[१२५७-१ प्र.] भगवन् ! मनुष्यों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[१२५७-१ उ.] गौतम ! छह लेश्याएँ होती हैं, वे इस प्रकार—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या ।

[२] मणूसीणं पुच्छा ।

गोयमा ! छल्लेसाओ पण्णत्ताओ । तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

[१२५७-२ प्र.] भगवन् ! मनुष्यस्त्रियों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[१२५७-२ उ.] गौतम ! (उनमें भी) छह लेश्याएँ हैं— कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या ।

[३] कम्मभूमयमणूसाणं भंते ! कति लेस्साओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! छ । तं जहा कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

[१२५७-३ प्र.] भगवन् ! कर्मभूमिक मनुष्यों में कितनी लेश्याएँ हैं ?

[१२५७-३ उ.] गौतम ! (उनमें) छह (लेश्याएँ होती हैं ।) वे इस प्रकार—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या ।

[४] एवं कम्मभूमयमणूसीण वि ।

[१२५७-४] इसी प्रकार कर्मभूमिक मनुष्यस्त्रियों की भी लेश्याविषयक प्ररूपणा करनी चाहिए ।

[५] भरहेरवयमणूसाणं भंते ! कति लेस्साओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! छ । तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

[१२५७-५ प्र.] भगवन् ! भरतक्षेत्र और ऐरवतक्षेत्र के मनुष्यों में कितना लेश्याएँ पाई जाती हैं ?

[१२५७-५ उ.] गौतम ! (उनमें भी) छह (लेश्याएँ होती हैं) यथा—कृ ष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या ।

[६] एवं मणुस्सीण वि ।

[१२५७-६] इसी प्रकार (इन क्षेत्रों की) मनुष्यस्त्रियों में भी (छह लेश्याओं की प्ररूपणा करनी चाहिए ।)

[७] पुव्वविदेह-अवरविदेहकम्मभूमयमणूसाणं भंते ! कति लेस्साओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! छ लेस्साओ । तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

[१२५७-७ प्र.] भगवन् ! पूर्वविदेह और अपरविदेह के कर्मभूमिज मनुष्यों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[१२५७-७ उ.] गौतम ! (इन दोनों क्षेत्रों के मनुष्यों में) छह लेश्याएँ कही गई हैं—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या ।

[८] एवं मणूसीण वि ।

[१२५७-८] इसी प्रकार (इन दोनों क्षेत्रों की) मनुष्यस्त्रियों में भी (छह लेश्याएँ समझनी चाहिए ।)

[९] अकम्मभूयमणूसाणं पुच्छा ?

गोयमा ! चत्तारि लेस्साओ पण्णत्ताओ । तं जहा—कण्हलेस्सा जाव तेउलेस्सा ।

[१२५७-९ प्र.] भगवन् ! अकर्मभूमिज मनुष्यों में कितनी लेश्याएँ कही गई हैं ?

[१२५७-९ उ.] गौतम ! (उनमें) चार लेश्याएँ कही गई हैं । वे इस प्रकार हैं- कृष्णलेश्या यावत् तेजोलेश्या ।

[१०] एवं अकम्मभूमयमणूसीण वि ।

[१२५७-१०] इसी प्रकार अकर्मभूमिज मनुष्यस्त्रियों में भी (चार लेश्याएँ कहनी चाहिए ।)

[११] एवं अंतरदीवयमणूसाणं मणूसीण वि ।

[१२५७-११] इसी प्रकार अन्तरद्वीपज मनुष्यों में और मनुष्यस्त्रियों में भी (चार लेश्याएँ समझनी चाहिए ।)

[१२] हेमवय-एरन्नवयअकम्मभूमयमणुस्साणं मणूसीण य कति लेस्साओ पण्णत्ताओ ?
गोयमा ! चत्तारि । तं जहा—कण्हलेस्सा जाव तेउलेस्सा ।

[१२५७-१२ प्र.] भगवन् ! हैमवत और ऐरण्यवत अकर्मभूमिज मनुष्यों और मनुष्यस्त्रियों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[१२५७-१२ उ.] गौतम ! (इन दोनों क्षेत्रों के पुरुषों और स्त्रियों में) चार लेश्याएँ होती हैं । वे इस प्रकार—कृष्णलेश्या यावत् तेजोलेश्या ।

[१३] हरिवास-रम्मयअकम्मभूमयमणुस्साणं मणूसीण य पुच्छा ?
गोयमा ! चत्तारि । तं जहा—कण्हलेस्सा जाव तेउलेस्सा ।

[१२५७-१३ प्र.] भगवन् ! हरिवर्ष और रम्यकवर्ष के अकर्मभूमिज मनुष्यों और मनुष्यस्त्रियों में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

[१२५७-१३ उ.] गौतम ! (इन दोनों क्षेत्रों के अकर्मभूमिज पुरुषों और स्त्रियों में) चार लेश्याएँ होती हैं । वे इस प्रकार—कृष्णलेश्या यावत् तेजोलेश्या ।

[१४] देवकुरूत्तरकुरुअकम्मभूमयमणुस्साणं एवं चेव ।

[१२५७-१४] देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र के अकर्मभूमिज मनुष्यों में भी इसी प्रकार (चार लेश्याएँ जाननी चाहिए ।)

[१५] एतेसिं चेव मणूसीणं एवं चेव ।

[१२५७-१५] इन (पूर्वोक्त दोनों क्षेत्रों) की मनुष्यस्त्रियों में भी इसी प्रकार (चार लेश्याएँ समझनी चाहिए ।)

[१६] धायइसंडे पुरिमद्धे एवं चेव, पच्छिमद्धे वि । एवं पुक्खरद्धे वि भाणियव्वं ।[1]

[१२५७-१६] धातकीषण्ड के पूर्वार्द्ध में तथा पश्चिमार्द्ध में भी मनुष्यों और मनुष्यस्त्रियों में इसी प्रकार (चार लेश्याएँ) कहनी चाहिए । इसी प्रकार पुष्करार्द्ध द्वीप में भी कहना चाहिए ।

विवेचन—विभिन्न क्षेत्रीय मनुष्यों में लेश्याओं की प्ररूपणा प्रस्तुत सूत्र (१२५७।१६ तक) में सामान्य मनुष्यों से लेकर सभी क्षेत्रों के सभी प्रकार के कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज मनुष्यों तथा उनकी स्त्रियों में लेश्याओं की प्ररूपणा की गई है ।

निष्कर्ष प्रत्येक क्षेत्र के कर्मभूमिज मनुष्यों और स्त्रियों में छह लेश्याएँ और अकर्मभूमिक मनुष्यों और स्त्रियों में चार लेश्याएँ पाई जाती हैं ।[2] अकर्मभूमिक नर-नारियों में पद्म और शुक्ललेश्या नहीं होती ।

---

१. ग्रन्थाग्रम् ५५००

२. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ) भा. १, पृ. ३०१-३०२

लेश्या को लेकर गर्भोत्पत्ति सम्बन्धी प्ररूपणा

१२५८. [१] **कण्हलेस्से णं भंते ! मणुसे कण्हलेस्सं गब्भं जणेज्जा ?**
हंता गोयमा ! जणेज्जा ।

[१२५८-१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाला मनुष्य कृष्णलेश्यावान् गर्भ को उत्पन्न करता है ?

[१२५८-१ उ.] हाँ, गौतम ! वह उत्पन्न करता है ।

[२] कण्हलेसे णं भंते मणूसे णीललेस्सं गब्भं जणेज्जा ?
हंता गोयमा ! जणेज्जा ।

[१२५८-२ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाला मनुष्य नीललेश्यावान् गर्भ को उत्पन्न करता है ?

[१२५८-२ उ.] हाँ, गौतम ! वह उत्पन्न करता है ।

[३] एवं काउलेस्सं तेउलेस्सं पम्हलेस्सं सुक्कलेस्सं छप्पिमालावगा भाणियव्वा ।

[१२५८-३] इसी प्रकार (कृष्णलेश्या वाले पुरुष से) कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या वाले गर्भ की उत्पत्ति के विषय में आलापक कहने चाहिए ।

[४] एवं णीललेसेणं काउलेसेणं तेउलेसेण वि पम्हलेसेण वि सुक्कलेसेण वि, एवं एते छत्तीसं आलावगा ।

[१२५८-४] इसी प्रकार (कृष्णवाले पुरुष की तरह) नीललेश्या वाले, कापोतलेश्या वाले, तेजोलेश्या वाले, पद्मलेश्या वाले और शुक्ललेश्या वाले प्रत्येक मनुष्य से इस प्रकार पूर्वोक्त छहों लेश्या वाले गर्भ की उत्पत्तिसम्बन्धी छह-छह आलापक होने से सब छत्तीस आलापक हुए ।

[५] कण्हलेस्सा णं भंते ! इत्थिया कण्हलेस्सं गब्भं जणेज्जा ?
हंता गोयमा ! जणेज्जा । एवं एते वि छत्तीसं आलावगा ।

[१२५८-५ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या वाली स्त्री कृष्णलेश्या वाले गर्भ को उत्पन्न करती है ?

[१२५८-५ उ.] हाँ, गौतम ! उत्पन्न करती है । इसी प्रकार (पूर्ववत्) ये भी छत्तीस आलापक कहने चाहिए ।

[६] कण्हलेस्से णं भंते ! मणूसे कण्हलेसाए इत्थियाए कण्हलेस्सं गब्भं जणेज्जा ?
हंता गोयमा ! जणेज्जा । एवं एते छत्तीसं आलावगा ।

[१२५८-६ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाला मनुष्य क्या कृष्णलेश्या वाली स्त्री से कृष्णलेश्या वाले गर्भ को उत्पन्न करता है ?

[१२५८-६ उ.] हाँ, गौतम ! वह उत्पन्न करता है। इस प्रकार (पूर्ववत्) ये भी छत्तीस आलापक हुए।

[७] कम्मभूमयकण्हलेस्से णं भंते ! मणुस्से कण्हलेस्साए इत्थियाए कण्हलेस्सं गब्भं जणेज्जा ?

हंता गोयमा ! जणेज्जा एवं एते वि छत्तीसं आलावगा।

[१२५८-७ प्र.] भगवन् ! कर्मभूमिक कृष्णलेश्या वाला मनुष्य कृष्णलेश्या वाली स्त्री से कृष्णलेश्या वाले गर्भ को उत्पन्न करता है ?

[१२५८-७ उ.] हाँ, गौतम ! वह उत्पन्न करता है। इस प्रकार (पूर्वोक्तानुसार) ये भी छत्तीस आलापक हुए।

[८] अकम्मभूमयकण्हलेसे णं भंते ! मणूसे अकम्मभूमयकण्हलेस्साए इत्थियाए अकम्मभूमयकण्हलेस्सं गब्भं जणेज्जा ?

हंता गोयमा ! जणेज्जा, णवरं चउसु लेसासु सोलस आलावगा। एवं अंतरदीवगा वि।

॥ छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥

॥ पण्णवणाए भगवईए सत्तरसमं लेस्सापयं समत्तं ॥

[१२५८-८ प्र.] भगवन् ! अकर्मभूमिक कृष्णलेश्या वाला मनुष्य अकर्मभूमिक कृष्णलेश्या वाली स्त्री से अकर्मभूमिक कृष्णलेश्या वाले गर्भ को उत्पन्न करता है ?

[१२५८-८ उ.] हाँ, गौतम ! वह उत्पन्न करता है। विशेषता यह है कि (इनमें पाई जाने वाली) चार लेश्याओं से (सम्बन्धित) कुल १६ आलापक होते हैं। इसी प्रकार अन्तरद्वीपज (कृष्णलेश्यादि वाले मनुष्य से) भी अन्तरद्वीपज कृष्णलेश्यादि वाली स्त्री से अन्तरद्वीपज कृष्णलेश्यादि वाले गर्भ की उत्पत्ति-सम्बन्धी सोलह आलापक होते हैं।

विवेचन लेश्या को लेकर गर्भोत्पत्तिसम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र (१२५८-८ तक) में कृष्णादि छहों लेश्याओं वालों में से प्रत्येक लेश्यावाले पुरुष से, प्रत्येक लेश्यावाली स्त्री से प्रत्येक लेश्यावाले गर्भ की उत्पत्ति का कथन किया गया है।

अपने से भिन्न लेश्यावाले गर्भ को कैसे उत्पन्न करता है ?—अपने से भिन्न लेश्यावाले गर्भ को उत्पन्न करने का कारण यह है कि उत्पन्न होने वाला जीव पूर्वजन्म में लेश्या को ग्रहण करके उत्पन्न होता है। वे लेश्याद्रव्य किसी जीव के कोई और किसी के कोई अन्य होते हैं। इस कारण जनक या जननी या दोनों भले ही कृष्णलेश्या में परिणत हों, जन्य जीव की लेश्या उससे भिन्न भी हो सकती है। इसी प्रकार अन्य लेश्याओं के विषय में भी समझ लेना चाहिए।[1]

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३७३

आलापक—इस कारण कृष्णलेश्या वाला मनुष्य अपनी लेश्या वाले गर्भ के अतिरिक्त अन्य पांचों लेश्याओं वाले गर्भ को उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से कृष्णलेश्या से षट्लेश्यात्मक गर्भ के उत्पन्न होने से एतत्सम्बन्धी छह आलापक हुए तथा शेष नीलादि लेश्याओं के भी ६-६ आलापक होने से ३६ विकल्प हो गए। इसी तरह कृष्णादि छहों लेश्या वाली स्त्रियों में से प्रत्येक लेश्या वाली स्त्री से प्रत्येक लेश्या वाले गर्भ की उत्पत्ति सम्बन्धी ३६ आलापक होते हैं। कृष्णादिलेश्या वाले पुरुष द्वारा कृष्णादिलेश्या वाली स्त्री से कृष्णादिलेश्या वाले गर्भ की उत्पत्ति सम्बन्धी भी ३६ आलापक हैं। फिर अकर्मभूमिक, अन्तरद्वीपज कृष्णादिलेश्या वाले पुरुष द्वारा तथा अकर्मभूमिक एवं अन्तरद्वीपज कृष्णादि-लेश्या वाली स्त्री से इसी प्रकार की लेश्या वाले गर्भ की उत्पत्ति सम्बन्धी क्रमशः १६-१६ आलापक होते हैं।[1]

॥ सत्तरहवाँ लेश्यापद : छठा उद्देशक समाप्त ॥

॥ प्रज्ञापनासूत्र : सत्तरहवाँ लेश्यापद सम्पूर्ण ॥

१. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ) भा. १, पृ. ३०२-३०३

अट्ठारसमं कायट्ठिइपयं

अठारहवाँ कायस्थितिपद

प्राथमिक

- प्रज्ञापनासूत्र का यह अठारहवाँ 'कायस्थितिपद' पद है।
- 'काय' का अर्थ यहाँ 'पर्याय' है। सामान्य रूप अथवा विशेषरूप पर्याय (काय) में किसी जीव के लगातार —निरन्तर रहने को कायस्थिति कहते हैं। इस कायस्थितिपद में चिन्तन प्रस्तुत किया गया है कि चौवीसदण्डकवर्ती जीव और अजीव अपनी-अपनी पर्याय में लगातार कितने काल तक रहते हैं।
- चतुर्थ 'स्थितिपद' और इस 'कायस्थितिपद' में यह अन्तर है कि स्थितिपद में तो चौवीस-दण्डकवर्ती जीवों की भवस्थिति, अर्थात्—एक भव की अपेक्षा से आयुष्य का विचार है, जबकि इस पद में यह विचार किया गया है कि एक जीव मर कर बारंबार उसी भव में जन्म लेता रहे तो, ऐसे सब भवों की परम्परा की कालमर्यादा अथवा उन सभी भवों के आयुष्य का कुल जोड़ कितना होगा ?[1]
- प्रस्तुत पद में जीव, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, संयत, उपयोग, आहार, भाषक, परीत, पर्याप्त, सूक्ष्म, संज्ञी, भवसिद्धिक, अस्तिकाय और चरम, इन २२ द्वारों के माध्यम से चौवीसदण्डकवर्ती समस्त जीवों की उस-उस काय में रहने की कालावधि का विचार किया गया है।
- **प्रथम जीवद्वार** —जीव का अस्तित्व सर्वकाल में है। इससे जीव का अविनाशित्व सिद्ध होता है। **द्वितीय गतिद्वार** में चारों गतियों के जीवों के स्त्री-पुरुष रूप पर्याय की कालावस्थिति का विचार है। **तृतीय इन्द्रियद्वार** में सेन्द्रिय निरिन्द्रिय तथा एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों की स्व-स्वपर्याय में कालावस्थिति का विचार है। **चतुर्थ कायद्वार** में तैजस-कार्मण काय या षट्काय वाले जीवों के स्व-स्वपर्याय में निरन्तर रहने की कालावधि बताई है। **पंचम योगद्वार** में मनोयोगी और वचनयोगी का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक का बताया है। काययोगी की कायस्थिति उत्कृष्ट वनस्पति की बताई है। **छठे वेदद्वार** में सवेदक, अवेदक, स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदी की कायस्थिति बताई है। **सप्तम कषायद्वार** में सकषाय, अकषाय और

१ (क) पण्णवणासुत्तं भा. २ प्रस्तावना, पृ. १०७ से ११० तक
(ख) जैनागम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ. २४७-२४८
(ग) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक ३७४

क्रोधादिकषाययुक्त जीवों की कायस्थिति का विचार है। **सप्तम लेश्याद्वार** में विविध लेश्या वाले जीवों की स्वपर्याय में रहने की कालस्थिति बताई है। **अष्टम सम्यक्त्वद्वार** में सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि वाले जीवों की पर्यायस्थिति का विचार है। इसके पश्चात् क्रमशः **ज्ञान, दर्शन, संयत, उपयोग आहार** का काल बताया है। इसके पश्चात् **भाषक, परीत, पर्याप्त, सूक्ष्म, संज्ञी, भवसिद्धिक** एवं **चरम** आदि द्वारों के माध्यम से तद्विशिष्ट जीव स्व-स्वपर्याय में निरन्तर कितने काल रहते हैं? इसका चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। **इक्कीसवें अस्तिकाय द्वार** में धर्मास्तिकाय आदि अजीवों की कायस्थिति का विचार किया गया है।[1]

✤ जन्म-मरण की परम्परा से मुक्ति चाहने वाले मुमुक्षु जीवों के लिए कायस्थिति का यह चिन्तन अतीव उपयोगी है।

✤✤

---

१. पण्णवणासुत्तं (मू. पा.) भा. १, पृ. ३०४ से ३१७ तक

अट्ठारसमं कायट्ठिइपयं

अठारहवाँ कायस्थितिपद

कायस्थितिपद के अन्तर्गत बाईस द्वार

१२५९. जीव १ गतिंदिय २-३ काए ४ जोगे ५ वेदे ६ कसाय ७ लेस्सा ८ य ।
सम्मत्त ९ णाण १० दंसण ११ संजय १२ उवओग १३ आहारे १४ ॥२११॥
भासग १५ परित्त १६ पज्जत्त १७ सुहुम १८ सण्णी १९ भवऽत्थि २०-२१ चरिमे २२ य ।
एतेसिं तु पदाणं कायठिई होति णायव्वा ॥२१२॥

[१२५९.] **अधिकारसंग्रहणीगाथाओं का अर्थ**] (१) जीव, (२) गति, (३) इन्द्रिय, (४) काय, (५) योग, (६) वेद, (७) कषाय, (८) लेश्या, (९) सम्यक्त्व, (१०) ज्ञान, (११) दर्शन, (१२) संयत, (१३) उपयोग, (१४) आहार, (१५) भाषक, (१६) परीत, (१७) पर्याप्त, (१८) सूक्ष्म, (१९) संज्ञी, (२०) भव (सिद्धिक), (२१) अस्ति (काय) और (२२) चरम, इन पदों की कायस्थिति जाननी चाहिए ॥२११-२१२॥

विवेचन—कायस्थितिपद के अन्तर्गत बाईस द्वार— प्रस्तुत सूत्र में जीवादि बाईस पदों को लेकर कायस्थिति का वर्णन किया जाएगा, इसका दो गाथाओं द्वारा निर्देश किया गया है।

कायस्थिति की परिभाषा—कायपद का अर्थ है—जीव-पर्याय। यहाँ कायपद से पर्याय का ग्रहण किया गया है। पर्याय के दो प्रकार हैं—सामान्यरूप और विशेषरूप। जीव का विशेषणरहित जीवत्वरूप सामान्यपर्याय है तथा नारकत्वादिरूप विशेषपर्याय है। इस प्रकार के पर्यायरूप काय की स्थिति—अवस्थान कायस्थिति है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार सामान्यरूप अथवा विशेषरूप पर्याय से किसी जीव का अविच्छिन्नरूप से (निरन्तर) होना कायस्थिति है।[1]

प्रथम-द्वितीय : जीवद्वार-गतिद्वार

१२६०. जीवे णं भंते ! जीवे त्ति कालओ केवचिरं होइ ?
गोयमा ! सव्वद्धं । दारं १ ॥
[१२६० प्र.] भगवन् ! जीव कितने काल तक जीव (जीवपर्याय में) रहता है ?
[१२६० उ.] गौतम ! (वह) सदा काल रहता है। प्रथम द्वार ॥१॥
१२६१. णेरइए णं भंते ! नेरइए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?
गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ।
[१२६१ प्र.] भगवन् ! नारक नारकत्वरूप (नारकपर्याय) में कितने काल तक रहता है ?

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३७४

[१२६१ उ.] गौतम ! (नारक) जघन्य दस हजार वर्ष तक, उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम तक (नारकपर्याय से युक्त रहता है ।)

१२६२. [१] तिरिक्खजोणिए णं भंते ! तिरिक्खजोणिए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ कालतो, खेत्तओ अणंता लोगा, असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जतिभागो ।

[१२६२-१ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चयोनिक कितने काल तक तिर्यग्योनिकत्व रूप में रहता है ?

[१२६२-१ उ.] गौतम ! (तिर्यञ्च) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक तिर्यञ्चरूप में रहता है । कालतः अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल तक, क्षेत्रतः अनन्त लोक, असंख्यात पुद्गलपरावर्त्तनों तक (तिर्यञ्च तिर्यञ्च, ही बना रहता है ।) वे पुद्गलपरावर्त्तन आवलिका के असंख्यातवें भाग (जितने समझने चाहिए ।)

[२] तिरिक्खजोणिणी णं भंते ! तिरिक्खजोणिणीत्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ? जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं ।

[१२६२-२ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चनी कितने काल तक तिर्यञ्चनी रूप में रहती है ?

[१२६२-२ उ.] गौतम ! (वह) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त तक और उत्कृष्टतः पृथक्त्वकोटि पूर्व अधिक तीन पल्योपम तक (तिर्यञ्चनी रहती है ।)

१२६३. [१] एवं मणूसे वि ।

[१२६३-१] मनुष्य की कायस्थिति के विषय में भी (इसी प्रकार समझना चाहिए ।)

[२] मणूसी वि एवं चेव ।

[१२६३-२] इसी प्रकार मानुषी (नारी) की कायस्थिति के विषय में (समझना चाहिए ।)

१२६४. [१] देवे णं भंते ! देवे त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहेव णेरइए (सु. १२६१) ।

[१२६४-१ प्र.] भगवन् ! देव कितने काल तक देव बना रहता है ?

[१२६४-१ उ.] गौतम ! जैसा (सू. १२६१ में) नारक के विषय में कहा, वैसा ही देव (की कायस्थिति) के विषय में (कहना चाहिए ।)

[२] देवी णं भंते ! देवीति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं उक्कोसेणं पणपण्णं पलिओवमाइं ।

[१२६४-२ प्र.] भगवन् ! देवी, देवी के पर्याय में कितने काल तक रहती है ?

[१२६४-२ उ.] गौतम ! जघन्यतः दस हजार वर्ष तक और उत्कृष्टतः पचपन पल्योपम तक (देवीरूप में कायम रहती है ।)

१२६५. सिद्धे णं भंते ! सिद्धे त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! सादीए अपज्जवसिए ।

[१२६५ प्र.] भगवन् ! सिद्ध जीव कितने काल तक सिद्धपर्याय से युक्त रहता है ?

[१२६५ उ.] गौतम ! सिद्धजीव सादि-अनन्त होता है। (अर्थात्—सिद्धपर्याय सादि है, किन्तु अन्तरहित है।)

१२६६. [१] णेरइय-अपज्जत्तए णं भंते ! णेरइय-अपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।

[१२६६-१ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त नारक जीव अपर्याप्तक नारकपर्याय में कितने काल तक रहता है ?

[१२६६-१ उ.] गौतम ! अपर्याप्तक नारक जीव अपर्याप्तक नारकपर्याय में जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त तक रहता है।

[२] एवं जाव देवी अपज्जत्तिया ।

[१२६६-२] इसी प्रकार (तिर्यञ्चयोनिक-तिर्यञ्चनी, मनुष्य-मानुषी, देव और) यावत् देवी की अपर्याप्त अवस्था अन्तर्मुहूर्त तक ही रहती है।

१२६७. णेरइयपज्जत्तए णं भंते ! णेरइयपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

[१२६७ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त नारक कितने काल तक पर्याप्त नारकपर्याय में रहता है ?

[१२६७ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त कम दस हजार वर्ष तक और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कम तेतीस सागरोपम तक (पर्याप्त नारकरूप में बना रहता है।)

१२६८. [१] तिरिक्खजोणियपज्जत्तए णं भंते ! तिरिक्खजोणियपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

[१२६८-१ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त तिर्यञ्चयोनिक कितने काल तक पर्याप्त तिर्यञ्चरूप में रहता है ?

[१२६८-१ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कम तीन पल्योपम तक (पर्याप्त तिर्यञ्चरूप में रहता है।)

[२] एवं तिरिक्खजोणिणिपज्जत्तिया वि ।

[१२६८-२] इसी प्रकार पर्याप्त तिर्यञ्चनी (तिर्यञ्च स्त्री) की कायस्थिति के विषय में भी (समझना चाहिए।)

१२६९. मणूसे मणूसी वि एवं चेव ।

[१२६९] (पर्याप्त) मनुष्य (नर) और मानुषी (मनुष्यस्त्री) की कायस्थिति के विषय में भी इसी प्रकार (समझना चाहिए ।)

१२७०. [१] देवपज्जत्तए जहा णेरइयपज्जत्तए (सु. १२६७) ।

[१२७०-१] पर्याप्त देव (की कायस्थिति) के विषय में (सू. १२६७ में अंकित) पर्याप्त नैरयिक (की कायस्थिति) के समान (समझना चाहिए ।)

[२] देविपज्जत्तिया णं भंते ! देविपज्जत्तिय त्ति कालओ केवचिरं होई ?

गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं पणपण्णं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । बारं २ ॥

[१२७०-२ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त देवी, पर्याप्त देवी के रूप में कितने काल तक रहती है ?

[१२७०-२ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त कम दस हजार वर्ष तक और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कम पचपन पल्योपम तक पर्याप्त देवी-पर्याय में रहती है । द्वितीय द्वार ॥२॥

विवेचन—प्रथम-द्वितीय जीवद्वार-गतिद्वार प्रस्तुत ग्यारह सूत्रों (सू.१२६० से १२७०) में जीवसामान्य की तथा नारकादि चार गति वाले विशिष्ट जीवों की कायस्थिति का निरूपण किया गया है ।

जीव में सदैव निरन्तर जीवनपर्याय क्यों और कैसे ? जीव सदा काल जीवनपर्याय से युक्त रहता है, क्योंकि जीव वही कहलाता है, जो जीवनपर्याय से विशिष्ट हो । जीवन का अर्थ है—प्राण धारण करना । प्राण दो प्रकार के होते हैं द्रव्यप्राण और भावप्राण । द्रव्यप्राण दस हैं—पांच इन्द्रियाँ, तीन बल, उच्छ्वास-निःश्वास और आयु । भावप्राण—ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख, ये ४ हैं । संसारी जीवों में आयुःकर्म का अनुभवरूप प्राणधारण सदैव रहता है । संसारियों की ऐसी कोई भी अवस्था नहीं है, जिसमें आयुकर्म का अनुभव न हो । सिद्ध जीव द्रव्यप्राणों से रहित होने पर भी ज्ञानादिरूप भावप्राणों के सद्भाव से सदैव जीवित रहता है । इस कारण संसारी अवस्था में और मुक्तावस्था में भी सर्वत्र जीवनपर्याय है, अतएव जीव में जीवनपर्याय सर्वकालभावी है ।

गति की अपेक्षा जीवों की कायस्थिति— नारक की कायस्थिति—जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम तक नारक नारकपर्याय से युक्त रहता है । यही नारक की कायस्थिति है । क्योंकि नारकभव का स्वभाव ही ऐसा है कि एक बार नरक से निकला हुआ जीव अगले ही भव में फिर नरक में उत्पन्न नहीं होता । इस कारण उनकी जो भवस्थिति का परिमाण है, वही उनकी कायस्थिति का परिमाण है ।

तिर्यञ्च नर की कायस्थिति—इसकी जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक की कायस्थिति इसलिए है कि जब कोई देव, मनुष्य या नारक तिर्यंचयोनिक नर के रूप में उत्पन्न होता है और वहाँ अन्तर्मुहूर्त-पर्यन्त रह कर फिर देव, मनुष्य या नारक भव में जन्म ले लेता है, उस अवस्था में जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है । यद्यपि तिर्यञ्च की एकभवसम्बन्धी

स्थिति तो अधिक से अधिक तीन पल्योपम की है, उससे अधिक नहीं, तथापि जो तिर्यञ्च तिर्यञ्च-भव को त्याग कर लगातार तिर्यञ्चभव में ही उत्पन्न होते रहते हैं, बीच में किसी अन्य भव में उत्पन्न नहीं होते, वे अनन्तकाल तक तिर्यञ्च ही बने रहते हैं। उस अनन्तकाल का परिमाण यहाँ क्षेत्र और काल की दृष्टि से बताया गया है—काल की अपेक्षा से अनन्त उत्सर्पिणियाँ और अवसर्पिणियाँ व्यतीत हो जाती हैं, फिर भी तिर्यञ्चयोनिक तिर्यञ्चयोनिक ही बना रहता है। उस अनन्तकाल का यह परिमाण असंख्यात पुद्गलपरावर्तन समझना चाहिए। आवलिका के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने असंख्यात पुद्गलपरावर्त्त समझने चाहिए। तिर्यग्योनिक की यह कायस्थिति वनस्पतिकायिक की अपेक्षा से है, उससे भिन्न तिर्यञ्चों की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि वनस्पतिकायिक के सिवाय अन्य तिर्यंचों की कायस्थिति इतनी नहीं होती।

तिर्यंचयोनिक स्त्री की कायस्थिति—इसकी कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक की और उत्कृष्ट पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक तीन पल्योपम तक की है, क्योंकि संज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्यों की कायस्थिति अधिक से अधिक आठ भवों की है। असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीव मृत्यु के पश्चात् अवश्य देवलोक में उत्पन्न होते हैं, तिर्यंचयोनि में नहीं; अतएव सात भव करोड़ पूर्व की आयु वाले समझना चाहिए और आठवाँ अन्तिम भव देवकुरु आदि में। इस तरह पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक तीन पल्योपम समझना चाहिए।

देव देवियों की कायस्थिति—देवों और देवियों की कायस्थिति भवस्थिति के अनुसार ही समझनी चाहिए। देवियों की उत्कृष्ट कायस्थिति पचपन पल्योपम की है, यह ऐशान देवियों की अपेक्षा से कही गयी है, अन्य देवियों की अपेक्षा से नहीं।

सिद्धजीव की कायस्थिति सादि-अनन्त सिद्ध जीव सादि-अनन्त होता है। सिद्धपर्याय की आदि है, अन्त नहीं। सिद्धपर्याय अक्षय है। क्योंकि रागादि दोष ही जन्ममरण के कारण हैं, जो सिद्ध-जीव में नहीं होते; वे रागद्वेष के कारणभूत कर्मों का सर्वथा क्षय कर चुकते हैं।

अपर्याप्त नारक आदि की कायस्थिति—नारक आदि जीवों की जो समग्र स्थिति है, उसमें से अपर्याप्त अवस्था का एक अन्तर्मुहूर्त कम कर देने से पर्याप्त अवस्था की भवस्थिति होती है। पर्याप्त अवस्था की जो भवस्थिति है, वही पर्याप्त नारक की कायस्थिति भी है।[1]

तृतीय इन्द्रियद्वार

१२७१. सइंदिए णं भंते ! सइंदिए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! सइंदिए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—अणाईए वा अपज्जवसिए १ अणाईए वा सपज्जवसिए २।

[१२७१ प्र.] भगवन् ! सेन्द्रिय (इन्द्रिय सहित) जीव सेन्द्रिय रूप में कितने काल तक रहता है।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३७५ से ३७७ तक

[१२७१ उ.] गौतम ! सेन्द्रिय जीव दो प्रकार के कहे गये हैं—१. अनादि-अनन्त और २. अनादि-सान्त ।

१२७२. एगिंदिए णं भंते ! एगिंदिए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सइकालो ।

[१२७२ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव एकेन्द्रियरूप में कितने काल तक रहता है ?

[१२७२ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल-वनस्पतिकाल-पर्यन्त (एकेन्द्रिय रूप में रहता है ।)

१२७३. बेइंदिए णं भंते ! बेइंदिए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जं कालं ।

[१२७३ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव द्वीन्द्रियरूप में कितने काल तक रहता है ?

[१२७३ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यातकाल तक (द्वीन्द्रिय-रूप में रहता है ।)

१२७४. एवं तेइंदिय-चउरिंदिए वि ।

[१२७४] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय की त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप में अवस्थिति के विषय में (समझना चाहिए ।)

१२७५. पंचेंदिए णं भंते ! पंचेंदिए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसहस्सं सातिरेगं ।

[१२७५ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के रूप में कितने काल तक रहता है ?

[१२७५ उ.] गौतम ! (वह) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्टतः सहस्रसागरोपम से कुछ अधिक (काल तक पंचेन्द्रिय रूप में रहता है ।)

१२७६. अणिंदिए णं ० पुच्छा ।

गोयमा ! सादीए अपज्जवसिए ।

[१२७६ प्र.] भगवन् ! अनिन्द्रिय (सिद्ध) जीव कितने काल तक अनिन्द्रिय बना रहता है ?

[१२७६ उ.] गौतम ! (अनिन्द्रिय) सादि-अनन्त (काल तक अनिन्द्रियरूप में रहता है ।)

१२७७. सइंदियअपज्जत्तए णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।

[१२७७ प्र.] भगवन् ! सेन्द्रिय-अपर्याप्तक कितने काल तक सेन्द्रिय-अपर्याप्तरूप में रहता है ?

[१२७७ उ.] गौतम ! (वह) जघन्यतः भी और उत्कृष्टतः भी अन्तर्मुहूर्त तक (सेन्द्रिय-अपर्याप्तरूप में रहता है ।)

१२७८. एवं जाव पंचेंदियअपज्जत्तए ।

[१२७८] इसी प्रकार (एकेन्द्रिय-अपर्याप्तक से लेकर) यावत् पंचेन्द्रिय-अपर्याप्तक तक (अपर्याप्तरूप में अवस्थिति) के विषय में (समझना चाहिए ।)

१२७९. सइंदियपज्जत्तए णं भंते ! सइंदियपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहत्तं सातिरेगं ।

[१२७९ प्र.] भगवन् ! सेन्द्रिय-पर्याप्तक, सेन्द्रिय-पर्याप्तरूप में कितने काल तक रहता है ?

[१२७९ उ.] गौतम ! (वह) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त तक तथा उत्कृष्टतः शतपृथक्त्व-सागरोपम से कुछ तक (सेन्द्रिय-पर्याप्त जीव सेन्द्रिय-पर्याप्त बना रहता है ।)

१२८०. एगिंदियपज्जत्तए णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं ।

[१२८० प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय-पर्याप्तक कितने काल तक एकेन्द्रिय-पर्याप्तरूप में बना रहता है ?

[१२८० उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्षों तक (वह एकेन्द्रिय-पर्याप्तक रूप में बना रहता है ।)

१२८१. बेइंदियपज्जत्तए णं भंते ! बेइंदियपज्जत्तए त्ति ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वासाइं ।

[१२८१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय-पर्याप्तक, द्वीन्द्रिय-पर्याप्तक रूप में कितने काल तक रहता है ?

[१२८१ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट संख्यात वर्षों तक (द्वीन्द्रिय-पर्याप्तक रूप में रहता है ।)

१२८२. तेइंदियपज्जत्तए णं भंते ! तेइंदियपज्जत्तए त्ति ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं ।

[१२८२ प्र.] भगवन् ! त्रीन्द्रिय-पर्याप्तक, त्रीन्द्रिय-पर्याप्तकरूप में कितने काल तक बना रहता है ?

[१२८२ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट संख्यात रात्रि-दिन तक (त्रीन्द्रिय-पर्याप्तकरूप में रहता है ।)

१२८३. चउरिंदियपज्जत्तए णं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जा मासा ।

[१२८३ प्र.] भगवन् ! चतुरिन्द्रिय-पर्याप्तक, चतुरिन्द्रिय-पर्याप्तकरूप में कितने काल तक रहता है ?

[१२८३ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट संख्यात मास तक (चतुरिन्द्रिय-पर्याप्तकरूप में बना रहता है ।)

१२८४. पंचेंदियपज्जत्तए णं भंते ! पंचेंदियपज्जत्तए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहत्तं । दारं ३ ॥

[१२८४ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रिय-पर्याप्तक, पंचेन्द्रिय-पर्याप्तकरूप में कितने काल तक रहता है ?

[१२८४ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट सौ पृथक्त्व सागरोपमों तक (पंचेन्द्रियपर्याप्त-पर्याय में रहता है ।) तृतीयद्वार ॥३॥

विवेचन—तृतीय इन्द्रियद्वार—प्रस्तुत १४ सूत्रों (सू. १२७१ से १२८४ तक) में सेन्द्रिय, निरिन्द्रिय तथा पर्याप्तक-अपर्याप्तक जीवों की उस पर्याय में अवस्थिति के विषय में निरूपण किया गया है ।

सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय—इन्द्रिययुक्त जीव को सेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय रहित जीव (सिद्ध) को निरिन्द्रिय कहते हैं ।

सेन्द्रिय जीव की सेन्द्रियपर्याय में अवस्थिति—सेन्द्रिय जीव दो प्रकार के कहे गए हैं—अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त । जो सेन्द्रिय है, वह नियमतः संसारी होता है और संसार अनादि है । जो सिद्ध हो जाएगा, वह अनादि-सान्त है । क्योंकि मुक्ति-अवस्था में सेन्द्रियत्व पर्याय का अभाव हो जाएगा । जो कदापि सिद्ध नहीं होगा, वह अनादि-अनन्त है । क्योंकि उसके सेन्द्रियत्वपर्याय का भी अन्त नहीं होगा ।

अनिन्द्रिय-पर्याप्त—अपर्याप्त विशेषण से रहित हैं । सेन्द्रिय जीव पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के हैं । जो अपर्याप्तक हैं, वे लब्धि और करण की अपेक्षा से समझने चाहिये । दोनों प्रकार से उनकी पर्याय जघन्यतः और उत्कृष्टतः अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है तथा पर्याप्त यहाँ लब्धि की अपेक्षा से समझना चाहिए । वह विग्रहगति में भी संभव है, भले ही वह करण से अपर्याप्त हो । अतएव वह उत्कृष्टतः सौ सागरोपम पृथक्त्व अर्थात् दो सौ से नौ सौ सागरोपम से कुछ अधिक काल में सिद्ध हो जाता है । अन्यथा करणपर्याप्त का काल तो अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त कम तेतीस सागरोपम प्रमाण ही है । अतः पूर्वोक्त कथन सुसंगत नहीं होगा । इसलिए यहाँ और आगे भी लब्धि की अपेक्षा से ही पर्याप्तत्व समझना चाहिए ।[1]

वनस्पतिकाल का प्रमाण—कालतः अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी काल; क्षेत्रतः अनन्तलोक, असंख्यात पुद्गलपरावर्त्त और वे पुद्गलपरावर्त्त आवलिका के असंख्यातवें भाग समझना चाहिए । अर्थात् आवलिका के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने पुद्गलपरावर्त्त यहाँ समझना चाहिए ।

संख्यातकाल का तात्पर्य द्वीन्द्रिय की अवस्थिति संख्यातकाल की बताई है, उसका अर्थ संख्यात वर्ष, यानी संख्यात हजार वर्ष का काल ।

पंचेन्द्रिय का काल कुछ अधिक हजार सागरोपम तक पंचेन्द्रिय जीव लगातार पंचेन्द्रिय बना रहता है । यह काल नारक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति इन चारों में भ्रमण करने से होता है ।[2]

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३७७-३७८

२. वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३७७

एकेन्द्रिय पर्याप्तजीव की लगातार अवस्थिति- एकेन्द्रिय पर्याप्त उत्कृष्ट हजार वर्ष तक एकेन्द्रिय पर्याप्त रूप से बना रहता है। इसका कारण यह है पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट भवस्थिति २२ हजार वर्ष की, अप्कायिक की ७ हजार वर्ष की, वायुकायिक की ३ हजार वर्ष की और वनस्पतिकायिक की १० हजार वर्ष की भवस्थिति है। ये सब मिलकर संख्यात हजार वर्ष होते हैं।

द्वीन्द्रिय पर्याप्त की कायस्थिति—द्वीन्द्रिय पर्याय जीव उत्कृष्ट संख्यात वर्षों तक द्वीन्द्रिय पर्याप्त बना रहता है। द्वीन्द्रिय जीव की अवस्थिति का काल उत्कृष्ट बारह वर्ष का है, मगर सभी भवों में उत्कृष्ट स्थिति तो हो नहीं सकती। अतएव लगातार कतिपय पर्याप्त भवों को मिलाने पर भी संख्यात वर्ष ही हो सकते हैं, सैकड़ों या हजारों वर्ष नहीं।

त्रीन्द्रिय पर्याप्त की कायस्थिति उत्कृष्ट संख्यात रात्रि-दिन तक त्रीन्द्रिय पर्याप्त इसी रूप में रहता है। त्रीन्द्रिय जीव की भवस्थिति उत्कृष्ट ४९ दिन की होती है। अतएव वह लगातार कतिपय भव करे तो भी सब मिलकर वे संख्यात रात्रि-दिन ही होते हैं।

चतुरिन्द्रिय पर्याप्त की कायस्थिति—उत्कृष्ट संख्यात मास तक वह चतुरिन्द्रिय पर्याप्तकपर्याय से युक्त रहता है, क्योंकि चतुरिन्द्रिय की उत्कृष्ट भवस्थिति ६ महीने की है। अतएव वह लगातार कतिपय भव करे तो भी संख्यात मास ही होते हैं।[1]

चतुर्थ कायद्वार

१२८५. सकाइए णं भंते ! सकाइए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! सकाइए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—अणादीए वा अपज्जवसिए १ अणादीए वा सपज्जवसिए २।

[१२८५ प्र.] भगवन् ! सकायिक जीव सकायिकरूप में कितने काल तक रहता है ?

[१२८५ उ.] गौतम ! सकायिक दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) अनादि-अनन्त और (२) अनादि-सान्त।

१२८६. पुढविक्काइए णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, असंखेज्जाओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा।

[१२८६ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव कितने काल तक लगातार पृथ्वीकायिक पर्याय-युक्त रहता है ?

[१२८६ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक; (अर्थात्) काल की अपेक्षा—असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों तक (पृथ्वीकायिक पर्याय वाला बना रहता है।) क्षेत्र से—असंख्यात लोक तक।

१२८७. एवं आउ-तेउ-वाउक्काइया वि।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३७८

[१२८७] इसी प्रकार अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक भी (जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक अपने-अपने पर्यायों से युक्त रहते हैं।)

१२८८. वणस्सइकाइया णं ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागे।

[१२८८ प्र.] भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीव कितने काल तक लगातार वनस्पतिकायिक पर्याय में रहते हैं ?

[१२८८ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक, उत्कृष्ट अनन्तकाल तक (वे) वनस्पतिकायिक पर्याययुक्त बने रहते हैं। (वह अनन्तकाल) कालतः—अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी परिमित एवं क्षेत्रतः अनन्त लोक प्रमाण या असंख्यात पुद्गलपरावर्त्त समझना चाहिए। वे पुद्गलपरावर्त्त आवलिका के असंख्यातवें भाग-प्रमाण हैं।

१२८९. तसकाइए णं भंते ! तसकाइए त्ति ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासअब्भहियाइं।

[१२८९ प्र.] भगवन् ! त्रसकायिक जीव त्रसकायिकरूप में कितने काल तक रहता है ?

[१२८९ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त काल तक और उत्कृष्ट संख्यातवर्ष अधिक दो हजार सागरोपम तक (त्रसकायिकरूप में लगातार बना रहता है।)

१२९०. अकाइए णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! अकाइए सादीए अपज्जवसिए।

[१२९० प्र.] भगवन् ! अकायिक कितने काल तक अकायिकरूप में बना रहता है ?

[१२९० उ.] गौतम ! अकायिक सादि-अनन्त होता है।

१२९१. सकाइयअपज्जत्तए णं ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।

[१२९१ प्र.] भगवन् ! सकायिक अपर्याप्तक कितने काल तक सकायिक अपर्याप्तक रूप में लगातार रहता है ?

[१२९१ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य भी अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त तक (सकायिक अपर्याप्तक रूप में लगातार रहता है।)

१२९२. एवं जाव तसकाइयअपज्जत्तए।

[१२९२] इसी प्रकार (अप्कायिक अपर्याप्तक से लेकर) त्रसकायिक अपर्याप्तक तक समझना चाहिए।

१२९३. सकाइयपज्जत्तए णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहत्तं सातिरेगं ?

[१२९३ प्र.] भगवन् ! सकायिक पर्याप्तक के विषय में (भी पूर्ववत्) पृच्छा है, (उसका क्या समाधान है ?)

[१२९३ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ अधिक सौ सागरोपम-पृथक्त्व तक (वह सकायिक पर्याप्तकरूप में) रहता है।

१२९४. पुढविक्काइयपज्जत्तए णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं।

[१२९४ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक पर्याप्तक जीव के विषय में (भी पूर्ववत्) पृच्छा है ;

[१२९४ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्षों तक (पृथ्वीकायिक पर्याप्तकरूप में बना रहता है।)

१२९५. एवं आऊ वि।

[१२९५] इसी प्रकार अप्कायिक पर्याप्तक के विषय में भी समझना चाहिए।

१२९६. तेउक्काइयपज्जत्तए णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं।

[१२९६ प्र.] भगवन् ! तेजस्कायिक पर्याप्तक कितने काल तक (लगातार) तेजस्कायिक पर्याप्तक बना रहता है ?

[१२९६ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यात रात्रि-दिन तक (वह) तेजस्कायिक-पर्याप्तकरूप में बना रहता है।

१२९७. वाउक्काइयपज्जत्तए णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं।

[१२९७ प्र.] भगवन् ! वायुकायिक पर्याप्तक के विषय में भी (इसी प्रकार की) पृच्छा है।

[१२९७ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्षों तक (वह वायुकायिक पर्याप्तपर्याय में रहता है।)

१२९८. वणस्सइकाइयपज्जत्तए णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं।

[१२९८ प्र.] भगवन् ! वनस्पतिकायिक पर्याप्तक के विषय में भी (पूर्ववत्) प्रश्न है।

[१२९८ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्षों तक (वनस्पतिकायिक पर्याप्तक पर्याय में बना रहता है।)

१२९९. तसकाइयपज्जत्तए णं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहत्तं ।

[१२९९ प्र.] भगवन् ! त्रसकायिक-पर्याप्तक कितने काल तक त्रसकायिकपर्याय में बना रहता है ?

[१२९९ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ अधिक शतसागरोपम-पृथक्त्व तक (वह पर्याप्त त्रसकायिक रूप में रहता है ।)

१३००. सुहुमे णं भंते ! सुहुमे त्ति कालओ केवच्चिरं होति ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा ।

[१३०० प्र.] भगवन् ! सूक्ष्म जीव कितने काल तक सूक्ष्म रूप में रहता है ?

[१३०० उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट असंख्यातकाल तक, (अर्थात्) कालतः असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणियों तक और क्षेत्रतः असंख्यातलोक तक (सूक्ष्म जीव सूक्ष्मपर्याय में बना रहता है ।)

१३०१. सुहुमपुढविक्काइए सुहुमआउक्काइए सुहुमतेउक्काइए सुहुमवाउक्काइए सुहुमवणस्सइकाइए सुहुमणिगोदे वि जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, असंखेज्जाओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा ।

[१३०१] इसी प्रकार सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, सूक्ष्म अप्कायिक सूक्ष्म तेजस्कायिक, सूक्ष्म वायु-कायिक, सूक्ष्म वनस्पतिकायिक एवं सूक्ष्म निगोद भी जघन्य अन्तर्मुहूर्त काल तक और उत्कृष्ट असंख्यातकाल तक—(अर्थात्—) कालतः—असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों तक एवं क्षेत्रतः असंख्यात लोक तक (ये स्व-स्वपर्याय में बने रहते हैं ।)

१३०२. सुहुमे णं भंते ! अपज्जत्तए त्ति ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।

[१३०२ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्म अपर्याप्तक, सूक्ष्म अपर्याप्तक रूप में कितने काल तक लगातार रहता है ?

[१३०२ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य भी अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त तक रहता है ।

१३०३. पुढविक्काइय-आउक्काइए-तेउक्काइए-वाउक्काइय-वणस्सइकाइयाण य एवं चेव ।

[१३०३] (सूक्ष्म) पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पति-कायिक (अपर्याप्तक की कायस्थिति के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए ।)

१३०४. पज्जत्तयाण वि एवं चेव ।

[१३०४] (इन पूर्वोक्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिकादि के) पर्याप्तकों (के विषय में भी) ऐसा ही (समझना चाहिए ।)

१३०५. बादरे णं भंते ! बादरे त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, असंखेज्जाओ उसप्पिणि-ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं ।

[१३०५ प्र.] भगवन् ! बादर जीव, बादर जीव के रूप में (लगातार) कितने काल तक रहता है ?

[१३०५ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक (अर्थात्) कालतः असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी तक, क्षेत्रतः अंगुल के असंख्यातवें भाग-प्रमाण (बादर जीव के रूप में लगातार रहता है ।)

१३०६. बादरपुढविक्काइए णं भंते ! बादरपुढविक्काइए त्ति पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरिसागरोवमकोडाकोडीओ ।

[१३०६ प्र.] भगवन् ! बादर पृथ्वीकायिक बादर पृथ्वीकायिक रूप में कितने काल तक (लगातार) रहता है ?

[१३०६ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सत्तर कोडाकोडी सागरोपम तक (बादर पृथ्वीकायिक रूप में लगातार रहता है ।)

१३०७. एवं बादरआउक्काइए वि जाव बादरवाउक्काइए वि ।

[१३०७] इसी प्रकार बादर अप्कायिक एवं बादर वायुकायिक (के विषय में भी समझना चाहिए ।)

१३०८. बादरवणस्सइकाइए णं भंते ! बादरवणस्सइकाइए त्ति पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं जाव खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जति-भागं ।

[१३०८ प्र.] भगवन् ! बादर वनस्पतिकायिक बादर वनस्पतिकायिक के रूप में कितने काल तक रहता है ?

[१३०८ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक, (अर्थात्--) कालतः—असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों तक, क्षेत्रतः अंगुल के असंख्यातवें भाग-प्रमाण (बादर वनस्पतिकायिक के रूप में रहता है ।)

१३०९. पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइए णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरिसागरोवमकोडाकोडीओ ।

[१३०९ प्र.] भगवन् ! प्रत्येकशरीर बादर वनस्पतिकायिक (उक्त स्वपर्याय में कितने काल तक लगातार रहता है ?

[१३०९ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट सत्तर कोटाकोटी सागरोपम तक (वह प्रत्येकशरीर बादर वनस्पतिकायिकरूप में बना रहता है ।)

१३१०. णिगोए णं भंते ! णिगोए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं ।

[१३१० प्र.] भगवन् ! निगोद, निगोद के रूप में कितने काल तक (लगातार) रहता है ?

[१३१० उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक, उत्कृष्ट अनन्तकाल तक, कालतः अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों तक, क्षेत्रतः देशोन पुद्गलपरिवर्त्त तक (वह निगोदपर्याय में बना रहता है।)

१३११. बादरनिगोदे णं भंते ! बादर० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरिसागरोवमकोडाकोडीओ ।

[१३११ प्र.] भगवन् ! बादर निगोद, बादर निगोद के रूप में कितने काल तक रहता है ?

[१३११ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट सत्तर कोटाकोटी सागरोपम तक बादर निगोद के रूप में बना रहता है ।

१३१२. बादरतसकाइए णं भंते ! बादरतसकाइए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवाससमब्भहियाइं ।

[१३१२ प्र.] भगवन् ! बादर त्रसकायिक बादर त्रसकायिक के रूप में कितने काल तक रहता है ?

[१३१२ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यातवर्ष अधिक दो हजार सागरोपम तक (वह त्रसकायिक-पर्याय वाला बना रहता है।)

१३१३. एतेसिं चेव अपज्जत्तगा सव्वे वि जहण्णेणं वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।

[१३१३] इन (पूर्वोक्त) सभी (बादर जीवों) के अपर्याप्तक जघन्य भी और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त काल तक अपने-अपने पूर्व पर्यायों में बने रहते हैं ।

१३१४. बादरपज्जत्तए णं भंते ! बादरपज्जत्त० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं ।

[१३१४ प्र.] भगवन् ! बादर पर्याप्तक, बादर पर्याप्तक के रूप में कितने काल तक बना रहता है ?

[१३१४ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ अधिक शतसागरोपमपृथक्त्व तक (बादर पर्याप्तक के रूप में रहता है।)

१३१५. बादरपुढविक्काइयपज्जत्तए णं भंते ! बादर० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं ।

[१३१५ प्र.] भगवन् ! बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्तक कितने काल तक बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्तक रूप में रहता है ?

[१३१५ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्षों तक (वह बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्तकरूप के रहता है।)

१३१६. एवं आउक्काइए वि।

[१३१६] इसी प्रकार (बादर) अप्कायिक (के विषय में) भी (समझना चाहिए।)

१३१७. तेउक्काइयपज्जत्तए णं भंते ! तेउक्काइयपज्जत्तए० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं।

[१३१७ प्र.] भगवन् ! तेजस्कायिक पर्याप्तक (बादर) तेजस्कायिक पर्याप्तक के रूप में कितने काल तक रहता है ?

[१३१७ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यात रात्रि-दिन तक (वह तेजस्कायिक पर्याप्तक के रूप में रहता है।)

१३१८. वाउक्काइए वणस्सइकाइए पत्तेयसरीरबायरवणस्सइकाइए य पुच्छा ?

गोयम ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं।

[१३१८ प्र.] भगवन् ! वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और प्रत्येकशरीर बादर वनस्पतिकायिक (पर्याप्तक) कितने काल तक अपने-अपने पर्याय में रहते हैं ?

[१३१८ उ.] गौतम ! ये जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्षों तक अपने-अपने पर्याय में रहते हैं।)

१३१९. णिगोयपज्जत्तए बादरणिगोयपज्जत्तए य पुच्छा ?

गोयमा ! दोण्णि वि जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।

[१३१९ प्र.] भगवन् ! निगोदपर्याप्तक और बादर निगोदपर्याप्तक कितने काल तक निगोदपर्याप्तक और बादर निगोदपर्याप्तक के रूप में रहते हैं ?

[१३१९ उ.] गौतम ! ये दोनों जघन्य भी और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त तक (स्व-स्वपर्याय में बने रहते हैं।)

१३२०. बादरतसकाइयपज्जत्तए णं भंते ! बादरतसकाइयपज्जत्तए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं। दारं ४॥

[१३२० प्र.] भगवन् ! बादर त्रसकायिकपर्याप्तक बादर त्रसकायिकपर्याप्तक के रूप में कितने काल तक रहता है ?

[१३२० उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ अधिक शतसागरोपमपृथक्त्व पर्यन्त बादर त्रसकायिकपर्याप्तक के रूप में बना रहता है। चतुर्थ द्वार ॥४॥

विवेचन—**चतुर्थ कायद्वार**—प्रस्तुत छत्तीस सूत्रों (सू. १३०५ से १३४० तक) में षट्काय के विभिन्न पर्यायों की अपेक्षा से कायस्थिति (उस रूप में लगातार कालावधि) की प्ररूपणा की गई है।

सकायिक की व्याख्या—जो कायसहित हो, वह सकायिक कहलाता है। यद्यपि काय के पांच भेद हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण; तथापि यहां तैजस और कार्मण काय ही समझना चाहिए, क्योंकि ये दोनों संसार-पर्यन्त रहते हैं, अन्यथा विग्रहगति में वर्तमान एवं शरीर-पर्याप्ति से अपर्याप्त जीव के तैजस और कार्मण के सिवाय अन्य शरीर नहीं होते। ऐसी स्थिति में वह जीव अकायिक हो जाएगा और मूलसूत्रोक्त संसारी और संसारपारगामी, ये दो भेद नहीं बनेंगे। मूल में सकायिक के दो भेद बताए हैं—अनादि-अपर्यवसित और अनादि-सपर्यवसित। जो संसारपारगामी नहीं होगा, वह अभव्य अनादि-अनन्त-सकायिक है, क्योंकि उसके काय का व्यवच्छेद कदापि सम्भव नहीं। जो मोक्षगामी है, वह अनादि-सान्त है, क्योंकि वह मुक्ति अवस्था में सर्वात्मना सर्वशरीरों से रहित हो जाता है। यों षट्काय की दृष्टि से भी पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक तथा त्रसकायिक, ये छह भेद हैं।[1]

असंख्यातकाल की व्याख्या—कालतः असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल जानना चाहिए। क्षेत्रतः असंख्यात लोक समझने चाहिए। अभिप्राय यह है कि लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। ऐसे-ऐसे (कल्पित) असंख्यात लोकाकाशों के समस्त प्रदेशों में से एक-एक समय में एक-एक प्रदेश के क्रम से अपहरण किया जाए तो जितनी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी उस अपहरण से व्यतीत हों उतनी ही उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी यहाँ समझना चाहिए। सारांश यह है कि अधिक से अधिक इतने काल तक सूक्ष्म जीव निरन्तर सूक्ष्म पर्याय में बना रहता है। यह प्ररूपणा सांव्यवहारिक जीवराशि की अपेक्षा से समझनी चाहिए। अव्यवहारराशि के अन्तर्गत सूक्ष्मनिगोदिया जीव की अनादिता होने से उससे असंख्यातकाल का कथन सुसंगत नहीं हो सकता।[2]

क्षेत्र की अपेक्षा से अंगुल के असंख्यातवें भाग की व्याख्या—इसका अभिप्राय यह है कि अंगुल के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उनका एक-एक समय में एक-एक के हिसाब से अपहरण करने पर जितनी उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी व्यतीत हों, उतनी उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी यहां जानना चाहिए। प्रश्न होता है अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने स्वल्प क्षेत्र के परमाणुओं का अपहरण करने में असंख्यात उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल किस प्रकार व्यतीत हो सकता है? इसका समाधान यह है कि क्षेत्र, काल की अपेक्षा बहुत सूक्ष्म होने से ऐसा हो सकता है। कहा भी है—काल सूक्ष्म होता है, किन्तु क्षेत्र उससे भी अधिक सूक्ष्म होता है। यह कथन बादर वनस्पतिकाय की अपेक्षा से है, क्योंकि बादर वनस्पतिकाय के अतिरिक्त अन्य किसी बादर की इतने काल की स्थिति सम्भव नहीं है।[3]

पंचम योगद्वार

१३२१. सजोगी णं भंते! सजोगि त्ति कालओ केवचिरं होई?

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३७९

२. (क) वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८२ (ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी भा. ४, पृ. ३७४

३. (क) वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८२ (ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी. भा. ४, पृ. ३७७

गोयमा ! सजोगी दुविहे पण्णत्ते । तं जहा--अणादीए वा अपज्जवसिए १ अणादीए वा सपज्जवसिए २ ।

[१३२१ प्र.] भगवन् ! सयोगी जीव कितने काल तक सयोगीपर्याय में रहता है ?

[१३२१ उ.] गौतम ! सयोगी जीव दो प्रकार के कहे हैं । वे इस प्रकार—१. अनादि-अपर्यवसित और २. अनादि-सपर्यवसित ।

१३२२. मणजोगी णं भंते ! मणजोगि त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।

[१३२२ प्र.] भगवन् ! मनोयोगी कितने काल तक मनोयोगी अवस्था में रहता है ?

[१३२२ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक मनोयोगी अवस्था में रहता है ।

१३२३. एवं वयजोगी वि ।

[१३२३] इसी प्रकार वचनयोगी (का वचनयोगी रूप में रहने का काल समझना चाहिए ।)

१३२३. कायजोगी णं भंते ! कायजोगि त्ति ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो ।

[१३२४ प्र.] भगवन् ! काययोगी, काययोगी के रूप में कितने काल तक रहता है ?

[१३२४ उ.] गौतम ! जघन्य-अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल तक (वह काययोगीपर्याय में रहता है ।)

१३२५. अजोगी णं भंते ! अजोगीति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! सादीए अपज्जवसिए । दारं ५ ।।

[१३२५ प्र.] भगवन् ! अयोगी, अयोगीपर्याय में कितने काल तक रहता है ?

[१३२५ उ.] गौतम ! (वह) सादि-अपर्यवसित (अनन्त) है । पंचमद्वार ।। ५ ।।

विवेचन—पंचम योगद्वार--प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. १३२१ से १३२५ तक) में सयोगी, मनो-वचन-काययोगी और अयोगी की स्व-स्वपर्याय में रहने की कालस्थिति सम्बन्धी प्ररूपणा की गयी है ।

योग और सयोगी-अयोगी मन, वचन और काय का व्यापार योग कहलाता है । वह योग जिसमें विद्यमान हो, वह सयोगी कहलाता है । जैनसिद्धान्त की दृष्टि से सयोगी-अवस्था तेरहवें गुणस्थानपर्यन्त रहती है । उसके पश्चात् चौदहवें गुणस्थान में जीव अयोगी हो जाता है । सिद्ध-अवस्था भी अयोगी अवस्था है, जिसकी आदि तो है, पर अन्त नहीं है, क्योंकि सिद्धावस्था प्राप्त होने के बाद योगों से सर्वथा छुटकारा हो जाता है ।

सयोगी जीव के दो भेद—अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त । जीव भविष्य में कभी मोक्ष प्राप्त नहीं करेगा, सदैव कम से कम एक योग से युक्त बना रहेगा, ऐसा अभव्य जीव अनादि-अनन्त

सयोगी है। जो जीव भविष्य में कभी मोक्ष प्राप्त करेगा, वह अनादि-सान्त सयोगी है। वह भव्य जीव है।

मनोयोगी की मनोयोगिपर्याय में कालस्थिति—मनोयोगी जीव जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक लगातार मनोयोगीपर्याय से युक्त रहता है। जब कोई जीव औदारिककाय-योग के द्वारा प्रथम समय में मनोयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करके, दूसरे समय में उन्हें मन के रूप में परिणत करके त्यागता है और तृतीय समय में उपरत हो (रुक) जाता है, या मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, तब वह एक समय तक मनोयोगी रहता है। उत्कृष्टतः अन्तर्मुहूर्त तक मनोयोगी रहता है। जब जीव निरन्तर मनोयोग्य पुद्गलों का ग्रहण और त्याग करता है, तब वह अन्तर्मुहूर्त तक ही ऐसा करता है। उसके पश्चात् अवश्य ही जीव उससे स्वभावतः उपरत हो जाता है। तत्पश्चात् वह दोबारा मनोयोग्य पुद्गलों का ग्रहण एवं निसर्ग करता है, किन्तु काल की सूक्ष्मता के कारण कदाचित् उसे बीच के व्यवधान का संवेदन नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मनोयोग्य पुद्गलों के ग्रहण और त्याग का यह सिलसिला अन्तर्मुहूर्त तक लगातार चालू रहता है। उसके बाद अवश्य ही उसमें व्यवधान पड़ जाता है, क्योंकि जीव का स्वभाव ही ऐसा है। इसलिए यहाँ मनोयोग का अधिक से अधिक काल अन्तर्मुहूर्त कहा गया है।[1]

वचनयोगी की कालस्थिति वचनयोगी की भी कालस्थिति मनोयोगी के समान है। वह भी जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। जीव प्रथम समय में काययोग के द्वारा भाषायोग्य द्रव्यों को ग्रहण करता है, द्वितीय समय में उन्हीं को भाषारूप में परिणत करके त्यागता है और तृतीय समय में वह उपरत हो जाता है, या मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वाग्योगी को एक समय लगता है। इसका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त तक वह भाषायोग्य पुद्गलों का ग्रहण-निसर्ग करता हुआ अवश्य उपरत हो जाता है। जीव का स्वभाव ही ऐसा है।

काययोगी की कालस्थिति - काययोगी जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल तक लगातार काययोगी बना रहता है। द्वीन्द्रियादि जीवों में वचनयोग भी पाया जाता है। जब वचनयोग या मनोयोग भी होता है, उस समय काययोग की प्रधानता नहीं होती। अतः वह सादि-सान्त होने से जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक काययोग में रहता है। उत्कृष्ट वनस्पतिकाल तक काययोग रहता है। वनस्पतिकाल का परिमाण पहले बताया जा चुका है। वनस्पतिकायिक जीवों में केवल काययोग ही पाया जाता है, वचनयोग और मनोयोग नहीं होता। इस कारण अन्य योग का अभाव होने से उनमें तब तक निरन्तर काययोग ही रहता है, जब तक उन्हें त्रसपर्याय प्राप्त न हो जाए।[2]

छठा वेदद्वार

१३२६. सवेदए णं भंते ! सवेदए त्ति० ?

गोयमा ! सवेदए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—अणादीए वा अपज्जवसिए १ अणादीए वा सपज्जवसिए २ सादीए वा सपज्जवसिए ३। तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिए से जहण्णेणं

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८२
२. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८२-३८३

अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं ।

[१३२६ प्र.] भगवन् ! सवेद जीव कितने काल तक सवेदरूप में रहता है ?

[१३२६ उ.] गौतम ! सवेद जीव तीन प्रकार के कहे गए हैं। यथा—(१) अनादि-अनन्त, (२) अनादि-सान्त और (३) सादि-सान्त। उनमें से जो सादि-सान्त है, वह जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्टतः अनन्तकाल तक (निरन्तर सवेदकपर्याय से युक्त रहता है।) (अर्थात्—उत्कृष्टतः) काल से अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों तक तथा क्षेत्र की अपेक्षा से देशोन अपार्द्ध-पुद्गलपरावर्त्त तक (जीव सवेद रहता है।)

१३२७. इत्थिवेदे णं भंते ! इत्थिवेदे त्ति कालओ केवच्चिरं होति ?

गोयमा ! एगेणं आदेसेणं जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं दसुत्तरं पलिओवमसतं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं १ एगेणं आदेसेणं जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं अट्ठारस पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं २ एगेणं आदेसेणं जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं चोद्दस पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं ३ एगेणं आदेसेणं जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं पलिओवमसयं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ४ एगेणं आदेसेणं जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं पलिओवमपुहुत्तं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ५ ।

[१३२७ प्र.] भगवन् ! स्त्रीवेदक जीव स्त्रीवेदकरूप में कितने काल तक रहता है ?

[१३२७ उ.] गौतम ! १-एक अपेक्षा (आदेश) से (वह) जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक एक सौ दस पल्योपम तक, २-एक अपेक्षा से जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक अठारह पल्योपम तक, ३-एक अपेक्षा से जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक चौदह पल्योपम तक, ४-एक अपेक्षा से जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक सौ पल्योपम तक, ५-एक अपेक्षा से जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व अधिक पल्योपमपृथक्त्व तक स्त्रीवेदी स्त्रीवेदीपर्याय में लगातार रहता है।

१३२८. पुरिसवेदे णं भंते ! पुरिसवेदे त्ति० ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं ।

[१३२८ प्र.] भगवन् ! पुरुषवेदक जीव पुरुषवेदकरूप में (लगातार) कितने काल तक रहता है ?

[१३२८ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ अधिक सागरोपमशत-पृथक्त्व तक (वह पुरुषवेदकरूप में रहता है।)

१३२९. नपुंसगवेदे णं भंते ! णपुंसगवेदे त्ति० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो ।

[१३२९ प्र.] भगवन् ! नपुंसकवेदक (लगातार) कितने काल तक नपुंसकवेदकपर्याय-युक्त बना रहता है ?

[१३२९ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट वनस्पतिकालपर्यन्त वह लगातार नपुंसकवेदकरूप में रहता है।

१३३०. अवेदए णं भंते ! अवेदए त्ति० पुच्छा ?

गोयमा ! अवेदए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा सादीए वा अपज्जवसिए १ सादीए वा सपज्जवसिए २। तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिए से जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं। बारं ६ ॥

[१३३० प्र.] भगवन् ! अवेदक, अवेदकरूप में कितने काल तक रहता है ?

[१३३० उ.] गौतम ! अवेदक दो प्रकार के कहे गए हैं, वह इस प्रकार—(१) सादि-अनन्त और (२) सादि-सान्त। उनमें से जो सादि-सान्त है, वह जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक (निरन्तर अवेदकरूप में रहता है।) छठा द्वार ॥५॥

विवेचन—छठा वेदद्वार—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. १३२६ से १३३० तक) में सवेदक, अवेदक और स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदी की कायस्थिति का निरूपण किया गया है।

त्रिविध सवेदक—(१) **अनादि-अपर्यवसित**—जो जीव कभी उपशमश्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी को प्राप्त नहीं करेगा, वह अनादि-अपर्यवसित (अनन्त) कहलाता है, उसके वेद के उदय का कदापि विच्छेद नहीं होगा। (२) **अनादि-सपर्यवसित**—जिसकी आदि न हो, पर अन्त हो। जो जीव कभी न कभी उपशमश्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी को प्राप्त करेगा, किन्तु जिसने अभी तक कभी प्राप्त नहीं की है, वह अनादि-सपर्यवसित सवेदक है। ऐसे जीव के उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी प्राप्त कर लेने पर वेद का उदय हट जाता है। (३) **सादि-सपर्यवसित**—जो जीव उपशमश्रेणी को प्राप्त हो कर वेदातीत दशा प्राप्त कर चुकता है, किन्तु उपशमश्रेणी से गिर कर पुनः सवेद-अवस्था प्राप्त कर लेता है, वह सादि-सपर्यवसित सवेदक कहलाता है।[1]

सादि-सपर्यवसित सवेदक की कालस्थिति—ऐसे सवेदक का कालमान जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट अनन्तकाल (मूलपाठोक्त कालिकपरिमाण) तक सवेदकपर्याय से युक्त निरन्तर बना रहता है। तात्पर्य यह है कि जब कोई जीव उपशमश्रेणी पर आरूढ़ हो कर तीनों वेदों का उपशम करके अवेदी बन जाता है, किन्तु उपशमश्रेणी से पतित हो कर फिर सवेदक अवस्था को प्राप्त करके पुनः झटपट उपशमश्रेणी को, अथवा कार्मग्रन्थिकों के मतानुसार क्षपकश्रेणी को प्राप्त करता है और फिर तीनों वेदों का अन्तर्मुहूर्त में ही उपशम या क्षय कर देता है, तब वह जीव अन्तर्मुहूर्त तक ही सवेद-अवस्था में रहता है। उत्कृष्टः देशोन अर्धपुद्गलपरावर्त तक जीव सवेद रहता है। क्योंकि उपशमश्रेणी से पतित हो कर वह जीव इतने काल तक ही संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए सादि-सान्त सवेदक जीव का पूर्वोक्त उत्कृष्ट कालमान सिद्ध हो जाता है।[2]

स्त्रीवेदी को पांच अपेक्षाओं से कालस्थिति का स्पष्टीकरण—स्त्रीवेदी का जघन्य कालमान एक समय का है, वह इस प्रकार है—कोई स्त्री उपशमश्रेणी में तीनों वेदों का उपशम करके अवेदक-

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८३

२. वही, मलय. वृत्ति. पत्रांक ३८४

पर्याय प्राप्त करके, तत्पश्चात् नीचे गिर कर एक समय तक स्त्रीवेद का अनुभव करे, पुनः दूसरे समय में काल करके देवों में उत्पन्न हो जाए। वहाँ वह जीव पुरुषवेदी होता है, स्त्रीवेदी नहीं। इस प्रकार स्त्रीवेदी का जघन्यकाल एक समय मात्र सिद्ध हो जाता है।

(१) **प्रथम आदेशानुसार**—उत्कृष्टतः पृथक्त्वकोटिपूर्व अधिक एक सौ दस पल्योपम **कालमान का स्पष्टीकरण** इस प्रकार है—कोई जीव करोड़ पूर्व की आयुवाली स्त्रियों में या तिर्यंच-नियमों में पांच-छह भव करके ईशानकल्प में पचपन पल्योपम की आयु की उत्कृष्टस्थिति वाली अपरिगृहीता देवियों में देवीरूप में उत्पन्न हो और आयु का क्षय होने पर वहाँ से च्यव कर पुनः कोटिपूर्व की आयु वाली स्त्रियों में अथवा तिर्यंचनियों में स्त्रीरूप में उत्पन्न हो, उसके पश्चात् पुनः दूसरी बार ईशानकल्प में पचपन पल्योपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली परिगृहीता देवियों में देवीरूप में उत्पन्न हो उसके पश्चात् तो उसे अवश्य ही दूसरे वेद की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक एक सौ दस पल्योपम तक निरन्तर स्त्रीवेदी का स्त्रीवेदपर्याय से युक्त होना सिद्ध होता है।

(२) **द्वितीय आदेशानुसार - पूर्वकोटिपृथक्त्व-अधिक अठारह पल्योपम का स्पष्टीकरण**—कोई जीव पूर्ववत् करोड़पूर्व की आयु वाली नारियों या तिर्यंचनियों में पांच-छह भवों का अनुभव करके पूर्वोक्त प्रकार से दो बार ईशानदेवलोक में उत्कृष्ट स्थिति वाली देवियों में उत्पन्न हो, वह भी परिगृहीता देवियों में उत्पन्न हो, अपरिगृहीता देवियों में नहीं। ऐसी स्थिति में स्त्रीवेदी की उत्कृष्ट कालस्थिति लगातार पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक अठारह पल्योपम की सिद्ध होती है।

(३) **तृतीय आदेशानुसार उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व-अधिक चौदह पल्योपम कालमान का स्पष्टीकरण**—कोई जीव सौधर्मदेवलोक में सात पल्योपम की उत्कृष्ट आयु वाली परिगृहीता देवियों में दो बार उत्पन्न होता है। इस प्रकार दो बार देवीभवों के चौदह पल्योपम और नारियों या तिर्यंचनियों के भवों के कोटिपूर्वपृथक्त्व अधिक स्त्रीवेदी का अस्तित्व होने से स्त्रीवेदी की निरन्तर कालावस्थिति कोटिपूर्वपृथक्त्व अधिक चौदह पल्योपम तक सिद्ध होती है।

(४) **चतुर्थ आदेशानुसार—पूर्वकोटिपृथक्त्व- अधिक पल्योपम कालमान का स्पष्टीकरण** - कोई जीव सौधर्म देवलोक में ५० पल्योपम की उत्कृष्ट आयु वाली अपरिगृहीता देवियों में पूर्वोक्त प्रकार से दो बार देवीरूप में उत्पन्न हो, तो स्त्रीवेदी की उत्कृष्ट कालावस्थिति लगातार पूर्वकोटि-पृथक्त्व अधिक सौ पल्योपम की सिद्ध हो जाती है।

(५) **पंचम आदेशानुसार उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक पल्योपमपृथक्त्व कालमान का स्पष्टीकरण**—नाना भवों में भ्रमण करते हुए कोई भी जीव अधिक पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक से अधिक पल्योपमपृथक्त्व तक ही लगातार स्त्रीवेदी रह सकता है, इससे अधिक नहीं, क्योंकि पूर्वकोटि की आयु वाली नारियों में या तिर्यञ्चनियों में सात भवों का अनुभव करके आठवें भव में देवकुरु आदि क्षेत्रों में तीन पल्योपम की स्थिति वाली स्त्रियों में स्त्रीरूप से उत्पन्न हो, तत्पश्चात् काल करके सौधर्मदेवलोक में जघन्य स्थिति वाली देवियों में देवीरूप से उत्पन्न हो तो तदनन्तर अवश्य ही वह जीव दूसरे वेद को प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टि से स्त्रीवेदी की उत्कृष्ट स्थिति लगातार पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक पल्योपमपृथक्त्व सिद्ध हो जाती है।[1]

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८४-३८५

अवेदक जीव की स्थिति—अवेदक जीव दो प्रकार के हैं- सादि-अपर्यवसित और सादि-सपर्यवसित। जो जीव क्षपकश्रेणी को प्राप्त करके अवेदी हो जाता है, वह **सादि-अपर्यवसित** अवेदी कहलाता है, क्योंकि ऐसा जीव फिर कभी सवेदी नहीं हो सकता। जो जीव उपशमश्रेणी को प्राप्त करके अवेदक होता है, वह **सादि-सपर्यवसित** कहलाता है, क्योंकि उसकी अवेद-अवस्था की आदि भी है और गिर कर नौवें गुणस्थान में आने पर अन्त भी हो जाता है। इनमें से जो सादि-सपर्यवसित अवेदक है, वह जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक निरन्तर अवेदक रहता है, क्योंकि जो जीव एक समय तक अवेदक रह कर दूसरे ही समय में मर कर देवगति में जन्म लेता है, वह पुरुषवेद का उदय होने से सवेदक हो जाता है। इस कारण यहाँ अवेदक का कालमान जघन्य एक समय कहा है। उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहने का कारण यह है कि अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् श्रेणी से पतित होने पर उसके वेद का उदय हो जाता है।

नपुंसकवेदी की उत्कृष्ट कालावस्थिति— नपुंसकवेदी की उत्कृष्ट कालावस्थिति वनस्पतिकाल तक अर्थात्—अनन्तकाल तक की बताई है, उसका कारण यह है कि वनस्पति के जीव नपुंसकवेदी होते हैं और उनका काल अनन्त है।[1]

सातवाँ कषायद्वार

१३३१. सकसाई णं भंते ! सकसाईति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! सकसाई तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—अणादीए वा अपज्जवसिए १ अणादीए वा सपज्जवसिए २ सादीए वा सपज्जवसिए ३ जाव (सु. १३२६) अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं।

[१३३१ प्र.] भगवन् ! सकषायी जीव कितने काल तक सकषायीरूप में रहता है ?

[१३३१ उ.] गौतम ! सकषायी जीव तीन प्रकार के कहे हैं, वे इस प्रकार—(१) अनादि-अपर्यवसित, (२) अनादि-सपर्यवसित और (३) सादि-सपर्यवसित। इनमें से जो सादि-सपर्यवसित है, उसका कथन सू. १३२६ में उक्त सादि-सपर्यवसित सवेदक के कथनानुसार यावत् क्षेत्रतः देशोन अपार्द्ध पुद्गलपरावर्त तक (करना चाहिए।)

१३३२. कोहकसाई णं भंते ! कोहकसाई त्ति० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। एवं जाव मायकसाई।

[१३३२ प्र.] भगवन् ! क्रोधकषायी क्रोधकषायीपर्याय से युक्त कितने काल तक रहता है ?

[१३३२ उ.] गौतम ! (वह) जघन्यतः भी और उत्कृष्टतः भी अन्तर्मुहूर्त तक (क्रोधकषायी रूप में रहता है।) इसी प्रकार यावत् (मानकषायी और) मायाकषायी (की कालावस्थिति कहनी चाहिए।)

१३३३. लोभकसाई णं भंते ! लोभ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८५
(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भाग ४, पृष्ठ ३९९-४००

[१३३३ प्र.] भगवन् ! लोभकषायी, लोभकषायी के रूप में कितने काल तक (लगातार) रहता है ?

[१३३३ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक (लोभकषायी निरन्तर लोभकषायीपर्याय से युक्त रहता है।)

१३३४. अकसाई णं भंते ! अकसाई त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! अकसाई दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—सादीए वा अपज्जवसिए १ सादीए वा सपज्जवसिए २। तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिए से जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं। दारं ७॥

[१३३४ प्र.] भगवन् ! अकषायी, अकषायी के रूप में कितने काल तक रहता है ?

[१३३४ उ.] गौतम ! अकषायी दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार- (१) सादि-अपर्यवसित और (२) सादि-सपर्यवसित। इनमें से जो सादि-सपर्यवसित है, वह जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक (अकषायीरूप में रहता है।) सप्तम द्वार॥ ७॥

विवेचन—सप्तम कषायद्वार- प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १३३१ से १३३३ तक) में सकषायी, अकषायी तथा क्रोधादिकषायी के स्व-स्वपर्याय में निरन्तर अवस्थित रहने का कालमान बताया गया है।

त्रिविध सकषायी की व्याख्या—जो जीव कषायसहित होता है, वह सकषायी कहलाता है। कषाय जीव का एक विकारी परिणाम है। सकषायी जीव तीन प्रकार के होते हैं (१) **अनादि-अनन्त**—जो जीव उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी को कदापि प्राप्त नहीं करेगा, वह **अनादि-अनन्त सकषायी** है, क्योंकि उसके कषाय का कभी विच्छेद नहीं हो सकता। (२) **अनादि-सान्त**—जो जीव कभी उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी को प्राप्त करेगा, वह **अनादि-सान्त सकषायी** है, क्योंकि उपशम-श्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी प्राप्त करने पर ग्यारहवें गुणस्थान में या बारहवें गुणस्थान में उसके कषायोदय का विच्छेद हो जाता है। (३) **सादि-सान्त**—जो जीव उपशमश्रेणी प्राप्त करके और अकषायी होकर पुनः उपशमश्रेणी से प्रतिपतित होकर सकषायी हो जाता है, वह **सादि-सान्त सकषायी** कहलाता है। क्योंकि उसके कषायोदय की आदि भी है और भविष्य में पुनः कषायोदय का अन्त भी हो जाएगा।

इनमें जो सादि-सान्त सकषायी है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक निरन्तर सकषायी रहता है। इस विषय में अनन्तकाल का[1] काल और क्षेत्र की दृष्टि से परिमाण और तद्विषयक युक्ति सवेदी की तरह समझनी चाहिए।

क्रोध-मान-मायाकषायी की कालावस्थिति-क्रोध, मान और माया कषाय से युक्त जीव निरन्तर क्रोधादि कषायी के रूप में अन्तर्मुहूर्त तक ही रहते हैं, क्योंकि क्रोधादि किसी एक कषाय का उदय (विशिष्ट उपयोग) कम से कम और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही रह सकता है। जीव का स्वभाव ही ऐसा है कि क्रोधादि कषाय का उदय अन्तर्मुहूर्त के अधिक नहीं रहता।

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८६
(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भाग ४, पृ. ४०४

लोभकषायी जीव की कालावस्थिति—जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक लोभकषायी, लोभकषायी के रूप में निरन्तर रहता है। जब कोई उपशमक जीव उपशमश्रेणी का अन्त होने पर (ग्यारहवें गुणस्थान में) उपशान्तराग होने के बाद उपशमश्रेणी से गिरता है और लोभ के अंश के वेदन के प्रथम समय में ही मृत्यु को प्राप्त होकर देवलोक में उत्पन्न होता है तथा क्रोधकषायी, मानकषायी और मायाकषायी होता है, उस समय एक समय तक लोभकषायी पाया जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि जो युक्ति लोभकषाय के सम्बन्ध में दी गई है, उसी युक्ति के अनुसार क्रोधादि का भी जघन्य एक समय तक रहना क्यों नहीं बतलाया गया? इसका समाधान यह है कि यद्यपि उपशमश्रेणी से गिरता हुआ जीव क्रोधकषाय के वेदन के प्रथम समय में, मान के वेदन के प्रथम समय में अथवा माया के वेदन के प्रथम समय में मृत्यु पाकर देवलोक में उत्पन्न होता है, तथापि स्वभावशात् जिस कषाय के उदय के साथ जीव ने काल किया है, वही कषाय आगामी भव में भी अन्तर्मुहूर्त तक रहती है। इसी से अधिकृत सूत्र के प्रामाण्य से ज्ञात होता है कि क्रोध, मान और माया कषाय अनेक समय तक रहती हैं।[1]

अकषायी की कालावस्थिति—अकषायी-विषयक सूत्र अवेदक-सूत्र की युक्ति के अनुसार समझ लेना चाहिए। क्षपकश्रेणी प्राप्त अकषायी सादि-अनन्त होता है, क्योंकि क्षपकश्रेणी से उसका प्रतिपात नहीं होता। किन्तु जो उपशमश्रेणी-आरूढ़ होकर अकषायी होता है, वह सादि-सान्त होता है। अतः जघन्य एक समय तक अकषायपर्याय से युक्त रहता है। एक समय अकषायी होकर दूसरे समय में वह मर कर तत्काल(उसी समय में) देवलोक में उत्पन्न होता है और कषाय के उदय से सकषायी हो जाता है। इस कारण अकषायित्व का जघन्यकाल एक समय का है। उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक वह अकषायी रहता है, तत्पश्चात् उपशमश्रेणी से अवश्य ही पतित होकर सकषायी हो जाता है।[2]

आठवाँ लेश्याद्वार

१३३५. सलेस्से णं भंते! सेलेसे त्ति० पुच्छा?

गोयमा! सलेसे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—अणादीए वा अपज्जवसिए १ अणादीए वा सपज्जवसिए २।

[१३३५ प्र.] भगवन्! सलेश्यजीव सलेश्य-अवस्था में कितने काल तक रहता है?

[१३३५ उ.] गौतम! सलेश्य दो प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) अनादि-अपर्यवसित और (२) अनादि-सपर्यवसित।

१३३६. कण्हलेसे णं भंते! कण्हलेसे त्ति कालओ केवच्चिरं होइ?

गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भइयाइं।

[१३३६ प्र.] भगवन्! कृष्णलेश्या वाला जीव कितने काल तक कृष्णलेश्या वाला रहता है?

[१३३६ उ.] गौतम! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागरोपम तक (लगातार कृष्णलेश्या वाला रहता है)।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८६

२. प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भाग ४, पृ. ४०८

१३३७. णीललेसे णं भंते ! णीललेसे त्ति० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं पलिओवमासंखेज्जइभागब्भहियाइं ।

[१३३७ प्र.] भगवन् ! नीललेश्या वाला जीव कितने काल तक नीललेश्या वाला रहता है ?

[१३३७ उ.] गौतम ! (वह) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम तक (लगातार नीललेश्या वाला रहता है) ।

१३३८. काउलेस्से णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमाइं पलिओवमासंखेज्जइभागब्भहियाइं ।

[१३३८ प्र.] भगवन् ! कापोतलेश्यावान् जीव कितने काल तक कापोतलेश्या वाला रहता है ?

[१३३८ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागरोपम तक (कापोतलेश्या वाला लगातार रहता है) ।

१३३९. तेउलेस्सेणं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं पलिओवमासंखेज्जइभागब्भहियाइं ।

[१३३९ प्र.] भगवन् ! तेजोलेश्यावान् जीव कितने काल तक तेजोलेश्या वाला रहता है ?

[१३३९ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरोपम तक (तेजोलेश्यायुक्त रहता है) ।

१३४०. पम्हलेस्से णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तब्भहियाइं ।

[१३४० प्र.] भगवन् ! पद्मलेश्यावान् जीव कितने काल तक पद्मलेश्या वाला रहता है ।

[१३४० उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त अधिक दस सागरोपम तक (पद्मलेश्या से युक्त रहता है) ।

१३४१. सुक्कलेस्से णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तब्भहियाइं ।

[१३४१ प्र.] भगवन् ! शुक्ललेश्यावान् जीव कितने काल तक शुक्ललेश्या वाला रहता है ?

[१३४१ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागरोपम तक (शुक्ललेश्या वाला रहता है) ।

१३४२. अलेस्से णं० पुच्छा ?

गोयमा ! सादीए अपज्जवसिए । दारं ८ ॥

[१३४२ प्र.] भगवन् ! अलेश्यी जीव कितने काल तक अलेश्यीरूप में रहता है ?

[१३४२ उ.] गौतम ! (अलेश्य-अवस्था) सादि-अपर्यवसित है । अष्टम द्वार ॥ ८ ॥

विवेचन अष्टम लेश्याद्वार—प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. १३३५ से १३४२ तक) में सलेश्य, अलेश्य तथा कृष्णादि षट्लेश्या वाले जीवों का स्व-स्व-पर्याय में रहने का कालमान प्ररूपित किया गया है ।

द्विविध सलेश्य जीवों की कालावस्थिति—जो लेश्या से युक्त हों, वे सलेश्य कहलाते हैं । वे दो प्रकार के हैं—(१) **अनादि-अपर्यवसित** जो कदापि संसार का अन्त नहीं कर सकते, (२) **अनादि-सपर्यवसित**—जो संसारपारगामी हों ।

लेश्याओं का जघन्य एवं उत्कृष्ट काल—तिर्यञ्चों और मनुष्यों के लेश्याद्रव्य अन्तर्मुहूर्त तक रहते हैं, उसके बाद अवश्य ही बदल जाते हैं । किन्तु देवों और नारकों के लेश्याद्रव्य पूर्वभव सम्बन्धी अन्तिम अन्तर्मुहूर्त से प्रारम्भ होकर परभव के प्रथम अन्तर्मुहूर्त तक स्थायी रहते हैं । इसलिए लेश्याओं का जघन्यकाल (अन्तर्मुहूर्त) सर्वत्र मनुष्यों और तिर्यञ्चों की अपेक्षा से तथा उत्कृष्ट काल देवों और नारकों की अपेक्षा से जानना चाहिए ।[1] यहां **उत्कृष्ट लेश्याकाल** विभिन्न प्रकार का है । वह इस प्रकार है—

कृष्णलेश्यी का उत्कृष्टकाल—कृष्णलेश्या का उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागरोपम का कहा है, वह सातवीं नरकभूमि की अपेक्षा से जानना चाहिए । क्योंकि सप्तम नरकपृथ्वी के नारक कृष्णलेश्या वाले होते हैं और उनकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की होती है तथा पूर्वभव और उत्तरभव सम्बन्धी दो अन्तर्मुहूर्त हैं, वे दोनों मिलकर भी अन्तर्मुहूर्त ही होते हैं, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के भी असंख्य भेद हैं ।

नीललेश्यी का उत्कृष्टकाल—पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम का है । यह उत्कृष्ट कालमान पांचवीं नरकपृथ्वी की अपेक्षा से समझना चाहिए । क्योंकि पांचवें नरक के प्रथम पाथड़े (प्रस्तट) में नीललेश्या होती है । उक्त पाथड़े में उपर्युक्त स्थिति होती है । पूर्वभव और उत्तर-भव सम्बन्धी दोनों अन्तर्मुहूर्त पल्योपम के असंख्यातवें भाग में ही सम्मिलित हो जाते हैं । अतएव उनकी पृथक् विवक्षा नहीं की गई है ।

कापोतलेश्यी का उत्कृष्टकाल पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागरोपम कहा गया है । वह तीसरी नरकपृथ्वी की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि तीसरी नरकपृथ्वी के प्रथम पाथड़े में इतनी स्थिति है और उसमें कापोतलेश्या भी होती है ।

तेजोलेश्यी जीव का उत्कृष्टकाल पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरोपम कहा गया है । यह ईशान देवलोक की अपेक्षा से समझना चाहिए । क्योंकि ईशान देवलोक के देवों में तेजोलेश्या होती है और उनकी उत्कृष्ट स्थिति भी यही है ।

पद्मलेश्यी जीव का उत्कृष्टकाल—अन्तर्मुहूर्त अधिक दस सागरोपम का कहा गया है । वह

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८६

ब्रह्मलोक कल्प की अपेक्षा से समझना चाहिए। ब्रह्मलोक के देव पद्मलेश्या वाले होते हैं और उनकी उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम की है। पूर्वभव और उत्तरभव सम्बन्धी दोनों अन्तर्मुहूर्त एक ही अन्तर्मुहूर्त में समाविष्ट हो जाते हैं, इसी कारण यहाँ अन्तर्मुहूर्त अधिक कहा गया है।

शुक्ललेश्यावान् का उत्कृष्टकाल—अन्तर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागरोपम कहा गया है। यह कथन अनुत्तरविमानवासी देवों की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि उनमें शुक्ललेश्या होती है और उनकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है। अन्तर्मुहूर्त अधिक पूर्वोक्त युक्ति से समझ लेना चाहिए।[1]

अलेश्य जीवों की कालावस्थिति—अलेश्य जीव अयोगीकेवली और सिद्ध होते हैं, वे सदाकाल लेश्यातीत रहते हैं। इसलिए अलेश्य अवस्था को सादि-अनन्त कहा गया है।[2]

नौवाँ सम्यक्त्वद्वार

१३४३. सम्मद्दिट्ठी णं भंते ! सम्मद्दिट्ठि० केवचिरं होइ ?

गोयमा ! सम्मद्दिट्ठी दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—सादीए वा अपज्जवसिए १ सादीए वा सपज्जवसिए २। तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिए से जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाइं सातिरेगाइं।

[१३४३ प्र.] भगवन् ! सम्यग्दृष्टि कितने काल तक सम्यग्दृष्टिरूप में रहता है ?

[१३४३ उ.] गौतम ! सम्यग्दृष्टि दो प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार—(१) सादि-अपर्यवसित और (२) सादि-सपर्यवसित। इनमें से जो सादि-सपर्यवसित है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ अधिक छियासठ सागरोपम तक (सादि-सपर्यवसित सम्यग्दृष्टि रूप में रहता है।)

१३४४. मिच्छद्दिट्ठी णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! मिच्छद्दिट्ठी तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—अणादीए वा अपज्जवसिए १ अणादीए वा सपज्जवसिए २ सादीए वा सपज्जवसिए ३। तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिए से जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं।

[१३४४ प्र.] भगवन् ! मिथ्यादृष्टि कितने काल तक मिथ्यादृष्टिरूप में रहता है ?

[१३४४ उ.] गौतम ! मिथ्यादृष्टि तीन प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) अनादि-अपर्यवसित, (२) अनादि-सपर्यवसित और (३) सादि-सपर्यवसित। इनमें से जो सादि-सपर्यवसित है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक; (अर्थात्) काल की अपेक्षा से अनन्त

१. (क) 'पंचमियाए मिस्सा।'
(ख) 'तईयाए मीसिया।'
(ग) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८७
२. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८७

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों तक और क्षेत्र की अपेक्षा से देशोन अपार्द्ध पुद्गल-परावर्त्त तक (मिथ्यादृष्टिपर्याय से युक्त रहता है।)

१३४५. सम्मामिच्छद्दिट्ठी णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । दारं ९॥

[१३४५ प्र.] भगवन् ! सम्यग्मिथ्यादृष्टि कितने काल तक सम्यग्मिथ्यादृष्टि बना रहता है ?

[१३४५ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य भी और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त तक सम्यग्दृष्टि-पर्याय में रहता है।

विवेचन—नौवाँ सम्यक्त्वद्वार— प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. १३४३ से १३४५ तक) में सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि इन तीनों के स्व-स्वपर्याय की कालस्थिति का निरूपण किया गया है।

सम्यग्दृष्टि की व्याख्या—जिसकी दृष्टि सम्यक्, यथार्थ या अविपरीत हो अथवा जिनप्रणीत वस्तुतत्त्व पर जिसकी श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि सम्यक् हो, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि दो प्रकार के होते हैं—**सादि-अनन्त**—जिसे क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, वह सादि अनन्त सम्यग्दृष्टि है क्योंकि एक बार उत्पन्न होने पर क्षायिक सम्यक्त्व का विनाश नहीं होता। क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि **सादि-सान्त** होता है, क्योंकि ये दोनों सम्यक्त्व अनन्त नहीं, सान्त हैं। औपशमिक सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त्त तक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व छियासठ सागरोपम तक रहता है। इसी अपेक्षा से कहा गया है कि सादि-सान्त सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक सम्यग्दृष्टिपर्याययुक्त रहता है, उसके पश्चात् उसे मिथ्यात्व की प्राप्ति हो जाती है। यह कथन औपशमिक सम्यक्त्व की दृष्टि से है। उत्कृष्ट किंचित् अधिक ६६ सागरोपम तक सम्यग्दृष्टि बना रहता है। यह कथन क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अपेक्षा से है। यदि कोई जीव दो बार विजयादि विमानों में सम्यक्त्व के साथ उत्पन्न हो अथवा तीन बार अच्युतकल्प में उत्पन्न हो तो छियाठस सागरोपम व्यतीत हो जाते हैं और जो किञ्चित् अधिक काल कहा है, वह बीच के मनुष्यभवों का समझना चाहिए।[1]

त्रिविधमिथ्यादृष्टि- (१) **अनादि-अनन्त**—जो अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि है और अनन्तकाल तक बना रहेगा, वह अभव्यजीव, (२) **अनादि-सान्त**—जो अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि तो है, किन्तु भविष्य में जिसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी, (३) **सादि-सान्त-मिथ्यादृष्टि**—जो सम्यक्त्व को प्राप्त करने के पश्चात् पुनः मिथ्यादृष्टि हो गया है और भविष्य में पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करेगा।

इन तीनों में से जो सादि-सान्त मिथ्यादृष्टि है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यादृष्टि रहता है। अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यादृष्टि रहने के पश्चात् उसे पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। उत्कृष्ट

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८७-३८८
(ख) प्रज्ञापनासूत्र. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ४, पृ. ४२०-४२१
(ग) " दो वारे विजयाइसु गयस्स तिन्निऽच्चुए अहव ताइं।
अइरेगं नरभविय ..... ॥"

अनन्तकाल तक वह मिथ्यादृष्टि बना रहता है और अनन्तकाल व्यतीत होने के पश्चात् उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

अनन्तकाल—कालतः अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियां समझनी चाहिए तथा क्षेत्रतः देशोन अपार्द्ध (क्षेत्र) पुद्गलपरावर्तन सर्वत्र समझना चाहिए।[1]

सम्यग्मिथ्यादृष्टि की कालावस्थिति—मिश्रदृष्टि अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् नहीं रहती। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् मिश्रदृष्टि वाला जीव या तो सम्यदृष्टि हो जाता है, या मिश्रदृष्टि हो जाता है, इसलिए सम्यग्मिथ्यादृष्टि का जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त का ही समझना चाहिए।[2]

दसवाँ ज्ञानद्वार

१३४६. णाणी णं भंते ! णाणीति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! णाणी दुविहे पण्णत्ते। तं जहा सादीए वा अपज्जवसिए १ सादीए वा सपज्जवसिए २। तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिए से जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाइं साइरेगाइं।

[१३४६ प्र.] भगवन् ! ज्ञानी जीव कितने काल तक ज्ञानीपर्याय में निरन्तर रहता है ?

[१३४६ उ.] गौतम ! ज्ञानी दो प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार—(१) सादि-अपर्यवसित और (२) सादि-सपर्यवसित। इनमें से जो सादि-सपर्यवसित है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ अधिक छियासठ सागरोपम तक (लगातार ज्ञानीरूप में बना रहता है।)

१३४७. आभिणिबोहियणाणी णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! एवं चेव।

[१३४७ प्र.] भगवन् ! आभिनिबोधिकज्ञानी आभिनिबोधिकज्ञानी के रूप में कितने काल तक रहता है ?

[१३४७ उ.] गौतम ! (सामान्य ज्ञानी के विषय में जैसा कहा है) इसी प्रकार (इसके विषय में समझ लेना चाहिए।)

१३४८ एवं सुयणाणी वि।

[१३४८] इसी प्रकार श्रुतज्ञानी (का भी कालमान समझ लेना चाहिए।)

१३४९. ओहिणाणी वि एवं चेव। णवरं जहण्णेणं एक्कं समयं।

[१३४९] अवधिज्ञानी का कालमान भी इसी प्रकार है, विशेषता यह है कि वह जघन्य एक समय तक ही (अवधिज्ञानी के रूप में रहता है।)

१३५०. मणपज्जवणाणी णं भंते ! मणपज्जवणाणीति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८८

२. वही मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८८-३८९

[१३५० प्र.] भगवन् ! मनःपर्यवज्ञानी कितने काल तक (निरन्तर) मनःपर्यवज्ञानी के रूप में रहता है ?

[१३५० उ.] गौतम ! (वह) जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि (करोड़-पूर्व) तक (सतत मनःपर्यवज्ञानीपर्याय में रहता है।)

१३५१. केवलणाणी णं० पुच्छा ?

गोयमा ! सादीए अपज्जवसिए।

[१३५१ प्र.] भगवन् ! केवलज्ञानी, केवलज्ञानी के रूप में कितने काल तक रहता है ?

[१३५१ उ.] गौतम ! (केवलज्ञानी-पर्याय) सादि-अपर्यवसित होती है।

१३५२. अण्णाणी-मइअण्णाणी-सुयअण्णाणी णं० पुच्छा ?

गोयमा ! अण्णाणी मतिअण्णाणी सुयअण्णाणी तिविहे पण्णत्ते। तं जहा अणादीए वा अपज्जवसिए १ अणादीए वा सपज्जवसिए २ सादीए वा सपज्जवसिए ३। तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिए से जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणि ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं।

[१३५२ प्र.] भगवन् ! अज्ञानी, मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी कितने काल तक (निरन्तर स्व-पर्याय में रहते हैं ?)

[१३५२ उ.] गौतम ! अज्ञानी, मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी तीन-तीन प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार -(१) अनादि-अपर्यवसित, (२) अनादि-सपर्यवसित और (३) सादि-सपर्यवसित। उनमें से जो सादि-सपर्यवसित है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक (अर्थात्) काल की अपेक्षा से अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों तक एवं क्षेत्र की अपेक्षा से देशोन अपार्द्ध पुद्गलपरावर्त्त तक (निरन्तर स्व-स्वपर्याय में रहते हैं।)

१३५३. विभंगणाणी णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं देसूणाए पुव्वकोडीए अब्भहियाइं। दारं १०॥

[१३५३ प्र.] भगवन् ! विभंगज्ञानी कितने काल तक विभंगज्ञानी के रूप में रहता है ?

[१३५३ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय तक, उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम तक (वह विभंगज्ञानी-पर्याय में लगातार बना रहता है।) दसवाँ द्वार ॥१०॥

विवेचन—**दसवाँ ज्ञानद्वार**—प्रस्तुत आठ सूत्रों (सू. १३४६ से १३५३ तक) में सामान्य ज्ञानी आभिनिबोधिक आदि ज्ञानी, अज्ञानी, मत्यादि अज्ञानी, स्व-स्वपर्याय में कितने काल तक रहते हैं ? इसका चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

ज्ञानी-अज्ञानी की परिभाषा -जिसमें सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान हो, वह ज्ञानी कहलाता है; जिसमें सम्यग्ज्ञान न हो, वह अज्ञानी कहलाता है।

द्विविध ज्ञानी—(१) **सादि-अपर्यवसित**—जिस जीव को सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् सदैव बना रहे, वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि ज्ञानी या केवलज्ञानी सादि-अपर्यवसित ज्ञानी है। (२) **सादि-सपर्यवसित**—जिसका सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन का अभाव होने पर नष्ट होने वाला है, वह सादि-सपर्यवसित ज्ञानी है। केवलज्ञान के सिवाय अन्य ज्ञानों की अपेक्षा ऐसा ज्ञानी सादि-सपर्यवसित कहलाता है, क्योंकि वे ज्ञान नियतकालभावी हैं, अनन्त नहीं हैं। इन दोनों में से सादि-सान्त ज्ञानी-अवस्था जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक रहती है, उसके पश्चात् मिथ्यात्व के उदय से ज्ञानपरिणाम का विनाश हो जाता है। उत्कृष्टकाल जो ६६ सागरोपम से कुछ अधिक कहा गया है, उसका स्पष्टीकरण सम्यग्दृष्टि के समान ही समझ लेना चाहिए, क्योंकि सम्यग्दृष्टि ही ज्ञानी होता है।[1]

अवधिज्ञानी का अवस्थानकाल—अवधिज्ञानी का जघन्य अवस्थानकाल एक समय का है, अन्तर्मुहूर्त का नहीं, क्योंकि विभंगज्ञानी कोई तिर्यंचपंचेन्द्रिय, मनुष्य अथवा देव जब सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तो सम्यक्त्व की प्राप्ति होते ही उसका विभंगज्ञान अवधिज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। किन्तु देव के च्यवन के कारण और अन्य जीव की मृत्यु होने पर या अन्य कारणों से अनन्तर समय में ही जब वह अवधिज्ञान नष्ट हो जाता है, तब उसका अवस्थान एक समय तक रहता है। इसकी उत्कृष्ट अवस्थिति ६६ सागरोपम की है। वह इस प्रकार से है—अप्रतिपाती-अवधिज्ञान प्राप्त जीव दो बार विजय आदि विमानों में जाता है, अथवा तीन बार अच्युतदेवलोक में उत्पन्न होता है, तब उसकी स्थिति छियासठ सागरोपम की होती है।

मनःपर्यवज्ञानी का अवस्थानकाल—मनःपर्यवज्ञानी मनःपर्यवज्ञानी-अवस्था में जघन्य एक समय तक रहता है। जब अप्रमत्त-अवस्था में वर्तमान किसी संयत को मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है और अप्रमत्तसंयत-अवस्था में ही उसकी मृत्यु हो जाती है, तब वह मनःपर्यवज्ञानी एक समय तक ही मनःपर्यवज्ञानी के रूप में रहता है। उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि तक अवस्थिति का कारण यह है कि इससे अधिक संयम रहता ही नहीं है और संयम के अभाव में मनःपर्यवज्ञान भी रह नहीं सकता।[2]

त्रिविध अज्ञानी, मत्यज्ञानी तथा श्रुताज्ञानी—**अनादि-अनन्त**—जिसने कभी सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया है और जो भविष्य में भी ज्ञान प्राप्त नहीं करेगा, वह अनादि-अनन्त अज्ञानी है। (२) **अनादि-सान्त**—जिसने कभी ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, किन्तु कभी प्राप्त करेगा, वह अनादि-सान्त अज्ञानी है। (३) **सादि-सान्त**—जो जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके पुनः मिथ्यात्वोदय से अज्ञानी हो गया हो, किन्तु भविष्य में पुनः ज्ञान प्राप्त करेगा, वह सादि-सान्त अज्ञानी है। सादि-सान्त अज्ञानी लगातार जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक अज्ञानी-पर्याय से युक्त रहता है, तत्पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त करके ज्ञानी बन जाता है, उसकी अज्ञानी-पर्याय नष्ट हो जाती है। उत्कृष्ट अनन्तकाल तक वह अज्ञानी रहता है, इसका कारण पहले कहा जा चुका है। इतने काल (अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल) के अनन्तर उस जीव को अवश्य ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है और उसका अज्ञानपरिणाम दूर हो जाता है।[3]

विभंगज्ञानी का अवस्थानकाल—वह जघन्य एक समय, उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि अधिक

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८९
२. वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८९
३. वही, मलय. वृत्ति, पत्रांक ३८९-३९०

तेतीस सागरोपम तक विभंगज्ञानी बना रहता है। जब कोई पंचेन्द्रियतिर्यञ्च, मनुष्य अथवा देव सम्यग्दृष्टि होकर अवधिज्ञानी होता है और फिर मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है, तब मिथ्यात्व की प्राप्ति के समय मिथ्यात्व के प्रभाव से उसका अवधिज्ञान विभंगज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्वप्राप्ति के अनन्तर समय में ही जब उस विभंगज्ञानी देव, मनुष्य या पंचेन्द्रिय-तिर्यंच की मृत्यु हो जाती है, तब विभंगज्ञान का अवस्थान एक समय तक ही रहता है। जब कोई मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रियतिर्यंच या मनुष्य करोड़ पूर्व की आयु के कतिपय वर्ष व्यतीत हो जाने पर विभंगज्ञान प्राप्त करता है और उक्त विभंगज्ञान के साथ ही सप्तम नरकभूमि में तेतीस सागरोपम की स्थिति वाले नारकों में उत्पन्न होता है, उस समय विभंगज्ञानी का अवस्थानकाल देशोन पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम का होता है। तदनन्तर वह जीव या तो सम्यक्त्व को प्राप्त करके अवधि-ज्ञानी बन जाता है, अथवा उसका विभंगज्ञान नष्ट ही हो जाता है।[1]

ग्यारहवाँ दर्शनद्वार

१३५४. चक्खुदंसणी णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसहस्सं सातिरेगं।

[१३५४ प्र.] भगवन् ! चक्षुर्दर्शनी कितने काल तक चक्षुर्दर्शनीपर्याय में रहता है ?

[१३५४ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ अधिक हजार सागरोपम तक (चक्षुर्दर्शनीपर्याय में रहता है)।

१३५५. अचक्खुदंसणी णं भंते ! अचक्खुदंसणी त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! अचक्खुदंसणी दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—अणादीए वा अपज्जवसिए १ अणादीए वा सपज्जवसिए २।

[१३५५ प्र.] भगवन् ! अचक्षुर्दर्शनी, अचक्षुर्दर्शनीरूप में कितने काल तक रहता है ?

[१३५५ उ.] गौतम ! अचक्षुर्दर्शनी दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—१. अनादि-अपर्यवसित और २. अनादि-सपर्यवसित।

१३५६. ओहिदंसणी णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं दो छावट्ठीओ सागरोवमाणं सातिरेगाओ।

[१३५६ प्र.] भगवन् ! अवधिदर्शनी, अवधिदर्शनीरूप में कितने काल तक रहता है ?

[१३५६ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो छियासठ सागरोपम तक (अवधिदर्शनीपर्याय में रहता है)।

१३५७. केवलदंसणी णं० पुच्छा ?

गोयमा ! सादीए अपज्जवसिए। बारं ११ ॥

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९०

[१३५७ प्र.] भगवन् ! केवलदर्शनी कितनी काल तक केवलदर्शनीरूप में रहता है ?

[१३५७ उ.] गौतम ! केवलदर्शनी सादि-अपर्यवसित होता है। ग्यारहवाँ द्वार ॥११॥

बारहवाँ संयतद्वार

१३५८. संजए णं भंते ! संजए त्ति० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं ।

[१३५८ प्र.] भगवन् ! संयत कितने काल तक संयतरूप में रहता है ?

[१३५८ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट देशोन करोड़ पूर्व तक संयतरूप में रहता है।

१३५९. असंजए णं भंते ! असंजए त्ति० पुच्छा ?

गोयमा ! असंजए तिविहे पण्णत्ते । तं जहा अणादीए वा अपज्जवसिए १ अणादीए वा सपज्जवसिए २ सादीए वा सपज्जवसिए ३ । तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिए से जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ कालतो, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं ।

[१३५९ प्र.] भगवन् ! असंयत कितने काल तक असंयतरूप में रहता है ?

[१३५९ उ.] गौतम ! असंयत तीन प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—१. अनादि-अपर्यवसित, २. अनादि-सपर्यवसित और ३. सादि-सपर्यवसित। उनमें से जो सादि-सपर्यवसित है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक, (अर्थात्) काल की अपेक्षा- अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों तक तथा क्षेत्र की अपेक्षा- देशोन अपार्द्ध पुद्गलपरावर्त्त तक (वह असंयत-पर्याय में रहता है)।

१३६०. संजयासंजए जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं ।

[१३६०] संयतासंयत जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि तक (संयता-संयतरूप में रहता है)।

१३६१. णोसंजए णोअसंजए णोसंजयासंजए णं० पुच्छा ?

गोयमा ! सादीए अपज्जवसिए । दारं १२ ॥

[१३६१ प्र.] भगवन् ! नोसंयत, नोअसंयत, नोसंयतासंयत कितने काल तक नोसंयत, नोअसंयत, नोसंयतासंयतरूप में बना रहता है ?

[१३६१ उ.] गौतम ! वह सादि-अपर्यवसित है। बारहवाँ द्वार ॥१२॥

तेरहवाँ उपयोगद्वार

१३६२. सागारोवउत्ते णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।

[१३६२ प्र.] भगवन् ! साकारोपयोगयुक्त जीव निरन्तर कितने काल तक साकारोपयोग-युक्तरूप में बना रहता है ?

[१३६२ उ.] गौतम ! (वह) जघन्यतः और उत्कृष्टः भी अन्तर्मुहूर्त तक साकारोपयोग से युक्त बना रहता है।

१३६३. अणागारोवउत्ते वि एवं चेव । दारं १३ ॥

[१३६३] अनाकारोपयोगयुक्त जीव भी इसी प्रकार जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक (अनाकारोपयोगयुक्तरूप में बना रहता है)। तेरहवाँ द्वार ॥१३॥

विवेचन - ग्यारहवाँ, बारहवाँ और तेरहवाँ दर्शन, संयत और उपयोग द्वार प्रस्तुत दस सूत्रों (सू. १३५४ से १३६३ तक) में चक्षुर्दर्शनी आदि चतुष्टय, संयत, असंयत, संयतासंयत और नोसंयत, नोअसंयत, नोसंयतासंयत तथा साकारोपयोगयुक्त एवं अनाकारोपयोगयुक्त जीव का स्व-स्वपर्याय में अवस्थानकालमान प्रतिपादित किया गया है।

चक्षुर्दर्शनी का अवस्थान काल—चक्षुर्दर्शनी जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ अधिक हजार सागरोपम तक निरन्तर चक्षुर्दर्शनी बना रहता है। जब कोई त्रीन्द्रिय जीव चतुरिन्द्रियादि में उत्पन्न होकर उस पर्याय में अन्तर्मुहूर्त तक स्थित रह कर पुनः त्रीन्द्रिय आदि में उत्पन्न हो जाता है, तब चक्षुर्दर्शनी अन्तर्मुहूर्त चक्षुर्दर्शनीपर्याय से युक्त होता है। उत्कृष्ट कुछ अधिक हजार सागरोपम जो कहा है, वह चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रियतिर्यञ्च एव नारक आदि भवों में भ्रमण करने के कारण समझना चाहिए।

द्विविध अचक्षुर्दर्शनी -१. **अनादि-अनन्त**—जो जीव कभी सिद्धि प्राप्त नहीं करेगा। २. **अनादि-सान्त**—जो कदाचित् सिद्धि प्राप्त करेगा।

अवधिदर्शनी का अवस्थानकालमान—जघन्य एक समय और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो छियासठ सागरोपम है। वह इस प्रकार—बारहवाँ देवलोक २२ सागरोपम की स्थिति वाला है। उसमें कोई भी जीव यदि विभंगज्ञान लेकर जाए तथा लौटते समय अवधिज्ञान लेकर लौटे तो इस प्रकार बाईस सागरोपम काल विभंगज्ञान का और बाईस सागरोपम काल अवधिज्ञान का हुआ। पूर्वोक्त प्रकार से ही यदि तीन बार विभंगज्ञान लेकर जाए तथा अवधिज्ञान लेकर आए तो ६६ सागरोपम काल विभंगज्ञान का और ६६ सागरोपम काल अवधिज्ञान का हुआ। बीच के मनुष्यभवों का काल कुछ अधिक जानना चाहिए। इस प्रकार कुल कुछ अधिक दो छियासठ सागरोपम काल होता है।[1] ध्यान में रहे कि विभंगज्ञानी का दर्शन भी अवधिदर्शन ही कहलाता है, विभंगदर्शन नहीं।[2]

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९०

२. सुत्ते विभंगस्स वि परूवियं ओहिदंसणं बहुसो ।
कीस पुणो पडिसिद्धं कम्मपगडीपगरणंमि ॥ १ ॥
विभंगे कि दरिसणं सामण्ण-विसेसविसयओ सुत्ते ।
तं चउविसिट्ठमणागारमेत्तं तोऽवहि विभंगाणं ॥ २ ॥
कम्मपगडीमयं पुण सागारेयरविसेसभावे वि ।
न विभंगनाणदंसण विसेसणमणिच्छयत्तणओ ॥ ३ ॥

(प्रज्ञा. म. वृ. पत्र ३९१) - विशेषणवती (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण)

त्रिविध असंयत- १. **अनादि-अपर्यवसित**—जिसने कभी संयम पाया नहीं और कभी पाएगा भी नहीं, २. **अनादि-सपर्यवसित**—जिसने कभी संयम पाया नहीं, भविष्य में पाएगा, ३. **सादि-सपर्यवसित**—जो जीव संयम प्राप्त करके उससे भ्रष्ट हो गया है, किन्तु पुनः संयम प्राप्त करेगा। सादि-सान्त असंयत जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक असंयतपर्याय से युक्त रहता है। अनन्तकाल (अपार्ध पुद्गलपरावर्त) व्यतीत होने के पश्चात् उसे संयम की प्राप्ति अवश्य ही होती है।[1]

संयतासंयत एवं संयत का अवस्थानकाल—देशविरति की प्रतिपत्ति का उपयोग जघन्य अन्तर्मुहूर्त का होता है। अतएव यहाँ जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहा है। देशविरति में दो करण तीन योग आदि अनेक भंग होते हैं। अतः उसे अंगीकार करने में अन्तर्मुहूर्त लग ही जाता है। सर्वविरति में सर्वसावद्य के त्याग के रूप में प्रतिज्ञा अंगीकार करने का उपयोग एक समय में भी हो सकता है, इसी कारण संयत का जघन्य काल एक समय कहा गया है।

नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत जो संयत भी नहीं, असंयत भी नहीं और संयतासंयत भी नहीं, ऐसा जीव सिद्ध ही होता है और सिद्धपर्याय सादि-अनन्त है।[2]

साकारोपयोग तथा अनाकारोपयोग युक्त का अवस्थानकाल—जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त का होता है। छद्मस्थ जीवों का उपयोग, चाहे वह साकारोपयोग हो अथवा अनाकारोपयोग, अन्तर्मुहूर्त का ही होता है। केवलियों का एकसामयिक उपयोग यहाँ विवक्षित नहीं है।

चौवहवाँ आहारद्वार

१३६४. आहारए णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! आहारए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—छउमत्थआहारए य केवलिआहारए य।

[१३६४ प्र.] भगवन् ! आहारक जीव (लगातार) कितने काल तक आहारकरूप में रहता है ?

[१३६४ उ.] गौतम ! आहारक जीव दो प्रकार के कहे हैं, यथा—छद्मस्थ-आहारक और केवली-आहारक।

१३६५. छउमत्थाहारए णं भंते ! छउमत्थाहारए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं खुड्डागभवग्गहणं दुसमऊणं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, असंखेज्जाओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अंगुलस्स संखेज्जइभागं।

[१३६५ प्र.] भगवन् ! छद्मस्थ-आहारक कितने काल तक छद्मस्थ-आहारक के रूप में रहता है ?

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९२

२. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९२

[१३६५ उ.] गौतम ! जघन्य दो समय कम क्षुद्रभव ग्रहण जितने काल और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक (लगातार छद्मस्थ-आहारकरूप में रहता है)। (अर्थात्—) कालतः असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों तक तथा क्षेत्रतः अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण (समझना चाहिए)।

१३६६. केवलिआहारए णं भंते ! केवलिआहारए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं।

[१३६६ प्र.] भगवन् ! केवली-आहारक कितने काल तक केवली-आहारक के रूप में रहता है ?

[१३६६ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट देशोन कोटिपूर्व तक (केवली-आहारक निरन्तर केवली-आहारकरूप में रहता है)।

१३६७. अणाहारए णं भंते ! अणाहारए त्ति ० पुच्छा ?

गोयमा ! अणाहारए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—छउमत्थअणाहारए य १ केवलिअणाहारए य २।

[१३६७ प्र.] भगवन् ! अनाहारकजीव, अनाहारकरूप में निरन्तर कितने काल तक रहता है ?

[१३६७ उ.] गौतम ! अनाहारक दो प्रकार के होते हैं, यथा – (१) छद्मस्थ-अनाहारक और (२) केवली-अनाहारक।

१३६८. छउमत्थअणाहारए णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं दो समया।

[१३६८ प्र.] भगवन् ! छद्मस्थ-अनाहारक, छद्मस्थ-अनाहारक के रूप में निरन्तर कितने काल तक रहता है ?

[१३६८ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट दो समय तक (छद्मस्थ-अनाहारक-रूप में रहता है।)

१३६९. केवलिअणाहारए णं भंते ! केवलिअणाहारए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! केवलिअणाहारए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—सिद्धकेवलिअणाहारए य १ भवत्थ-केवलिअणाहारए य २।

[१३६९ प्र.] भगवन् ! केवली-अनाहारक, केवली-अनाहारक के रूप में निरन्तर कितने काल तक रहता है ?

[१३६९ उ.] गौतम ! केवली-अनाहारक दो प्रकार के हैं, १. सिद्धकेवली-अनाहारक और २. भवस्थकेवली-अनाहारक।

१३७०. सिद्धकेवलिअणाहारए णं ० पुच्छा ?

गोयमा ! सादीए अपज्जवसिए ।

[१३७० प्र.] भगवन् ! सिद्धकेवली-अनाहारक कितने काल तक सिद्धकेवली-अनाहारक के रूप में रहता है ?

[१३७० उ.] गौतम ! (वह) सादि-अपर्यवसित है ।

१३७१. भवत्थकेवलिअणाहारए णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! भवत्थकेवलिअणाहारए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-- सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए य १ अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए य २ ।

[१३७१ प्र.] भगवन् ! भवस्थकेवली-अनाहारक कितने काल तक (निरन्तर) भवस्थ-केवली-अनाहारकरूप में रहता है ?

[१३७१ उ.] गौतम ! भवस्थकेवली-अनाहारक दो प्रकार के हैं—१. सयोगि-भवस्थकेवली-अनाहारक और २. अयोगि-भवस्थकेवली-अनाहारक ।

१३७२. सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! अजहण्णमणुक्कोसेणं तिण्णि समया ।

[१३७२ प्र.] भगवन् ! सयोगि-भवस्थकेवली-अनाहारक कितने काल तक सयोगि-भवस्थ-केवली-अनाहारक के रूप में रहता है ?

[१३७२ उ.] गौतम ! अजघन्य-अनुत्कृष्ट तीन समय तक (सयोगिभवस्थकेवली-अनाहारक-रूप में रहता है ।)

१३७३. अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए णं ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । दारं १४ ।।

[१३७३ प्र.] भगवन् ! अयोगि-भवस्थकेवली-अनाहारक कितने काल तक अयोगि-भवस्थ-केवली-अनाहारकरूप में रहता है ?

[१३७३ उ.] गौतम ! जघन्य और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त तक (अयोगिभवस्थकेवली-अनाहारकरूप में रहता है ।)

—चौदहवां द्वार ।।१४।।

विवेचन चौदहवाँ आहारकद्वार— प्रस्तुत दस सूत्रों (सू. १३६४ से १३७३ तक) में विविध आहारक और अनाहारक के अवस्थानकालमान की प्ररूपणा की गई है ।

छद्मस्थ आहारक का कालमान— जघन्य दो समय कम क्षुद्रभव ग्रहणकाल और उत्कृष्ट असंख्यातकाल तक वह निरन्तर छद्मस्थ-आहारक-रूप में रहता है । क्षुद्रभव या क्षुल्लक भवग्रहण दो सौ छप्पन आवलिका रूप जानना चाहिए । **जघन्यकालमान का स्पष्टीकरण**—यद्यपि विग्रहगति चार और पांच समय की भी होती है, तथापि बहुलता से वह दो या तीन समय की होती है, चार

या पांच समय को नहीं, वह विग्रहगति यहाँ विवक्षित नहीं है। अतः जब तीन समय की विग्रहगति होती है, तब जीव प्रारम्भ के दो समयों तक अनाहारक रहता है। अतएव आहारकत्व की प्ररूपणा में उन दो समयों से न्यून क्षुद्रभवग्रहण का कथन किया गया है। उत्कृष्ट असंख्यातकाल तक आहारक रहता है, तत्पश्चात् नियम से विग्रहगति होती है और विग्रहगति में अनाहारक-पर्याय हो जाती है। इसी कारण यहाँ अनन्तकाल नहीं कहा है।[1]

छद्मस्थ-अनाहारक का कालमान—जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट दो समय तक छद्मस्थ-अनाहारक जीव छद्मस्थ-अनाहारकपर्याय में रहता है। यहाँ तीन समय वाली विग्रहगति की अपेक्षा से उत्कृष्ट दो समय का कथन किया गया है। चार और पांच समय वाली विग्रहगति यहाँ विवक्षित नहीं है।[2]

सयोगि-भवस्थकेवली-अनाहारक का अवस्थानकालमान—(वह अजघन्य-अनुत्कृष्ट तीन समय तक अनाहारकपर्याय में रहता है। यह विधान केवलीसमुद्घात की अपेक्षा से है। आठ समय के केवलीसमुद्घात में तीसरे चौथे और पांचवें समय में केवली अनाहारकदशा में रहते हैं। इसमें जघन्य-उत्कृष्ट का विकल्प नहीं है।[3]

पन्द्रहवाँ भाषकद्वार

१३७४. भासए णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

[१३७४ प्र.] भगवन् ! भाषक जीव कितने काल तक भाषकरूप में रहता है ?

[१३७४ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक (भाषकरूप में रहता है।)

१३७५. अभासए णं ?

गोयमा ! अभासए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—अणाईए वा अपज्जवसिए १ अणाईए वा

---

१. (क) उज्जुया एगबंका, दुहतो बंका गति विणिद्दिट्ठा।
जुज्जइ ति-चउवंकावि नाम चउपंच समयाओ॥ १॥
(ख) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९३

२. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति. पत्रांक ३९३

३. दण्डे प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तरे तथा समये।
मन्थानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे तु॥ १॥
संहरति पंचमे त्वन्तराणि मन्थानमथ तथा षष्ठे।
सप्तमके तु कपाटं संहरति ततोऽष्टमे दण्डम्॥ २॥
औदारिकप्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमयोरसाविष्टः।
मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तम-षष्ठ-द्वितीयेषु॥ ३॥
कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पंचमे तृतीये च॥
समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात्॥ ४॥ —प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९३

सपज्जवसिए २ सादीए वा सपज्जवसिए ३ । तत्थ णं जे से सादीए सपज्जवसिए से जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणप्फइकालो । दारं १५ ॥

[१३७५ प्र.] भगवन् ! अभाषक जीव अभाषकरूप में कितने काल तक रहता है ?

[१३७५ उ.] गौतम ! अभाषक तीन प्रकार के कहे गये हैं (१) अनादि-अपर्यवसित, (२) अनादि-सपर्यवसित और (३) सादि-सपर्यवसित । उनमें से जो सादि-सपर्यवसित हैं, वे जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट वनस्पतिकालपर्यन्त (अभाषकरूप में रहते हैं) ।

— पन्द्रहवाँ द्वार ॥ १५ ॥

विवेचन पन्द्रहवाँ भाषकद्वार—प्रस्तुत दो सूत्रों (सू. १३७४-१३७५) में भाषक और अभाषक जीव के स्वपर्याय में अवस्थान का कालमान प्रतिपादित किया गया है ।

भाषक का कालमान—यहाँ भाषक का अवस्थानकाल निरन्तर जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक जो बताया गया है वह, वचनयोगी की अपेक्षा से समझना चाहिए ।[1]

अभाषक का कालमान—सादि-सान्त भाषक (जो भाषक होकर फिर अभाषक हो गया है, वह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक अभाषक पर्याय से युक्त रहता है, फिर कुछ काल तक कर भाषक बन जाता है और फिर अभाषक हो जाता है । अथवा द्वीन्द्रिय आदि भाषक जीव एकेन्द्रियादि अभाषकों में उत्पन्न होकर वहाँ अन्तर्मुहूर्त तक जीवित रह कर फिर द्वीन्द्रियादि भाषकरूप में उत्पन्न होता है । उस समय जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक अभाषक रहता है । उत्कृष्ट वनस्पतिकाल—अर्थात्—पूर्वोक्त अनन्तकाल तक लगातार अभाषक बना रहता है ।[2]

सोलहवाँ परीतद्वार

१३७६. परित्ते णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! परित्ते दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—कायपरित्ते य १ संसारपरित्ते य २ ।

[१३७६ प्र.] भगवन् ! परीत जीव कितने काल तक निरन्तर परीतपर्याय में रहता है ?

[१३७६ उ.] गौतम ! परीत दो प्रकार के हैं । यथा—(१) कायपरीत और (२) संसारपरीत ।

१३७७. कायपरित्ते णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुढविकालो असंखेज्जाओ उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीओ ।

[१३७७ प्र.] भगवन् ! कायपरीत कितने काल तक कायपरीतपर्याय में रहता है ?

[१३७७ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट पृथ्वीकाल तक, (अर्थात्—) असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों तक (कायपरीतपर्याय में निरन्तर बन रहता है) ।

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९४
२. वही मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९४

१३७८. संसारपरित्ते णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं ।

[१३७८ प्र.] भगवन् ! संसारपरीत जीव कितने काल तक संसारपरीतपर्याय में रहता है ?

[१३७८ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक, यावत् देशोन अपार्द्ध पुद्गल-परावर्त्त (संसारपरीतपर्याय में रहता है) ।

१३७९. अपरित्ते णं० पुच्छा ?

गोयमा ! अपरित्ते दुविहे पण्णत्ते । तं जहा कायअपरित्ते य १ संसारअपरित्ते य २ ।

[१३७९ प्र.] भगवन् ! अपरीत जीव कितने काल तक अपरीतपर्याय में रहता है ?

[१३७९ उ.] गौतम ! अपरीत दो प्रकार के हैं, वह इस प्रकार (१) काय-अपरीत और (२) संसार-अपरीत ।

१३८०. कायअपरित्ते णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो ।

[१३८० प्र.] भगवन् ! काय-अपरीत निरन्तर कितने काल तक काय-अपरीत-पर्याय से युक्त रहता है ।

[१३८० उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल तक (काय-अपरीत-पर्याय से युक्त रहता है) ।

१३८१. संसारअपरित्ते णं० पुच्छा ?

गोयमा ! संसारअपरित्ते दुविहे पण्णत्ते । तं जहा अणादीए वा अपज्जवसिए १ अणादीए वा सपज्जवसिए २ ।

[१३८१ प्र.] भगवन् ! संसार-अपरीत कितने काल तक संसार-अपरीत-पर्याय में रहता है ?

[१३८१ उ.] गौतम ! संसार-अपरीत दो प्रकार के हैं । यथा – (१) अनादि-अपर्यवसित और (२) अनादि-सपर्यवसित ।

१३८२. णोपरित्ते-णोअपरित्ते णं० पुच्छा ?

गोयमा ! सादीए अपज्जवसिए । बारं १६ ॥

[१३८२ प्र.] भगवन् ! नोपरीत-नोअपरीत कितने काल तक (लगातार) नोपरीत-नोअपरीत-पर्याय में रहता है ?

[१३८२ उ.] गौतम ! (वह) सादि-अपर्यवसित है । सोलहवाँ द्वार ॥१६॥

विवेचन—सोलहवाँ परीतद्वार—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. १३७६ से १३८२) में द्विविध परीत व द्विविध अपरीत और नोपरीत-नोअपरीत जीवों के स्व-स्वपर्याय में अवस्थानकाल की प्ररूपणा की गई है ।

कायपरीत का स्वपर्याय में निरन्तर अवस्थानकाल प्रत्येकशरीरी जीव कायपरीत कहलाता है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट पृथ्वीकाल—अर्थात्—असंख्यातकाल तक कायपरीत बना रहता है। यदि कोई जीव निगोद से निकल कर प्रत्येक-शरीररूप में उत्पन्न होता है, उस समय वह अन्तर्मुहूर्त तक जीवित रह कर फिर निगोद में उत्पन्न हो जाता है। उस समय वह अन्तर्मुहूर्त तक ही कायपरीत रहता है। अतएव यहाँ कायपरीत का जघन्य अवस्थानकाल अन्तर्मुहूर्त का कहा है। उत्कृष्टरूप से कायपरीत असंख्यातकाल तक कायपरीत-पर्याय में निरन्तर रहता है। यहाँ असंख्यातकाल पृथ्वीकाय की कालस्थिति के जितना समझना चाहिए। असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी जितना पृथ्वीकाल यहाँ असंख्यातकाल विवक्षित है। क्षेत्रतः—असंख्यात लोकप्रमाण है।

संसारपरीत का लक्षण—जिसने सम्यक्त्व प्राप्त करके अपने भवभ्रमण को परिमित कर लिया हो, वह संसारपरीत कहलाता है। उत्कृष्टतः अनन्तकाल व्यतीत होने पर संसारपरीत जीव अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

काय-अपरीत और संसार-अपरीत—अनन्तकायिक जीव काय-अपरीत कहलाता है तथा संसार-अपरीत वह है, जिसने सम्यक्त्व प्राप्त करके संसार को परिमित नहीं किया है। काय-अपरीत जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल (अनन्तकाल) तक निरन्तर काय-अपरीतपर्याय-युक्त रहता है। जब कोई जीव प्रत्येक शरीर से उद्वर्तन करके निगोद में उत्पन्न होता है और वहाँ अन्तर्मुहूर्त तक ठहर कर पुनः प्रत्येकशरीरी-पर्याय में उत्पन्न हो जाता है, उस समय जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त होता है। उत्कृष्ट वनस्पतिकाल जितना अनन्तकाल समझना चाहिए। उसके बाद अवश्य ही उद्वर्तना हो जाती है।

द्विविध संसारापरीत—(१) **अनादि-सान्त**—जिसके संसार का अन्त कभी न कभी हो जाएगा, वह अनादि-सान्त संसारापरीत कहलाता है। तथा (२) **अनादि-अनन्त**—जिसके संसार का कदापि विच्छेद नहीं होगा, वह अनादि-अनन्त संसार-अपरीत कहलाता है।

नोपरीत-नोअपरीत ऐसा जीव सिद्ध होता है। यह पर्याय सादि-अनन्त है।[1]

सत्तरहवाँ पर्याप्तद्वार

१३८३. पज्जत्तए णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं।

[१३८३ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त जीव कितने काल तक निरन्तर पर्याप्त-अवस्था में रहता है ?

[१३८३ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ अधिक शतसागरोपम-पृथक्त्व तक (निरन्तर पर्याप्त-अवस्था में रहता है)।

१३८४. अपज्जत्तए णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।

[१३८४ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त जीव, अपर्याप्त-अवस्था में निरन्तर कितने काल तक रहता है ?

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३६४

[१३८४ उ.] गौतम ! (वह) जघन्य भी और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त तक (अपर्याप्त-अवस्था में रहता है)।

१३८५. णोपज्जत्तए-णोअपज्जत्तए णं० पुच्छा ?

गोयमा ! सादीए अपज्जवसिए। बारं १७ ॥

[१३८५ प्र.] भगवन् ! नोपर्याप्त-नोअपर्याप्त जीव कितने काल तक नोपर्याप्त-नोअपर्याप्त-अवस्था में रहता है ?

[१३८५ उ.] गौतम ! (वह) सादि-अपर्यवसित है। सत्तरहवाँ द्वार ॥१७॥

विवेचन—सत्तरहवाँ पर्याप्तद्वार—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. १३८३ से १३८५ तक) में पर्याप्त, अपर्याप्त और नोपर्याप्त-नोअपर्याप्त जीवों के स्व-स्वपर्याय में निरन्तर अवस्थान का काल प्रतिपादित किया गया है।

तीनों के कालमान का विश्लेषण—(१) **पर्याप्त जीव** जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ अधिक सागरोपमशतपृथक्त्व तक लगातार पर्याप्त-पर्याय में रहता है, क्योंकि पर्याप्तलब्धि इतने समय तक ही रह सकती है। (२) **अपर्याप्त जीव** जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक लगातार अपर्याप्त रहता है, इसके पश्चात् अवश्य ही पर्याप्त हो जाता है। (३) **नोपर्याप्त-नोअपर्याप्त जीव** सिद्ध ही होता है और सिद्धत्व पर्याय सादि-अनन्त है।[1]

अठारहवाँ सूक्ष्मद्वार

१३८६. सुहुमे णं भंते ! सुहुमे त्ति० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुढविकालो।

[१३८६ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्म जीव कितने काल तक सूक्ष्म-पर्यायवाला लगातार रहता है ?

[१३८६ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट पृथ्वीकाल तक (वह सूक्ष्म-पर्याय में रहता है)।

१३८७. बादरे णं० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं जाव (सु. १३६५) खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जइभागं।

[१३८७ प्र.] भगवन् ! बादर जीव कितने काल तक (लगातार) बादर-पर्याय में रहता है ?

[१३८७ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट असंख्यातकाल (सू. १३६५ में उक्त कालतः असंख्यात उत्सर्पिणी—अवसर्पिणीकाल) यावत् क्षेत्रतः अंगुल के असंख्यातवें भाग-प्रमाण रहता है।

१३८८. णोसुहुमणोबादरे णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! सादीए अपज्जवसिए। बारं १८ ॥

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९५

[१३८८ प्र.] भगवन् ! नोसूक्ष्म-नोबादर कितने काल तक पूर्वोक्त पर्याय से युक्त रहता है ?

[१३८८ उ.] गौतम ! यह पर्याय सादि-अपर्यवसित है। अठारहवाँ द्वार ॥१८॥

विवेचन—अठारहवाँ सूक्ष्मद्वार—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. १३८६ से १३८८ तक) में सूक्ष्म, बादर, नोसूक्ष्म-नोबादर के जघन्य और उत्कृष्ट अवस्थानकाल का निरूपण किया गया है।

सूक्ष्म जीव का अवस्थानकाल—सूक्ष्म-जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असंख्यातकाल तक सूक्ष्मपर्याययुक्त रहता है। वह असंख्यातकाल पृथ्वीकायिक जीव की कायस्थिति के काल जितना समझना चाहिए।

नोसूक्ष्म-नोबादर जीव—सिद्ध हैं और सिद्धपर्याय सदाकाल रहती है।[1]

उन्नीसवाँ संज्ञीद्वार

१३८९. सण्णी णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण साइरेगं सागरोवमसयपुहत्तं साइरेगं।

[१३८९ प्र.] भगवन् ! संज्ञी जीव कितने काल तक संज्ञीपर्याय में लगातार रहता है ?

[१३८९ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ अधिक शतसागरोपमपृथक्त्वकाल तक (निरन्तर संज्ञीपर्याय में रहता है)।

१३९०. असण्णी णं भंते ! ० पुच्छा ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो।

[१३९० प्र.] भगवन् ! असंज्ञी जीव असंज्ञी पर्याय में कितने काल तक रहता है ?

[१३९० उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल तक (असंज्ञी जीव-असंज्ञीपर्याय में निरन्तर रहता है)।

१३९१. णोसण्णीणोअसण्णी णं पुच्छा ?

गोयमा ! सादीए अपज्जवसिए। दारं १९॥

[१३९१ प्र.] भगवन् ! नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीव कितने काल तक नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी रहता है ?

[१३९१ उ.] गौतम ! (वह) सादि-अपर्यवसित है। उन्नीसवाँ द्वार ॥१९॥

विवेचन—उन्नीसवाँ संज्ञीद्वार—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. १३८९ से १३९१ तक) में संज्ञी, असंज्ञी और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीवों के स्व-स्वपर्याय में निरन्तर अवस्थान का कालमान बताया गया है।

संज्ञी-पर्याय की कालावस्थिति—जघन्य अन्तर्मुहूर्त अर्थात् जब कोई जीव असंज्ञीपर्याय से निकलकर संज्ञीपर्याय में उत्पन्न होता है और उस पर्याय में अन्तर्मुहूर्त तक जीवित रह कर पुनः असंज्ञी-पर्याय में उत्पन्न हो जाता है, तब वह अन्तर्मुहूर्त तक ही संज्ञी-अवस्था में रहता है और उत्कृष्ट कुछ अधिक शतसागरोपमपृथक्त्व काल तक संज्ञीजीव निरंतर संज्ञी रहता है।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९५

असंज्ञीपर्याय की कालावस्थिति—जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाल तक असंज्ञीजीव निरन्तर असंज्ञीपर्याययुक्त रहता है। जब कोई जीव संज्ञियों में से निकल कर असंज्ञीपर्याय में जन्म लेता है, वहाँ अन्तर्मुहूर्त रहकर पुनः संज्ञीपर्याय में उत्पन्न हो जाता है। उस समय यह अन्तर्मुहूर्त तक ही असंज्ञीपर्याय से युक्त रहता है।

नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी का अवस्थानकाल नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीव केवली है और केवली का काल सादि-अपर्यवसित है।[1]

बीसवाँ भवसिद्धिद्वार

१३९२. भवसिद्धिए णं भंते ! ० पुच्छा।

गोयमा। अणादीए सपज्जवसिए।

[१३९२. भगवन् ! भवसिद्धिक (भव्य) जीव निरन्तर कितने काल तक भवसिद्धिक-पर्याययुक्त रहता है ?

[१३९२ उ.] गौतम ! (वह) अनादि-सपर्यवसित है।

१३९३. अभवसिद्धिए णं भंते ० पुच्छा।

गोयमा ! अणादीए अपज्जवसिए।

[१३९३ प्र.] भगवन् ! अभवसिद्धिक (अभव्य) जीव लगातार कितने काल तक अभवसिद्धिक-पर्याय से युक्त रहता है ?

[१३९३ उ.] गौतम ! (वह) अनादि-अपर्यवसित है।

१३९४. णोभवसिद्धियणोअभवसिद्धिए णं ० पुच्छा।

गोयमा ! सादीए अपज्जवसिए। बारं २० ॥

[१३९४ प्र.] भगवन् ! नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक जीव कितने काल तक लगातार नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक-अवस्था में रहता है ?

[१३९४ उ.] गौतम ! (वह) सादि-अपर्यवसित है। —बीसवाँ द्वार ॥२०॥

विवेचन—बीसवाँ भवसिद्धिकद्वार—प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. १३९२ से १३९४ तक) में भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक और नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक जीवों के अवस्थान का कालमान प्ररूपित किया गया है।

भवसिद्धिक का कालमान—भवसिद्धिक (भव्य) अनादि-सपर्यवसित (सान्त) है। भव्यत्व भाव पारिणामिक है, इसलिए वह अनादि है, किन्तु मुक्ति प्राप्त होने पर उसका सद्भाव नहीं रहता, इसलिए सपर्यवसित है।

अभवसिद्धिक का कालमान—यह भी पारिणामिक भाव होने से अनादि है और उसका (अभव्यत्व का) कभी अन्त नहीं होता। इसलिए अनन्त है।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९५

नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक का कालमान--ऐसा जीव सिद्ध ही होता है, इसलिए-अपर्यवसित होता है।[1]

इक्कीसवाँ अस्तिकायद्वार

१३९५. धम्मत्थिकाए णं० पुच्छा।

गोयमा! सव्वद्धं।

[१३९५ प्र.] भगवन्! धर्मास्तिकाय कितने काल तक लगातार धर्मास्तिकायरूप में रहता है?

[१३९५ उ.] गौतम! वह सर्वकाल रहता है।

१३९६. एवं जाव अद्धासमए। दारं २१॥

[१३९६] इसी प्रकार यावत् (अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और) अद्धासमय (कालद्रव्य) के अवस्थानकाल के लिये भी समझना चाहिए।

—इक्कीसवाँ द्वार॥ २१॥

विवेचन—इक्कीसवाँ अस्तिकायद्वार—प्रस्तुत दो सूत्रों (१३९५-१३९६) के धर्मास्तिकायादि ६ द्रव्यों के स्व-स्वरूप में अवस्थानकाल की चर्चा की गई है।

धर्मास्तिकायादि षट् द्रव्यों का अवस्थानकाल—धर्मास्तिकाय आदि छहों द्रव्य अनादि-अनन्त हैं। ये सदैव अपने स्वरूप में अवस्थित रहते हैं।[2]

बाईसवाँ चरमद्वार

१३९७. चरिमे णं० पुच्छा।

गोयमा! अणादीए सपज्जवसिए।

[१३९७ प्र.] भगवन् चरमजीव कितने काल तक चरमपर्याय वाला रहता है?

[१३९७ उ.] गौतम! (वह) अनादि-सपर्यवसित होता है।

१३९८. अचरिमे णं० पुच्छा।

गोयमा! अचरिमे दुविहे पण्णत्ते तं जहा—अणादीए वा अपज्जवसिए १ सादीए वा अपज्जवसिए २। दारं २२॥

॥ पण्णवणाए भगवतीए अट्ठारसमं कायट्ठिइपयं समत्तं॥

[१३९८ प्र.] भगवन्! अचरमजीव कितने काल तक अचरमपर्याय-युक्त रहता है?

[१३९८ उ.] गौतम अचरम दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—(१) अनादि-अपर्यवसित और (२) सादि-अपर्यवसित।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९५

२. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९५

विवेचन—बाईसवां चरम-अचरम द्वार—प्रस्तुत दो सूत्रों (१३९७-१३९८) में चरमजीव के स्व-स्वपर्याय में निरन्तर अवस्थान का कालमान प्ररूपित किया गया है।

चरम-अचरम की परिभाषा—जिसका भव चरम अर्थात् अन्तिम होगा, वह 'चरम' कहलाता है। चरम का सरल अर्थ है—भव्यजीव। जो चरम से भिन्न हो, वह **'अचरम'** है। अभव्य जीव अचरम कहलाता है, क्योंकि उसका कदापि चरम भव नहीं होगा। वह सदाकाल जन्ममरण करता ही रहेगा। एक दृष्टि से सिद्ध जीव भी अचरम हैं, क्योंकि उनमें भी चरमत्व नहीं होता। इसी कारण अचरम के दो प्रकार बताये गए हैं—(१) अनादि-अनन्त और (२) सादि-अनन्त। इनमें से अनादि-अनन्त (अपर्यवसित) जीव अभव्य हैं और सादि-अपर्यवसित जीव सिद्ध हैं।[1]

॥ प्रज्ञापनासूत्र : अठारहवां कायस्थितिपद समाप्त ॥

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९५

एगूणतीसइमं सम्मत्तपयं

उन्नीसवाँ सम्यक्त्वपद

प्राथमिक

- प्रज्ञापनासूत्र का यह उन्नीसवाँ 'सम्यक्त्वपद' है।
- मोक्षमार्ग और संसारमार्ग, ये दो मार्ग हैं, जीव की उन्नति और अवनति के लिए। जब जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है तो वह मोक्षमार्ग की सम्यक् आराधना करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जब तक वह मिथ्यादृष्टि रहता है, तब तक उसकी प्रवृत्ति संसारमार्ग की ओर ही होती है। उसकी व्रताचरण, तपश्चर्या, नियम, त्याग-प्रत्याख्यान आदि जितनी भी धार्मिक क्रियाएँ होती हैं वे अशुद्ध होती हैं, उसका पराक्रम अशुद्ध होता है, उससे संसारवृद्धि ही होती है। कर्मक्षय करके मोक्ष उपलब्धि वह नहीं कर सकता। इसी आशय से शास्त्रकार प्रस्तुत पद में तीनों दृष्टियों की चर्चा करते हैं।[1]
- जिनेन्द्र-प्रज्ञप्त जीवादि समग्र तत्त्वों के विषय में जिसकी दृष्टि अविपरीत-सम्यक् हो, वह **सम्यग्दृष्टि**, जिन-प्रज्ञप्त तत्त्वों के विषय में जिसे जरा-सी भी विप्रतिपत्ति (अन्यथाभाव या अश्रद्धा) हो, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है तथा जिसे उस विषय में सम्यक् श्रद्धा भी न हो, और विप्रतिपत्ति भी न हो, वह **सम्यग्मिथ्यादृष्टि** है। जैसे चावल आदि के विषय में अनजान मनुष्य को उनमें रुचि या अरुचि, दोनों में से एक भी नहीं होती, वैसे ही सम्यग्मिथ्यादृष्टि को जिन-प्रज्ञप्त तत्त्वों (पदार्थों) के विषय में रुचि भी नहीं होती, अरुचि भी नहीं होती।[2]
- इस पद में जीवसामान्य, सिद्धजीव और चौवीसदण्डकवर्ती जीवों में सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि की विचारणा की गई है।
- इसमें बताया गया है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि केवल पंचेन्द्रिय ही होते हैं। एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। सिद्ध जीव एकान्त सम्यग्दृष्टि होते हैं। द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते। षट्खण्डागम में संज्ञी और असंज्ञी, ऐसे दो भेदों में पंचेन्द्रिय को विभक्त करके असंज्ञीपंचेन्द्रिय को मिथ्यादृष्टि ही कहा है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक होते हैं।
- षट्खण्डागम में बताया गया है कि जीव किन-किन कारणों से सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तथा अन्तिम समय में सम्यक्त्वी की मनःस्थिति कैसी होती है? □□

---

१. (क) नादंसणिस्स नाणं॰ —उत्तरा. अ. गा. (ख) असुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफला होइ सव्वसो। —सूत्र कृ.

२. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति. पत्रांक ३८८

३. (क) पण्णवणासुत्तं भा १, पृ. ३१८ (ख) पण्णवणासुत्तं भा. २, प्रस्तावना पृ. १०१
(ग) षट्खण्डागम. पु. १, पृ. २५८, २६१, पुस्तक ६, पृ. ४१८-४३७

एगूणवीसइमं सम्मत्तपयं

उन्नीसवाँ सम्यक्त्वपद

समुच्चय जीवों के विषय में दृष्टि की प्ररूपणा

१३९९. जीवा णं भंते ! किं सम्मद्दिट्ठी मिच्छद्दिट्ठी सम्मामिच्छद्दिट्ठी ?

गोयमा ! जीवा सम्मद्दिट्ठी वि मिच्छद्दिट्ठी वि सम्मामिच्छद्दिट्ठी वि ।

[१३९९ प्र.] भगवन् ! जीव सम्यग्दृष्टि हैं, मिथ्यादृष्टि हैं अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं ?

[१३९९ उ.] गौतम ! जीव सम्यग्दृष्टि भी हैं, मिथ्यादृष्टि भी हैं और सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी हैं ।

विवेचन—समुच्चय जीवों के विषय में दृष्टि की प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि समुच्चय जीवों में सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि, ये तीनों ही दृष्टियाँ पाई जाती हैं ।

चौवीस दण्डकवर्ती जीवों और सिद्धों में सम्यक्त्वप्ररूपणा

१४००. एवं णेरइया वि ।

[१४००] इसी प्रकार नैरयिक जीवों में भी तीनों दृष्टियाँ होती हैं ।

१४०१. असुरकुमारा वि एवं चेव जाव थणियकुमारा ।

[१४०१] असुरकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों तक (के भवनवासी देव) भी इसी प्रकार (सम्यग्दृष्टि भी, मिथ्यादृष्टि भी और सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी होते हैं) ।

१४०२. पुढविक्काइयाणं पुच्छा ।

गोयमा ! पुढविक्काइया णो सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी, णो सम्मामिच्छद्दिट्ठी । एवं जाव वणस्सइकाइया ।

[१४०२ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं, मिथ्यादृष्टि होते हैं या सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं ? यह प्रश्न है ।

[१४०२ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होते, वे मिथ्यादृष्टि होते हैं, सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते । इसी प्रकार यावत् (अप्कायिकों, तेजस्कायिकों, वायुकायिकों एवं) वनस्पतिकायिकों के सम्यक्त्व की प्ररूपणा समझ लेनी चाहिए ।

१४०३. बेइंदियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! बेइंदिया सम्मद्दिट्ठी वि, मिच्छद्दिट्ठी वि, णो सम्मामिच्छद्दिट्ठी । एवं जाव चउरिंदिया ।

[१४०३ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं, मिथ्यादृष्टि होते हैं, अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं ?

[१४०३ उ.] गौतम ! द्वीन्द्रिय जीव सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, मिथ्यादृष्टि भी होते हैं किन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते। इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों तक (प्ररूपणा करना चाहिए)।

१४०४. पंचेंदियतिरिक्खजोणिय मणुस्सा वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया य सम्मद्दिट्ठी वि, मिच्छद्दिट्ठी वि, सम्मामिच्छद्दिट्ठी वि।

[१४०४.] पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक, मनुष्य, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, मिथ्यादृष्टि भी होते हैं और मिश्र (सम्यग्मिथ्या) दृष्टि भी होते हैं।

१४०५. सिद्धाणं पुच्छा।

गोयमा ! सिद्धा णं सम्मद्दिट्ठी, णो मिच्छद्दिट्ठी णो सम्मामिच्छद्दिट्ठी।

॥ पण्णवणाए भगवतीए एगूणवीसइमं सम्मत्तपयं समत्तं ॥

[१४०५ प्र.] भगवन् ! सिद्ध (मुक्त) जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं, मिथ्यादृष्टि होते हैं या सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं ?

[१४०५ उ.] गौतम ! सिद्ध जीव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, वे न तो मिथ्यादृष्टि होते हैं और न सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं।

विवेचन—चौबीस दण्डकवर्ती जीवों और सिद्धों में सम्यक्त्व की प्ररूपणा—प्रस्तुत छह सूत्रों में नैरयिकों से लेकर वैमानिक देवों तक तथा सिद्धजीव सम्यग्दृष्टि होते हैं, मिथ्यादृष्टि होते हैं या मिश्र-दृष्टि ? इसका विचार किया गया है।

निष्कर्ष—समुच्चय जीव, नैरयिक, भवनवासी देव, तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय, मनुष्य, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में तीनों ही दृष्टियाँ पाई जाती हैं। विकलेन्द्रिय सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते, सिद्धजीव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि ही होते हैं।

एक ही जीव में एक साथ तीनों दृष्टियाँ नहीं होतीं—जिन जीवों में तीनों दृष्टियाँ बताई हैं, वे एक जीव में एक साथ एक समय में नहीं होतीं, परस्पर विरोधी होने के कारण एक जीव में, एक समय में एक ही दृष्टि हो सकती है। अभिप्राय यह है कि जैसे कोई जीव सम्यग्दृष्टि होता है, कोई मिथ्यादृष्टि और कोई सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है, उसी प्रकार कोई नारक, देव, मनुष्य या पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च सम्यग्दृष्टि होता है, तो कोई मिथ्यादृष्टि होता है, तथैव कोई सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है। एक समय में एक जीव में एक ही दृष्टि होती है, तीनों दृष्टियाँ नहीं।[1]

॥ प्रज्ञापनासूत्र : उन्नीसवाँ सम्यक्त्वपद समाप्त ॥

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९३

वीसइमं : अंतकिरियापयं

वीसवाँ : अन्तक्रियापद

प्राथमिक

- यह प्रज्ञापनासूत्र का बीसवाँ अन्तक्रियापद है।
- इस पद में विविध पहलुओं से अन्तक्रिया और उससे होने वाली विशिष्ट उपलब्धियों के विषय में गूढ़ विचारणा की गई है।
- भारत का प्रत्येक आस्तिक धर्म और दर्शन या मत-पंथ पुनर्जन्म एवं मोक्ष मानता है और अगला जन्म अच्छा मिले या जन्म-मरण से सर्वथा छुटकारा मिले, इसके लिए विविध साधनाएँ, तप, संयम, त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत, नियम आदि का निर्देश करता है। प्राणी का जन्म लेना जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक उसके जीवन का अन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अन्तक्रियापद में इसी का विचार किया गया है, ताकि प्रत्येक मुमुक्षु साधक यह जान सके कि किसकी अन्तक्रिया अच्छी और बुरी होती है और क्यों ?
- अन्तक्रिया का अर्थ है—भव (जन्म) का अन्त करने वाली क्रिया। इस क्रिया से दो परिणाम आते हैं—या तो नया भव (जन्म) मिलता है, अथवा मनुष्यभव का सर्वथा अन्त करके जन्म-मरण से सर्वथा मुक्त हो जाता है। अतः अन्तक्रिया शब्द यहाँ दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है[1]—(१) मोक्ष, (२) इस भव के शरीरादि से छुटकारा मरण।
- इस अन्तक्रिया का विचार प्रस्तुत पद में चौबीस दण्डकवर्ती जीवों में दस द्वारों द्वारा किया गया है—(१) अन्तक्रियाद्वार, (२) अनन्तद्वार, (३) एकसमयद्वार, (४) उद्वृत्तद्वार, (५) तीर्थंकर-द्वार, (६) चक्रीद्वार, (७) बलदेवद्वार, (८) वासुदेवद्वार, (९) माण्डलिकद्वार और (१०) रत्नद्वार। प्रस्तुतपद के उपसंहार में बतलाया गया है, कौन-सा आराधक या विराधक मर कर कौन-कौन से देवों में उत्पन्न होता है ? अन्त में अन्तक्रिया से सम्बन्धित असंज्ञी (अकामनिर्जरा-युक्त जीव) के आयुष्यबन्ध की और उसके अल्पबहुत्व की चर्चा है।
- **प्रथम अन्तक्रियाद्वार** में यह विचारणा की गई है कि कौन जीव अन्तक्रिया (मोक्षप्राप्ति) कर लेता है, कौन नहीं ? एकमात्र मनुष्य ही इस प्रकार की अन्तक्रिया का अधिकारी है। जीव के नारक आदि अनेक पर्याय होते हैं। अतः नारकपर्याय में रहा हुआ जीव मनुष्यभव में आकर

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्र ३९७

तथाविधयोग्यता प्राप्त करके अन्तक्रिया (मोक्षप्राप्ति) कर सकता है, इसलिए कहा जाता है कि कोई नारक मुक्त हो सकता है, कोई नहीं।[1]

✣ **द्वितीय अनन्तरद्वार**—में यह विचारणा की गई है कि नारकादि जीव अनन्तरागत अन्तक्रिया करते हैं या परम्परागत अन्तक्रिया करते हैं? अर्थात् कोई जीव नारकादि भव में से मर कर व्यवधान विना ही मनुष्यभव में आकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है, अथवा [2]नारकादि भव के पश्चात् एक या अनेक भव करके फिर मनुष्यभव में आकर मुक्ति प्राप्त करता है? इसका उत्तर यह है कि प्रारम्भ के चार नरकों में से आने वाला नारक अनन्तरागत और परम्परागत दोनों प्रकार से अन्तक्रिया कर सकता है। परन्तु बाद के तीन नारकों में से आने वाला नारक परम्परा से ही अन्तक्रिया कर पाता है, अर्थात्--नरक के बाद एक या अनेक भव करके फिर मनुष्यभव में आकर तथाविध साधना करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। भवनपति एवं पृथ्वी-अप्-वनस्पतिकाय में से आने वाले जीव दोनों प्रकार से अन्तक्रिया कर सकते हैं। तेजस्कायिक, वायुकायिक एवं विकलेन्द्रिय जीव परम्परागत ही अन्तक्रिया कर सकते हैं।

✣ **तृतीय एकसमयद्वार**--में अनन्तरागत अन्तक्रिया कर सकने वाले नारकादि एक समय में जघन्य और उत्कृष्ट कितनी संख्या में अन्तक्रिया करते हैं? इसकी प्ररूपणा की गई है।

✣ **चतुर्थ उद्वृत्तद्वार**—में यह बताया गया है कि नैरयिक आदि चौवीस दण्डकवर्ती जीव मर कर सीधा (विना व्यवधान के) चौवीस दण्डकों में से कहाँ उत्पन्न हो सकता है? यद्यपि यहाँ उद्वृत्त शब्द समस्त गतियों में होने वाले मरण के लिए प्रयुक्त है, परन्तु षट्खण्डागम में उसके बदले उद्वृत्त, कालगत और च्युत शब्दों का प्रयोग किया गया है।[3] सामान्यतया जैनागमों में वैमानिक तथा ज्योतिष्क देवों के अन्यत्र जाने के लिए च्युत, मनुष्यों के लिए कालगत और नारक, भवनवासी और वाणव्यन्तर के लिए उद्वृत्त शब्द-प्रयोग दिखाई देता है।

इसके साथ ही इस द्वार में मर कर उस-उस स्थान में जाने के बाद जीव क्रमशः धर्मश्रवण, बोध, श्रद्धा, मतिश्रुतज्ञान, व्रतग्रहण, अवधिज्ञान, अनगारत्व, मनःपर्यायज्ञान, केवलज्ञान और अन्तक्रिया (सिद्धि), इन में से क्या-क्या प्राप्त हो सकते हैं? इसकी चर्चा है।

✣ **पंचम तीर्थंकरद्वार**--में यह निर्देश किया है कि नारकादि मर कर सीधे मनुष्यभव में आकर तीर्थंकर पद प्राप्त कर सकता है, या नहीं? साथ ही यह भी बताया गया है कि अगर तीर्थंकर-पद नहीं प्राप्त कर सकता है तो विकास क्रम में--अन्तक्रिया, विरति, विरताविरति, सम्यक्त्व, मोक्ष, धर्मश्रवण, मनःपर्यायज्ञान, इनमें से क्या प्राप्त कर सकता है?

✣ **छठे से दसवें द्वार तक**—में क्रमशः चक्रवर्तीपद, बलदेवपद, वासुदेवपद, माण्डलिकपद एवं

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्र ३९७
२. वही, पत्र ३९७
३. षट्खण्डागम पुस्तक ६, पृ. ४७७

चक्रवर्ती के १४ रत्नों में से कोई भी एक रत्न, नारकी आदि सीधे कौन प्राप्त कर सकता है ? यह बताया गया है ।[1]

- अन्त में असंयम भव्यद्रव्यदेव, संयम-अविराधक, संयम-विराधक, संयमासंयम-अविराधक, संयमासंयम-विराधक, असंज्ञी (अकामनिर्जरायुक्त) तापस, कान्दर्पिक, चरक-परिव्राजक, किल्विषिक, तैरश्चिक, आजीवक, आभियोगिक, स्वलिंगी एवं दर्शनभ्रष्ट, इनमें से किसकी किन देवों में उत्पत्ति होती है, यह बताया गया है ।[2]

१. पण्णवणासुत्तं भा. १, पृ. ३२७
२. पण्णवणासुत्तं भा. २, पृ. १६५-१६६

वीसइमं : अंतकिरियापयं

बीसवाँ : अन्तक्रियापद

अर्थाधिकार

१४०६. णेरइय अंतकिरिया १ अणंतरं २ एगसमय ३ उव्वट्टा ४ ।
तित्थगर ५ चक्कि ६ बल ७ वासुदेव ८ मंडलिय ९ रयणा य १० ॥ २१३ ॥ दारगाहा ॥

द्वारगाथार्थ अन्तक्रियासम्बन्धी १० द्वार (१) नैरयिकों की अन्तक्रिया, (२) अनन्तरागत जीव-अन्तक्रिया, ((३) एक समय में अन्तक्रिया, (४) उद्वृत्त जीवों की उत्पत्ति, (५) तीर्थंकर द्वार, (६) चक्रवर्तीद्वार, (७) बलदेवद्वार, (८) वासुदेवद्वार, (९) माण्डलिकद्वार और (१०) (चक्रवर्ती के सेनापति आदि) रत्नद्वार ।

यह द्वार-गाथा है ॥२१३॥

विवेचन—बीसवें पद में अन्तक्रिया आदि से सम्बन्धित दस द्वारों का निरूपण किया गया है । वे इस प्रकार हैं—

(१) **अन्तक्रियाद्वार**—इसमें नारक आदि चौवीस दण्डकों की अन्तक्रिया-सम्बन्धी प्ररूपणा है ।

(२) **अनन्तरद्वार**—इसमें अनन्तरागत एवं परम्परागत जीव की अन्तक्रिया से सम्बन्धित निरूपण है ।

(३) **एकसमयद्वार**—इसमें एक समय के जीवों की अन्तक्रिया से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर हैं ।

(४) **उद्वृत्तद्वार**—इसमें नैरयिकों से उद्वृत्त होकर नैरयिक आदि में उत्पन्न होने तथा पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के धर्मश्रवण, केवलज्ञानादि तथा शील, व्रत, गुणव्रत प्रत्याख्यान एवं पौषधोपवास आदि के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर हैं ।

(५) **तीर्थंकरद्वार** नैरयिकों से लेकर सर्वार्थसिद्ध देवों से उद्वृत जीवों को तीर्थंकरत्व प्राप्त होने के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर हैं ।

(६) **चक्रिद्वार**—इसमें चौवीस दण्डकों से उद्वृत्त जीवों को चक्रवर्तित्व प्राप्त होने के सम्बन्ध में चर्चा है ।

(७) **बलदेवद्वार**—इसमें बलदेवत्वप्राप्ति सम्बन्धी चर्चा है ।

(८) **वासुदेवद्वार** इसमें वासुदेवत्वप्राप्ति सम्बन्धी चर्चा है ।

(९) **माण्डलिकद्वार**—इसमें माण्डलिकत्वप्राप्ति सम्बन्धी चर्चा है ।

(१०) **रत्नद्वार**- इसमें सेनापतिरत्न आदि चक्रवर्ती के रत्नों की प्राप्ति से सम्बन्धित निरूपण है।[1]

अन्तक्रिया : दो अर्थों में—प्रस्तुत पद में अन्तक्रिया शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है (१) कर्मों या भव के अन्त (क्षय) करने की क्रिया और (२) अन्त अर्थात्—अवसान (मरण) की क्रिया। वैसे तो जैनागमों में अन्तक्रिया समस्त कर्मों (या भव) के अन्त करने के अर्थ में रूढ़ है, तथापि भव का अन्त करने की क्रिया से दो परिणाम आते हैं—या तो मोक्ष प्राप्त होता है, या मरण होता है—उस भव के शरीर से छुटकारा मिलता है। इसलिए यहाँ अन्तक्रिया शब्द इन दोनों (मोक्ष और मरण) अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। प्रस्तुत पद में इसी अन्तक्रिया का विचार चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में दस द्वारों के माध्यम से किया गया है।

इन दस द्वारों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रथम के तीन द्वारों में अन्तक्रिया—अर्थात्—मोक्ष की चर्चा है और बाद के द्वारों का सम्बन्ध भी अन्तक्रिया के साथ है, किन्तु वहाँ अन्तक्रिया का अर्थ मृत्यु करें तभी संगति बैठ सकती है। इसके अतिरिक्त इन द्वारों में अन्तक्रिया का अर्थ—मोक्ष भी घटित हो सकता है, क्योंकि उन द्वारों में उन-उन योनियों में उद्वर्त्तना आदि करने वालों को मोक्ष संभव है या नहीं? ऐसा प्रश्न भी प्रस्तुत किया गया है।[2]

प्रथम : अन्तक्रियाद्वार

१४०७. [१] जीवे णं भंते ! अंतकिरियं करेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए करेज्जा, अत्थेगइए णो करेज्जा ?

[१४०७-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीव अन्तक्रिया करता है।

[उ.] हाँ गौतम ! कोई जीव (अन्तक्रिया) करता है (और) कोई जीव नहीं करता है।

[२] एवं णेरइए जाव वेमाणिए।

[१४०७-२] इसी प्रकार नैरयिक से लेकर वैमानिक तक की अन्तक्रिया के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र के प्रथम अंश में समुच्चय जीवों की अन्तक्रिया के सम्बन्ध में चर्चा की गई है, जबकि द्वितीय अंश में नैरयिक से वैमानिक तक चौवीस दण्डकवर्ती जीवों की अन्तक्रिया के विषय में चर्चा है।

अन्तक्रिया-प्राप्ति-अप्राप्ति का रहस्य—जो जीव तथाविध भव्यत्व के परिपाकवश मनुष्यत्व आदि समग्र सामग्री प्राप्त कर के उस सामग्री के बल से प्रकट होने वाले अतिप्रबल वीर्य के उल्लास से क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर केवलज्ञान प्राप्त करके केवल घातिकर्मों का ही नहीं, अघातिकर्मों

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९६-३९७

२. (क) अन्तक्रियामिति—अन्तः-अवसानं, तच्च प्रस्तावादिह कर्मणामवसातव्यम्, तस्य क्रिया—करणमन्तक्रिया—कर्मान्तकरण मोक्ष इति भावार्थः। —प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्र ३९७

(ख) पण्णवणासुत्तं (परिशिष्ट-प्रस्तावनात्मक) भा. २, पृ. ११२

का भी क्षय कर देता है, वही अन्तक्रिया करता है, अर्थात् समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है। इससे विपरीत प्रकार का जीव अन्तक्रिया (मोक्ष) प्राप्त नहीं कर पाता। इसी रहस्य के अनुसार समस्त जीवों की अन्तक्रिया की प्राप्ति-अप्राप्ति समझ लेनी चाहिए।[1]

१४०८. [१] णेरइए णं भंते ! णेरइएसु अंतकिरियं करेज्जा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१४०८-१ प्र.] भगवन् ! क्या नारक, नारकों (नरकगति) में रहता हुआ अन्तक्रिया करता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है।

[२] णेरइए णं भंते ! असुरकुमारेसु अंतकिरियं करेज्जा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१४०८-२ प्र.] भगवन् ! क्या नारक, असुरकुमारों में अन्तक्रिया करता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[३] एवं जाव वेमाणिएसु, णवरं मणूसेसु अंतकिरियं करेज्ज वि पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगइए करेज्जा, अत्थेगइए णो करेज्जा।

[१४०८-३] इसी प्रकार नारक की वैमानिकों तक में (अन्तक्रिया की असमर्थता समझ लेनी चाहिए)। [प्र.] विशेष प्रश्न (यह है कि) नारक क्या मनुष्यों में (आकर) अन्तक्रिया करता है ?

[उ.] गौतम ! कोई नारक (अन्तक्रिया) करता है और कोई नहीं करता।

१४०९. एवं असुरकुमारे जाव वेमाणिए। एवमेते चउवीसं चउवीसदंडगा ५७६ भवंति। बारं १॥

[१४०९] इसी प्रकार असुरकुमार से लेकर वैमानिक तक के विषय में भी समझ लेना चाहिए। इसी तरह चौवीस दण्डकों (में से प्रत्येक) का चौवीस दण्डकों में (अन्तक्रिया का निरूपण करना चाहिए।) (वे सब मिला कर २४ × २४ =) ५७६ (प्रश्नोत्तर) हो जाते हैं।

॥ प्रथम द्वार ॥१॥

विवेचन - नारक की नारकादि में अन्तक्रिया की असमर्थता का कारण - नारक जीव नारक पर्याय में रहते हुए अन्तक्रिया इसलिए नहीं कर सकते कि समस्त कर्मों का क्षय (मोक्ष) तभी होता है, जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये तीनों मिलकर प्रकर्ष को प्राप्त हों। नैरयिक-पर्याय से सम्यग्दर्शन का प्रकर्ष कदाचित् क्षायिक-सम्यग्दृष्टि जीव में हो भी जाए, किन्तु सम्यग्ज्ञान के प्रकर्ष की योग्यता और सम्यक्चारित्र के परिणाम नारकपर्याय में उत्पन्न हो नहीं सकते, क्योंकि नारक भव का ऐसा ही स्वभाव है।

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्र ३९७

इसी प्रकार नारकजीव, असुरकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों में, पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रियों में, विकलेन्द्रियों में, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों में, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवों में रहता हुआ अन्तक्रिया नहीं कर सकता। इसका भी कारण वही भवस्वभाव है।[1]

मनुष्यों में नारकादि के जीवों की अन्तक्रिया—मनुष्य पर्याय से आया हुआ कोई नारक, जिसे मनुष्यत्व आदि की परिपूर्ण सामग्री प्राप्त हो गई हो, वह पूर्वोक्त प्रकार से क्रमशः समस्त कर्म क्षय करके अन्तक्रिया करता है और कोई नारक, जिसे परिपूर्ण सामग्री प्राप्त नहीं होती, वह अन्तक्रिया नहीं कर पाता।

इसी प्रकार मनुष्यों में आया हुआ कोई-कोई असुरकुमार आदि (असुरकुमार से लेकर वैमानिक देव तक) का जीव, जिसे परिपूर्ण सामग्री प्राप्त हो जाती है, वह अन्तक्रिया कर लेता है और जिसे परिपूर्ण सामग्री नहीं मिलती, वह अन्तक्रिया नहीं कर पाता।[2]

प्रत्येक दण्डकवर्ती जीव की चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में अन्तक्रिया—नारक आदि प्रत्येक दण्डक का जीव, नारक आदि चौवीस दण्डकों में से प्रत्येक दण्डक में रहते हुए अन्तक्रिया कर सकता है या नहीं ? इस प्रकार के कुल २४×२४=५७६ प्रश्नोत्तर विकल्प हो जाते हैं।[3]

द्वितीय : अनन्तरद्वार

१४१०. [१] णेरइया णं भंते ! किं अणंतरागता अंतकिरियं करेंति परंपरागता अंतकिरियं करेंति ?

गोयमा ! अणंतरागता वि अंतकिरियं करेंति, परंपरागता वि अंतकिरियं करेंति।

[१४१०-१ प्र.] भगवन् ! नारक (जीव) क्या अनन्तरागत अन्तक्रिया करते हैं, अथवा परम्परागत अन्तक्रिया करते हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) अनन्तरागत भी अन्तक्रिया करते हैं और परम्परागत भी अन्तक्रिया करते हैं।

[२] एवं रयणप्पभापुढविणेरइया वि जाव पंकप्पभापुढविणेरइया।

[१४१०-२ प्र.] इसी प्रकार रत्नप्रभा नरकभूमि के नारकों से लेकर पंकप्रभा नरकभूमि के नारकों तक की अन्तक्रिया के विषय में समझ लेना चाहिए।

[३] धूमप्पभापुढविणेरइया णं भंते ! पुच्छा।

गोयमा ! णो अणंतरागया अंतकिरियं करेंति, परंपरागया अंतकिरियं करेंति। एवं जाव अहेसत्तमापुढविणेरइया।

[१४१०-३ प्र.] (अब) प्रश्न है—क्या धूमप्रभापृथ्वी के अनन्तरागत नारक अन्तक्रिया करते हैं या परम्परागत अन्तक्रिया करते हैं ?

---

१. प्रज्ञापन. मलय. वृत्ति, पत्र ३९७

२. वही, पत्र ३९७

३. वही, पत्र ३९७

प्रकार से अन्तक्रिया करते हैं। तेजस्कायिक, वायुकायिक जीव मर कर मनुष्य होते ही नहीं, इस कारण और तीन विकलेन्द्रिय जीव भवस्वभाव के कारण परम्परागत अन्तक्रिया ही करते हैं। ये जीव सीधे मनुष्यभव में आकर अन्तक्रिया नहीं कर सकते, ये अपने-अपने भव से निकल कर तिर्यञ्चादिभव करके फिर मनुष्यभव में आ कर अन्तक्रिया कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च, मनुष्य, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों में से जिनकी योग्यता होती है, वे अनन्तरागत अन्तक्रिया करते हैं और जिनकी योग्यता नहीं होती, वे परम्परागत अन्तक्रिया करते हैं। इस सम्बन्ध में पूर्वोक्त युक्ति ही समझनी चाहिए।[1]

तृतीय : एकसमयद्वार

१४१४. [१] अणंतरागया णं भंते ! णेरइया एगसमएणं केवतिया अंतकिरियं पकरेंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं दस।

[१४१४-१ प्र.] भगवन् ! अनन्तरागत कितने नारक एक समय में अन्तक्रिया करते हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे एक समय में) जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट दस (अन्तक्रिया करते हैं।)

[२] रयणप्पभापुढविणेरइया वि एवं चेव जाव वालुयप्पभापुढविणेरइया।

[१४१४-२] (अनन्तरागत) रत्नप्रभापृथ्वी के नारक भी इसी प्रकार (अन्तक्रिया करते हैं) यावत् वालुकाप्रभापृथ्वी के नारक भी (इसी प्रकार अन्तक्रिया करते हैं।)

[३] अणंतरागता णं भंते ! पंकप्पभापुढविणेरइया एगसमएणं केवतिया अंतकिरियं पकरेंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं दस।

[१४१४-३ प्र.] भगवन् ! अनन्तरागत पंकप्रभापृथ्वी के कितने नारक एक समय में अन्तक्रिया करते हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे एक समय में) जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार (अन्तक्रिया करते हैं।)

१४१५. [१] अणंतरागया णं भंते ! असुरकुमारा एगसमएणं केवइया अंतकिरियं पकरेंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं दस।

[१४१५-१ प्र.] भगवन् ! अनन्तरागत कितने असुरकुमार एक समय में अन्तक्रिया करते हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे एक समय में) जघन्य एक, दो या तीन (और) उत्कृष्ट दस (अन्तक्रिया करते हैं।)

[२] अणंतरागयाओ णं भंते ! असुरकुमारीओ एगसमएणं केवतियाओ अंतकिरियं पकरेंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्का वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं पंच।

---

१. (क) प्रज्ञापना. म. वृत्ति, पत्र ३९७ (ख) पण्णवणासुत्तं (परिशिष्ट) भा. २, पृ. ११२

[१४१५-२ प्र.] भगवन् ! अनन्तरागता कितनी असुरकुमारियाँ एक समय में अन्तक्रिया करती हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे एक समय में) जघन्य एक, दो या तीन (और) उत्कृष्ट पांच (अन्तक्रिया करती हैं।)

[३] एवं जहा असुरकुमारा सदेवीया तहा जाव थणियकुमारा ।

[१४१५-३] इसी प्रकार जैसे अनन्तरागत असुरकुमारों तथा उनकी देवियों की (संख्या एक समय में अन्तक्रिया करने की बताई है,) उतनी ही स्तनितकुमारों (तथा उनकी देवियों) तक की संख्या (अन्तक्रिया के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।)

१४१६. [१] अणंतरागया णं भंते ! पुढविक्काइया एगसमएणं केवतिया अंतकिरियं पकरेंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं चत्तारि ।

[१४१६-१ प्र.] भगवन् ! कितने अनन्तरागत पृथ्वीकायिक एक समय में अन्तक्रिया करते हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे एक समय में) जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार (अन्तक्रिया करते हैं।)

[२] एवं आउक्काइया वि चत्तारि । वणस्सइकाइया छ । पंचेंदियतिरिक्खजोणिया दस । तिरिक्खजोणिणीओ वस । मणूसा दस । मणूसीओ वीसं । वाणमंतरा दस । वाणमंतरीओ पंच । जोइसिया दस । जोइसिणीओ वीसं । वेमाणिया अट्ठसतं । वेमाणिणीओ वीसं । दारं ३ ॥

[१४१६-२] इसी प्रकार (अप्कायिक आदि जघन्य तो एक समय में एक दो या तीन और उत्कृष्टतः) अप्कायिक भी चार (अन्तक्रिया करते हैं;) वनस्पतिकायिक छह, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च दस, (पंचेन्द्रिय) तिर्यञ्च स्त्रियाँ दस, मनुष्य दस, मनुष्यनियाँ बीस, वाणव्यन्तर देव दस, वाणव्यन्तर देवियाँ पांच, ज्योतिष्क देव दस, ज्योतिष्क देवियाँ बीस, वैमानिक देव एक सौ आठ, वैमानिक देवियाँ बीस (अन्तक्रिया करती हैं।) तृतीय द्वार ॥ ३ ॥

विवेचन—प्रस्तुत द्वार में केवल अनन्तरागत अन्तक्रिया कर सकने वाले जीवों के सम्बन्ध में प्रश्न है कि वे एक समय में कितनी संख्या में अन्तक्रिया कर सकते हैं ?

अनन्तरागत अन्तक्रिया कर सकने वाले जीवों की संख्या-सूचक तालिका इस प्रकार है—

अनन्तरागत जीव	जघन्य संख्या	उत्कृष्ट संख्या
नारक (समुच्चय)	१, २, ३	१०
प्रथम, द्वितीय, तृतीय नारक	१, २, ३	१०
चतुर्थ पृथ्वी के नारक	१, २, ३	४
समस्त भवनपति देव	१, २, ३	१०

अनन्तरागत जीव	जघन्य संख्या	उत्कृष्ट संख्या
समस्त भवनपति देवियाँ	१, २, ३	५
पृथ्वीकाय, अप्काय	१, २, ३	४
वनस्पतिकायिक	१, २, ३	६
पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च	१, २, ३	१०
पंचेन्द्रिय तिर्यञ्ची (स्त्री)	१, २, ३	१०
मनुष्य (नर)	१, २, ३	१०
मनुष्य (नारी)	१, २, ३	२०
वाणव्यन्तर देव	१, २, ३	१०
वाणव्यन्तर देवियाँ	१, २, ३	५
ज्योतिष्क देव	१, २, ३	१०
ज्योतिष्क देवियाँ	१, २, ३	२०
वैमानिक देव	१, २, ३	१०८
वैमानिक देवियाँ	१, २, ३	२०[1]

अनन्तरागत जीव : पूर्वभव-पर्याय की अपेक्षा से—यद्यपि नारक आदि जीव नरक आदि से निकल कर सीधे मनुष्यभव में आ जाने के बाद नारक आदि नहीं रहते, वे सब मनुष्य हो जाते हैं, फिर भी उन्हें शास्त्रकार ने जो अनन्तरागत आदि कहा है, वह कथन पूर्वभव-पर्याय की अपेक्षा से समझना चाहिए। वस्तुतः अनन्तरागत नारक आदि से तात्पर्य उन जीवों से है, जो पूर्वभव में नारक आदि थे और वहाँ से निकल कर सीधे मनुष्यभव में आ कर मनुष्य बने हैं।[2]

चतुर्थ : उव्वट्टद्वार

१४१७. णेरइए णं भंते ! णेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता णेरइएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१४१७ प्र.] भगवन् ! नारक जीव, नारकों में से उद्वर्त्तन (निकल) कर क्या (सीधा) नारकों में उत्पन्न होता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है।

१४१८. णेरइए णं भंते ! णेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता असुरकुमारेसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१४१८ प्र.] भगवन् ! नारक जीव नारकों में से निकल कर क्या (सीधा) असुरकुमारों में उत्पन्न हो सकता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१४१९. एवं निरंतरं जाव चउरिंदिएसु पुच्छा।

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

---

१. पण्णवणासुत्तं (परिशिष्ट) भा. २, पृ. ११३

२ (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ३९८ (ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी. भा. ४, पृ. ४९८

[१४१९ प्र.] इसी तरह (नैरयिक नैरयिकों में से निकल कर) निरन्तर (व्यवधानरहित-सीधा) (नागकुमारों से ले कर) चतुरिन्द्रिय जीवों तक में (उत्पन्न हो सकता है ?) ऐसी पृच्छा करनी चाहिए।

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं।

१४२०. [१] णेरइए णं भंते ! णेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए णो उववज्जेज्जा।

[१४२०-१ प्र.] भगवन् ! नारक जीव नारकों में से उद्वर्त्तन कर अन्तर (व्यवधान) रहित (सीधा) पंचेन्द्रियतिर्यञ्च में उत्पन्न हो सकता है ?

[उ.] गौतम ! (इनमें से) कोई उत्पन्न हो सकता है (और) कोई उत्पन्न नहीं हो सकता।

[२] जे णं भंते ! णेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जेज्जा से णं केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ?

गोयमा ! अत्थेगइए लभेज्जा अत्थेगइए णो लभेज्जा।

[१४२०-२ प्र.] भगवन् ! जो नारक नारकों में से निकल कर सीधा तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होता है, क्या वह केवलिप्ररूपित धर्मश्रवण प्राप्त कर सकता है ?

[उ.] गौतम ! (उनमें से) कोई धर्मश्रवण को प्राप्त कर सकता है और कोई नहीं कर सकता।

[३] जे णं भंते ! केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए से णं केवलं बोहिं बुज्झेज्जा।

गोयमा ! अत्थेगइए बुज्झेज्जा, अत्थेगइए णो बुज्झेज्जा।

[१४२०-३ प्र.] भगवन् ! जो (पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में उत्पन्न जीव) केवलि-प्ररूपित धर्मश्रवण प्राप्त कर सकता है, क्या वह केवल (शुद्ध) बोधि को समझ सकता है ?

[उ.] गौतम ! (इनमें से) कोई (केवलबोधि) को समझ पाता है (और) कोई नहीं समझ पाता।

[४] जे णं भंते ! केवलं बोहिं बुज्झेज्जा से णं सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा ?

गोयमा ! सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा।

[१४२०-४ प्र.] भगवन् ! जो (नैरयिकों से तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय में अनन्तरागत जीव) केवल-बोधि को समझ पाता है, क्या वह (उस पर) श्रद्धा करता है, प्रतीति करता है (तथा) रुचि करता है ?

[उ.] (हाँ) गौतम ! (वह) श्रद्धा करता है, प्रतीति करता है (तथा) रुचि करता है।

[५] जे णं भंते ! सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा से णं आभिणिबोहियणाण-सुयणाणाइं उप्पाडेज्जा ?

हंता ! गोयमा ! उप्पाडेज्जा।

[१४२०-५ प्र.] भगवन् ! जो (उस पर) श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करता है (क्या) वह आभिनिबोधिकज्ञान (और) श्रुतज्ञान उपार्जित (प्राप्त) कर लेता है ?

[उ.] हाँ गौतम ! वह (इन ज्ञानों को) प्राप्त कर सकता है।

[६] जे णं भंते ! आभिणिबोहियणाण-सुयणाणाइं उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा सीलं वा वयं वा गुणं वा वेरमणं वा पच्चक्खाणं वा पोसहोववासं वा पडिवज्जित्तए ?

गोयमा ! अत्थेगइए संचाएज्जा, अत्थेगइए णो संचाएज्जा।

[१४२०-६ प्र.] भगवन् ! जो (आगारागत तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय) आभिनिबोधिकज्ञान एवं श्रुतज्ञान को प्राप्त कर लेता है, (क्या) वह शील, व्रत, गुण, विरमण, प्रत्याख्यान अथवा पौषधोपवास अंगीकार करने में समर्थ होता है ?

[उ.] गौतम ! (कोई तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय) (शील यावत् पौषधोपवास को अंगीकार) कर सकता है और कोई नहीं कर सकता है।

[७] जे णं भंते ! संचाएज्जा सीलं वा जाव पोसहोववासं वा पडिवज्जित्तए से णं ओहिणाणं उप्पाडेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए उप्पाडेज्जा, अत्थेगइए णो उप्पाडेज्जा।

[१४२०-७ प्र.] भगवन् ! जो (तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय) शील यावत् पौषधोपवास अंगीकार कर सकता है (क्या) वह अवधिज्ञान को उपार्जित (प्राप्त) कर सकता है ?

[उ.] गौतम ! (उनमें से) कोई (अवधिज्ञान) प्राप्त कर सकता है (और) कोई प्राप्त नहीं कर सकता है।

[८] जे णं भंते ओहिणाणं उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१४२०-८ प्र.] भगवन् ! जो (तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय) अवधिज्ञान उपार्जित कर लेता है, (क्या) वह मुण्डित हो कर अगारत्व से अनगारत्व (अनगारधर्म) में प्रव्रजित होने में समर्थ है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१४२१. [१] णेरइए णं भंते ! णेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता मणूसेसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए णो उववज्जेज्जा।

[१४२१-१ प्र.] भगवन् ! नारक जीव, नारकों में से उद्वर्त्तन (निकल) कर क्या सीधा मनुष्यों में उत्पन्न हो जाता है ?

[उ.] गौतम ! (उनमें से) कोई (मनुष्यों में) उत्पन्न होता है और कोई उत्पन्न नहीं होता है।

[२] **जे णं भंते ! उववज्जेज्जा से णं केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ?**

गोयमा ! जहा पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु (सु. १४२० [२-७]) **जाव जे णं भंते ! ओहिणाणं उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ?**

गोयमा ! अत्थेगइए संचाएज्जा, अत्थेगइए णो संचाएज्जा ।

[१४२१-२ प्र.] भगवन् ! जो (नारकों में से अनन्तरागत जीव मनुष्यों में) उत्पन्न होता है, (क्या) वह केवलि-प्रज्ञप्त धर्मश्रवण प्राप्त कर लेता है ?

[उ.] गौतम ! जैसे पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों में (आकर उत्पन्न जीव) के विषय में धर्मश्रवण से (लेकर) अवधिज्ञान प्राप्त कर लेता है, तक कहा है, वैसे ही यहाँ कहना चाहिए। (विशेष प्रश्न यह है—) भगवन् ! जो (मनुष्य) अवधिज्ञान प्राप्त कर लेता है, (क्या) वह मुण्डित होकर अगारत्व से अनगारधर्म में प्रव्रजित हो सकता है ?

[उ.] गौतम ! (उनमें से) कोई प्रव्रजित हो सकता है और कोई प्रव्रजित नहीं हो सकता है ।

[३] **जे णं भंते ! संचाएज्जा मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए से णं मणपज्जवणाणं उप्पाडेज्जा ?**

गोयमा ! अत्थेगइए उप्पाडेज्जा, अत्थेगइए णो उप्पाडेज्जा ।

[१४२१-३ प्र.] भगवन् ! जो (मनुष्य) मुण्डित होकर अगारित्व से अनगारधर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ है, (क्या) वह मनःपर्यवज्ञान को उपार्जित कर सकता है ?

[उ.] गौतम ! (उनमें से) कोई (मनःपर्यवज्ञान को) उपार्जित कर सकता है (और) कोई उपार्जित नहीं कर सकता है ।

[४] **जे णं भंते ! मणपज्जवणाणं उप्पाडेज्जा से णं केवलणाणं उप्पाडेज्जा ?**

गोयमा ! अत्थेगइए उप्पाडेज्जा, अत्थेगइए णो उप्पाडेज्जा ।

[१४२१-४ प्र.] भगवन् ! जो (मनुष्य) मनःपर्यवज्ञान को उपार्जित कर लेता है, (क्या) वह केवलज्ञान को उपार्जित कर सकता है ?

[उ.] गौतम ! (उनमें से) कोई केवलज्ञान को उपार्जित कर सकता है (और) कोई उपार्जित नहीं कर सकता है ।

[५] **जे णं भंते ! केवलणाणं उप्पाडेज्जा से णं सिज्झेज्जा बुज्झेज्जा मुच्चेज्जा सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा ?**

गोयमा ! सिज्झेज्जा जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा ।

[१४२१-५ प्र.] भगवन् ! जो (मनुष्य) केवलज्ञान को उपार्जित कर लेता है, (क्या) वह सिद्ध हो सकता है, बुद्ध हो सकता है, मुक्त हो सकता है, यावत् सब दुःखों का अन्त कर सकता है ?

[उ.] (हाँ) गौतम ! वह (अवश्य ही) सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है, यावत् समस्त दुःखों का अन्त कर देता है ।

१४२२. णेरइए णं भंते ! णेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१४२२ प्र.] भगवन् ! नारक जीव, नारकों में से निकल कर (क्या सीधा) वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क या वैमानिकों में उत्पन्न होता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है ।

विवेचन नारकों में से नारकादि में उत्पत्ति, धर्मश्रवणादि-विषयक चर्चा—प्रस्तुत द्वार के प्रथम ६ सूत्रों (सू. १४१७ से १४२२ तक) में नारकों में से मर सीधे नारकों, भवनपतियों, विकलेन्द्रियों, तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों, मनुष्यों, वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों में उत्पत्ति की चर्चा है । फिर तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों और मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले जीव केवलिप्रज्ञप्त धर्मश्रवण, शुद्ध बोधि, श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, मति-श्रुतज्ञान, शील-व्रत-गुण-विरमण-प्रत्याख्यान-पौषधोपवासग्रहण, अवधि-मनःपर्यव-केवल ज्ञान एवं सिद्धि (मुक्ति), इनमें से क्या-क्या प्राप्त कर सकते हैं ? इसकी चर्चा की गई है ।[1]

उद्वर्त्तन: विशेषार्थ में—प्रस्तुत शास्त्र में 'उद्वृत्त' शब्द समस्त गतियों में होने वाले 'मरण' के लिए प्रयुक्त किया गया है, जबकि 'षट्खण्डागम' में मरण के लिए तीन शब्द प्रयुक्त किये गए हैं—नरक, भवनवासी, वाणव्यन्तर एवं ज्योतिष्क गति में से मर कर जाने वालों के लिए 'उद्वृत्त', तिर्यञ्च और मनुष्यगति में से मर कर जाने वालों के लिए 'कालगत' और वैमानिक देवों में से मर कर जाने वालों के लिए 'च्युत' शब्द ।[2]

नारकों का उद्वर्त्तन तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों और मनुष्यों में—इस पाठ से स्पष्ट है कि नारकजीव नारकों में से निकल कर सीधा नारकों, भवनपतियों और विकलेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं हो सकता है, उसका कारण पूर्वोक्त ही है । वह नारकों में से निकल कर सीधा तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों और मनुष्यों में उत्पन्न हो सकता है । तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय और मनुष्य में उत्पन्न होने वाले भूतपूर्व नारकों में से कोई-कोई केवलिप्रज्ञप्त धर्मश्रवण, केवलबोधि, श्रद्ध-प्रतीति-रुचि, आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, शील-व्रत-गुण-विरमण-प्रत्याख्यान-पौषधोपवास-ग्रहण, अवधिज्ञान तक प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले भूतपूर्व नारकों में से कोई-कोई इससे आगे बढ़कर अनगारत्व, मनःपर्यायज्ञान, केवलज्ञान और सिद्धत्व को प्राप्त कर सकते हैं ।[3]

विशिष्ट शब्दों के अर्थ—**केवलिपन्नत्तं धम्मं**—केवली द्वारा प्ररूपित—उपदिष्ट श्रुत-चारित्र-रूप धर्म को । **लभेज्ज सवणयाए**—श्रवण प्राप्त करता है । **केवलं बोहिं : दो अर्थ**—(१) केवल—विशुद्ध बोधि—धर्मप्राप्ति (धर्मदेशना), (२) केवली द्वारा साक्षात् या परम्परा से उपदिष्ट (कैवलिक) बोधि ।

---

१. पण्णवणासुत्तं (परिशिष्ट) भा. २, पृ. ११३

२. (क) वही, पृ. ११३ (ख) षट्खण्डागम भा. ६, पृ. ४७७ में विशेषार्थ

३. प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनीटीका, भा. ४, पृ. ५०९

प्रश्न का आशय—केवलिप्रज्ञप्तधर्म का श्रोता क्या उपर्युक्त कैवलिक बोधि को यथोक्तरूप से जानता-समझता है ?[1]

शील आदि शब्दों के विशिष्ट अर्थ—शील --ब्रह्मचर्य, व्रत—विविध द्रव्यादिविषयक नियम, गुण, भावना आदि, अथवा उत्तरगुण, **विरमण**—अतीत स्थूल प्राणातिपात आदि से विरति, **प्रत्याख्यान**—अनागतकालीन स्थूल प्राणातिपात आदि का त्याग, पोषधोपवास--पोषध—धर्म का पोषण करने वाले अष्टमी आदि पर्वों में उपवास पोषधोपवास ।[2]

अवधिज्ञान किनको ?--तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों और मनुष्यों को भवप्रत्यय अवधिज्ञान नहीं होता, गुणप्रत्यय होता है । शीलव्रत आदि विषयक गुणों के धारकों में जिनके उत्कृष्ट परिणाम होते हैं, उनको अवधिज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम हो जाता है और उन्हें (तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों और मनुष्यों को, अवधिज्ञान प्राप्त होता है, सभी को नहीं ।

मनःपर्यायज्ञान किनको ?—मनःपर्यायज्ञान अनगार को ही प्राप्त होता है, वह भी उसी संयमी को होता है, जो समस्त प्रमादों से रहित हो, विविध ऋद्धियों से सम्पन्न हो । इसलिए तिर्यञ्चों को अनगारत्व भी प्राप्त नहीं होता, तब मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान कहाँ से प्राप्त होगा ! मनुष्यों में भी उसी को मनःपर्यायज्ञान प्राप्त होता है, जो अनगार हो, अप्रमत्त तथा निर्मल चारित्री एवं ऋद्धिमान् हो ।[3]

मुंडे भवित्ता : भावार्थ—मुण्ड दो प्रकार का होता है--द्रव्यमुण्ड और भावमुण्ड । केशादि कटाने से द्रव्यमुण्ड होता है, सर्वसंग-परित्याग से भावमुण्ड का ग्रहण किया गया है । अर्थात्—भाव से मुण्डित होकर ।[4]

सिज्झेज्जा बुज्झेज्जा मुच्चेज्जा : प्रासंगिक विशेषार्थ—**सिज्झेज्जा**—सर्व कार्य सिद्ध कर लेता है, कृतकृत्य हो जाता है, **बुज्झेज्जा**—समस्त लोकालोक के स्वरूप को जानता-देखता है, **मुच्चेज्जा**—भवोपग्राही कर्मों से भी मुक्त हो जाता है ।

असुरकुमारादि की उत्पत्ति की प्ररूपणा

१४२३. असुरकुमारे णं भंते ! असुरकुमारेहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता णेरइएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१४२३ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार, असुरकुमारों में से निकल कर (सीधा) नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है ।

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्र ३९९

२. वही, पत्र ३९९

३. वही. पत्र ४००

४. मुण्डो द्विधा --द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यतः केशोद्यपनयनेन, भावतः सर्वसंगपरित्यागेन । तत्रेह द्रव्यमुण्डस्यासंभवात् भावमुण्डः परिगृह्यते । --वही, पत्र ४००

१४२४. असुरकुमारे णं भंते ! असुरकुमारेहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता असुरकुमारेसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । एवं जाव थणियकुमारेसु ।

[१४२४ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार, असुरकुमारों में से निकल (उद्वर्त्तन) कर (सीधा) असुरकुमारों में उत्पन्न होता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों में भी (असुरकुमार, असुरकुमारों में से उद्वर्त्तन करके सीधे) उत्पन्न नहीं होते, यह समझ लेना चाहिए ।

१४२५. [१] असुरकुमारे णं भंते ! असुरकुमारेहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता पुढविकाइएसु उववज्जेज्जा ?

हंता ! गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ।

[१४२५-१ प्र.] भगवन् ! (क्या) असुरकुमार, असुरकुमारों में से निकल कर सीधा पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है ?

[उ.] गौतम ! (उसमें से) कोई (पृथ्वीकायिक में) उत्पन्न होता है (और) कोई उत्पन्न नहीं होता ।

[२] जे णं भंते ! उववज्जेज्जा से णं केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

[१४२५-२ प्र.] भगवन् ! जो (असुरकुमार पृथ्वीकायिकों में) उत्पन्न होता है, (क्या) वह केवलिप्रज्ञप्त धर्मश्रवण प्राप्त कर सकता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[३] एवं आउ-वणस्सईसु वि ।

[१४२५-३ प्र.] इसी प्रकार अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के (उत्पन्न होने तथा धर्मश्रवण के) विषय में समझ लेना चाहिए ।

१४२६. [१] असुरकुमारे णं भंते ! असुरकुमारेहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तेउ-वाउ-बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । अवसेसेसु पंचसु पंचेंदियतिरिक्खजोणियादिसु असुरकुमारे जहा णेरइए (सु. १४२०-२२) ।

[१४२६-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार, असुरकुमारों में से निकल कर (क्या) सीधा (अनन्तर) तेजस्कायिक, वायुकायिक (तथा) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । अवशिष्ट पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक आदि (मनुष्य, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक) इन पांचों में असुरकुमार की उत्पत्ति आदि की वक्तव्यता [सू. १४२०-२२ में उक्त] नैरयिक (की उत्पत्ति आदि की वक्तव्यता के अनुसार समझनी चाहिए ।)

[२] एवं जाव थणियकुमारे ।

[१४२६-२] इसी प्रकार स्तनितकुमार पर्यन्त जानना चाहिये ।

१४२७. [१] पुढविकाइए णं भंते ! पुढविक्काइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता णेरइएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१४२७-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव, पृथ्वीकायिकों में से उद्वर्तन कर (क्या) सीधा नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[२] एवं असुरकुमारेसु वि जाव थणियकुमारेसु वि ।

[१४२७-२] इस प्रकार (की वक्तव्यता) असुरकुमारों से स्तनितकुमारों तक (की उत्पत्ति के विषय में समझ लेना चाहिए ।)

१४२८. [१] पुढविक्काइए णं भंते ! पुढविक्काइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता पुढविक्काइएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए णो उववज्जेज्जा ।

[१४२८-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव, पृथ्वीकायिकों में से निकल कर (क्या) सीधा पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है ?

[उ.] गौतम ! (उनमें से) कोई (पृथ्वीकायिकों में) उत्पन्न होता है (और) कोई उत्पन्न नहीं होता ।

[२] जे णं भंते ! उववज्जेज्जा से णं केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१४२८-२ प्र.] भगवन् ! (उनमें से) जो (पृथ्वीकायिकों में) उत्पन्न होता है, (क्या) वह केवलिप्रज्ञप्त धर्मश्रवण प्राप्त कर सकता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[३] एवं आउक्काइयादिसु णिरंतरं भाणियव्वं जाव चउरिंदिएसु ।

[१४२८-३] इसी प्रकार की वक्तव्यता अप्कायिक आदि (अप्कायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय) से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों तक में निरन्तर (उत्पत्ति के विषय में) कहना चाहिए ।

[४] पंचेंदियतिरिक्खजोणिय-मणूसेसु जहा णेरइए (सु. १४२०-२१) ।

[१४२८-४] (पृथ्वीकायिक की पृथ्वीकायिकों में से निकल कर सीधे) पंचेन्द्रियतिर्यञ्च-

योनिकों और मनुष्यों में (उत्पत्ति के विषय में) [सू. १४२०-२१ में उक्त] नैरयिक (की वक्तव्यता) के समान (कहना चाहिए।)

[५] वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिएसु पडिसेहो।

[१४२८-५] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों में (पृथ्वीकायिक की उत्पत्ति का) निषेध (समझना चाहिए।)

१४२९. एवं जहा पुढविक्काइओ भणिओ तहेव आउक्काइओ वि वणस्सइकाइओ वि भाणियव्वो।

[१४२९] जैसे पृथ्वीकायिक (की चौबीस दण्डकों में उत्पत्ति के विषय में) कहा गया है, उसी प्रकार अप्कायिक एवं वनस्पतिकायिक के विषय में भी कहना चाहिए।

१४३०. [१] तेउक्काइए णं भंते! तेउक्काइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता णेरइएसु उववज्जेज्जा?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१४३०-१ प्र.] भगवन्! तेजस्कायिक जीव, तेजस्कायिकों में से उद्वृत्त होकर क्या सीधा नारकों में उत्पन्न होता है?

[उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[२] एवं असुरकुमारेसु वि जाव थणियकुमारेसु वि।

[१४३०-२] इसी प्रकार (तेजस्कायिक जीव की) असुरकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों तक में भी उत्पत्ति का निषेध समझना चाहिए।

१४३१. [१] पुढविक्काइय-आउ-तेउ-वाउ-वणस्सइ-बेइंदिय-तेइंदिए-चउरिंदिएसु अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए णो उववज्जेज्जा।

[१४३१-१] पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक एवं वनस्पतिकायिकों में तथा द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियों में कोई (तेजस्कायिक) उत्पन्न होता है और कोई उत्पन्न नहीं होता है।

[२] जे णं भंते! उववज्जेज्जा से णं केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१४३१-२ प्र.] भगवन्! जो तेजस्कायिक (इनमें) उत्पन्न होता है, (क्या) वह केवलि-प्रज्ञप्त धर्मश्रवण प्राप्त कर सकता है?

[उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१४३२. [१] तेउक्काइए णं भंते! तेउक्काइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता पंचेंदियतिरिक्ख-जोणिएसु उववज्जेज्जा?

गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए णो उववज्जेज्जा ।

[१४३२-१ प्र.] भगवन् ! तेजस्कायिक जीव, तेजस्कायिकों में से निकल कर क्या सीधा पंचेन्द्रियतिर्यंग्योनिकों में उत्पन्न होता है ?

[उ.] गौतम ! कोई उत्पन्न होता है और कोई उत्पन्न नहीं होता है ।

[२] जे णं भंते ! उववज्जेज्जा से णं केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ?

गोयमा ! अत्थेगइए लभेज्जा, अत्थेगइए णो लभेज्जा ।

[१४३२-२ प्र.] भगवन् ! जो (तेजस्कायिक, पंचेन्द्रियतिर्यंञ्चों में) उत्पन्न होता है, (क्या) वह केवलिप्रज्ञप्त धर्मश्रवण प्राप्त कर सकता है ?

[उ.] गौतम ! (उनमें से) कोई (धर्मश्रवण) प्राप्त करता है (और) कोई प्राप्त नहीं करता है ।

[३] जे णं भंते ! केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए से णं केवलं बोहिं बुज्झेज्जा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१४३२-३ प्र.] भगवन् ! जो (तेजस्कायिक) केवलिप्रज्ञप्त धर्मश्रवण प्राप्त करता है, (क्या) वह केवल (केवलिप्रज्ञप्त) बोधि (धर्म) को समझ पाता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

१४३३. मणूस-वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिएसु पुच्छा ।

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१४३३ प्र.] भगवन् ! (अब प्रश्न है कि तेजस्कायिक जीव, इन्हीं में से निकल कर सीधा) मनुष्य तथा वाणव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकों में (उत्पन्न होता है ?)

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

१४३४. एवं जहेव तेउक्काइए णिरंतरं एवं वाउक्काइए वि ।

[१४३४] इसी प्रकार जैसे तेजस्कायिक जीव की अनन्तर उत्पत्ति आदि के विषय में कहा है, उसी प्रकार वायुकायिक के विषय में भी समझ लेना चाहिए ।

१४३५. बेइंदिए णं भंते ! बेइंदिएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता णेरइएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहा पुढविक्काइए (सु. १४२७-२८) । णवरं मणूसेसु जाव मणपज्जवणाणं उप्पाडेज्जा ।

[१४३५ प्र.] भगवन् ! (क्या) द्वीन्द्रिय जीव, द्वीन्द्रिय जीवों में से निकल कर सीधा नारकों में उत्पन्न होता है ?

[उ.] गौतम ! जैसे पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में [१४२७-२८ में] कहा है, वैसा ही द्वीन्द्रिय जीवों के विषय में भी समझना चाहिए । (पृथ्वीकायिकों से) विशेष (अन्तर) यह है कि

(पृथ्वीकायिक जीवों के समान द्वीन्द्रिय जीव मनुष्यों में उत्पन्न होकर अन्तक्रिया नहीं कर सकते; किन्तु) वे मनःपर्यायज्ञान तक प्राप्त कर सकते हैं।

१४३६. [१] एवं तेइंदिय-चउरिंदिया वि जाव मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा।

[१४३६-१] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव भी यावत् मनःपर्यायज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

[२] जे णं भंते! मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा से णं केवलनाणं उप्पाडेज्जा?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१४३६-२ प्र.] जो (विकलेन्द्रिय मनुष्यों में उत्पन्न हो कर) मनःपर्यायज्ञान प्राप्त करता है, (क्या) वह केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है?

[उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१४३७. [१] पंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते! पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता णेरइएसु उववज्जेज्जा?

गोयमा! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए णो उववज्जेज्जा।

[१४३७-१ प्र.] भगवन्! (क्या) पंचेन्द्रियतिर्यञ्च पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में से उद्वृत्त होकर सीधा नारकों में उत्पन्न होता है?

[उ.] गौतम! (उनमें से) कोई (पंचेन्द्रियतिर्यञ्च जीव) उत्पन्न होता है और कोई उत्पन्न नहीं होता है।

[२] जे णं भंते! उववज्जेज्जा से णं केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए?

गोयमा! अत्थेगइए लभेज्जा, अत्थेगइए णो लभेज्जा।

[१४३७-२ प्र.] भगवन्! जो (पंचेन्द्रियतिर्यञ्च नारकों में) उत्पन्न होता है, क्या वह केवलिप्रज्ञप्त धर्मश्रवण प्राप्त करता है?

[उ.] गौतम! (उनमें से) कोई प्राप्त करता है और कोई प्राप्त नहीं करता है।

[३] जे णं केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए से णं केवलं बोहिं बुज्झेज्जा।

गोयमा! अत्थेगइए बुज्झेज्जा, अत्थेगइए नो बुज्झेज्जा।

[१४३७-३ प्र.] भगवन्! जो केवलिप्रज्ञप्त धर्मश्रवण प्राप्त करता है, (क्या) वह केवल-बोधि (केवलिप्रज्ञप्त धर्म) को समझ पाता है?

[उ.] गौतम! (उनमें से) कोई केवलबोधि (का अर्थ) समझता है (और) कोई नहीं समझता है।

[४] जे णं भंते! केवलं बोहिं बुज्झेज्जा से णं सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा?

हंता गोयमा! जाव[1] रोएज्जा।

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द 'सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा' का सूचक है।

[१४३७-४ प्र.] भगवन् ! जो केवलबोधि (का अर्थ) समझता है, (क्या) वह (उस पर) श्रद्धा करता है ? प्रतीति करता है ? (और) रुचि करता है ?

[उ.] हाँ गौतम ! (वह) श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करता है।

[५] जे णं भंते ! सद्दहेज्जा ३[२] से णं आभिणिबोहियणाण-सुयणाण-ओहिणाणाणि उप्पाडेज्जा ?

हंता गोयमा ! उप्पाडेज्जा।

[१४३७-५ प्र.] भगवन् ! जो श्रद्धा-प्रतीति-रुचि करता है, (क्या) वह आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान उपार्जित (प्राप्त) कर सकता है ?

[उ.] हाँ, गौतम ! (वह आभिनिबोधिक-श्रुत-अवधि ज्ञान) प्राप्त कर सकता है।

[६] जे णं भंते ! आभिणिबोहियणाण-सुयणाण-ओहिणाणाइं उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा सीलं वा जाव[3] पडिवज्जित्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१४३७-६ प्र.] भगवन् ! जो आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान प्राप्त करता है, (क्या) वह शील (आदि) से लेकर पोषधोपवास तक अंगीकार कर सकता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१४३८. एवं असुरकुमारेसु वि जाव थणियकुमारेसु।

[१४३८] इसी प्रकार (पंचेन्द्रियतिर्यञ्च की, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में से उद्वृत्त हो कर सीधा) असुरकुमारों में यावत् स्तनितकुमारों में उत्पत्ति के विषय में (पंचेन्द्रियतिर्यञ्च से निरन्तर उद्वृत्त होकर उत्पन्न हुए नारक की वक्तव्यता के समान समझना चाहिए।)

१४३९. एगिंदिय-विगलिंदिएसु जहा पुढविक्काइए (सु. १४२८ [१-३])।

[१४३९] एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों में (पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों की) उत्पत्ति की वक्तव्यता (सू. १४२८-[१-३] में उक्त) पृथ्वीकायिक जीवों की उत्पत्ति के समान समझ लेनी चाहिए।

१४४०. पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु मणूसेसु य जहा णेरइए (सु. १४२०-२१)।

[१४४०] पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवों और मनुष्यों में (सू. १४२०-२१ में) जैसे नैरयिक के (उत्पाद की प्ररूपणा की गई) वैसे ही पंचेन्द्रियतिर्यञ्च की प्ररूपणा करनी चाहिए।

१४४१. वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिएसु जहा णेरइएसु उववज्जेज्जत्ति पुच्छा भणिया (सु. १४३७)।

[१४४१] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में पंचेन्द्रियतिर्यञ्च के उत्पन्न होने

---

२. '३' का अंक पत्तिएज्जा—प्रतीति और रोएज्जा—रुचि करता है शब्द का द्योतक है।

३. यहाँ 'जाव' शब्द (१४२०-६ में उक्त) 'सीलं वा, वयं वा, गुणं वा, वेरमणं वा, पच्चक्खाणं वा पोसहोववासं वा' का सूचक है।

(आदि) को पृच्छा का कथन उसी प्रकार किया गया है, जैसे (सू. १४३७ में) नैरयिकों में उत्पन्न होने का (कथन किया गया) है।

१४४२. एवं मणूसे वि।

[१४४२] इसी प्रकार (अर्थात्—पंचेन्द्रियतिर्यञ्च के समान ही) मनुष्य का (उत्पाद) भी चौवीस दण्डकों में यथायोग्य कहना चाहिए।)

१४४३. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिए जहा असुरकुमारे (सु. १४२३-२६)। दारं ४।

[१४४३] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के उत्पाद का कथन (चौवीस दण्डकों में (सू. १४२३-२६ में) असुरकुमार (के उत्पाद) के समान है।

विवेचन—असुरकुमार से लेकर वैमानिक तक चौवीस दण्डकों में उत्पत्ति आदि सम्बन्धी चर्चा—प्रस्तुत २१ सूत्रों (१४२३ से १४४३ तक) में असुरकुमार से लेकर अवशिष्ट नौ प्रकार के भवनपति देव, पृथ्वीकायादि पंच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, तिर्यञ्चपचेन्द्रिय, मनुष्य, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवों की नारक से वैमानिक तक में अनन्तर उद्वृत्त होकर उत्पन्न होने की चर्चा की गई है।[1]

उद्वृत्तद्वार का सार इस प्रकार है[2]—

जीव	मर कर सीधा कहाँ उत्पन्न हो सकता है ?	मर कर नये जन्म में धर्मश्रवणादि की संभावना
नारक	पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च या मनुष्य में	देशविरति के शीलादि और अवधिज्ञान एवं मोक्ष (मनुष्यभव में)
दस भवनपति	पृथ्वी, अप्, वनस्पति में तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय या मनुष्य में	नारकों के समान
पृथ्वी, अप्, वनस्पति	पृथ्वी, अप्, तेज और वायु में तथा विकलेन्द्रियों में	
	मनुष्यों में तथा पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में	नारकों के समान
तेज, वायु	पृथ्वीकायिकों से लेकर चतुरिन्द्रियों तक में	
	पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में	धर्मश्रवण
द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय	पृथ्वीकायिकों से लेकर पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में	पृथ्वीकायिक के समान
	कई मनुष्यों में	मनःपर्यवज्ञान
पंचेन्द्रियतिर्यञ्च	भवनपतियों में	अवधिज्ञान
	एकेन्द्रिय से लेकर यावत् चतुरिन्द्रियों में	पृथ्वीकायिक के समान

१. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ३२२ से ३२४ तक

२. पण्णवणासुत्तं (परिशिष्ट-प्रस्तावना सहित) भा. २, पृ. ११४

	पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में या मनुष्यों के	नारक के समान
	वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिकों में	नारक के समान
मनुष्य	उपर्युक्त जीवों में	नारक के समान
वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक	भवनपति देवों के समान उत्पत्ति	नारक के समान

तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों और मनुष्यों की उपलब्धि में अन्तर--यों तो तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों के समान प्रायः मनुष्य से सम्बन्धित सारी वक्तव्यता है, किन्तु मनुष्यों की कर्मभूमियों में संभावना होने से उनको मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान उपलब्ध हो सकता है, अनगारत्व भी प्राप्त हो सकता है।[1]

सिज्झेज्जा आदि पदों का अर्थ पहले लिखा जा चुका है।

नैरयिकों की सीधी उत्पत्ति नहीं नैरयिकों के भवस्वभाव के कारण वे नैरयिकों में से मर कर सीधे नैरयिकों में, भवनपति, वाणव्यन्तर ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवों में उत्पन्न नहीं होते क्योंकि नैरयिकों का नैरयिकभव या देवभव का आयुष्यबन्ध होना असम्भव है।[2]

पृथ्वीकायिकों की उत्पत्ति आदि—पृथ्वीकायिक जीव नारकों और देवों में सीधे उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि उनमें विशिष्ट मनोद्रव्य सम्भव नहीं होता, इस कारण तीव्र संक्लेश एवं विशुद्ध अध्यवसाय नहीं हो सकता। मनुष्यों में उत्पन्न होने पर ये अन्तक्रिया भी कर सकते हैं।[3]

भवनपति देवों की उत्पत्ति आदि - असुरकुमारादि १० प्रकार के भवनपति देव पृथ्वी-वायु-वनस्पति में उत्पन्न होते हैं। उधर ईशान (द्वितीय) देवलोक तक उनकी उत्पत्ति होती है। इन देवों में उत्पन्न होने पर वे केवलिप्रज्ञप्त धर्मश्रवण नहीं कर सकते। शेष सब बातें नैरयिकों के समान समझ लेनी चाहिए।[4]

तेजस्कायिक, वायुकायिक का मनुष्यों में उत्पत्तिनिषेध -ये दोनों सीधे मनुष्यों में उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि इनके परिणाम क्लिष्ट होने से इनके मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु का बन्ध होना असम्भव होता है। ये तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों में उत्पन्न होकर श्रवणेन्द्रिय प्राप्त होने से केवलिप्रज्ञप्त धर्मश्रवण प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु संक्लिष्ट परिणाम होने से केवलिकीबोधि (धर्म) का बोध[5] प्राप्त नहीं कर सकते।

विकलेन्द्रियों की उत्पत्ति-प्ररूपणा—द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय जीव, पृथ्वीकायिकों के समान देवों और नारकों को छोड़ कर शेष समस्त स्थानों में उत्पन्न हो सकते हैं। ये तथाविध भवस्वभाव के कारण अन्तक्रिया नहीं कर पाते, किन्तु मनुष्यों में उत्पन्न होने पर अनगार बन कर मनःपर्यवज्ञान तक भी प्राप्त कर सकते हैं।[6]

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्र ४००
२. वही, पत्र ४००
३. वही, पत्र ४०१
४. वही, पत्र ४००
५. वही, पत्र ४०१
६. वही, पत्र ४०२

पंचम : तीर्थंकरद्वार

१४४४. रयणप्पभापुढविणेरइए णं भंते ! रयणप्पभापुढविणेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए लभेज्जा, अत्थेगइए णो लभेज्जा ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अत्थेगइए लभेज्जा, अत्थेगइए णो लभेज्जा ?

गोयमा ! जस्स णं रयणप्पभापुढविणेरइयस्स तित्थगरणाम-गोयाइं कम्माइं बद्धाइं पुट्ठाइं निधत्ताइं कडाइं पट्ठवियाइं निविट्ठाइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमण्णागयाइं उदिण्णाइं णो उवसंताइं भवंति से णं रयणप्पभापुढविणेरइए रयणप्पभापुढविणेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा, जस्स णं रयणप्पभापुढविणेरइयस्स तित्थगरणाम-गोयाइं णो बद्धाइं जाव णो उदिण्णाइं उवसंताइं भवंति से णं रयणप्पभापुढविणेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं णो लभेज्जा ।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ अत्थेगइए लभेज्जा अत्थेगइए णो लभेज्जा ।

[१४४४ प्र.] भगवन् ! (क्या) रत्नप्रभापृथ्वी का नारक रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों से निकल कर सीधा तीर्थंकरत्व प्राप्त करता है ?

[उ.] गौतम ! उनमें से कोई तीर्थंकरत्व प्राप्त करता है और कोई प्राप्त नहीं कर पाता है ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि (रत्नप्रभापृथ्वी का नारक) सीधा (मनुष्य भव में उत्पन्न होकर) कोई तीर्थंकरत्व प्राप्त कर लेता है और कोई प्राप्त नहीं कर पाता है ?

[उ.] गौतम ! जिस रत्नप्रभापृथ्वी के नारक ने (पहले कभी) तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म बद्ध किया है, स्पृष्ट किया है, निधत्त किया है, प्रस्थापित, निविष्ट और अभिनिविष्ट किया है, अभिसमन्वागत (सम्मुख आगत) है, उदीर्ण (उदय में आया) है, उपशान्त नहीं हुआ है, वह रत्नप्रभापृथ्वी का नैरयिक रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में से उद्वृत्त होकर सीधा (मनुष्यभव में उत्पन्न होकर) तीर्थंकरत्व प्राप्त कर लेता है, किन्तु जिस रत्नप्रभापृथ्वी के नारक के तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म बद्ध नहीं होता यावत् उदीर्ण नहीं होता, उपशान्त होता है, वह रत्नप्रभापृथ्वी का नारक रत्नप्रभापृथ्वी से निकल कर सीधा तीर्थंकरत्व प्राप्त नहीं कर सकता है ।

इसलिए हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि कोई नैरयिक तीर्थंकरत्व प्राप्त करता है और कोई प्राप्त नहीं कर पाता है ।

१४४५. एवं जाव वालुयप्पभापुढविणेरइएहिंतो तित्थगरत्तं लभेज्जा ।

[१४४५] इसी प्रकार यावत् वालुकाप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में से (निकल कर कोई नारक मनुष्यभव प्राप्त करके) सीधा तीर्थंकरत्व प्राप्त कर लेता है और (कोई नारक नहीं प्राप्त करता है ।)

१४४६. पंकप्पभापुढविणेरइए णं भंते ! पंकप्पभापुढविणेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुण करेज्जा ।

[१४४६ प्र.] भगवन् ! पंकप्रभापृथ्वी का नारक पंकप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में से निकल कर क्या सीधा तीर्थंकरत्व प्राप्त कर लेता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, किन्तु वह अन्तक्रिया कर सकता है ।

१४४७. धूमप्पभापुढविणेरइए णं ० पुच्छा ।

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, विरतिं पुण लभेज्जा ।

[१४४७ प्र.] धूमप्रभापृथ्वी के नैरयिक के सम्बन्ध में प्रश्न है (कि क्या वह धूमप्रभापृथ्वी के नारकों में से निकल कर सीधा तीर्थंकरत्व प्राप्त कर सकता है ?)

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । किन्तु वह विरति प्राप्त कर सकता है ।

१४४८. तमापुढविणेरइए णं ० पुच्छा ।

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, विरयाविरइं पुण लभेज्जा ।

[१४४८ प्र.] (इसी प्रकार का) प्रश्न तमःपृथ्वी के नारक के सम्बन्ध में है ।

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, किन्तु वह (तमःपृथ्वी का नारक) विरताविरति को प्राप्त कर सकता है ।

१४४९. अहेसत्तमाए ० पुच्छा ।

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, सम्मत्तं पुण लभेज्जा ।

[१४४९ प्र.] (अब) अधःसप्तमपृथ्वी के (नैरयिक के विषय में) पृच्छा है (कि क्या वह तीर्थंकरत्व प्राप्त कर सकता है ?)

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, किन्तु वह सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है ।

१४५०. असुरकुमारे णं ० पुच्छा ।

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुण करेज्जा ।

[१४५० प्र.] इसी प्रकार की पृच्छा असुरकुमार के विषय में है (कि क्या वह असुरकुमारों में से निकल कर सीधा तीर्थंकरत्व प्राप्त कर सकता है ?)

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, किन्तु वह अन्तक्रिया (मोक्षप्राप्ति) कर सकता है ।

१४५१. एवं निरंतरं जाव आउक्काइए ।

[१४५१] इसी प्रकार (असुरकुमार की भाँति) लगातार अप्कायिक तक (अपने-अपने भव से उद्वर्त्तन कर सीधे तीर्थंकरत्व प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु अन्तक्रिया कर सकते हैं ।)

१४५२. तेउक्काइए णं भंते ! तेउक्काइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता उववज्जेज्जा (त्ता) तित्थगरत्तं लभेज्जा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ।

[१४५२ प्र.] भगवन् ! तेजस्कायिक जीव तेजस्कायिकों में से उद्वृत्त होकर बिना अन्तर के (मनुष्य भव में) उत्पन्न हो कर क्या तीर्थंकरत्व प्राप्त कर सकता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, (किन्तु वह) केवलिप्ररूपित धर्म का श्रवण प्राप्त कर सकता है।

१४५३. एवं वाउक्काइए वि।

[१४५३] इसी प्रकार वायुकायिक के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

१४५४. वणस्सइकाइए णं० पुच्छा।

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुण करेज्जा।

[१४५४ प्र.] वनस्पतिकायिक जीव के विषय में पृच्छा है (कि क्या वह वनस्पतिकायिकों में से निकल कर तीर्थंकरत्व प्राप्त कर सकता है ?)

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, किन्तु वह अन्तक्रिया कर सकता है।

१४५५. बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिए णं० पुच्छा।

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, मणपज्जवणाणं पुण उप्पाडेज्जा।

[१४५५ प्र.] द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय के विषय में भी यही प्रश्न है (कि क्या ये अपने-अपने भवों में से उद्वृत्त हो कर सीधे तीर्थंकरत्व प्राप्त कर सकते हैं ?)

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, (किन्तु ये) मनःपर्यवज्ञान का उपार्जन कर सकते हैं।

१४५६. पंचेंदियतिरिक्खजोणिय-मणूस-वाणमंतर-जोइसिए णं० पुच्छा।

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, अंतकिरियं पुण करेज्जा।

[१४५६ प्र.] अब पृच्छा है (कि क्या) पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक, मनुष्य, वाणव्यन्तर एवं ज्योतिष्कदेव अपने-अपने भवों में उद्वर्त्तन करके सीधे तीर्थंकरत्व प्राप्त कर सकते हैं ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, किन्तु ये अन्तक्रिया (मोक्ष प्राप्त) कर सकते हैं।

१४५७. सोहम्मगदेवे णं भंते ! अणंतरं चयं चइत्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए लभेज्जा, अत्थेगइए णो लभेज्जा, एवं जहा रयणप्पभापुढविणेरइए (सु. १४४४)।

[१४५७. प्र.] भगवन् ! सौधर्मकल्प का देव, अपने भव से च्यवन करके सीधा तीर्थंकरत्व प्राप्त कर सकता है ?

[उ.] गौतम ! (उनमें से) कोई (सौधर्मकल्पक देव तीर्थंकरत्व) प्राप्त करता है और कोई प्राप्त नहीं करता, इत्यादि (सभी) बातें रत्नप्रभापृथ्वी के नारक के (विषय में सू. १४४४ में उक्त कथन के) समान जाननी चाहिए।

१४५८. एवं जाव सव्वट्ठसिद्धगदेवे । दारं ५ ॥

[१४५८] इसी प्रकार (ईशानकल्प के देव से लेकर) सर्वार्थसिद्ध विमान के देव तक (सभी वैमानिक देवों के लिये समझना चाहिए।) —पंचम द्वार ॥ ५ ॥

विवेचन · तीर्थंकरपद-प्राप्ति की विचारणा प्रस्तुत पंचम द्वार में नारक आदि मर कर अन्तर के बिना सीधे मनुष्य में जन्म लेकर तीर्थंकरपद प्राप्त कर सकते हैं या नहीं ? इसकी विचारणा की गई है। साथ ही यह भी बताया गया है कि यदि वह जीव तीर्थंकरपद प्राप्त नहीं कर सकता, तो विकासक्रम में क्या प्राप्त कर सकता है ?[1]

सार—इस समस्त पद का निष्कर्ष यह है कि केवल नारकों और वैमानिक देवों में से मर कर सीधा मनुष्य होने वाला जीव ही तीर्थंकरपद प्राप्त कर सकता है, अन्य नहीं।[2]

'बद्धाइं' आदि पदों के विशेषार्थ—**'बद्धाइं'**—सूइयों के ढेर को सूत के धागे से बांधने की तरह आत्मा के साथ (तीर्थंकर नाम-गोत्र आदि) कर्मों का साधारण संयोग होना 'बद्ध' है। **'पुट्ठाइं'**—जैसे उन सूइयों के ढेर को अग्नि से तपा कर एक बार घन से कूट दिया जाता है, तब उनमें परस्पर जो सघनता उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार आत्मप्रदेशों और कर्मों में परस्पर सघनता उत्पन्न होना **'स्पृष्ट'** होना है। **'निधत्ताइं'**—उद्वर्त्तनाकरण और अपवर्त्तनाकरण के सिवाय शेष करण जिसमें लागू न हो सकें, इस प्रकार से कर्मों को व्यवस्थापित करना **'निधत्त'** कहलाता है। **'कडाइं'**—अर्थात् कृत। कृत का अभिप्राय है कर्मों को निकाचित कर लेना, अर्थात् समस्त करणों के लागू होने के योग्य न हो, इस प्रकार से कर्मों को व्यवस्थापित करना। **'पट्ठवियाइं'** मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय-जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय एवं यशःकीर्त्ति नामकर्म के उदय के साथ व्यवस्थापित होना प्रस्थापित है। **'निविट्ठाइं'** बद्ध कर्मों का तीव्र अनुभाव-जनक के रूप में स्थित होना निविष्ट का अर्थ है। **'अभिनिविट्ठाइं'** वही कर्म जब विशिष्ट, विशिष्टतर, विलक्षण अध्यवसायभाव के कारण अति तीव्र अनुभावजनक के रूप में व्यवस्थित होता है, तब अभिनिविष्ट कहलाता है। **'अभिसमन्नागयाइं'**—कर्म का उदय के अभिमुख होना 'अभिसमन्वागत' कहलाता है। **'उदिण्णाइं'**—कर्मों का उदय में आना, उदयप्राप्त होना उदीर्ण कहलाता है। अर्थात्—कर्म जब अपना फल देने लगता है, तब उदयप्राप्त या उदीर्ण कहलाता है। **'नो उवसंताइं'**—कर्म का उपशान्त न होना। उपशान्त न होने के यहाँ दो अर्थ हैं (१) कर्मबन्ध का सर्वथा अभाव को प्राप्त न होना, (२) अथवा कर्मबन्ध (बद्ध) हो चुकने पर भी निकाचित या उदयादि अवस्था के उद्रेक से रहित न होना।

ये सभी शब्द कर्मसिद्धान्त के पारिभाषिक शब्द हैं।[3]

आशय—प्रस्तुत प्रसंग में इनसे आशय यही है कि रत्नप्रभादि तीन नरकपृथ्वी के जिस नारक ने पूर्वकाल में तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया है और बांधा हुआ वह कर्म उदय में आया है,

---

१. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ३२५-३२६
२. पण्णवणासुत्तं (प्रस्तावना आदि) भा. २, पृ. ११४
३. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्र ४०२-४०३

वही नारक तीर्थंकरपद प्राप्त करता है। जिसने पूर्वकाल में तीर्थंकर नामकर्म का बंध ही नहीं किया, अथवा बंध करने पर भी जिसके उसका उदय नहीं हुआ, वह तीर्थंकरपद प्राप्त नहीं करता।[1]

अन्तिम चार नरकपृथ्वियों के नारकों की उपलब्धि पंक, धूप, तमः और तमस्तमःपृथ्वी के नारक अपने-अपने भव से निकल कर तीर्थंकरपद प्राप्त नहीं कर सकते, वे क्रमशः अन्तक्रिया, सर्वविरति, देशविरति चारित्र तथा सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं।

असुरकुमारादि से वनस्पतिकायिक तक—के जीवन अपने-अपने भवों से उद्वर्त्तन करके सीधे तीर्थंकरपद प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु अन्तक्रिया (मोक्षप्राप्ति) कर सकते हैं। वसुदेवचरित में नागकुमारों में से उद्वृत्त हो कर सीधे ऐरवत क्षेत्र में इसी अवसर्पिणीकाल में चौबीसवें तीर्थंकर होने का कथन है। इस विषय में क्या रहस्य है, यह केवली ही जानते हैं।[2]

नीचे इस द्वार की तालिका दी जाती है, जिससे जीव का विकासक्रम जाना जा सके।

मनुष्य का अनन्तर पूर्वभव	मनुष्यों में सम्भवित उपलब्धि
रत्नप्रभा से वालुकाप्रभा तक के नारक	तीर्थंकरपद
पंकप्रभा के नारक	मोक्ष
धूमप्रभा के नारक	सर्वविरति
तमःप्रभा के नारक	देशविरति
तमस्तमःप्रभा के नारक	सम्यक्त्व
समस्त भवनपति देव	मोक्ष
पृथ्वीकायिक-अप्कायिक जीव	मोक्ष
तेजस्कायिक-वायुकायिक जीव (मनुष्यभव नहीं)	तिर्यञ्चभव में धर्मश्रवण
वनस्पतिकायिक जीव	मोक्ष
द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय जीव	मनःपर्यायज्ञान
पंचेन्द्रियतिर्यञ्च	मोक्ष
मनुष्य	मोक्ष
वाणव्यन्तर देव	मोक्ष
ज्योतिष्क देव	मोक्ष
समस्त वैमानिक देव	तीर्थंकरपद[3]

छठा चक्रिद्वार

१४५९. रयणप्पभापुढविणेरइए णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता चक्कवट्टित्तं लभेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए लभेज्जा, अत्थेगइए णो लभेज्जा।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र प्रमेयबोधिनी टीका भा. ४, पृ. ५५५

२. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्र ४०३

३. पण्णवणासुत्तं (प्रस्तावना आदि) भा. २, पृ. ११५

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?

गोयमा ! जहा रयणप्पभापुढविणेरइयस्स तित्थगरत्ते (सु. १४४४)।

[१४५९ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी का नैरयिक (अपने भव से) उद्वर्त्तन करके क्या चक्रवर्तीपद प्राप्त कर सकता है ?

[उ.] गौतम ! (इनमें से) कोई (नारक) चक्रवर्तीपद प्राप्त करता है, कोई प्राप्त नहीं करता है।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि कोई (रत्नप्रभापृथ्वी का नारक) चक्रवर्तित्व प्राप्त कर सकता है और कोई प्राप्त नहीं करता है ?

[उ.] गौतम ! जैसे (सू. १४४४ में) रत्नप्रभापृथ्वी के नारक को तीर्थंकरत्व (प्राप्त होने, न होने के कारणों का कथन किया है, उसी प्रकार उसके चक्रवर्तीपद प्राप्त होने, न होने का कथन समझना चाहिए।)

१४६०. सक्करप्पभापुढविणेरइए अणंतरं उव्वट्टित्ता चक्कवट्टित्तं लभेज्जा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१४६० प्र.] (भगवन्) ! शर्कराप्रभापृथ्वी का नारक (अपने भव से) उद्वर्त्तन करके सीधा चक्रवर्तीपद पा सकता है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है।

१४६१. एवं जाव अहेसत्तमापुढविणेरइए।

[१४६१] इसी प्रकार (वालुकाप्रभापृथ्वी के नारक से ले कर) अधःसप्तमपृथ्वी के नारक तक (के विषय में समझ लेना चाहिए।)

१४६२. तिरिय-मणुएहिंतो पुच्छा।

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१४६२ प्र.] (तिर्यञ्चयोनिक और मनुष्यों के विषय में) पृच्छा है (कि ये) तिर्यञ्चयोनिकों और मनुष्यों से (निकल कर सीधे क्या चक्रवर्ती पद प्राप्त कर सकते हैं ?)

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१४६३. भवणवइ-वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिएहिंतो पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगइए लभेज्जा, अत्थेगइए णो लभेज्जा। दारं ६॥

[१४६३ प्र.] (इसी प्रकार) भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव के सम्बन्ध में प्रश्न है कि (क्या वे अपने-अपने भवों से च्यवन कर सीधे चक्रवर्तीपद पा सकते हैं ?)

[उ.] गौतम ! (इनमें से) कोई चक्रवर्तीपद प्राप्त कर सकता है (और) कोई प्राप्त नहीं कर सकता है।

— छठा द्वार ॥६॥

विवेचन—चक्रवर्तीपद-प्राप्ति की विचारणा- प्रस्तुत सप्तम द्वार में चक्रवर्तीपद किसको प्राप्त होता है, किसको नहीं ? इस विषय में विचारणा की गई है।

निष्कर्ष—चक्रवर्तीपद के योग्य जीव प्रथम नरक के नारक और चारों प्रकार के देवों में से अनन्तर मनुष्यभव में जन्म लेने वाले हैं। शेष जीव (द्वितीय से सप्तम नरक तक तथा तिर्यञ्चों एवं मनुष्यों में से उत्पन्न होने वाले) नहीं। तीर्थंकरत्व-प्राप्ति की योग्यता के विषय में जो कारण प्रस्तुत किये गये थे, वे ही कारण चक्रवर्तित्वप्राप्ति की योग्यता के हैं।[1]

सप्तम : बलदेवत्वद्वार

१४६४. एवं बलदेवत्तं पि। णवरं सक्करप्पभापुढविणेरइए वि लभेज्जा। दारं ७॥

[१४६४] इसी प्रकार बलदेवत्व के विषय में भी समझ लेना चाहिए। विशेष यह है कि शर्कराप्रभापृथ्वी का नारक भी बलदेवत्व प्राप्त कर सकता है। —सप्तम द्वार॥७॥

विवेचन—**बलदेवत्व-प्राप्ति की विचारणा**—चक्रवर्तिपद-प्राप्ति के समान बलदेवपद-प्राप्ति का कथन समझना चाहिए। अर्थात् रत्नप्रभापृथ्वी के नारक तथा चारों प्रकार के देव अपने-अपने भवों से उद्वर्त्तन करके सीधे कोई (अमुक योग्यता से सम्पन्न) बलदेवपद प्राप्त कर सकते हैं, कोई (अमुक योग्यता से रहित) नहीं। किन्तु यहाँ विशेषता यह है कि शर्कराप्रभापृथ्वी का नारक भी अनन्तर उद्वर्त्तन करके बलदेवपद प्राप्त कर सकता है।[2]

अष्टम : वासुदेवत्वद्वार

१४६५. एवं वासुदेवत्तं दोहिंतो पुढवीहिंतो वेमाणिएहिंतो य अणुत्तरोववातियवज्जेहिंतो, सेसेसु णो इणट्ठे समट्ठे। दारं ८॥

[१४६५] इसी प्रकार दो पृथ्वियों (रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा पृथ्वी) से, तथा अनुत्तरौपपातिक देवों को छोड़कर शेष वैमानिकों से वासुदेवत्व प्राप्त हो सकता है, शेष जीवों में यह अर्थ समर्थ नहीं अर्थात् ऐसी योग्यता नहीं होती।

विवेचन वासुदेवपदप्राप्ति की विचारणा—प्रस्तुत द्वार में वासुदेवत्वप्राप्ति के सम्बन्ध में विचारणा की गई है। वासुदेवपद केवल रत्नप्रभा एवं शर्कराप्रभा पृथ्वी के नारकों से तथा पांच अनुत्तरविमान के देवों को छोड़कर शेष वैमानिक देवों से अनन्तर उद्वर्त्तन करके मनुष्यभव में उत्पन्न होने वाले जीवों को प्राप्त हो सकता है, शेष भवों से आए हुए जीव वासुदेव नहीं हो सकते हैं।[3]

नवम : माण्डलिकत्वद्वार

१४६६. मंडलियत्तं अहेसत्तमा-तेउ-वाउवज्जेहिंतो। दारं ९॥

[१४६६] माण्डलिकपद, अधःसप्तमपृथ्वी के नारकों तथा तेजस्कायिक, वायुकायिक भवों को छोड़कर (शेष सभी भवों से अनन्तर उद्वर्त्तन करके मनुष्यभव में आए हुए जीव प्राप्त कर सकते हैं।) —नवम द्वार॥९॥

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्रांक ४०३ (ख) पण्णवणासुत्तं (प्रस्तावनादि) भा. २, पृ. ११५

२. प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ४, पृ. ५६७-५६८

३. प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भाग ४, पृष्ठ ५६८

विवेचन माण्डलिकपदप्राप्ति का निषेध--केवल सप्तम नरक तथा तेजस्काय एवं वायुकाय में से निकलकर जन्म लेने वाले मनुष्य माण्डलिकपद प्राप्त नहीं कर सकते हैं।[1]

दशम : रत्नद्वार

१४६७. सेणावइरयणत्तं गाहावइरयणत्तं **वड्ढइरयणत्तं पुरोहियरयणत्तं इत्थिरयणत्तं च एवं चेव, णवरं अणुत्तरोववाइयवज्जेहिंतो।**

[१४६७] सेनापतिरत्नपद, गाथापतिरत्नपद, वर्धकीरत्नपद, पुरोहितरत्नपद और स्त्रीरत्नपद की प्राप्ति के सम्बन्ध में इसी प्रकार (अर्थात्--माण्डलिकत्वप्राप्ति के कथन के समान समझना चाहिए।) विशेषता यह है कि अनुत्तरौपपातिक देवों को छोड़ कर (सेनापतिरत्न आदि हो सकते हैं।)

१४६८. **आसरयणत्तं हत्थिरयणत्तं च रयणप्पभाओ णिरंतरं जाव सहस्सारो अत्थेगइए लभेज्जा, अत्थेगइए णो लभेज्जा।**

[१४६८] अश्वरत्न एवं हस्तिरत्नपद रत्नप्रभापृथ्वी से लेकर निरन्तर (लगातार) सहस्रार देवलोक के देव तक का कोई (जीव) प्राप्त कर सकता है, कोई प्राप्त नहीं कर सकता है।

१४६९. **चक्करयणत्तं छत्तरयणत्तं चम्मरयणत्तं दंडरयणत्तं असिरयणत्तं मणिरयणत्तं काकिणिरयणत्तं एतेसि णं असुरकुमारेहिंतो आरद्धं निरंतरं जाव ईसाणेहिंतो उववाओ, सेसेहिंतो णो इणट्ठे समट्ठे। दारं १०॥**

[१४६९] चक्ररत्न, छत्ररत्न, चर्मरत्न, दण्डरत्न, असिरत्न, मणिरत्न एवं काकिणीरत्न पर्याय में उत्पत्ति, असुरकुमारों से लेकर निरन्तर (लगातार) यावत् ईशानकल्प के देवों से हो सकती है, शेष भवों से (आए हुए जीवों में) यह योग्यता नहीं है। —दशम द्वार ॥१०॥

विवेचन चक्रवर्ती के विविधरत्नपद की प्राप्ति की विचारणा प्रस्तुत रत्नद्वार में चक्रवर्ती के १४ रत्नों में से कौन-सा रत्नपन किन-किन को प्राप्त हो सकता है? इस सम्बन्ध के विचारणा की गई है।

रत्नद्वार का सार यह है कि चक्रवर्ती के १४ रत्नों में से सेनापतिरत्न, गाथापतिरत्न, वर्धकीरत्न, पुरोहितरत्न और स्त्रीरत्न पद के लिए माण्डलिकत्व के समान सप्तम नरक, तेजस्काय, वायुकाय और अनुत्तर विमान में से बिना व्यवधान के आने वाले अयोग्य हैं। अश्वरत्न और हस्तिरत्न पद के लिए प्रथम नरक से लेकर लगातार सहस्रारकल्प तक के देव योग्य हैं तथा चक्ररत्न, चर्मरत्न, छत्ररत्न, दण्डरत्न, असिरत्न, मणिरत्न और काकिणीरत्न के लिए असुरकुमार से लेकर ईशानकल्प से[2] आने वाले योग्य हैं।

---

१. पण्णवणासुत्तं (प्रस्तावनादि) भा. २, पृ. ११५

२ पण्णवणासुत्तं (प्रस्तावनादि) भा. ४, पृ. ५६९

भव्य-द्रव्यदेव-उपपात-प्ररूपणा

१४७०. अह भंते ! असंजयभवियदव्वदेवाणं अविराहियसंजयमाणं विराहियसंजमाणं अविराहियसंजयमासंजमाणं विराहियसंजमासंजमाणं असण्णीणं तावसाणं कंदप्पियाणं चरग-परिव्वायगाणं किब्बिसियाणं तिरिच्छियाणं आजीवियाणं आभिओगियाणं सलिंगीणं दंसणवावण्णगाणं देवलोगेसु उववज्जमाणाणं कस्स कहिं उववाओ पण्णत्तो ?

गोयमा ! असंजयभवियदव्वदेवाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं उवरिमगेवेज्जगेसु, अविराहियसंजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे, विराहियसंजमाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे, अविराहियसंजमासंजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे, विराहियसंजमासंजमाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं जोइसिएसु, असण्णीणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं वाणमंतरेसु, तावसाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं जोइसिएसु, कंदप्पियाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे, चरग-परिव्वायगाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं बंभलोए कप्पे, किब्बिसियाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे उक्कोसेणं लंतए कप्पे, तेरिच्छियाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं सहस्सारे कप्पे, आजीवियाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे, एवं आभिओगाण वि, सलिंगीणं दंसणवावण्णगाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं उवरिमगेवेज्जएसु ।

[१४७० प्र.] भगवन् ! असंयत भव्य-द्रव्यदेव (अर्थात् जो असंयमी आगे जाकर देव होने वाले हैं) जिन्होंने संयम की विराधना नहीं की है, जिन्होंने संयम की विराधना की है, जिन्होंने संयमासंयम की विराधना नहीं की है, (तथा) जिन्होंने संयमासंयम की विराधना की है, जो असंज्ञी हैं, तापस हैं, कान्दर्पिक हैं, चरक-परिव्राजक हैं, किल्विषिक हैं, तिर्यञ्च गाय आदि पाल कर आजीविका करने वाले हैं अथवा आजीविकमतानुयायी हैं, जो आभियोगिक (विद्या, मंत्र, तंत्र आदि अभियोग करते) हैं, जो स्वलिंगी (समान वेष वाले) साधु हैं तथा जो सम्यग्दर्शन का वमन करने वाले (सम्यग्दर्शनव्यापन्न) हैं, ये जो देवलोकों में उत्पन्न हों तो (इनमें से) किसका कहाँ उपपात कहा गया है ?

[उ.] असंयत भव्य-द्रव्यदेवों का उपपाद जघन्य भवनवासी देवों में और उत्कृष्ट उपरिम ग्रैवेयक देवों में हो सकता है। जिन्होंने संयम की विराधना नहीं की है, उनका उपपाद जघन्य सौधर्मकल्प में और उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध में हो सकता है। जिन्होंने संयम की विराधना की है, उनका उपपात जघन्य भवनपतियों में, और उत्कृष्ट सौधर्मकल्प में होता है। जिन्होंने संयमासंयम की विराधना नहीं की है, उनका उपपात जघन्य सौधर्मकल्प में और उत्कृष्ट अच्युतकल्प में होता है। जिन्होंने संयमासंयम की विराधना की है, उनका उपपाद जघन्य भवनपतियों में और उत्कृष्ट ज्योतिष्क-देवों में होता है। असंज्ञी साधकों का उपपात जघन्य भवनवासियों में और उत्कृष्ट वाणव्यन्तरदेवों में होता है। तापसों का उपपाद जघन्य भवनवासीदेवों में और उत्कृष्ट ज्योतिष्कदेवों में, कान्दर्पिकों का उपपात जघन्य भवनपतियों में, उत्कृष्ट सौधर्मकल्प में, चरक-परिव्राजकों का उपपात जघन्य भवनपतियों में और उत्कृष्ट ब्रह्मलोककल्प में तथा किल्विषिकों का उपपात जघन्य सौधर्मकल्प में और उत्कृष्ट

लान्तककल्प में होता है। तैरश्चिकों का उपपात जघन्य भवनवासियों में और उत्कृष्ट सहस्रारकल्प में, आजीविकों का उपपात जघन्य भवनपतियों में और उत्कृष्ट अच्युतकल्प में होता है, इसी प्रकार आभियोगिक साधकों का उपपात भी जान लेना चाहिए। स्वलिंग (समान वेष वाले) साधुओं का तथा दर्शन-व्यापन्न व्यक्तियों का उपपात जघन्य भवनवासीदेवों में और उत्कृष्ट उपरिम-ग्रैवेयकदेवों में होता है।

विवेचन—मर कर देवलोकों में उत्पन्न होने वालों की चर्चा—प्रस्तुत सूत्र (१४७०) में भविष्य में देवगति में जाने वाले विविध साधकों के विषय में चर्चा की गई है कि वे मरकर कहाँ, किन देवों में उत्पन्न हो सकते हैं? वस्तुतः इस चर्चा-विचारणा का परम्परा से अन्तक्रिया से सम्बन्ध है।

विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों के विशेषार्थ—असंयत भव्यद्रव्यदेव : दो अर्थ—(१) चारित्र के परिणामों से शून्य (भव्य देवत्वयोग्य अथवा मिथ्यादृष्टि अभव्य या भव्य श्रमणगुणधारक अखिल समाचारी के अनुष्ठान से युक्त द्रव्यलिंगधारी (मलयगिरि के मत से) तथा (२) अन्य आचार्यों के मतानुसार—देवों में उत्पन्न होने योग्य असंयतसम्यग्दृष्टि जीव। **अविराधितसंयम**—प्रव्रज्याकाल से लेकर जिनके चारित्रपरिणाम अखण्डित रहे हैं, किन्तु संज्वलन कषाय के सामर्थ्य से अथवा प्रमत्तगुणस्थानकवश स्वल्प मायादि दोष की सम्भावना होने पर जिन्होंने सर्वथा आचार का उपघात नहीं किया है, वे अविराधितसंयम हैं। **विराधितसंयम**—जिन्होंने संयम को सर्वात्मना खण्डित—विराधित कर दिया है, प्रायश्चित्त लेकर भी पुनः खण्डित संयम को सांधा (जोड़ा) नहीं है, वे विराधितसंयम हैं। **अविराधितसंयमासंयम**—वे श्रावक, जिन्होंने देशविरतिसंयम को स्वीकार करने के समय से देशविरति के परिणामों को अखण्डित रखा है। **विराधितसंयमासंयम**—वे श्रावक, जिन्होंने देशविरतिसंयम को सर्वथा खण्डित कर दिया और संयमासंयम के खण्डन का प्रायश्चित्त लेकर पुनर्वीकरण नहीं किया है; वे। **असंज्ञी**—मनोलब्धि से रहित अकामनिर्जरा करने वाले साधक। **तापस**—बालतपस्वी, जो सूखे या वृक्ष से झड़े हुए पत्तों आदि का उपभोग करते हैं। **कान्दर्पिक**—व्यवहार से चारित्रपालन करने वाले, किन्तु जो कन्दर्प एवं कुत्सित चेष्टा करते हैं, हँसी-मजाक करते हैं, लोगों को अपनी वाणी और चेष्टा से हँसाते हैं। हाथ की सफाई, जादू आदि बाह्य चमत्कार बताकर लोगों को विस्मय में डाल देते हैं। **चरक-परिव्राजक**—कपिलमतानुयायी त्रिदण्डी, जो आटी के साथ भिक्षाचर्या करते हैं अथवा चरक-कच्छोटक आदि साधक एवं परिव्राजक। **किल्बिषिक**—व्यवहार से चारित्रवान् किन्तु जो ज्ञान, (दर्शन, चारित्र) केवली, धर्माचार्य एवं सर्वसाधुओं का अवर्णवाद करने का पाप करते हैं, अथवा इनके साथ माया (कपट) करते हैं। दूसरे के गुणों और अपने दोषों को जो छिपाते हैं, जो पर-छिद्रान्वेषी हैं, चोर की तरह सर्वत्र शंकाशील, गूढाचारी, असत्यभाषी, क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टा (तुनुकमिजाजी) एवं निह्नव हैं, वे किल्बिषिक कहलाते हैं। **तैरश्चिक**—जो साधक गाय आदि पशुओं का पालन करके जीते हैं, या देशविरत हैं। **आजीविक**—जो अविवेकपूर्वक लाभ, पूजा, सम्मान, प्रसिद्धि, आदि के लिए चारित्र का पालन करते हुए आजीविका करते हैं, अथवा आजीविकमत (गोशालकमत) के अनुयायी पाखण्डि-विशेष। **आभियोगिक**—जो साधक अपने गौरव के लिए चूर्णयोग, विद्या, मंत्र, तंत्र आदि से दूसरों का वशीकरण, सम्मोहन, आकर्षण आदि (अभियोग) करते हैं। वे केवल व्यवहार से चारित्रपालन करते हैं, किन्तु मंत्रादिप्रयोग करते हैं। **स्वलिंगी-दर्शनव्यापन्न**—जो साधु रजोहरण आदि साधुवेष से स्वलिंगी

हों, किन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हों, ऐसे निह्नव।[1]

इनमें से कोई देव हो तो किस देवलोक तक जाता है ? इसके लिए तालिका देखिये—

क्रम	साधक का प्रकार	देवलोक में कहाँ से कहाँ तक जाता है ?
१.	असंयत भव्यद्रव्यदेव	भवनवासी से नौ ग्रैवेयक देवों तक
२.	संयम का अविराधक	सौधर्मकल्प से सर्वार्थसिद्धविमान तक
३.	संयम का विराधक	भवनपति देवों से लेकर सौधर्मकल्प तक
४.	संयमासंयम (देशविरति) का अविराधक	सौधर्मकल्प से अच्युतकल्प तक
५.	संयमासंयम का विराधक	भवनवासी से ज्योतिष्क देवों तक
६.	अकामनिर्जराशील असंज्ञी	भवनवासी से वाणव्यन्तर देवों तक
७.	तापस	भवनवासी से ज्योतिष्क देवों तक
८.	कान्दर्पिक	भवनवासी से सौधर्मकल्प तक
९.	चरक-परिव्राजक	भवनवासी देवों से ब्रह्मलोक तक
१०.	किल्बिषिक	सौधर्मकल्प से लान्तक तक
११.	तैरश्चिक (अथवा देशविरति तिर्यञ्च)	भवनवासी से सहस्रारकल्प तक
१२.	आजीविक या आजीवक	भवनवासी से अच्युतकल्प तक
१३.	आभियोगिक	भवनवासी से अच्युतकल्प तक
१४.	स्वलिंगी, किन्तु दर्शनभ्रष्ट (निह्नव)	भवनवासी से ग्रैवेयक देव तक[2]

फलितार्थ—इस समग्र चर्चा के आधार से निम्नोक्त मन्तव्य फलित होता है

(१) आन्तरिक योग्यता के बिना भी बाह्य आचरण शुद्ध हो, तो जीव ग्रैवेयक देवलोक तक जाता है। (२) इससे अन्ततोगत्वा जैनलिंग धारण करने वाले का भी महत्त्व है, यह नं. १ और नं. १४ के साधक के लिए दिए गए निर्णय से फलित होता है। (३) आन्तरिक योग्यतापूर्वक संयम का यथार्थ पालन करे तो सर्वोच्च सर्वार्थसिद्ध देवलोक तक में जाता है।[3]

असंज्ञी-आयुष्यप्ररूपण

१४७१. कतिविहे णं भंते ! असण्णिआउए पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे असण्णिआउए पण्णत्ते। तं जहा—णेरइयअसण्णिआउए जाव देवअसण्णिआउए।

[१४७१ प्र.] भगवन् ! असंज्ञी-आयुष्य कितने प्रकार का कहा गया है ?

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्र ४०४ से ४०६ तक
(ख) बृहत्कल्पभाष्य १२९४-१३०१, १३०२-१३०७, तथा १३०८ से १३१४ गा.
(ग) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ४, पृ. ५७४ से ५७७ तक
२. पण्णवणासुत्तं (प्रस्तावनादि) भा. २, पृ. ११५-११६
३. वही भा. २, पृ. ११६

[१४७१ उ.] गौतम ! असंज्ञि-आयुष्य चार प्रकार का कहा गया है । वह इस प्रकार - नैरयिक-असंज्ञि-आयुष्य से लेकर देव-असंज्ञि-आयुष्य तक ।

१४७२. असण्णी णं भंते ! जीवे किं णेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं पकरेइ ?

गोयमा ! णेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं पकरेइ, णेरइयाउयं पकरेमाणे जहण्णेणं दस वाससहस्साइं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेमाणे जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पकरेइ, एवं मणुयाउयं पि, देवाउयं जहा णेरइयाउयं ।

[१४७२ प्र.] भगवन् ! क्या असंज्ञी (जीव) नैरयिक की आयु का उपार्जन करता है अथवा यावत् देवायु का उपार्जन करता है ?

[उ.] गौतम ! वह नैरयिक-आयु का भी उपार्जन करता है, यावत् देवायु का भी उपार्जन करता है । नारकायु का उपार्जन करता हुआ असंज्ञी जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की आयु का उपार्जन (बन्ध) कर लेता है । तिर्यञ्चयोनिक-आयुष्य का उपार्जन (बन्ध) करता हुआ वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्टतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग का उपार्जन करता है । इसी प्रकार मनुष्यायु एवं देवायु का उपार्जन (बन्ध) भी नारकायु के समान कहना चाहिए ।

१४७३. एयस्स णं भंते ! णेरइयअसण्णिआउयस्स जाव देवअसण्णिआउयस्स य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे देवअसण्णिआउए, मणुयअसण्णिआउए असंखेज्जगुणे, तिरिक्खजोणिय-असण्णिआउए असंखेज्जगुणे, नेरइयअसन्निआउए असंखिज्जगुणे ।

॥ पण्णवणाए भगवतीए वीसइमं अंतकिरियापयं समत्तं ॥

[१४७३ प्र.] भगवन् ! इस नैरयिक-असंज्ञी आयु यावत् देव-असंज्ञी-आयु में से कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ?

[उ.] हे गौतम ! सबसे अल्प देव-असंज्ञी-आयु है, (उससे) मनुष्य-असंज्ञी-आयु असंख्यातगुणी (अधिक) है, (उससे) तिर्यञ्चयोनिक असंज्ञी-आयु असंख्यातगुणी (अधिक) है, (और उससे भी) नैरयिक-असंज्ञी-आयु असंख्यातगुणी (अधिक) है ।

विवेचन—असंज्ञी की आयु : प्रकार, स्थिति और अल्पबहुत्व - प्रस्तुत तीन सूत्रों (१४७१ से १४७३) में असंज्ञी-अवस्था में नरकादि आयु का जो बन्ध होता है, उसकी तथा उसके बांधने वाले के अल्पबहुत्व की चर्चा की गई है ।

असंज्ञि-आयु का विवक्षित अर्थ—असंज्ञी होते हुए जीव परभव के योग्य जिस आयु का बन्ध करता है, वह असंज्ञी-आयु कहलाती है । नैरयिक के योग्य असंज्ञी की आयु नैरयिक-असंज्ञी-आयु कहलाती है । इसी प्रकार तिर्यग्योनिक-असंज्ञी-आयु, मनुष्य-असंज्ञी-आयु तथा देवासंज्ञी-आयु भी समझ

लेनी चाहिए। यद्यपि असंज्ञी-अवस्था में भोगी जाने वाली आयु भी असंज्ञी-आयु कहलाती है, किन्तु यहाँ उसकी विवक्षा नहीं है।[1]

चारों प्रकार की असंज्ञी-आयु की स्थिति—(१) जघन्य नरकायु का बन्ध १० हजार वर्ष का कहा है, वह प्रथम नरक के प्रथम प्रस्तट (पाथड़े) की अपेक्षा से समझना चाहिए तथा उत्कृष्ट नरकायुबन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग को उपार्जित करता है, यह कथन रत्नप्रभापृथ्वी के चौथे प्रतर के मध्यम स्थिति वाले नारक की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि रत्नप्रभापृथ्वी के प्रथम प्रस्तट में जघन्य १० हजार वर्ष की स्थिति है, जबकि उत्कृष्ट स्थिति ९० हजार वर्ष की है। दूसरे प्रस्तट में जघन्य १० लाख वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति ९० लाख वर्ष की है। इसी के तृतीय प्रस्तट में जघन्य स्थिति ९० लाख वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति एक कोटि पूर्व की है। चतुर्थ प्रस्तट में जघन्य एक कोटिपूर्व की है और उत्कृष्ट स्थिति सागरोपम के दशवें भाग की है। अतः यहाँ पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति मध्यम है।

तिर्यञ्चयोनिक असंज्ञी-आयु उत्कृष्टतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग की कही है, वह युगलिया तिर्यञ्च की अपेक्षा से समझना चाहिए। इसी प्रकार असंज्ञी-मनुष्यायु भी जो उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की कही है, वह भी युगलिक नरों की अपेक्षा से समझना चाहिए।[2]

असंज्ञी-आयुष्यों का अल्पबहुत्व—भी इन चारों के ह्रस्व और दीर्घ की अपेक्षा से समझना चाहिए।[3]

॥ प्रज्ञापना भगवती का बीसवाँ अन्तक्रियापद समाप्त ॥

---

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्र ४०७

२. वही, मलय. वृत्ति, पत्र ४०७

३. वही, मलय. वृत्ति, पत्र ४०७

एगवीसइमं : ओगाहणसंठाणपयं

इक्कीसवाँ : अवगाहना-संस्थान-पद

प्राथमिक

- यह प्रज्ञापनासूत्र का इक्कीसवाँ अवगाहना-संस्थान-पद है।
- इस पद में शरीर के सम्बन्ध में विविध पहलुओं से विचारणा की गई है।
- **पूर्वपदों से इस पद में अन्तर**—बारहवें 'शरीरपद' में तथा सोलहवें 'प्रयोगपद' में भी शरीर-सम्बन्धी चर्चा की गई है, परन्तु शरीरपद में नारकादि चौवीस दण्डकों में पांच शरीरों में से कौन-कौन सा-शरीर किसके होता है ? तथा बद्ध और मुक्त शरीरों की द्रव्य, क्षेत्र और काल की अपेक्षा से कितनी संख्या है ? इत्यादि विचारणा की गई है और सोलहवें प्रयोगपद में मन, वचन और काय के आधार से आत्मा के द्वारा होने वाले व्यापार एवं गतियों का वर्णन है। प्रस्तुत अवगाहना-संस्थान-पद में शरीर के प्रकार, आकार, प्रमाण, पुद्गलचयोपचय, एक साथ एक जीव में पाये जाने वाले शरीरों की संख्या, शरीरगत द्रव्य एवं प्रदेशों का अल्पबहुत्व एवं अवगाहना के अल्पबहुत्व की सात द्वारों में विस्तृत चर्चा की गई है।[1]
- शरीर आत्मा का सबसे निकटवर्ती और धर्मसाधना में सहायक है। आत्मविकास, जप, तप, ध्यान, सेवा आदि सब स्वस्थ एवं सशक्त शरीर से ही हो सकते हैं। इनमें आहारकशरीर इतना चमत्कारी, हलका और दिव्य, भव्य एवं स्फटिक-सा उज्ज्वल होता है कि किसी प्रकार की शंका उपस्थित होने पर चतुर्दशपूर्वधारी मुनि उक्त शरीर को तीर्थंकर के पास भेजता है। वह उसके माध्यम से समाधान पा लेता है। उसके पश्चात् शीघ्र ही वह शरीर पुनः औदारिक शरीर में समा जाता है।[2]
- प्रस्तुत पद में सात द्वार हैं- -(१) विधिद्वार, (२) संस्थानद्वार, (३) प्रमाणद्वार, (४) पुद्गल-चयनद्वार, (५) शरीरसंयोगद्वार, (६) द्रव्य-प्रदेशाल्प-बहुत्वद्वार और (७) शरीरावगाहनाल्प-बहुत्वद्वार।
- **प्रथम विधिद्वार** में शरीर के मुख्य ५ भेद तथा एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के शरीर के प्रभेदों का वर्णन है। शरीर के मुख्य ५ प्रकार हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। उपनिषदों में आत्मा के ५ कोषों की चर्चा है। उनमें से सिर्फ अन्नमयकोष के साथ औदारिक

---

१. पण्णवणासुत्तं भा. २, पृ. ८८ तथा १०१-१०२

२. वही, पृ. ८९

शरीर की तुलना हो सकती है। सांख्य आदि दर्शनों में अव्यक्त, सूक्ष्म या लिंग शरीर बताया गया है, जिसकी तुलना जैनसम्मत कार्मणशरीर से हो सकती है।[1]

- सर्वप्रथम औदारिक शरीर के भेद, संस्थान और प्रमाण, इन तीन द्वारों को क्रमशः एक साथ लिया गया है। औदारिक शरीर के भेदों की गणना में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय—मनुष्य तक के जितने जीव-भेद-प्रभेद हैं, उतने ही भेद औदारिक शरीर के गिनाए हैं। औदारिक शरीर का संस्थान—आकृति का भी इतने ही जीवभेदों के क्रम से विचार किया गया है। पृथ्वीकाय का मसूर की दाल जैसा, अप्काय का स्थिर जलबिन्दु जैसा, तेजस्काय का सुइयों के ढेर-सा, वायुकाय का पताका जैसा और वनस्पतिकाय का नाना प्रकार का आकार है। द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय एवं सम्मूच्छिमपंचेन्द्रिय का हुंडकसंस्थान है। सम्मूच्छिम के सिवाय बाकी के औदारिक शरीरी जीवों के छहों प्रकार के संस्थान होते हैं। औदारिकादि शरीर के प्रमाणों अर्थात्—ऊँचाई का विचार भी एकेन्द्रियादि जीवों की अपेक्षा से किया गया है।
- वैक्रिय शरीर का भी जीवों के भेदों के अनुसार[2] विचार किया गया है। उनमें बादर-पर्याप्त वायु और पंचेन्द्रियतिर्यंचों में संख्यात वर्षायुष्क पर्याप्त गर्भजों को उक्त शरीर होता है और पर्याप्त मनुष्यों में से कर्मभूमि के मनुष्य के ही होता है। सभी देवों एवं नारकों के वैक्रिय शरीर होता है, यह बता कर उसकी आकृति का वर्णन किया है। भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय, इन दोनों को लक्ष्य में रखा गया है।
- आहारक शरीर एक ही प्रकार का है। वह कर्मभूमि के ऋद्धिसम्पन्न प्रमत्तसंयत मनुष्य को ही होता है। उसका संस्थान समचतुरस्र होता है। उत्कृष्ट ऊँचाई पूर्ण हाथ जितनी होती है।[3]
- तैजस और कार्मण शरीर एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों के होता है। इसलिए जीव के भेदों जितने ही उसके भेद होते हैं। तैजस और कार्मण शरीर की अवगाहना का विचार मारणान्तिक-समुद्घात को लक्ष्य में रख कर किया गया है। मृत्यु के समय जीव को मर कर जहाँ जाना होता है, वहाँ तक की अवगाहना यहाँ कही गई है।
- शरीर के निर्माण के लिए पुद्गलों का चय-उपचय एवं अपचय कितनी दिशाओं से होता है—इसका उल्लेख भी चौथे द्वार में किया गया है।
- पाँचवे द्वार में—एक जीव में एक साथ कितने शरीर रह सकते हैं? उसका उल्लेख है।
- छठे द्वार में शरीरगत द्रव्यों और प्रदेशों के अल्प-बहुत्व की चर्चा की गई है।
- सातवें द्वार में अवगाहना का अल्पबहुत्व जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट की अपेक्षा से प्रतिपादित है। मूलपाठ में ही उक्त सभी विषय स्पष्ट हैं।[4]

---

१. (क) भगवती १७।१ सू. ५९२ (ख) तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली (वेलवलकर)
(ग) सांख्यकारिका (वेलवलकर और रानडे)

२. पण्णवणासुत्तं भा. २, पृ. ११७

३. वही, भा. २, पृ. ११८

४. वही, भा. २, पृ. ११९

एगवीसइमं : ओगाहणसंठाणपयं

इक्कीसवाँ : अवगाहना-संस्थान-पद

अर्थाधिकार-प्ररूपणा

१४७४. विहि १ संठाण २ पमाणं ३ पोग्गलचिणणा ४ सरीरसंजोगो ५ ।
दव्व-पएसप्पबहुं ६ सरीरओगाहणप्पबहुं ७ ॥२१४॥

[१४७४ गाथार्थ] (इस इक्कीसवें पद में ७ द्वार हैं—) (१) विधि, (२) संस्थान, (३) प्रमाण, (४) पुद्गलचयन, (५) शरीरसंयोग, (६) द्रव्य-प्रदेशों का अल्पबहुत्व, एवं (७) शरीरावगाहना-अल्पबहुत्व ।

विवेचन शरीरसम्बन्धी सात द्वार प्रस्तुत पदों में शरीर से सम्बन्धित सात द्वारों का वर्णन हैं, जिनके नाम मूलगाथा में दिये गए हैं ।

सात द्वारों में विशेष निरूपण—(१) **विधिद्वार**—इसमें शरीर के प्रकार और उनके भेद-प्रभेदों का वर्णन है, (२) **संस्थानद्वार**- पंचविध शरीरों के संस्थानों-आकारों का निरूपण है; (३) **प्रमाणद्वार**—औदारिक आदि शरीरों की लम्बाई-चौड़ाई (अवगाहना) के प्रमाण का वर्णन है, (४) **पुद्गलचयनद्वार**—औदारिक आदि शरीर के पुद्गलों का चय-उपचय कितनी दिशाओं से होता है ? इसका निरूपण है, (५) **शरीरसंयोगद्वार**—किस शरीर के साथ किस शरीर का संयोग अवश्यम्भावी है, किसके साथ वैकल्पिक है ? इसका वर्णन है, (६) **द्रव्यप्रदेशाल्पबहुत्वद्वार** द्रव्यों और प्रदेशों की अपेक्षा से शरीरों के अल्पबहुत्व का वर्णन है और (७) **शरीरावगाहनाऽल्पबहुत्वद्वार**—पांचों शरीरों की अवगाहना के अल्पबहुत्व का निरूपण है ।[1]

१-२-३. विधि-संस्थान-प्रमाणद्वार

१४७५ कति णं भंते ! सरीरया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच सरीरया पण्णत्ता । तं जहा—ओरालिए १ वेउव्विए २ आहारए ३ तेयए ४ कम्मए ५ ।

[१४७५ प्र.] भगवन् ! कितने शरीर कहे गए हैं ?

[उ.] गौतम ! पांच शरीर कहे गए हैं । वे इस प्रकार—(१) औदारिक, (२) वैक्रिय, (३) आहारक, (४) तैजस और (५) कार्मण ।

विवेचन शरीर के मुख्य पांच प्रकार—प्रस्तुत सूत्र में शरीर के मुख्य ५ प्रकारों का निरूपण है । प्रतिक्षण शीर्ण-क्षीण होते हैं, इसलिए ये शरीर कहलाते हैं ।

---

१. प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ४, पृ. ५८७

पांचों शरीरों के लक्षण—(१) **औदारिकशरीर**—जो उदार अर्थात् प्रधान हो, उसे औदारिक शरीर कहते हैं। औदारिक शरीर की प्रधानता तीर्थंकर, गणधर आदि के औदारिक शरीर होने की अपेक्षा से है। अथवा उदार का अर्थ विशाल यानी बृहत्परिमाण वाला है। क्योंकि औदारिक शरीर एक हजार योजन से भी अधिक लम्बा हो सकता है, इसलिए अन्य शरीरों की अपेक्षा यह विशाल परिमाण वाला है। औदारिक शरीर की यह विशालता भवधारणीय शरीर की अपेक्षा से समझनी चाहिए, अन्यथा उत्तरवैक्रिय शरीर तो एक लाख योजन का भी हो सकता है।[1]

(२) **वैक्रियशरीर**—जिस शरीर के द्वारा विविध, विशिष्ट या विलक्षण क्रियाएँ हों, वह वैक्रिय-शरीर कहलाता है। जो शरीर एक होता हुआ, अनेक बन जाता है, अनेक होता हुआ, एक हो जाता है, छोटे से बड़ा और बड़े से छोटा, खेचर से भूचर और भूचर से खेचर हो जाता है तथा दृश्य होता हुआ अदृश्य और अदृश्य होता हुआ दृश्य बन जाता है, इत्यादि विलक्षण लक्षण वाला शरीर वैक्रिय है। वह दो प्रकार का होता है—औपपातिक (जन्मजात) और लब्धि-प्रत्यय। औपपातिक वैक्रिय-शरीर उपपात-जन्म वाले देवों और नारकों का होता है और लब्धि-प्रत्यय वैक्रियशरीर लब्धि-निमित्तक होता है, जो तिर्यञ्चों और मनुष्यों में किसी-किसी में पाया जाता है।[2]

(३) **आहारकशरीर**—चतुर्दशपूर्वधारी मुनि तीर्थंकरों का अतिशय देखने आदि के प्रयोजन-वश विशिष्ट आहारकलब्धि से जिस शरीर का निर्माण करते हैं, वह आहारकशरीर कहलाता है। "श्रुतकेवली द्वारा प्राणिदया, तीर्थंकरादि की ऋद्धि के दर्शन, सूक्ष्मपदार्थावगाहन के हेतु से तथा किसी संशय के निवारणार्थ जिनेन्द्र भगवान् के चरणों में जाने का कार्य होने पर अपनी विशिष्ट लब्धि से शरीर निर्मित किये जाने के कारण इसको आहारकशरीर कहा गया है।" यह शरीर वैक्रियशरीर की अपेक्षा अत्यन्त शुभ और स्वच्छ स्फटिक शिला के सदृश शुभ पुद्गलसमूह से रचित होता है।[3]

(४) **तैजसशरीर**—तैजसपुद्गलों से जो शरीर बनता है, वह तैजसशरीर कहलाता है। यह शरीर उष्मारूप और भुक्त आहार के परिणमन (पाचन) का कारण होता है। तैजसशरीर के निमित्त से ही विशिष्ट तपोजनित लब्धि वाले पुरुष के शरीर से तेजोलेश्या का निर्गम होता है। यह तैजसशरीर सभी संसारी जीवों को होता है, शरीर की उष्मा (उष्णता) से इसकी प्रतीति होती है, जो आहार को पचा कर उसे रसादिरूप में परिणत करता है, अथवा तेजोलब्धि के निमित्त से होता है। इसी कारण इसे तैजसशरीर समझना चाहिए।[4]

१. प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक ४०९
२. वही, पत्र ४०९
३. (क) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्र ४०९
   (ख) "कज्जंमि समुप्पण्णे सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए।
   जं एत्थ आहरिज्जइ, भणितं आहारगं तं तु ॥१॥
   पाणिदयरिद्धि-दंसणसुहुमपयत्थावगहणहेउं वा।
   संसयवोच्छेयत्थं गमणं जिणपायमूलंमि ॥२॥
४. (क) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्र ४०९
   (ख) "सव्वस्स उम्हसिद्धं रसाइ आहारपाकजणगं च।
   तेयगलद्धिनिमित्तं च तेयगं होइ नायव्वं ॥"

(५) **कार्मणशरीर**—जो शरीर कर्मज (कर्म से उत्पन्न) हो, अथवा जो कर्म का विकार हो, वह कार्मणशरीर है। आशय यह है, कि कर्म परमाणु ही आत्मप्रदेशों के साथ दूध-पानी की भांति एकमेक हो कर परस्पर मिलकर शरीर के रूप में परिणत हो जाते हैं, तब वे कार्मण (कर्मज) शरीर कहलाते हैं। कहा भी है—कार्मणशरीर कर्मों का विकार (कार्य) है, वह अष्टविध विचित्र कर्मों से निष्पन्न होता है। इस शरीर को समस्त शरीरों का कारण समझना चाहिए। अतः औदारिक आदि समस्त शरीरों का बीजरूप (कारणरूप) कार्मणशरीर ही है। जब तक भवप्रपञ्च रूपी अंकुर के बीजभूत कार्मणशरीर का उच्छेद नहीं हो जाता, तब तक शेष शरीरों का प्रादुर्भाव रुक नहीं सकता। यह कर्मज शरीर ही जीव को (मरने के बाद) दूसरी गति में संक्रमण कराने में कारण है। तैजससहित कार्मणशरीर के युक्त हो कर जीव जब मर कर अन्य गति में जाता है अथवा दूसरी गति से मनुष्यगति में आता है, तब उन पुद्गलों की अतिसूक्ष्मता के कारण जीव चर्मचक्षुओं से नहीं दिखाई देता। अन्यतीर्थिकों ने भी कहा है—"यह भवदेह बीच में (जन्म और मरण के मध्यकाल में) भी रहता है, किन्तु अतिसूक्ष्म होने के कारण शरीर से निकलता अथवा प्रवेश करता हुआ दिखाई नहीं देता।" तैजस और कार्मणशरीर के बदले अन्य धर्मों में सूक्ष्म और कारण शरीर माना गया है।[1]

औदारिकशरीर में विधिद्वार

१४७६. ओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—एगिंदियओरालियसरीरे जाव पंचेंदियओरालियसरीरे।

[१४७६ प्र.] भगवन् ! औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार- एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर यावत् पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर।

१४७७. एगिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—पुढविक्काइयएगिंदियओरालियसरीरे जाव वणस्सइकाइयएगिंदियओरालियसरीरे।

[१४७७ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! वह (एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर) पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर यावत् वनस्पतिकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर।

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पत्रांक ४१०

(ख) "कम्मविगारो कम्मणट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं।
सव्वेसि सरीराणं कारणभूतं मुणेयव्वं॥"

(ग) "अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते।
निष्क्रामन् प्रविशन् वापि, नाभावोऽनीक्षणादपि॥"

१४७८. [१] पुढविक्काइयएगिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—सुहुमपुढविक्काइयएगिंदियओरालियसरीरे य बादरपुढविक्काइयएगिंदियओरालियसरीरे य ।

[१४७८-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार का कहा गया है, यथा—सूक्ष्मपृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर और बादरपृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर ।

[२] सुहुमपुढविक्काइयएगिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-- पज्जत्तगसुहुमपुढविक्काइयएगिंदियओरालियसरीरे य अपज्जत्तगसुहुमपुढविक्काइयएगिंदियओरालियसरीरे य ।

[१४७८-२ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्मपृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा है ?

[उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार-- पर्याप्त-सूक्ष्मपृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर और अपर्याप्तक-सूक्ष्मपृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर ।

[३] बादरपुढविक्काइया वि चेव ।

[१४७८-३] इसी प्रकार बादर-पृथ्वीकायिक-(एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर के भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक, ये दो भेद समझ लेने चाहिए ।)

१४७९. एवं जाव वणस्सइकाइयएगिंदियओरालिय त्ति ।

[१४७९] इसी प्रकार (अप्कायिक से लेकर) वनस्पतिकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीर (तक के भी सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से दो-दो प्रकार समझ लेने चाहिए ।)

१४८०. बेइंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—पज्जत्तबेइंदियओरालियसरीरे य अपज्जत्तबेइंदियओरालियसरीरे य ।

[१४८० प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार -पर्याप्तद्वीन्द्रिय-औदारिक-शरीर और अपर्याप्तद्वीन्द्रिय-औदारिकशरीर ।

१४८१. एवं तेइंदिय-चउरिंदिया वि ।

[१४८१] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय (औदारिक शरीर के भी पर्याप्त और अपर्याप्तक, ये दो-दो प्रकार जान लेने चाहिए ।)

१४८२. पंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—तिरिक्खपंचेंदियओरालियसरीरे य मणुस्सपंचेंदियओरालियसरीरे य ।

[१४८२ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार -तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर और मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर ।

१४८३. तिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते । तं जहा—जलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य १ थलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य २ खहयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य ३।

[१४८३ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) तीन प्रकार का कहा गया है, यथा (१) जलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर (२) स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर और (३) खेचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर ।

१४८४. [१] जलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—सम्मुच्छिमजलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य गब्भवक्कंतियजलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य ।

[१४८४-१ प्र] भगवन् ! जलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार का कहा गया है । यथा -सम्मूर्च्छिम-जलचर-तिर्यञ्च-योनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर और गर्भज (गर्भव्युत्क्रान्तिक)-जलचर-तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय-औदारिक-शरीर ।

[२] सम्मुच्छिमजलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा पज्जत्तगसम्मुच्छिमतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य अपज्जत्तगसम्मुच्छिमतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य ।

[१४८४-२ प्र.] भगवन् ! सम्मूर्च्छिम-जलचर-तिर्यंचयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार- पर्याप्तक-सम्मूर्च्छिम-तिर्यञ्चयोनिक-पंञ्चेन्द्रिय-औदारिकशरीर और अपर्याप्तक-सम्मूर्च्छिम-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर ।

[३] एवं गब्भवक्कंतिए वि ।

[१४८४-३] इसी प्रकार गर्भज (जलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर) के भी (पर्याप्तक और अपर्याप्तक, ये दो भेद समझ लेने चाहिए)।

१४८५. [१] थलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—चउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य परिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य ।

[१४८५-१ प्र.] भगवन् ! स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार का कहा गया है, यथा—चतुष्पद-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर और परिसर्प-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर ।

[२] चउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य ।

[१४८५-२ प्र.] भगवन् ! चतुष्पद-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार सम्मूच्छिम-चतुष्पद-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर और गर्भज-चतुष्पद-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर ।

[३] सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—पज्जत्तसम्मुच्छिमचउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य अपज्जत्तसम्मुच्छिमचउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य ।

[१४८५-३ प्र.] भगवन् ! सम्मूच्छिम-चतुष्पद-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार का कहा गया है, जैसे—पर्याप्तक-सम्मूच्छिम-चतुष्पद-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर और अपर्याप्तक-सम्मूच्छिम-चतुष्पद-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर ।

[४] एवं गब्भवक्कंतिए वि ।

[१४८५-४] इसी प्रकार गर्भज (—चतुष्पद-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर) के भी (पर्याप्तक और अपर्याप्तक, ये दो प्रकार समझ लेने चाहिए ।)

[५] परिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते ! तं जहा – उरपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य भुयपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य ।

[१४८५-५ प्र.] भगवन् ! परिसर्प-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—उर:परिसर्प-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर और भुजपरिसर्प-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर ।

[६] उरपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—सम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य गब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य ।

[१४८५-६ प्र.] भगवन् ! उर:परिसर्प-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार का कहा गया है, जैसे—सम्मूच्छिम-उर:परिसर्प-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर और गर्भज-उर:परिसर्प-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर ।

[७] सम्मुच्छिमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—अपज्जत्तसम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य पज्जत्तसम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे य ।

[१४८५-७] सम्मूच्छिम (-उर:परिसर्प-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर) दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—अपर्याप्तक-सम्मूच्छिम-उर:परिसर्प-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर और पर्याप्तक-सम्मूच्छिम-उर:परिसर्प-स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर ।

[८] एवं गब्भवक्कंतियउरपरिसप्पचउक्कओ भेदो ।

[१४८५-८] इसी प्रकार गर्भज-उर:परिसर्प-(स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर) के भी (पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो प्रकार मिला कर सम्मूच्छिम और गर्भज दोनों के कुल) चार भेद समझ लेने चाहिए ।

[९] एवं भुयपरिसप्पा वि सम्मुच्छिम-गब्भवक्कंतिय-पज्जत्त-अपज्जत्ता ।

[१४८५-९] इसी प्रकार भुजपरिसर्प-(स्थलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर) के भी सम्मूच्छिम एवं गर्भज (तथा दोनों के) पर्याप्तक और अपर्याप्तक (ये चार भेद समझने चाहिए) ।

१४८६. [१] खहयरा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—सम्मुच्छिमा य गब्भवक्कंतिया य ।

[१४८६-१] खेचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर भी दो प्रकार का कहा गया है, यथा—सम्मूच्छिम और गर्भज ।

[२] सम्मुच्छिमा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—पज्जत्ता य अपज्जत्ता य ।

[१४८६-२] सम्मूच्छिम-(खेचर-ति०-पं०-औदारिकशरीर) दो प्रकार का कहा गया है, यथा—पर्याप्त और अपर्याप्त ।

[३] गब्भवक्कंतिया वि पज्जत्ता य अपज्जत्ता य ।

[१४८६-३] गर्भज-(खेचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर) भी पर्याप्त और अपर्याप्त (के भेद से दो प्रकार का कहा गया है) ।

१४८७. [१] मणूसपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—सम्मुच्छिममणूसपंचेंदियओरालियसरीरे य गब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियओरालियसरीरे य ।

[१४८७-१ प्र.] भगवन् ! मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ? (वह) दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—सम्मूच्छिम-मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर और गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर ।

[२] गब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—पज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियओरालियसरीरे य अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियओरालियसरीरे य ।

[१४८७-२ प्र.] भगवन् ! गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार का कहा गया है, यथा—पर्याप्तक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर और अपर्याप्तक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर ।

विवेचन—औदारिकशरीर के भेद-प्रभेद—प्रस्तुत १२ सूत्रों (१४७६ से १४८७ तक) में विधिद्वार के सन्दर्भ में औदारिकशरीर के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है ।

औदारिकशरीरधारी जीव—नारकों और देवों को छोड़ कर एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्यों के जितने भी जीव हैं और उन जीवों के जितने भी भेद-प्रभेद हैं, उतनी ही औदारिक-शरीर के भेद-प्रभेदों की संख्या है ।[1]

औदारिकशरीर के भेदों की गणना—पांच प्रकार के एकेन्द्रियों के औदारिक शरीरों के प्रत्येक के सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, ये चार-चार भेद होने से कुल २० भेद हुए । तीन विकलेन्द्रियों

१. पण्णवणासुत्तं (प्रस्तावनादि) भा. २, पृ. ११७

के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से ६ भेद हुए। तत्पश्चात् औदारिकशरीरी पंचेन्द्रिय के मुख्य दो भेद—तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय और मनुष्यपंचेन्द्रिय। तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर के मुख्य तीन भेद—जलचर, स्थलचर और खेचर सम्बन्धी। फिर जलचर शरीर के दो भेद -सम्मूच्छिम एवं गर्भज। सम्मूच्छिम और गर्भज दोनों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक, ये दो-दो भेद। स्थलचर शरीर के मुख्य दो भेद—चतुष्पद और परिसर्प। चतुष्पद स्थलचर शरीर के दो भेद -सम्मूच्छिम और गर्भज, फिर इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त, ये दो-दो प्रकार। परिसर्प स्थलचर शरीर के मुख्य दो भेद—उरःपरिसर्प और भुजपरिसर्प। उरःपरिसर्प और भुजपरिसर्प, इन दोनों के शरीर के सम्मूच्छिम और गर्भज तथा उनके पर्याप्तक और अपर्याप्तक प्रभेद होते हैं। खेचर शरीर के भी सम्मूच्छिम, गर्भज तथा उनके पर्याप्त, अपर्याप्तक भेद। मनुष्य शरीर के मुख्य दो भेद—सम्मूच्छिम और गर्भज। फिर गर्भज मनुष्य शरीर के दो भेद—पर्याप्तक और अपर्याप्तक। इस प्रकार औदारिक शरीर के कुल ५० भेद-प्रभेदों की गणना कर लेनी चाहिए।[1]

औदारिकशरीर में संस्थानद्वार

१४८८. **ओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पण्णत्ते ?**

गोयमा ! णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते।

[१४८८ प्र.] भगवन् ! औदारिकशरीर का संस्थान किस प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) नाना संस्थान वाला कहा गया है।

१४८९. **एगिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पण्णत्ते ?**

गोयमा ! णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते।

[१४८९ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर किस संस्थान (आकार) का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) नाना संस्थान वाला कहा गया है।

१४९०. [१] **पुढविक्काइयएगिंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिए पण्णत्ते ?**

गोयमा ! मसूरचंदसंठाणसंठिए पण्णत्ते।

[१४९०-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर किस प्रकार के संस्थान वाला कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) मसूर-चन्द्र (मसूर की दाल) जैसे संस्थान वाला कहा गया है।

[२] **एवं सुहुमपुढविक्काइयाण वि।**

[१४९०-२] इसी प्रकार सूक्ष्मपृथ्वीकायिकों का (औदारिकशरीर-संस्थान) भी (मसूर की दाल के समान है।)

[३] **बायराण वि एवं चेव।**

---

१. प्रज्ञापनासूत्र मलय. वृत्ति, पत्र ४१०

[१४९०-३] बादरपृथ्वीकायिकों का (औदारिकशरीर-संस्थान) भी इसी के समान (समझना चाहिए।)

[४] पज्जत्तापज्जत्ताण वि एवं चेव।

[१४९०-४] पर्याप्तक और अपर्याप्तक (पृथ्वीकायिकों का औदारिकशरीर-संस्थान भी इसी प्रकार का (जानना चाहिए।)

१४९१. [१] आउक्काइयएगिंदियओरालियसरीरे णं भंते! किंसंठाणसंठिए पण्णत्ते?

गोयमा! थिबुगबिंदुसंठाणसंठिए पण्णत्ते।

[१४९१-१ प्र.] भगवन्! अप्कायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर का संस्थान कैसा कहा गया है?

[उ.] गौतम! (अप्कायिकों के शरीर का संस्थान) स्तिबुकबिन्दु (स्थिरजलबिन्दु) जैसा कहा गया है।

[२] एवं सुहुम-बायर-पज्जत्तापज्जत्ताण वि।

[१४९१-२] इसी प्रकार का संस्थान अप्कायिकों के सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक और अपर्याप्तकों के शरीर का समझना चाहिए।

१४९२. [१] तेउक्काइयएगिंदियओरालियसरीरे णं भंते! किंसंठाणसंठिए पण्णत्ते?

गोयमा! सूईकलावसंठाणसंठिए पण्णत्ते।

[१४९२-१ प्र.] भगवन्! तेजस्कायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर का संस्थान किस प्रकार का कहा गया है।

[उ.] गौतम! तेजस्कायिकों के शरीर का संस्थान सूइयों के ढेर (सूचीकलाप) के जैसा कहा गया है।

[२] एवं सुहुम-बायर-पज्जत्तापज्जत्ताण वि।

[१४९२-२] इसी प्रकार (का संस्थान तेजस्कायिकों के) सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्तों के शरीरों का (समझना चाहिए।)

१४९३. [१] वाउक्काइयाणं पडागासंठाणसंठिए पण्णत्ते।

[१४९३-१] वायुकायिक जीवों (के औदारिकशरीर) का संस्थान पताका के समान है।

[२] एवं सुहुम-बायर-पज्जत्तापज्जत्ताण वि।

[१४९३-२] इसी प्रकार का संस्थान (वायुकायिकों के) सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक और अपर्याप्तकों के शरीरों का भी समझना चाहिए।

१४९४. [१] वणस्सइकाइयाणं णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते।

[१४९४-१] वनस्पतिकायिकों के शरीर का संस्थान नाना प्रकार का कहा गया है।

[२] एवं सुहुम-बायर-पज्जत्तापज्जत्ताण वि ।

[१४९४-२] इसी प्रकार (वनस्पतिकायिकों के) सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तकों के शरीरों का संस्थान भी (नाना प्रकार का है।)

१४९५. [१] बेइंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! हुंडसंठाणसंठिए पण्णत्ते ।

[१४९५-१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय-औदारिकशरीर का संस्थान किस प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) हुंडकसंस्थान वाला कहा गया है ।

[२] एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि ।

[१४९५-२] इसी प्रकार पर्याप्तक और अपर्याप्तक (द्वीन्द्रिय-औदारिकशरीरों का संस्थान भी हुंडक कहा गया है।)

१४९६. एवं तेइंदिय-चउरिंदियाण वि ।

[१४९६] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय (के पर्याप्तक, अपर्याप्तक शरीरों) का संस्थान भी (हुण्डक समझना चाहिए।)

१४९७. [१] तिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! छव्विहसंठाणसंठिए पण्णत्ते । तं जहा—समचउरंससंठाणसंठिए जाव[1] हुंडसंठाणसंठिए वि । एवं पज्जत्ताऽपज्जत्ताण वि ३ ।

[१४९६-१ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर किस संस्थान वाला कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) छहों प्रकार के संस्थान वाला कहा गया है, यथा—समचतुरस्र-संस्थान से लेकर हुंडकसंस्थान पर्यन्त । इसी प्रकार पर्याप्तक, अपर्याप्तक (तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर के संस्थान) के विषय में भी (समझ लेना चाहिए।)

[२] सम्मुच्छिमतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! हुंडसंठाणसंठिए पण्णत्ते । एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि ३ ।

[१४९७-२ प्र.] भगवन् ! सम्मूर्च्छिम-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर किस संस्थान वाला कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) हुंडक संस्थान वाला कहा गया है। इसी प्रकार पर्याप्तक, अपर्याप्तक (सम्मूर्च्छिम-तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर) का (संस्थान) भी (हुण्डक ही समझना चाहिए।)

---

१. 'जाव' शब्द 'नग्गोहपरिमंडलसंठाणसंठिए, साइसं०, वामणसं०, खुज्जसंठाणसंठिए, हुंडसंठाणसंठिए, शब्दों का सूचक है ।

[३] गब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! छव्विहसंठाणसंठिए पण्णत्ते । तं जहा—समचउरंसे जाव हुंडसंठाणसंठिए । एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि ३ । एवमेते तिरिक्खजोणियाणं ओहियाणं णव आलावगा ।

[१४९७-३ प्र.] भगवन् ! गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर किस संस्थान वाला कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) छहों प्रकार के संस्थान वाला कहा गया है, यथा—समचतुरस्रसंस्थान से लेकर हुंडकसंस्थान तक । इस प्रकार पर्याप्तक, अपर्याप्तक (गर्भज-तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय-औदारिक-शरीरों) के भी (ये छह संस्थान समझने चाहिए ।)

इस प्रकार औधिक (सामान्य) तिर्यञ्चयोनिकों (तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीरों के संस्थानों) के ये (पूर्वोक्त) नौ आलापक समझने चाहिए ।

१४९८. [१] जलयरतिरिक्खजोणियपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! छव्विहसंठाणसंठिए पण्णत्ते । तं जहा समचउरंसे जाव हुंडे ।

[१४९८-१ प्र.] भगवन् ! जलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर किस संस्थान वाला कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) छहों प्रकार के संस्थान वाला कहा गया है, जैसे समचतुरस्र यावत् हुण्डक संस्थान ।

[२] एवं पज्जत्तापज्जत्ताण वि ।

[१४९८-२] इसी प्रकार पर्याप्त, अपर्याप्तक (जलचर-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रिय-औदारिक-शरीरों) के भी संस्थान (छहों प्रकार के) समझने चाहिए ।

[३] सम्मुच्छिमजलयरा हुंडसंठाणसंठिया । एतेसिं चेव पज्जत्तापज्जत्तगा वि एवं चेव ।

[१४९८-३] सम्मूर्च्छिम-जलचरों (तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय) के औदारिकशरीर हुण्डकसंस्थान वाले हैं । उनके पर्याप्तक, अपर्याप्तकों के (औदारिकशरीर) भी इसी प्रकार (हुण्डकसंस्थान) के होते हैं ।

[४] गब्भवक्कंतियजलयरा छव्विहसंठाणसंठिया । एवं पज्जत्तापज्जत्तगा वि ।

[१४९८-४] गर्भज-जलचर (तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों के औदारिकशरीर) छहों प्रकार के संस्थान वाले हैं । इसी प्रकार पर्याप्तक, अपर्याप्तक (गर्भज-जलचर-तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों के औदारिकशरीर) भी (छहों संस्थान वाले समझने चाहिए ।)

१४९९. [१] एवं थलयराण वि णव सुत्ताणि ।

[१४९९-१] इसी प्रकार स्थलचर—(तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर-संस्थानों) के नौ सूत्र (भी पूर्वोक्त प्रकार से समझ लेने चाहिए ।)

[२] एवं चउप्पयथलयराण वि उरपरिसप्पथलयराण वि भुयपरिसप्पथलयराण वि।

[१४९९-२] इसी प्रकार चतुष्पद-स्थलचरों, उरःपरिसर्प-स्थलचरों एवं भुजपरिसर्प-स्थलचरों के औदारिकशरीर संस्थानों के (नौ-नौ सूत्र) भी (पूर्वोक्त प्रकार से समझ लेने चाहिए।)

१५००. एवं खहयराण वि णव सुत्ताणि। णवरं सव्वत्थ सम्मुच्छिमा हुंडसंठाणसंठिया भाणियव्वा, इयरे छसु वि।

[१५००] इसी प्रकार खेचरों के (औदारिकशरीरसंस्थानों के) भी नौ सूत्र (पूर्वोक्त प्रकार से समझने चाहिए।) विशेषता यह है कि सम्मूर्च्छिम (तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों के औदारिकशरीर) सर्वत्र हुण्डकसंस्थान वाले कहने चाहिए। शेष सामान्य, गर्भज आदि के शरीर तो छहों संस्थानों वाले होते हैं।

१५०१. [१] मणूसपंचेंदियओरालियसरीरे णं भंते! किंसंठाणसंठिए पण्णत्ते?

गोयमा! छव्विहसंठाणसंठिए पण्णत्ते। तं जहा—समचउरंसे जाव हुंडे।

[१५०१-१ प्र.] भगवन्! मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर किस संस्थान वाला कहा गया है?

[उ.] गौतम! (वह) छहों प्रकार के संस्थान वाला कहा गया है, जैसे—समचतुरस्र यावत् हुण्डकसंस्थान वाला।

[२] पज्जत्तापज्जत्ताण वि एवं चेव।

[१५०१-२] पर्याप्तक और अपर्याप्तक (मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर) भी इसी प्रकार छहों संस्थान वाले होते हैं।)

[३] गब्भवक्कंतियाणं वि एवं चेव। पज्जत्तापज्जत्तगाण वि एवं चेव।

[१५०१-३] गर्भज (मनुष्य-पंचेन्द्रिय-औदारिकशरीर) भी इसी प्रकार (छहों संस्थान (वाले होते हैं।) पर्याप्तक अपर्याप्तक (गर्भज मनुष्यों) क (औदारिकशरीर भी छह संस्थान वाले समझने चाहिए।)

[४] सम्मुच्छिमाणं पुच्छा।

गोयमा! हुंडसंठाणसंठिया पण्णत्ता।

[१५०१-४ प्र.] सम्मूर्च्छिम मनुष्यों (चाहे पर्याप्तक हो, या अपर्याप्तक) के (औदारिकशरीर किस संस्थान वाले होते हैं?

[उ.] गौतम! (सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के औदारिकशरीर) हुण्डकसंस्थान वाले होते हैं।

विवेचन सर्वविध औदारिकशरीरों की संस्थानसम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत १४ सूत्रों (सू. १४८८ से १५०१) में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय-मनुष्य तक के विविध औदारिकशरीरों के संस्थानों

की प्ररूपणा की गई है। संस्थानों की प्ररूपणा का क्रम औदारिकशरीर के भेदों के क्रम के अनुसार रखा गया है।[1]

औदारिकशरीरों की संस्थान-सम्बन्धी तालिका--इस प्रकार है—

क्रम	औदारिकशरीर का प्रकार	संस्थान
१.	पृथ्वीकायिक सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त औदारिकशरीर	मसूर की दाल के समान
२.	अप्कायिक सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त औदारिकशरीर	स्थिर जलबिन्दु के समान
३.	तेजस्कायिक सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त औदारिकशरीर	सूइयों के ढेर के समान
४.	वायुकायिक सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त औदारिकशरीर	पताका के आकार के समान
५.	वनस्पतिकायिक सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त औदारिकशरीर	नाना प्रकार के संस्थान वाला
६.	द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त औदारिकशरीर	हुंडकसंस्थान वाले
७.	तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय औदारिकशरीर	छहों प्रकार के संस्थान वाला
८.	सम्मूर्च्छिम ति. पं. औदारिकशरीर पर्याप्त-अपर्याप्त	हुंडकसंस्थान वाला
९.	गर्भज ति. पं. औदारिकशरीर पर्याप्त-अपर्याप्त	षड्विध संस्थान वाला
१०.	जलचर ति. पं. औदारिकशरीर पर्याप्त-अपर्याप्त, गर्भज	षड्विध संस्थान वाला
११.	सम्मूर्च्छिम जलचर ति. पं. औदारिकशरीर पर्याप्त-अपर्याप्त	हुंडकसंस्थान
	सम्मूर्च्छिम स्थलचर,खेचर ति.पं. औदारिकशरीर पर्याप्त-अपर्याप्त	हुंडकसंस्थान
१२.	स्थलचर चतुष्पद, उरःपरिसर्प, भुजपरिसर्प ति.पं. पर्याप्त-अपर्याप्त	छहों प्रकार के संस्थान
१३.	खेचर ति. पं. पर्याप्त-अपर्याप्त औदारिकशरीर	छहों प्रकार के संस्थान
१४.	मनुष्य पंचेन्द्रिय, गर्भज, पर्याप्त-अपर्याप्त औदारिकशरीर	छहों प्रकार के संस्थान
१५.	सम्मूर्च्छिम मनुष्य पं. औदारिकशरीर, पर्याप्त-अपर्याप्त	हुंडकसंस्थान[2]

मसूरचंद आदि शब्दों के विशेषार्थ **मसूरचंदसंठाण**--मसूर एक प्रकार का धान्य होता है, जिसकी दाल बनती है। मसूर का चन्द्र अर्थात् चन्द्राकार अर्धदल (दाल) मसूरचन्द्र; उसके समान आकार। **थिबुगबिन्दुसंठाण**—स्तिबुकबिन्दु—पानी के बुदबुद जैसा होता है, जो बूंद वायु आदि के द्वारा इधर-उधर बिखरे या फैले नहीं, जमा हुआ हो, वह स्तिबुकबिन्दु कहलाता है, उसके जैसा आकार। **नाना संठाणसंठिया**—देश, जाति और काल आदि के भेद से उनके आकार में भिन्नता होने से विविध प्रकार के आकार वाले।[3]

संस्थान : प्रकार और स्वरूप--शरीर की आकृति या रचना-विशेष को संस्थान कहते हैं। उसके ६ प्रकार हैं--(१) समचतुरस्र, (२) न्यग्रोध-परिमण्डल, (३) सादि (स्वाति), (४) वामन, (५) कुब्जक और (६) हुण्डकसंस्थान। छहों का स्वरूप इस प्रकार है—(१) **समचतुरस्र**—जिस शरीर के चारों ओर के चारों अस्र-कोण या विभाग सामुद्रिकशास्त्र में कथित लक्षणों के अनुसार सम

---

१. पण्णवणासुत्तं (प्रस्तावना परिशिष्टादि) भा. २, पृ. ११७

२. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ३३१ से ३३३ तक

३. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४११

हों, वह समचतुरस्रसंस्थान है, (२) **न्यग्रोध-परिमण्डल**--न्यग्रोध का अर्थ है—वट या बड़। जैसे वटवृक्ष का ऊपरी भाग विस्तीर्ण या पूर्णप्रमाणोपेत होता है और नीचे का भाग हीन या संक्षिप्त होता है, वैसे ही जिस शरीर के नाभि के ऊपर का भाग पूर्णप्रमाणोपेत हो, किन्तु नीचे का भाग (निचले अवयव) हीन या संक्षिप्त हों, वह न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान है। (३) **सादिसंस्थान**—सादि शब्द में जो 'आदि' शब्द है, वह नाभि के नीचे के भाग का वाचक है। नाभि के अधस्तन-भागरूप आदि सहित, जो संस्थान हो, वह 'सादि' कहलाता है। आशय यह है कि जो संस्थान नाभि के नीचे प्रमाणोपेत हो, किन्तु जिसमें नाभि के ऊपरी भाग हीन हों, वह सादिसंस्थान है। कई आचार्य इसे **साचीसंस्थान** कहते हैं। साची कहते हैं—शाल्मली (सेमर) वृक्ष को। शाल्मली वृक्ष का स्कन्ध (नीचे का भाग) अतिपुष्ट होता है, किन्तु ऊपर का भाग तदनुरूप विशाल या पुष्ट नहीं होता, उसी तरह जिस शरीर का अधोभाग परिपुष्ट व परिपूर्ण हो और ऊपर का भाग हीन हो, वह साचीसंस्थान है। (४) **कुब्जकसंस्थान**--जिस शरीर के सिर, गर्दन, हाथ-पैर आदि अवयव आकार में प्रमाणोपेत हों, किन्तु वक्षस्थल, उदर आदि टेढ़ेमेढ़े बेडौल या कुबड़े हों, वह कुब्जकसंस्थान है। (५) **वामनसंस्थान**—जिस शरीर के छाती, पेट आदि अवयव प्रमाणोपेत हों, किन्तु हाथ-पैर आदि अवयव हीन हों, जो शरीर बौना हो, वह वामनसंस्थान है। (६) **हुण्डकसंस्थान**--जिस शरीर के सभी अंगोपांग बेडौल हों, प्रमाण और लक्षण से हीन हों, वह हुण्डकसंस्थान कहलाता है।[1]

औधिक तिर्यंचयोनिकों के नौ आलापक—ये नौ आलापक इस प्रकार है—समुच्चय पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों का एक, इनके पर्याप्तकों का एक और अपर्याप्तकों का एक, यों तीन आलापक; सम्मूर्च्छिम-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक का एक, इनके पर्याप्तक-अपर्याप्तकों के दो, यों कुल तीन आलापक तथा गर्भज-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक का एक, उनके पर्याप्तक अपर्याप्तक का एक-एक, यों कुल तीन आलापक। ये सब मिलाकर ९ आलापक हुए।[2]

स्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों के औदारिकशरीर-सम्बन्धी नौ सूत्र—समुच्चय स्थलचरों का, उनके पर्याप्तकों का, अपर्याप्तकों का; सम्मूर्च्छिम स्थलचरों का, उनके पर्याप्तकों का, अपर्याप्तकों का तथा गर्भज स्थलचरों का, उनके पर्याप्तकों का एवं अपर्याप्तकों का एक-एक सूत्र होने से कुल नौ सूत्र होते हैं।[3]

औदारिकशरीर में प्रमाणद्वार

१५०२. ओरालियसरीरस्स णं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं।

[१५०२ प्र.] भगवन् ! औदारिकशरीर की अवगाहना कितनी कही गई है ?

[उ.] गौतम ! (औदारिकशरीरावगाहना) जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग की (और) उत्कृष्टः कुछ अधिक हजार योजन की है।

---

१. प्रज्ञापना, मलयवृत्ति, पत्र ४१२

२. (क) वही, मलयवृत्ति, पत्र ४१२ (ख) प्रज्ञापना प्रमेयबोधिनीटीका भा. ४, पृ. ६३२

३. (क) वही, मलयवृत्ति, पत्र ४१२ (ख) प्रज्ञापना प्रमेयबोधिनीटीका भा. ४, पृ. ६३३

१५०३. एगिंदियओरालियस्स वि एवं चेव जहा ओहियस्स (सु. १५०२)।

[१५०३] एकेन्द्रिय के औदारिकशरीर की अवगाहना भी जैसी (सू. १५०२ में) औधिक (सामान्य औदारिकशरीर) की (कही है उसी प्रकार समझनी चाहिए।)

१५०४. [१] पुढविक्काइयएगिंदियओरालियसरीरस्स णं भंते! केमहालिया पुच्छा।

गोयमा! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं।

[१५०४-१ प्र.] भगवन्! पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिकशरीर की अवगाहना कितनी है?

[उ.] गौतम! (उसकी अवगाहना) जघन्य और उत्कृष्ट अंगुल के असंख्यातवें भाग की है।

[२] एवं अपज्जत्तयाण वि पज्जत्तयाण वि।

[१५०४-२] इसी प्रकार अपर्याप्तक एवं पर्याप्तक, (पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीरों) की भी (अवगाहना इतनी ही समझनी चाहिए।)

[३] एवं सुहुमाण वि पज्जत्तापज्जत्ताणं।

[१५०४-३] इसी प्रकार सूक्ष्म पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक-(पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रिय-औदारिक-शरीरों) की (अवगाहना) भी समझनी चाहिए।

[४] बादराणं पज्जत्तापज्जत्ताण वि एवं। एसो णवओ भेदो।

[१५०४-४] बादर पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक (पृ० ए० औदारिकशरीरों) की (अवगाहना की वक्तव्यता) भी इसी प्रकार (समझनी चाहिए।) (इस प्रकार पृथ्वीकायिकों के शरीरावगाहना-सम्बन्धी) ये नौ भेद (आलापक) हुए।

१५०५. जहा पुढविक्काइयाणं तहा आउक्काइयाण वि तेउक्काइयाण वि वाउक्काइयाण वि।

[१५०५] जिस प्रकार पृथ्वीकायिकों के (औदारिकशरीरावगाहना-सम्बन्धी ९ आलापक—भेद हुए,) उसी प्रकार अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों के भी (औदारिकशरीरावगाहना-सम्बन्धी) आलापक कहने चाहिए।

१५०६. [१] वणस्सइकाइयओरालियसरीरस्स णं भंते! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता?

गोयमा! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं।

[१५०६-१ प्र.] भगवन्! वनस्पतिकायिकों के औदारिकशरीर की अवगाहना कितनी है?

[उ.] गौतम! (उसकी अवगाहना) जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट कुछ अधिक हजार योजन की है।

[२] अपज्जत्तगाणं जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ।

[१५०६-२] (वनस्पतिकायिक) अपर्याप्तकों (के औदारिकशरीर) की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना भी अंगुल के असंख्यातवें भाग की है ।

[३] पज्जत्तगाणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं ।

[१५०६-३] (वनस्पतिकायिक) पर्याप्तकों (के औदारिकशरीर) की (अवगाहना) जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग (और) उत्कृष्ट कुछ अधिक हजार योजन की है ।

[४] बादराणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं । पज्जत्ताण वि एवं चेव । अपज्जत्ताणं जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ।

[१५०६-४] बादर (वनस्पतिकायिकों के औदारिकशरीर) की (अवगाहना) जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग (और) उत्कृष्ट कुछ अधिक हजार योजन की है। (इनके) पर्याप्तकों की (औदारिकशरीरावगाहना) भी इसी प्रकार की (समझनी चाहिए ।) (इनके) अपर्याप्तकों की (औदारिकशरीरावगाहना) जघन्य और उत्कृष्ट (दोनों प्रकार से) अंगुल के असंख्यातवें भाग की (समझनी चाहिए ।)

[५] सुहुमाणं पज्जत्तापज्जत्ताण य तिण्ह वि जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ।

[१५०६-५] (वनस्पतिकायिकों के) सूक्ष्म, पर्याप्तक और अपर्याप्तक, इन तीनों की (औदारिकशरीरावगाहना) जघन्य और उत्कृष्ट (दोनों रूप से) अंगुल के असंख्यातवें भाग की है ।

१५०७. [१] बेइंदियओरालियसरीरस्स णं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं बारस जोयणाइं ।

[१५०७-१] भगवन् ! द्वीन्द्रियों के औदारिकशरीर की अवगाहना कितनी कही गई है ?

[उ.] गौतम ! (इनकी शरीरावगाहना) जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट बारह योजन की है ।

[२] एवं सव्वत्थ वि अपज्जत्तयाणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं जहण्णेण वि उक्कोसेण वि ।

[१५०७-२] इसी प्रकार सर्वत्र (द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियों में) अपर्याप्त जीवों की औदारिकशरीरावगाहना भी जघन्य और उत्कृष्ट (दोनों प्रकार से) अंगुल के असंख्यातवें भाग की कहनी चाहिए ।

[३] पज्जत्तयाणं जहेव ओरालियस्स ओहियस्स (सु. १५०७-१) ।

[१५०७-३] पर्याप्त द्वीन्द्रियों के औदारिकशरीर की अवगाहना भी उसी प्रकार है, जिस प्रकार [१५०७-१ सू. में] (द्वीन्द्रियों के) औधिक (औदारिकशरीर) की (कही है ।) अर्थात् जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट बारह योजन की होती है ।)

१५०८. एवं तेइंदियाणं तिण्णि गाउयाइं । चउरिंदियाणं चत्तारि गाउयाइं ।

[१५०८] इसी प्रकार (औधिक और पर्याप्तक) त्रीन्द्रियों (के औदारिक शरीर) की (उत्कृष्ट अवगाहना) तीन गव्यूति (गाऊ) की है तथा (औधिक और पर्याप्तक) चतुरिन्द्रियों (के औदारिक-शरीर) की (उत्कृष्ट अवगाहना) चार गव्यूति (गाउ) की है ।

१५०९. पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं ३, एवं सम्मुच्छिमाणं ३, गब्भवक्कंतियाण वि ३ । एवं चेव णवओ भेदो भाणियव्वो ।

[१५०९] पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों के (१) औधिक औदारिकशरीर की, उनके (२) पर्याप्तकों के औदारिकशरीर की तथा उनके (३) अपर्याप्तकों के औदारिकशरीर (की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन की है ।) तथा सम्मूच्छिम (पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों के औधिक और पर्याप्तक) औदारिकशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना इसी प्रकार (एक हजार योजन) की (समझनी चाहिए किन्तु सम्मूच्छिम अपर्याप्तक-तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय के औदारिकशरीर की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट अंगुल के असंख्यातवें भाग की होती है ।) गर्भज-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों तथा उनके पर्याप्तकों के औदारिकशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना भी इसी प्रकार समझनी चाहिए, किन्तु इनके अपर्याप्तकों की पूर्ववत् अवगाहना होती है । इस प्रकार पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों की औदारिकशरीरावगाहना सम्बन्धी कुल ९ भेद (आलापक) होते हैं ।

१५१०. एवं जलयराण वि जोयणसहस्सं, णवओ भेदो ।

[१५१०] इसी प्रकार औधिक और पर्याप्तक जलचरों के औदारिकशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन की (पं० ति० की औ०-शरीरावगाहना के समान) होती है । (अपर्याप्त जलचरों की औ०-शरीरावगाहना जघन्य और उत्कृष्ट पूर्ववत् जाननी चाहिए ।) इसी प्रकार पूर्ववत् इसकी औदारिकशरीरावगाहना के ९ भेद (विकल्प) होते हैं ।

१५११. [१] थलयराण वि णवओ भेदो उक्कोसेणं छग्गाउयाइं, पज्जत्ताण वि एवं चेव ३ । सम्मुच्छिमाणं पज्जत्ताण य उक्कोसेणं गाउयपुहत्तं । गब्भवक्कंतियाणं उक्कोसेणं छग्गाउयाइं पज्जत्ताण य २ । ओहियचउप्पयपज्जत्तय-गब्भवक्कंतियपज्जत्तयाण य उक्कोसेणं छग्गाउयाइं । सम्मुच्छिमाणं पज्जत्ताण य गाउयपुहत्तं उक्कोसेणं ।

[१५११-१] स्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों की औदारिकशरीरावगाहना-सम्बन्धी पूर्ववत् ९ विकल्प होते हैं । (समुच्चय) स्थलचर पं० ति० की औदारिकशरीरावगाहना उत्कृष्टतः छह गव्यूति की होती है । सम्मूच्छिम स्थलचर-पं० तिर्यञ्चों के एवं उनके पर्याप्तकों के औदारिकशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना गव्यूति-पृथक्त्व (दो गाऊ से नौ गाऊ तक) की होती है । उनके अपर्याप्तकों की जघन्य और उत्कृष्ट शरीरावगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की होती है । गर्भज-तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों के औदारिकशरीर की अवगाहना उत्कृष्ट छह गव्यूति की और (उनके) पर्याप्तकों (के औदारिकशरीर) की (उत्कृष्ट अवगाहना) भी (इतनी ही होती है ।) औधिक चतुष्पदों के, इनके पर्याप्तकों के तथा गर्भज-चतुष्पदों के तथा इनके पर्याप्तकों के औदारिकशरीर की अवगाहना उत्कृष्टतः छह गव्यूति की होती है । (इनके अपर्याप्तकों की अवगाहना पूर्ववत् होती है ।) सम्मूच्छिम-

चतुष्पद (स्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों) के तथा (उनके) पर्याप्तकों (के औदारिकशरीर) की (अवगाहना) उत्कृष्ट रूप से गव्यूतिपृथक्त्व की (होती है ।)

[२] एवं उरपरिसप्पाण वि ओहिय-गब्भवक्कंतियपज्जत्तयाणं जोयणसहस्सं । सम्मुच्छिमाणं जोयणपुहत्तं ।

[१५११-२] इसी प्रकार उरःपरिसर्प-(स्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यंचों के) औधिक, गर्भज तथा (उनके) पर्याप्तकों (के औदारिकशरीर) की (उत्कृष्ट अवगाहना) एक हजार योजन की होती है । सम्मूर्च्छिम-(उरःपरिसर्प स्थलचर-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों के तथा) उनके पर्याप्तकों (के औदारिकशरीर) की (उत्कृष्ट अवगाहना) योजनपृथक्त्व की (होती है ।) इनके अपर्याप्तकों की पूर्ववत् होती है ।

[३] भुयपरिसप्पाणं ओहियगब्भवक्कंतियाण य उक्कोसेणं गाउयपुहत्तं । सम्मुच्छिमाणं धणुपुहत्तं ।

[१५११-३] भुजपरिसर्प-स्थलचर-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों के औधिक, गर्भज तथा उनके पर्याप्तकों के औदारिकशरीर की अवगाहना उत्कृष्टतः गव्यूति-पृथक्त्व की होती है । सम्मूर्च्छिम-(भुजपरिसर्प-स्थलचर-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों के तथा उनके पर्याप्तकों के औदारिकशरीर) की उत्कृष्ट अवगाहना धनुषपृथक्त्व की होती है । (इनके अपर्याप्तकों के औदारिकशरीर की अवगाहना पूर्ववत् समझें ।)

१५१२. खहयराणं ओहिय-गब्भवक्कंतियाणं सम्मुच्छिमाण य तिण्ह वि उक्कोसेणं धणुपुहत्तं । इमाओ संगहणिगाहाओ –

जोयणसहस्स छग्गाउयाइं तत्तो य जोयणसहस्सं ।
गाउयपुहत्त भुयए धणूपुहत्तं च पक्खीसु ॥२१५॥

जोयणसहस्स गाउयपुहत्त तत्तो य जोयणपुहत्तं ।
बोद्धं तु धणुपुहत्तं सम्मच्छिमे होति उच्चत्तं ॥२१६॥

[१५१२] खेचर-(पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों के) औधिकों, गर्भजों एवं सम्मूर्च्छिमों, इन तीनों के औदारिकशरीरों की उत्कृष्ट अवगाहना धनुषपृथक्त्व की होती है ।

[गाथार्थ]—(गर्भज जलचरों की उत्कृष्ट अवगाहना) एक हजार योजन की, चतुष्पद-स्थलचरों की उत्कृष्ट अवगाहना छह गव्यूति की, तत्पश्चात् उरःपरिसर्प-स्थलचरों की अवगाहना एक हजार योजन की (होती है ।) भुजपरिसर्प-स्थलचरों की गव्यूतिपृथक्त्व की और खेचर पक्षियों की धनुषपृथक्त्व की औदारिकशरीरावगाहना होती है ॥२१५॥

सम्मूर्च्छिम (स्थलचरों) की औदारिकशरीरावगाहना उत्कृष्टतः एक हजार योजन की, चतुष्पद-स्थलचरों की अवगाहना गव्यूतिपृथक्त्व की, उरःपरिसर्पों की योजनपृथक्त्व की, भुजपरिसर्पों की तथा (औधिक और पर्याप्तक) इन दोनों एवं सम्मूर्च्छिम खेचर पक्षियों की धनुषपृथक्त्व की उत्कृष्ट औदारिकशरीरावगाहना (ऊँचाई) समझनी चाहिए ॥२१६॥

१५१३. [१] मणुस्सोरालियसरीरस्स णं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं ।

[१५१३-१ प्र.] भगवन् ! मनुष्यों के औदारिकशरीर की अवगाहना कितनी कही गई है ?

[उ.] गौतम ! (वह) जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट तीन गव्यूति की होती है ।

[२] अपज्जत्ताणं जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ।

[१५१३-२] अपर्याप्तक (मनुष्यों के औदारिकशरीर) की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट अंगुल के असंख्यातवें भाग की (होती है ।)

[३] सम्मुच्छिमाणं जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ।

[१५१३-३] सम्मूर्च्छिम (मनुष्यों के औदारिकशरीर) की जघन्यत: और उत्कृष्टत: (अवगाहना) अंगुल के असंख्यातवें भाग की (होती है ।)

[४] गब्भवक्कंतियाणं पज्जत्ताण य जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं ।

[१५१३-४] गर्भज मनुष्यों के तथा इनके पर्याप्तकों के औदारिकशरीर की अवगाहना जघन्यत: अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्टत: तीन गव्यूति की होती है ।

विवेचन—सर्वविध औदारिक शरीरों की अवगाहना-सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत १२ सूत्रों (सू. १५०२ से १५१३ तक) में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय-मनुष्यों तक के सभी प्रकार के औदारिकशरीरों की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना की प्ररूपणा की गई है ।[1]

इसे सुगमता से समझने के लिए तालिका दी जा रही है—

क्रम	औदारिकशरीरधारी जीवों के नाम	जघन्य अवगाहना	उत्कृष्ट अवगाहना
१.	समुच्चय औदारिकशरीर की	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	कुछ अधिक एक हजार योजन
२.	एकेन्द्रिय के औदारिकशरीर की	,,	,, ,,
३.	पृथ्वीकायिकों, पर्याप्तक-अपर्याप्तकों के औदारिकशरीर की	,,	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग
	पृथ्वीकायिकों के सूक्ष्म, बादर के औदारिकशरीर की	,,	,, ,,
४.	अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिकों के औदारिकशरीर की	,,	,, ,,
५.	वनस्पतिकायिकों के औदारिकशरीर की	,,	कुछ अधिक एक हजार योजन
	वनस्पति अपर्याप्तकों के औदारिकशरीर की	,,	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग
	वनस्पति पर्याप्तकों के औदारिकशरीर की	,,	कुछ अधिक एक हजार योजन

१. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ३३३ से ३३५ तक

वनस्पति बादर, पर्याप्तकों के औ. श. की	अंगुल का	कुछ अधिक एक हजार योजन	
वनस्पति बादर अपर्याप्तकों के औ. श. की	असंख्यातवाँ भाग	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	
वनस्पति सूक्ष्म, पर्याप्तक, अपर्याप्तकों के औदारिकशरीर की	,,	,, ,,	
६. द्वीन्द्रियों के औदारिकशरीर की	,,	बारह योजन	
द्वीन्द्रियों के पर्याप्तकों के औ. शरीर की	,,	,, ,,	
द्वीन्द्रियों के अपर्याप्तकों के औ. शरीर की	,,	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	
७. त्रीन्द्रियों के अपर्याप्तकों के औ. शरीर की	,,	,, ,,	
त्रीन्द्रियों के औधिक एवं पर्याप्तकों के औ. शरीर की	,,	तीन गव्यूति (६ कोस)	
८. चतुरिन्द्रियों के औधिक एवं पर्याप्तकों के औदारिकशरीर की	,,	चार गव्यूति (८ कोस)	
९. पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों के औदारिकशरीर की	,,	एक हजार योजन	
३. औधिक पर्याप्त अपर्याप्त के औ. श. की	,,	अपर्याप्त का अंगुल का अ. भाग	
३. सम्मूर्च्छिम पर्याप्त अपर्याप्त के औ.श. की	,,	एक हजार योजन, अप. की अं.अ.भा	
३. गर्भज पर्याप्त अपर्याप्त के औ. श. की	,,	,, ,,	
१०. जलचर प. ति. के औदारिकशरीर की	,,	छह गव्यूति	
जलचर ३. औधिक पर्याप्तक अपर्याप्तक के औदारिकशरीर की	,,	छह गव्यूति अपर्याप्तक की पूर्ववत्	
जलचर ३, सम्मूर्च्छिम पर्याप्तक अपर्याप्तक के औदारिकशरीर की	,,	गव्यूतिपृथक्त्व, अपर्याप्तक की पूर्ववत	
जलचर ३. गर्भज पर्याप्तक अपर्याप्तक के औदारिकशरीर की	,,	छह गव्यूति ,, ,,	
११. स्थलचर प. ति. के औधिक के औ. श. की	,,	,, ,, ,,	
स्थलचर चतुष्पद प.ति. के, पर्याप्तक, गर्भज, पर्याप्तक के औदारिकशरीर की	,,	,, ,, ,,	
स्थलचर चतुष्पद सम्मूर्च्छिम प. ति. के, पर्याप्त के औदारिकशरीर की	,,	गव्यूति पृथक्त्व ,, ,,	
स्थलचर उरःपरिसर्प प. ति. के औधिक, गर्भज, पर्याप्तक के औदारिकशरीर की	,,	योजनपृथक्त्व ,, ,,	
भुजपरिसर्प प. ति. के औधिक, गर्भज, सम्मूर्च्छिम के औदारिकशरीर की	,,	धनुष्यपृथक्त्व ,, ,,	
१२. खेचर प. ति. के औधिक, गर्भज, सम्मूर्च्छिम के औदारिकशरीर की	,,	,, ,, ,, ,,	
१३. मनुष्यों के औधिक, पर्याप्तक के औ. श. की	,,	तीन गव्यूति ,, ,,	
मनुष्यों के अपर्याप्तकों व सम्मूर्च्छिमों के औदारिकशरीर की	,,	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	

मनुष्यों के गर्भजों तथा पर्याप्तकों के औदारिकशरीर की	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	तीन गव्यूति[1]

समुच्चय औदारिकशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना—कुछ अधिक एक हजार योजन की कही गई है, वह समुद्र गोतीर्थ आदि में पद्मनाल आदि की अपेक्षा से समझना चाहिए। यहाँ के सिवाय अन्यत्र इतनी अवगाहना वाला औदारिकशरीर सम्भव नहीं है।[2]

नौ-नौ सूत्रों का समूह पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियों के प्रत्येक के नौ-नौ सूत्र इस प्रकार हैं (१-३) औधिकसूत्र, औधिक अपर्याप्तसूत्र, औधिक पर्याप्तसूत्र; (४-६) सूक्ष्मसूत्र, सूक्ष्म-अपर्याप्तकसूत्र और सूक्ष्म-पर्याप्तकसूत्र; तथा (७-९) बादरसूत्र, बादर-अपर्याप्तकसूत्र और बादर-पर्याप्तकसूत्र; ये तीनों के त्रिक मिला कर पृथ्वीकायिक से वनस्पतिकायिकों तक के ९-९ सूत्र हुए। इसी तरह द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियों के औधिकसूत्र, पर्याप्तसूत्र और अपर्याप्तसूत्र; यों तीन-तीन सूत्र होते हैं। जलचरों के औधिक, उसके पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये तीन सूत्र, गर्भज, उसके पर्याप्तक और पर्याप्तक ये तीन सूत्र, इस प्रकार तीनों त्रिक मिला कर जलचरों के ९ सूत्र होते हैं। इसी प्रकार स्थलचर चतुष्पद, उरःपरिसर्प, भुजपरिसर्प, खेचर-पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के प्रत्येक के औधिकत्रिक, गर्भजत्रिक एवं सम्मूर्च्छिमत्रिक के हिसाब से ९-९ सूत्र होते हैं।[3]

मनुष्यों के औदारिकशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना—तीन गव्यूति (६ कोस) की कही गई हैं, वह देवकुरु आदि के मनुष्यों की अपेक्षा से इतनी उत्कृष्ट अवगाहना समझनी चाहिए।[4]

वैक्रियशरीर में विधिद्वार

१५१४. वेउव्वियसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा एगिंदियवेउव्वियसरीरे य पंचेंदियवेउव्वियसरीरे य।

[१५१४ प्र.] भगवन् ! वैक्रियशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—एकेन्द्रिय-वैक्रियशरीर और पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर।

१५१५. [१] जदि एगिंदियवेउव्वियसरीरे किं वाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे अवाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! वाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे, णो अवाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे।

[१५१५-१ प्र.] (भगवन् !) यदि एकेन्द्रिय जीवों के वैक्रियशरीर होता है, तो क्या वायुकायिक-एकेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है या अवायुकायिक-एकेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! वायुकायिक-एकेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, अवायुकायिक-एकेन्द्रिय के वैक्रियशरीर नहीं होता है।

[२] जदि वाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे किं सुहुमवाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे बादरवाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे ?

---

१. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भाग-१, पृ. ३३३ से ३३५ तक
२. प्रज्ञापना., मलयवृत्ति, पत्र ४१३
३. प्रज्ञापना., मलयवृत्ति, पत्र ४१३-४१४
४. वही, मलयवृत्ति, पत्र ४१४

गोयमा ! णो सुहुमवाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे, बायरवाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे ।

[१५१५-२ प्र.] (भगवन् !) यदि वायुकायिक-एकेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, तो क्या सूक्ष्म-वायुकायिक-एकेन्द्रिय के होता है, अथवा बादर-वायुकायिक-एकेन्द्रिय के होता है ?

[उ.] गौतम ! सूक्ष्म-वायुकायिक-एकेन्द्रिय के वैक्रियशरीर नहीं होता; (किन्तु) बादर-वायुकायिक-एकेन्द्रिय के वैक्रियशरीर होता है ।

[३] जदि बादरवाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे किं पज्जत्तबायरवाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे अपज्जत्तबायरवाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! पज्जत्तबादरवाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे णो अपज्जत्तबादरवाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे ।

[१५१५-३ प्र.] (भगवन् !) यदि बादर-वायुकायिक-एकेन्द्रिय के वैक्रियशरीर होता है तो क्या पर्याप्त-बादर-वायुकायिक-एकेन्द्रिय के वैक्रियशरीर होता है, अथवा अपर्याप्त-बादर-वायुकायिक-एकेन्द्रिय के होता है ?

[उ.] गौतम ! पर्याप्त-बादर-वायुकायिक-एकेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, अपर्याप्त-बादर-वायुकायिक-एकेन्द्रियों के वैक्रियशरीर नहीं होता है ।

१५१६. जदि पंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं णेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरे जाव किं देवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! णेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि जाव देवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि ।

[१५१६-१ प्र.] (भगवन् !) यदि पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है तो क्या नारक-पंचेन्द्रिय के वैक्रियशरीर होता है, अथवा यावत् देव-पंचेन्द्रिय के वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! नारक-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है और यावत् देव-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है ।

१५१७. [१] जदि णेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं रयणप्पभापुढविणेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरे जाव किं अहेसत्तमापुढविणेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! रयणप्पभापुढविणेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि जाव अहेसत्तमापुढविणेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि ।

[१५१७-१ प्र.] (भगवन् !) यदि नारक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है तो क्या रत्नप्रभा-पृथ्वी के नारक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है अथवा यावत् अधःसप्तमपृथ्वी के नारक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! रत्नप्रभापृथ्वी के नारक-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है और यावत् अधःसप्तमपृथ्वी के नैरयिक-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है ।

[२] जदि रयणप्पभापुढविणेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं पज्जत्तगरयणप्पभापुढविणेरइय-पंचेंदियवेउव्वियसरीरे अपज्जत्तगरयणप्पभापुढविणेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! पज्जत्तगरयणप्पभापुढविणेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि अपज्जत्तगरयणप्पभा-पुढविणेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि ।

[१५१७-२ प्र.] (भगवन् !) यदि रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है तो क्या रत्नप्रभापृथ्वी के पर्याप्तक नैरयिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है अथवा रत्नप्रभापृथ्वी के अपर्याप्तक नैरयिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! रत्नप्रभापृथ्वी-के पर्याप्तक नैरयिक-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है और रत्नप्रभापृथ्वी के अपर्याप्तक-नैरयिक-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है ।

[३] एवं जाव अहेसत्तमाए दुगतो भेदो भाणियव्वो ।

[१५१७-३] इसी प्रकार शर्कराप्रभापृथ्वी के नैरयिक-पंचेन्द्रियों से लेकर अधःसप्तमपृथ्वी के नैरयिक-पंचेन्द्रियों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों भेदों में वैक्रियशरीर होने का कथन करना चाहिए ।

१५१८. [१] जदि तिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं सम्मुच्छिमतिरिक्खजोणिय-पंचेंदियवेउव्वियसरीरे गब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! णो सम्मुच्छिमतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे, गब्भवक्कंतियतिरिक्ख-जोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ।

[१५१८-१ प्र.] (भगवन् !) यदि तिर्यञ्चयोनिक-पञ्चेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है तो क्या सम्मूर्च्छिम-तिर्यञ्चयोनिक-पञ्चेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है अथवा गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! सम्मूर्च्छिम-तिर्यञ्चयोनिक-पञ्चेन्द्रियों के वैक्रियशरीर नहीं होता, (किन्तु) गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ।

[२] जदि गब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं संखेज्जवासाउयगब्भ-वक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे असंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदिय-वेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे, णो असंखेज्ज-वासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ।

[१५१८-२ प्र.] (भगवन् !) यदि गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है तो क्या संख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है अथवा असंख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! संख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रिय-शरीर होता है, (किन्तु) असंख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रिय-शरीर नहीं होता है ।

[३] जदि संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे अपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे, णो अपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ।

[१५१८-३ प्र.] (भगवन् !) यदि संख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, तो क्या पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है अथवा अपर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, किन्तु अपर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्च-पञ्चेन्द्रियों के वैक्रियशरीर नहीं होता है ।

[४] जदि संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं जलयरसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे थलयरसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे खहयरसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! जलयरसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि, थलयरसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि, खहयरसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि ।

[१५१८-४ प्र.] (भगवन् !) यदि संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है तो क्या जलचर-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, स्थलचर-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है अथवा खेचर-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! जलचर-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है, स्थलचर-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है तथा खेचर-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है ।

[५] जदि जलयरसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं पज्जत्तगजलयरसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे अपज्जत्तगजलयरसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! पज्जत्तगजलयरसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे णो अपज्जत्तगजलयरसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ।

[१५१८-५ प्र.] (भगवन् !) यदि जलचर-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है तो क्या पर्याप्तक-जलचर-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, अथवा अपर्याप्तक-जलचर-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! पर्याप्तक-जलचर-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, (किन्तु) अपर्याप्तक-जलचर-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर नहीं होता है।

[६] जदि थलयरसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणियपंचेंदिय जाव सरीरे किं चउप्पय जाव सरीरे परिसप्प जाव सरीरे ?

गोयमा ! चउप्पय जाव सरीरे वि परिसप्प जाव सरीरे वि।

[१५१८-६ प्र.] (भगवन् !) यदि स्थलचर-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ? तो क्या पर्याप्तक-स्थलचर या अपर्याप्तक-स्थलचर···तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों के होता है ? अथवा चतुष्पद-स्थलचर ·· तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों के होता है या फिर उरः-परिसर्प-पर्याप्तक अथवा भुजपरिसर्प-पर्याप्तक-स्थलचर ·····यावत् तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! (पर्याप्तक) चतुष्पद-(स्थलचर···तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों) के भी (वैक्रिय) शरीर (होता है,) यावत् परिसर्प (उरःपरिसर्प एवं भुजपरिसर्प·····तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों) के भी (वैक्रिय) शरीर (होता है।)

[७] एवं सव्वेसिं णेयं जाव खहयराणं पज्जत्ताणं, णो अपज्जत्ताणं।

[१५१८-७] इसी प्रकार खेचर-संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर जान लेना चाहिए, (विशेष यह है कि) खेचर-पर्याप्तकों के वैक्रियशरीर होता है, अपर्याप्तकों के नहीं होता है।

१५१९. [१] जदि मणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं सम्मुच्छिममणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे गब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! णो सम्मुच्छिममणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे, गब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे।

[१५१९-१ प्र.] (भगवन् !) यदि मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है तो क्या सम्मूच्छिम-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, अथवा गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! सम्मूच्छिम-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर नहीं होता, (किन्तु) गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है।

[२] जदि गब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे अकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे अंतरदीवयगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे, णो अकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे नो अंतरदीवयगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे य।

[१५१९-२ प्र.] (भगवन् !) यदि गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है तो क्या कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, अकर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, अथवा अन्तरद्वीपज-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, (किन्तु) न तो अकर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है और न ही अन्तरद्वीपज-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है।

[३] जदि कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे असंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे, णो असंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे।

[१५१९-३ प्र.] (भगवन् !) यदि कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है तो क्या संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, अथवा असंख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, किन्तु असंख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर नहीं होता है।

[४] जदि संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे अपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसगब्भवेंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे, णो अपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे।

[१५१९-४ प्र.] (भगवन् !) यदि संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है तो क्या पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, (अथवा) अपर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! पर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, (किन्तु) अपर्याप्तक-संख्येयवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर नहीं होता है।

१५२०. [१] जदि देवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं भवणवासिदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे जाव वेमाणियदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! भवणवासिदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि जाव वेमाणियदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि।

[१५२०-१ प्र.] (भगवन् !) यदि देव-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, तो क्या भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, (अथवा) यावत् वैमानिक-देव-पंचेन्द्रियों के (भी) वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है और यावत् वैमानिक-देव-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है ।

[२] जदि भवणवासिदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं असुरकुमारभवणवासिदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे जाव थणियकुमारभवणवासिदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! असुरकुमार० जाव थणियकुमारभवणवासिदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि ।

[१५२०-२ प्र.] (भगवन् !) यदि भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है तो क्या असुरकुमार-भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, (अथवा) यावत् स्तनितकुमार-भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों के (भी) वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! असुरकुमार-भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है (और) यावत् स्तनितकुमार-भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है ।

[३] जदि असुरकुमारभवणवासिदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे किं पज्जत्तगअसुरकुमारभवणवासिदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे अपज्जत्तगअसुरकुमारभवणवासिदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे ?

गोयमा ! पज्जत्तगअसुरकुमारभवणवासिदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि अपज्जत्तगअसुरकुमारभवणवासिदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि । एवं जाव थणियकुमारे वि णं दुगओ भेदो ।

[१५२०-३ प्र.] (भगवन् !) यदि असुरकुमार-भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, तो क्या पर्याप्तक-असुरकुमार-भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है, (अथवा) अपर्याप्तक-असुरकुमार-भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! पर्याप्तक-असुरकुमार-भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है और अपर्याप्तक-असुरकुमार-भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों के भी वैक्रियशरीर होता है ।

इसी प्रकार स्तनितकुमार-(भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों तक) के दोनों (पर्याप्तक-अपर्याप्तक) भेदों के (वैक्रियशरीर जानना चाहिए ।)

[४] एवं वाणमंतराणं अट्ठविहाणं, जोइसियाणं पंचविहाणं ।

[१५२०-४] इसी तरह आठ प्रकार के वाणव्यन्तर-देवों के (तथा) पांच प्रकार के ज्योतिष्क-देवों के (वैक्रियशरीर होता है ।)

[५] वेमाणिया दुविहा—कप्पोवगा कप्पातीता य । कप्पोवगा बारसविहा, तेसिं पि एवं चेव दुगतो भेदो । कप्पातीता दुविहा—गेवेज्जगा य अणुत्तरा य । गेवेज्जगा णवविहा, अणुत्तरोववाइया पंचविहा, एतेसिं पज्जत्तापज्जत्ताभिलावेणं दुगतो भेदो ।

[१५२०-५] वैमानिक-देव दो प्रकार के होते हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत । कल्पोपपन्न

बारह प्रकार के हैं। उनके भी (पर्याप्तक और अपर्याप्तक, यों) दो-दो भेद होते हैं। उन सभी के वैक्रियशरीर होता है।) कल्पातीत वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं—ग्रैवेयकवासी और अनुत्तरोपपातिक। ग्रैवेयक देव नौ प्रकार के होते हैं, और अनुत्तरौपपातिक पांच प्रकार के। इन सबके पर्याप्तक और अपर्याप्तक के अभिलाप से दो-दो भेद (कहने चाहिए)। इन सबके वैक्रियशरीर होता है।)

विवेचन – वैक्रियशरीर के भेद-प्रभेद—प्रस्तुत सात सूत्रों (१५१४ से १५२० तक) में वैक्रियशरीर के विधिद्वार के सन्दर्भ में उसके एकेन्द्रियगत और पंचेन्द्रियगत भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है।

फलितार्थ—वैक्रियशरीर के सभी भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा का फलितार्थ यह है कि **एकेन्द्रियों में** केवल पर्याप्तक-बादर-वायुकायिक जीवों के वैक्रियशरीर होता है।

पंचेन्द्रियों में—पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में—संख्यातवर्षायुष्क-गर्भज-पर्याप्तकों के वैक्रियशरीर होता है; जबकि **मनुष्यों में**—पंचेन्द्रिय-गर्भज-कर्मभूमिक-संख्यातवर्षायुष्क-पर्याप्तक-मनुष्यों के वैक्रियशरीर होता है। **देवों में**—सभी प्रकार के पर्याप्तक-अपर्याप्तक-भवनपतियों, वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों के वैक्रियशरीर होता है। **नारकों में**—सातों ही नरकपृथ्वियों के पर्याप्तक-अपर्याप्तक नारकों के वैक्रियशरीर होता है।[1]

निष्कर्ष यह है, वायुकायिकों में, पर्याप्तक-अपर्याप्तक-सूक्ष्म और अपर्याप्तक-बादर-वायुकायिकों में वैक्रियलब्धि नहीं होती। पंचेन्द्रियों में जलचर, स्थलचर चतुष्पद, उरःपरिसर्प, भुजपरिसर्प और खेचर तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों को तथा मनुष्यों में गर्भज, पर्याप्तक, संख्येयवर्षायुष्क-मनुष्यों को छोड़ कर शेष मनुष्यों में वैक्रियलब्धि सम्भव नहीं है।[2]

वाणमंतराणं अट्ठविहाणं—वाणव्यन्तरदेव ८ प्रकार के हैं—(१) यक्ष, (२) राक्षस, (३) किन्नर, (४) किम्पुरुष, (५) भूत, (६) पिशाच, (७) गन्धर्व और (८) महोरग।

जोइसियाणं पंचविहाणं—ज्योतिष्कदेव ५ प्रकार के हैं—(१) चन्द्र, (२) सूर्य, (३) ग्रह, (४) नक्षत्र और (५) तारा।

गेवेज्जगा णवविहा—ग्रैवेयकदेव नौ प्रकार के हैं—(१ से ३ उपरितनत्रिक के, ४ से ६ मध्यमत्रिक के और ७ से ९ अधस्तनत्रिक के।

अणुत्तरोववाइया पंचविहा—अनुत्तरौपपातिक देव ५ प्रकार के हैं—(१) विजय, (२) वैजयन्त, (३) जयन्त, (४) अपराजित और (५) सर्वार्थसिद्ध विमानवासी।

कप्पोवगा बारसविहा—कल्पोपपन्न वैमानिक देव बारह प्रकार के हैं सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवलोकों के।[3]

---

१. पण्णवणासुत्तं (प्रस्तावनादि) भा. २, पृ. ११८

२. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४१६

३. (क) प्रज्ञापना-प्रमेयबोधिनीटीका, भा. ४, पृ.३८९-३९०
(ख) तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, सू. ११, १२, १३, २०

वैक्रियशरीर में संस्थान-द्वार

१५२१. वेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते ।

[१५२१ प्र.] भगवन् ! वैक्रियशरीर किस संस्थान वाला कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) नाना संस्थान वाला कहा गया है ।

१५२२. वाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! पडागासंठाणसंठिए पण्णत्ते ।

[१५२२ प्र.] भगवन् ! वायुकायिक-एकेन्द्रियों का वैक्रियशरीर किस प्रकार के संस्थान वाला कहा गया है ?

[उ.] गौतम (वह) पताका के आकार का कहा गया है ।

१५२३. [१] णेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! णेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—भवधारणिज्जे य उत्तरवेउव्विए य । तत्थ णं जे से भवधारणिज्जे से हुंडसंठाणसंठिए पण्णत्ते । तत्थ णं जे से उत्तरवेउव्विए से वि हुंडसंठाणसंठिए पण्णत्ते ।

[१५२३-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक-पंचेन्द्रियों का वैक्रियशरीर किस संस्थान का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! नैरयिक-पंचेन्द्रिय-वैक्रियशरीर दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय । उनमें से जो भवधारणीय-वैक्रियशरीर है, उसका संस्थान हुंडक है तथा जो उत्तरवैक्रियशरीर है, वह भी हुंडकसंस्थान वाला होता है ।

[२] रयणप्पभापुढविणेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! रयणप्पभापुढविणेरइयाणं दुविहे सरीरे पण्णत्ते । तं जहा—भवधारणिज्जे य उत्तरवेउव्विए य । तत्थ णं जे से भवधारणिज्जे से वि हुंडे, जे वि उत्तरवेउव्विए से वि हुंडे । एवं जाव अहेसत्तमापुढविणेरइयवेउव्वियसरीरे ।

[१५२३-२ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के नारक-पंचेन्द्रियों का वैक्रियशरीर किस संस्थान का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक-पंचेन्द्रियों का (वैक्रिय) शरीर दो प्रकार का कहा गया है- भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय । उनमें से जो भवधारणीय-वैक्रियशरीर है, वह हुंडकसंस्थान वाला है और उत्तरवैक्रिय भी हुंडक-संस्थान वाला होता है । इसी प्रकार (शर्कराप्रभापृथ्वी से लेकर) अधःसप्तमपृथ्वी के नारकों (तक के ये दोनों प्रकार के वैक्रियशरीर हुंडकसंस्थान वाले होते हैं ।)

१५२४. [१] तिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठाणसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते ।

[१५२४-१ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों का वैक्रियशरीर किस संस्थान का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) अनेक संस्थानों वाला कहा गया है।

[२] एवं जलयर-थलयर-खहयराण वि। थलयराण चउप्पय-परिसप्पाण वि। परिसप्पाण उरपरिसप्प-भुयपरिसप्पाण वि।

[१५२४-२] इसी प्रकार (समुच्चय तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों की तरह) जलचर, स्थलचर और खेचरों (के वैक्रियशरीरों) का संस्थान भी (नाना प्रकार का कहा गया है।) तथा स्थलचरों में चतुष्पद और परिसर्पों का और परिसर्पों में उरःपरिसर्प और भुजपरिसर्पों के (वैक्रियशरीर) का (संस्थान भी नाना प्रकार का समझना चाहिए।)

१५२५. एवं मणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरे वि।

[१५२५] इसी (तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों की) तरह मनुष्य-पंचेन्द्रियों का (वैक्रियशरीर) भी (नाना संस्थानों वाला कहा गया है।)

१५२६. [१] असुरकुमारभवणवासिदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाणं दुविहे सरीरे पण्णत्ते। तं जहा—भवधारणिज्जे य उत्तरवेउव्विए य। तत्थ णं जे से भवधारणिज्जे से णं समचउरंससंठाणसंठिए पण्णत्ते। तत्थ णं जे से उत्तरवेउव्विए से णं णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते।

[१५२६-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार-भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों का वैक्रियशरीर किस संस्थान का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! असुरकुमार देवों का (वैक्रिय) शरीर दो प्रकार का कहा गया है—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। उनमें से जो भवधारणीयशरीर है, वह समचतुरस्र-संस्थान वाला होता है, तथा जो उत्तरवैक्रियशरीर है, वह अनेक प्रकार के संस्थान वाला होता है।

[२] एवं जाव थणियकुमारदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे।

[१५२६-२] इसी प्रकार (असुरकुमार देवों की भांति) नागकुमार से लेकर स्तनितकुमार पर्यन्त के भी वैक्रियशरीरों का संस्थान समझ लेना चाहिए।

[३] एवं वाणमंतराण वि। णवरं ओहिया वाणमंतरा पुच्छिज्जंति।

[१५२६-३] इसी प्रकार वाणव्यन्तरदेवों के वैक्रियशरीर का संस्थान भी असुरकुमारादि की भांति भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय की अपेक्षा से क्रमशः समचतुरस्र तथा नाना संस्थान वाला कहना चाहिए। विशेषता यह है कि यहाँ प्रश्न (इनके भेद-प्रभेदों के विषय में न कर) औधिक-(समुच्चय) वाणव्यन्तरदेवों (के वैक्रियशरीर के संस्थान के सम्बन्ध में करना चाहिए।)

[४] एवं जोइसियाण वि ओहियाणं।

[१५२६-४] इसी प्रकार (वाणव्यन्तरों की तरह) औधिक (समुच्चय) ज्योतिष्कदेवों के वैक्रियशरीर (भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय) के संस्थान के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

[५] एवं सोहम्म जाव अच्चुयदेवसरीरे ।

[१५२६-५] इसी प्रकार सौधर्म से लेकर अच्युत कल्प के (कल्पोपपन्न वैमानिकों के भवधारणीय और उत्तर वैक्रियशरीर के संस्थानों का कथन करना चाहिए ।)

[६] गेवेज्जगकप्पातीयवेमाणियदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! गेवेज्जगदेवाणं एगे भवधारणिज्जे सरीरए, से णं समचउरंससंठाणसंठिए पण्णत्ते ।

[१५२६-६ प्र.] भगवन् ! ग्रैवेयककल्पातीत-वैमानिकदेव-पंचेन्द्रियों का वैक्रियशरीर किस संस्थान का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! ग्रैवेयकदेवों के एकमात्र भवधारणीय-(वैक्रिय) शरीर ही होता है और वह समचतुरस्रसंस्थान वाला होता है ।

[७] एवं अणुत्तरोववातियाण वि ।

[१५२६-७] इसी प्रकार पांच अनुत्तरौपपातिक-वैमानिकदेवों के भी (भवधारणीय वैक्रियशरीर ही होता है और वह समचतुरस्रसंस्थान वाला होता है ।)

विवेचन—वैक्रियशरीरों के संस्थान का निरूपण—प्रस्तुत ६ सूत्रों (सू. १५२१ से १५२६ तक) में समस्त प्रकार के वैक्रियशरीरधारी जीवों को लक्ष्य में लेकर तदनुसार उनके संस्थानों का निरूपण किया गया है ।[1]

वैक्रियशरीर के प्रकार एवं तत्सम्बन्धी संस्थान-विचार—समुच्चय वैक्रियशरीर, वायुकायिक वैक्रियशरीर तथा समस्त तिर्यञ्च-पञ्चेन्द्रियों और मनुष्यों के वैक्रियशरीर के सिवाय समस्त नारकों और समस्त देवों के वैक्रियशरीर के संस्थान की चर्चा करते समय भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय शरीरों को लक्ष्य में लेकर उनके संस्थानों का विचार किया गया है। भवधारणीयवैक्रिय-शरीर वह है, जो जन्म से ही प्राप्त होता है और उत्तरवैक्रियशरीर स्वेच्छानुसार नाना आकृति का निर्मित किया जाता है ।[2]

नैरयिकों के अत्यन्त क्लिष्टकर्मोदयवश, भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय, दोनों शरीर हुण्डकसंस्थान वाले ही होते हैं । उनका भवधारणीयशरीर भवस्वभाव से ही, ऐसे पक्षी के समान बीभत्स हुण्डकसंस्थान वाला होता है, जिसके सारे पंख तथा गर्दन आदि के रोम उखाड़ दिये गए हों । यद्यपि नारकों को नाना शुभ-आकृति बनाने के लिए उत्तरवैक्रियशरीर मिलता है, तथापि अत्यन्त अशुभतर नामकर्म के उदय से उसका भी आकार हुण्डकसंस्थान जैसा होता है । अतएव वे शुभ आकार बनाने का विचार करते हैं, किन्तु अत्यन्त अशुभनामकर्मोदयवश हो जाता है—अत्यन्त अशुभतर । तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों और मनुष्यों को जन्म से वैक्रियशरीर नहीं मिलता, तपस्या आदि जनित लब्धि के प्रभाव से मिलता है । वह नानासंस्थानों वाला होता है । दस प्रकार के भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पोपपन्नवैमानिक देवों का भवधारणीयशरीर भवस्वभाव से तथाविध शुभनामकर्मोदयवश समचतुरस्रसंस्थान वाला होता है । इच्छानुसार प्रवृत्ति करने के

---

१. पण्णवणासुत्तं (परिशिष्ट-प्रस्तावनादि) भा. २, पृ. ११८

२. वही. भा. २, पृ. ११८

कारण इनका उत्तरवैक्रियशरीर नाना संस्थान वाला होता है। उसका कोई एक नियत आकार नहीं होता। नौ ग्रैवेयक के देवों तथा पांच अनुत्तर विमानवासी देवों को उत्तरवैक्रियशरीर का कोई प्रयोजन न होने से वे उत्तरवैक्रियशरीर का निर्माण ही नहीं करते, क्योंकि उनमें परिचारणा या गमनागमन आदि नहीं होते। अतः उन कल्पातीत वैमानिक देवों में केवल भवधारणीयशरीर ही पाया जाता है और उसका संस्थान समचतुरस्र ही होता है।[1]

वैक्रियशरीर में प्रमाणद्वार

१५२७. वेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसयसहस्सं ।

[१५२७ प्र.] भगवन् ! वैक्रियशरीर की अवगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! (वह) जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्टतः कुछ अधिक (सातिरेक) एक लाख योजन की कही गई है।

१५२८. वाउक्काइयएगिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेण अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ।

[१५२८ प्र.] भगवन् ! वायुकायिक-एकेन्द्रियों के वैक्रियशरीर की अवगाहना कितनी कही गई है ?

[उ.] गौतम ! (वह) जघन्य भी अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट भी अंगुल के असंख्यातवें भाग की (कही गई है।)

१५२९. [१] णेरइयपंचेंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य ।

तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं पंचधणुसयाइं । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं, उक्कोसेणं धणुसहस्सं ।

[१५२९-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर की अवगाहना कितनी कही गई है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार की कही गई है, यथा—भवधारणीया और उत्तरवैक्रिया अवगाहना। उनमें से जो उनकी भवधारणीया-अवगाहना है, वह जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग की है और उत्कृष्टतः पाँचसौ धनुष की है तथा उत्तरवैक्रिया-अवगाहना जघन्यतः अंगुल के संख्यातवें भाग की और उत्कृष्टतः एक हजार धनुष की है।

[२] रयणप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य ।

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४१६-४१७

(ख) प्रज्ञापना, प्रमेयबोधिनीटीका भा. ४, पृ. ६९७, ७०३

तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं सत्त धणूइं तिण्णि रयणीओ छच्च अंगुलाइं। तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं, उक्कोसेणं पण्णरस धणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ।

[१५२९-२ प्र.] भगवन्! रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों की शरीरावगाहना कितनी कही गई है?

[उ.] गौतम! (वह अवगाहना) दो प्रकार की कही गई है, यथा- भवधारणीया और उत्तरवैक्रिया। उनमें से भवधारणीया-शरीरावगाहना जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग है और उत्कृष्टतः सात धनुष, तीन रत्नि (मुंड हाथ) और छह अंगुल की है। उनकी उत्तरवैक्रिया-अवगाहना जघन्यतः अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्टतः पन्द्रह धनुष, ढाई रत्नि (मुंड हाथ) की है।

[३] सक्करप्पभाए पुच्छा।

गोयमा! जाव तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं पण्णरस धणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ। तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं, उक्कोसेणं एक्कतीसं धणूइं एक्का य रयणी।

[१५२९-३ प्र.] इसी प्रकार की पृच्छा शर्कराप्रभा के नारकों की शरीरावगाहना के विषय में करनी चाहिए।

[उ.] गौतम! यावत् (दो प्रकार की अवगाहना कही है, उनमें से) भवधारणीया (अवगाहना) जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्टतः पन्द्रह धनुष, ढाई रत्नि की है (तथा) उत्तरवैक्रिया (अवगाहना) जघन्यतः अंगुल के संख्यातवें भाग है, (और) उत्कृष्टः इकतीस धनुष एक रत्नि की है।

[४] वालुयप्पभाए भवधारणिज्जा एक्कतीसं धणूइं एक्का य रयणी, उत्तरवेउव्विया बावट्ठिं धणूइं दोण्णि य रयणीओ।

[१५२९-४ प्र.] बालुकाप्रभा (पृथ्वी के नारकों) की भवधारणीया (अवगाहना) इकतीस धनुष एक रत्नि की है (और) उत्तरवैक्रिया (अवगाहना) बासठ धनुष, दो हाथ की है।

[५] पंकप्पभाए भवधारणिज्जा बावट्ठिं धणूइं दोण्णि य रयणीओ, उत्तरवेउव्विया पणुवीसं धणुसयं।

[१५२९-५] पंकप्रभा-(पृथ्वी के नारकों) की भवधारणीया (अवगाहना) बासठ धनुष दो हाथ की है (और) उत्तरवैक्रिया (अवगाहना) एक सौ पच्चीस धनुष की है।

[६] धूमप्पभाए भवधारणिज्जा पणुवीसं धणुसयं, उत्तरवेउव्विया अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं।

[१५२९-६] धूमप्रभा-(पृथ्वी के नारकों) की भवधारणीया (अवगाहना) एक सौ पच्चीस धनुष की है (और) उत्तरवैक्रिया (अवगाहना) अढाई सौ धनुष की है।

[७] तमाए भवधारणिज्जा अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं, उत्तरवेउव्विया पंच धणुसयाइं।

[१५२९-७] तमः (प्रभापृथ्वी के नारकों) की भवधारणीया (अवगाहना) अढाई सौ धनुष की है, (और) उत्तरवैक्रिया (अवगाहना) पांच सौ धनुष की है।

[८] अहेसत्तमाए भवधारणिज्जा पंच धणुसयाइं, उत्तरवेउव्विया धणुसहस्सं। एवं उक्कोसेणं।

[१५२९-८] अधःसप्तम-(पृथ्वी के नारकों) की भवधारणीया (अवगाहना) पांच सौ धनुष की (और) उत्तरवैक्रिया (अवगाहना) एक हजार धनुष की है। यह (समस्त नरकपृथ्वियों के नारकों के भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय शरीर की) उत्कृष्ट (अवगाहना कही गई) है।

[९] जहण्णेणं भवधारणिज्जा अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उत्तरवेउव्विया अंगुलस्स संखेज्जइभागं।

[१५२९-९] (इन सबकी) जघन्यतः भवधारणीया (अवगाहना) अंगुल के असंख्यातवें भाग है (और) उत्तरवैक्रिया (अवगाहना) अंगुल के संख्यातवें भाग है।

१५३०. तिरिक्खजोणियपंचेंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता?

गोयमा! जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं, उक्कोसेणं जोयणसयपुहत्तं।

[१५३० प्र.] भगवन्! तिर्यञ्चयोनिक-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर की अवगाहना कितनी कही गई है?

[उ.] गौतम! जघन्यतः अंगुल के संख्यातवें भाग (और) उत्कृष्टतः शतयोजनपृथक्त्व की होती है।

१५३१. मणूसपंचेंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता?

गोयमा! जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं, उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसयसहस्सं।

[१५३१ प्र.] भगवन्! मनुष्य-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर की अवगाहना कितनी है?

[उ.] गौतम! (वह) जघन्यतः अंगुल के संख्यातवें भाग (और) उत्कृष्टतः कुछ अधिक एक लाख योजन की है।

१५३२. [१] असुरकुमारभवणवासिदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता?

गोयमा! असुरकुमाराणं देवाणं दुविहा सरीरोगाहणा पण्णत्ता। तं जहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य।

तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं सत्त रयणीओ। तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं जोयणसयसहस्सं।

[१५३२-१ प्र.] भगवन्! असुरकुमार-भवनवासी-देव-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर की अवगाहना कितनी कही है?

[उ.] गौतम! असुरकुमारदेवों की दो प्रकार की शरीरावगाहना कही गई है, यथा—भवधारणीया और उत्तरवैक्रिया। उनमें से भवधारणीया—(शरीरावगाहना जघन्यतः अंगुल के

असंख्यातवें भाग (प्रमाण) है (और) उत्कृष्टतः सात हाथ की है। (उनकी) उत्तरवैक्रिया-अवगाहना जघन्यतः अंगुल के संख्यातवें भाग-(प्रमाण) है (और) उत्कृष्टतः एक लाख योजन की है।

[२] एवं जाव थणियकुमाराणं।

[१५३२-२] इसी प्रकार – (असुरकुमारों की शरीरावगाहना के समान)—(नागकुमार देवों से लेकर) स्तनितकुमार देवों (तक) की (भवधारणीया और उत्तरवैक्रिया शरीरावगाहना जघन्यतः और उत्कृष्टतः) समझ लेनी चाहिए।

[३] एवं ओहियाणं वाणमंतराणं।

[१५३२-३] इसी प्रकार (पूर्ववत्) औधिक (समुच्चय) वाणव्यन्तरदेवों की (उभयरूपा जघन्य, उत्कृष्ट शरीरावगाहना समझ लेनी चाहिए।)

[४] एवं जोइसियाण वि।

[१५३२-४] इसी तरह ज्योतिष्कदेवों की (उभयरूपा जघन्य, उत्कृष्ट शरीरावगाहना) भी (जान लेनी चाहिए।)

[५] सोहम्मीसाणगदेवाणं एवं चेव उत्तरवेउव्विया जाव अच्चुओ कप्पो। णवरं सणंकुमारे भवधारणिज्जा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं छ रयणीओ, एवं माहिंदे वि, बंभलोय-लंतगेसु पंच रयणीओ, महासुक्क-सहस्सारेसु चत्तारि रयणीओ, आणय-पाणय-आरण-अच्चुएसु तिण्णि रयणीओ।

[१५३२-५] सौधर्म और ईशान कल्प के देवों की यावत् अच्युतकल्प के देवों तक की भवधारणीया-शरीरावगाहना भी इन्हीं के समान समझनी चाहिए, उत्तरवैक्रिया-शरीरावगाहना भी पूर्ववत् समझनी चाहिए। विशेषता यह है कि सनत्कुमारकल्प के देवों की भवधारणीया-शरीरावगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग—(प्रमाण) है और उत्कृष्ट छह हाथ की है, इतनी ही माहेन्द्रकल्प के देवों की शरीरावगाहना होती है। ब्रह्मलोक और लान्तक कल्प के देवों की शरीरावगाहना पांच हाथ की (तथा) महाशुक्र और सहस्रार कल्प के देवों की शरीरावगाहना चार हाथ की, (एवं) आनत, प्राणत, आरण और अच्युतकल्प के देवों की शरीरावगाहना तीन हाथ की होती है।

[६] गेवेज्जगकप्पातीतवेमाणियदेवपंचेंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता?

गोयमा! गेवेज्जगदेवाणं एगा भवधारणिज्जा सरीरोगाहणा पण्णत्ता, सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं दो रयणीओ।

[१५३२-६ प्र.] भंते! ग्रैवेयक-कल्पातीत-वैमानिकदेव-पंचेन्द्रियों के वैक्रियशरीर की अवगाहना कितनी कही गई है?

[उ.] गौतम! ग्रैवेयकदेवों की एक मात्र भवधारणीया शरीरावगाहना होती है। वह जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग-(प्रमाण) और उत्कृष्टतः दो हाथ की है।

[७] एवं अणुत्तरोववाइयदेवाण वि । णवरं एक्का रयणी ।

[१५३२-७] इसी प्रकार अनुत्तरौपपातिकदेवों की भी (भवधारणीया-शरीरावगाहना जघन्यतः इतनी ही समझनी चाहिए) विशेष यह है कि (इनकी) उत्कृष्ट (शरीरावगाहना) एक हाथ की होती है ।

विवेचन—वैक्रियशरीरी जीवों की शरीरावगाहना—प्रस्तुत छह सूत्रों (सू. १५२१ से १५२६ तक) में वैक्रियशरीर के प्रमाणद्वार के प्रसंग में वैक्रियशरीरी जीवों के भवधारणीय और उत्तर-वैक्रियशरीरों को लक्ष्य में रख कर उनकी जघन्य, उत्कृष्ट शरीरावगाहना की प्ररूपणा की गई है ।

विविध वैक्रियशरीरी जीवों की शरीरावगाहना को सुगमता से समझने के लिए तालिका दी जा रही है—

क्रम	वैक्रियशरीर के प्रकार	भवधारणीया-शरीरावगाहना ज. उ.	उत्तरवैक्रिया-शरीरावगाहना ज. उ.
१.	औधिक वैक्रियशरीर	जघन्य—अंगुल के असंख्यातवें भाग,	उत्कृष्ट कुछ अधिक एक लाख योजन
२.	वायुकायिक ए. वै. शरीर	जघन्य —अंगुल के असंख्यातवें भाग,	उत्कृष्ट—अंगुल के असंख्यातवें भाग ।
३.	समुच्चय नारकों के वै. शरीर	भव. जघन्य —अंगुल के असंख्यातवें भाग,उ. ५०० धनु.	ज. अंगुल के संख्यातवें भाग उ. १००० योजन ।
४.	रत्नप्रभा के ना. के वै. शरीर	भव.जघन्य—अंगुल के असंख्यातवें भाग,उ. ७ ध. ३ हाथ ६ अं.	ज.—अंगुल के संख्यातवें भाग, उ. १५ धनु. २।।हाथ ।
५.	शर्कराप्रभा के ना. के वै. शरीर	जघन्य—अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. १५ ध. २।। हाथ	ज.— अंगुल के संख्यातवें भाग उ. ३१ धनु. १ हाथ
६.	वालुकाप्रभा के ना. के वै. शरीर	जघन्य -अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. ३१ धनु. १ हाथ	ज.—अंगुल के संख्यातवें भाग उ. ६२ धनु. २ हाथ
७.	पंकप्रभा के ना. के वै. शरीर	ज. अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. ६२ धनु. २ हाथ	ज. अंगुल के संख्यातवें भाग उ. १२५ धनुष
८.	धूमप्रभा के ना. के वै. शरीर	ज.—अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. १२५ धनुष	ज. अंगुल के संख्यातवें भाग उ. २५० धनुष
९.	तमःप्रभा के ना. के वै. शरीर	ज.—अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. २५० धनुष	ज.—अंगुल के संख्यातवें भाग उ. ५०० धनुष
१०.	अधःसप्तम के ना. के वै.-शरीर	ज.—अंगुल के असंख्यातवें भाग. उ. ५०० धनुष	ज.—अंगुल के संख्यातवें भाग उ. १००० धनुष
११.	तिर्यञ्च पं. के वैक्रिय-शरीर	जघन्य—अंगुल के संख्यातवें भागप्रमाण	उत्कृष्ट योजनशत-पृथक्त्व की
१२.	मनुष्य पं. के वैक्रिय-शरीर	जघन्य—अंगुल के संख्यातवें भागप्रमाण	उ. कुछ अधिक एक लाख योजन की

१३.	समस्त भवनपति देवों के वै. शरीर	ज.—अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. ७ हाथ की	ज. अंगुल के असंख्यातवें भाग उ. १ लाख योजन
१४.	समस्त वाणव्यन्तरों के वै. शरीर	,, ,, ,, ,,	ज.—अंगुल के संख्यातवें भाग उ. १ लाख योजन
१५.	समस्त ज्योतिष्कों के वै. शरीर	,, ,, ,, ,,	,, ,, ,, ,, ,,
१६.	सौधर्म से अच्युतकल्प तक के देवों के वै. श.	ज.—अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. ७ हाथ की	,, ,, ,, ,, ,,
	सनत्कुमार देवों के वै. श.	ज.—अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. ६ हाथ की	,, ,, ,, ,, ,,
	माहेन्द्रकल्प के देवों के. वै. श.	ज.—अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. ६ हाथ की	,, ,, ,, ,, ,,
	ब्रह्मलोक लान्तक दे. के वै. श.	ज.- अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. ५ हाथ की	,, ,, ,, ,, ,,
	महाशुक्र सहस्रार दे. के वै. श.	ज.—अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. ४ हाथ की	,, ,, ,, ,, ,,
	आनत-प्राणत-आरण अच्युत कल्प के दे. के वै. श.	ज.- अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. ३ हाथ की	,, ,, ,, ,, ,,
१७.	नवग्रैवेयकों के वै. श.	ज.- अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. २ हाथ की	
१८.	पंच अनुत्तरौपपातिक दे. के वै. शरीर	ज.—अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. १ हाथ की	

नारकों की अवगाहना के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण—रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों की—जो भवधारणीय-शरीरावगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की कही है, वह उत्पत्ति के प्रथम-समय में होती है तथा जो उत्कृष्ट अवगाहना ७ धनुष ३ हाथ अंगुल ६ की बताई है, वह पर्याप्त-अवस्था की अपेक्षा से तेरहवें प्रस्तट (पाथड़े) में जाननी चाहिए। इससे पूर्व के प्रस्तटों में क्रमशः थोड़ी-थोड़ी अवगाहना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। वह इस प्रकार—रत्नप्रभापृथ्वी के प्रथम प्रस्तट में उत्कृष्ट अवगाहना तीन हाथ की, दूसरे प्रस्तट में १ धनुष १ हाथ ८।। अंगुल की, तीसरे प्रस्तट में १ धनुष ३ हाथ १७ अंगुल की, चौथे प्रस्तट में २ धनुष २ हाथ १।। अंगुल की, पांचवें प्रस्तट में ३ धनुष १० अंगुल की, छठे प्रस्तट में ३ धनुष २ हाथ १।। अंगुल की, सातवें प्रस्तट में ४ धनुष १ हाथ ३ अंगुल की, आठवें प्रस्तट में ४ धनुष ३ हाथ १।। अंगुल की, नौवें प्रस्तट में ५ धनुष १ हाथ २० अंगुल की, दसवें प्रस्तट में ६ धनुष ४।। अंगुल की, ग्यारहवें प्रस्तट में ६ धनुष २ हाथ १३ अंगुल की, बारहवें प्रस्तट में ७ धनुष २१।। अंगुल की और १३वें प्रस्तट में पूर्वोक्त अवगाहना होती है।

---

१. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १ पृ. २४०-२४१

शर्कराप्रभापृथ्वी के नारकों की जो भवधारणीय उत्कृष्ट शरीरावगाहना १५ धनुष २।। हाथ की बताई है, वह ग्यारहवें प्रस्तट की अपेक्षा से समझनी चाहिए। क्रमशः अन्य प्रस्तटों की अवगाहना इस प्रकार है—प्रथम प्रस्तट में ७ धनुष ३ हाथ ६ अंगुल की, दूसरे प्रस्तट में ८ धनुष २ हाथ ९ अंगुल की, तीसरे प्रस्तट में ९ धनुष १ हाथ १८ अंगुल की, चौथे में १० धनुष १५ अंगुल की, पांचवें प्रस्तट में १० धनुष ३ हाथ १८ अंगुल की, छठे प्रस्तट में ११ धनुष २ हाथ २१ अंगुल की, सातवें में १२ धनुष २ हाथ की, आठवें प्रस्तट में १३ धनुष १ हाथ ३ अंगुल की, नौवें प्रस्तट में १४ धनुष ६ अंगुल की, दसवें प्रस्तट में १४ धनुष ३ हाथ और ९ अंगुल की तथा ग्यारहवें प्रस्तट में पूर्वोक्त शरीरावगाहना समझनी चाहिए।

वालुकाप्रभापृथ्वी के नारकों की जो भवधारणीय उत्कृष्ट शरीरवगाहना ३१ धनुष १ हाथ बताई है, वह नौवें प्रस्तट की अपेक्षा से समझनी चाहिए। अन्य प्रस्तटों में अवगाहना इस प्रकार है प्रथम प्रस्तट में १५ धनुष २ हाथ १२ अंगुल की, दूसरे प्रस्तट में १७ धनुष २ हाथ ७।। अंगुल की, तीसरे प्रस्तट में १९ धनुष २ हाथ ३ अंगुल की, चौथे प्रस्तट में २१ धनुष १ हाथ २२।। अंगुल की, पांचवें प्रस्तट में २३ धनुष १ हाथ १८ अंगुल की, छठे प्रस्तट में २५ धनुष १ हाथ २३।। अंगुल की, सातवें प्रस्तट में २७ धनुष १ हाथ ९ अंगुल की, आठवें प्रस्तट में २९ धनुष १ हाथ ४।। अंगुल की और नौवें प्रस्तट में पूर्वोक्त शरीरावगाहना समझनी चाहिए।

पंकप्रभापृथ्वी में उत्कृष्ट भवधारणीय शरीरावगाहना ६२ धनुष २ हाथ की बताई गई है, वह सातवें प्रस्तट में जाननी चाहिए। अन्य प्रस्तटों में अवगाहना इस प्रकार है प्रथम प्रस्तट में ३१ धनुष १ हाथ की, दूसरे प्रस्तट में छत्तीस धनुष १ हाथ २० अंगुल की, तीसरे प्रस्तट में ४१ धनुष २ हाथ १६ अंगुल की, चौथे प्रस्तट में ४६ धनुष ३ हाथ १२ अंगुल की, पांचवें प्रस्तट में ५२ धनुष ८ अंगुल की, छठे प्रस्तट में ५७ धनुष १ हाथ ४ अंगुल की और सातवें प्रस्तट में पूर्वोक्त अवगाहना होती है।

धूमप्रभापृथ्वी में उत्कृष्ट भवधारणीय शरीरावगाहना १२५ धनुष की बताई है, वह पंचम प्रस्तट की अपेक्षा से समझनी चाहिए। इसके प्रथम प्रस्तट में ६२ धनुष २ हाथ की, दूसरे में ७८ धनुष १ बितस्ति (बीता), तीसरे में ९३ धनुष ३ हाथ, चौथे प्रस्तट (पाथड़े) में १०९ धनुष १ हाथ और १ बितस्ति और पांचवें प्रस्तट में पूर्वोक्त अवगाहना समझनी चाहिए।

तमःप्रभापृथ्वी के नारकों की उत्कृष्ट भवधारणीय अवगाहना २५० धनुष की है, वह तृतीय पाथड़े की अपेक्षा से है। अन्य पाथड़ों का परिमाण इस प्रकार है—प्रथम पाथड़े में १२५ धनुष की, दूसरे पाथड़े में १८७।। धनुष की और तीसरे पाथड़े की अवगाहना पूर्वोक्त परिमाण वाली है।

तमस्तमापृथ्वी के नारकों की उत्कृष्ट भवधारणीय शरीरावगाहना ५०० धनुष की कही गई है।

रत्नप्रभापृथ्वी की उत्तरवैक्रिय-शरीरावगाहना उत्कृष्टतः १५ धनुष २।। हाथ की होती है, यह अवगाहना १३वें पाथड़े में पाई जाती है। अन्य पाथड़ों में पूर्वोक्त भवधारणीय शरीरावगाहना के परिमाण से दुगुनी समझनी चाहिए।

शर्कराप्रभापृथ्वी की उत्तरवैक्रिय-शरीरावगाहना उत्कृष्ट ३१ धनुष १ हाथ की होती है,

जो ११वें पाथड़े में पाई जाती है। अन्य पाथड़ों में अपने-अपने भवधारणीय-शरीर की अवगाहना से उत्तरवैक्रियशरीर की अवगाहना दुगुनी-दुगुनी होती है।

बालुकाप्रभा की उत्तरवैक्रिय-शरीरावगाहना उत्कृष्ट ६२ धनुष २ हाथ की होती है, जो उसके नीचे पाथड़े की अपेक्षा से है। अन्य पाथड़ों में अपने-अपने भवधारणीय-अवगाहना-प्रमाण से दुगुनी-दुगुनी अवगाहना होती है।

पंकप्रभा की उत्कृष्ट उत्तरवैक्रिय-शरीरावगाहना १२५ धनुष की है, जो उसके सातवें पाथड़े में पाई जाती है। अन्य पाथड़ों में अपनी-अपनी भवधारणीय-शरीरावगाहना से दुगुनी-दुगुनी अवगाहना समझ लेनी चाहिए।

धूमप्रभापृथ्वी की उत्कृष्ट उत्तरवैक्रिय-शरीरावगाहना २५० धनुष की है, जो उसके पांचवें पाथड़े की अपेक्षा से है। बाकी के पाथड़ों की उत्तरवैक्रियावगाहना, अपनी-अपनी भवधारणीय-अवगाहना से दुगुनी-दुगुनी है।

तमःप्रभापृथ्वी की उत्कृष्ट उत्तरवैक्रिय-शरीरावगाहना ५०० धनुष की है, जो उसके तीसरे पाथड़े की अपेक्षा से है। प्रथम और द्वितीय प्रस्तट की उत्तरवैक्रियावगाहना अपनी-अपनी भवधारणीय शरीरावगाहना से दुगुनी-दुगुनी होती है।

सातवीं पृथ्वी के नारकों की उत्कृष्ट उत्तरवैक्रिय-शरीरावगाहना १००० धनुष की होती है।[1]

स्थिति के अनुसार वैमानिक-देवों की भवधारणीय उत्कृष्ट अवगाहना—**सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प** में जिन देवों की स्थिति दो सागरोपम की है, उनकी भवधारणीय-अवगाहना पूरे सात हाथ की होती है, जिनकी स्थिति ३ सागरोपम की है, उनकी अवगाहना ६ हाथ तथा एक हाथ के ४/११ भाग की है। जिनकी स्थिति ४ सागरोपम की है, उनकी अवगाहना ६ हाथ और एक हाथ के ३/११ भाग की है, जिनकी स्थिति ५ सागरोपम की है, उनकी अवगाहना ६ हाथ और एक हाथ के २/११ भाग की है, जिनकी स्थिति ६ सागरोपम की है, उनकी अवगाहना ६ हाथ और १/११ भाग की है। जिनकी स्थिति पूरे ७ सागरोपम की है, उनकी अवगाहना पूरे ६ हाथ की है।

ब्रह्मलोक और लान्तककल्प जिन देवों की स्थिति ब्रह्मलोक कल्प में ७ सागरोपम की है, उनकी भवधारणीय उत्कृष्ट अवगाहना पूरे ६ हाथ की है, जिनकी स्थिति ८ सागरोपम की है, उनकी भवधारणीय शरीरावगाहना ५ हाथ एवं ६/११ हाथ की होती है, जिनकी स्थिति नौ सागरोपम की है, उनकी अवगाहना ५ हाथ और ५/११ हाथ की होती है। जिनकी स्थिति १० सागरोपम की है, उनकी अवगाहना ५ हाथ और ४/११ हाथ की होती है। लान्तककल्प में जिनकी स्थिति १० सागरोपम की है, उनकी उत्कृष्ट अवगाहना ५ हाथ और ४/११ हाथ की होती है, जिनकी स्थिति ११ सागरोपम की है, उनकी अवगाहना ५ हाथ और ३/११ हाथ की होती है। जिनकी स्थिति १३ सागरोपम की है, उनकी अवगाहना ५ हाथ और १/११ हाथ की होती है तथा जिनकी स्थिति १४ सागरोपम की है, उनकी अवगाहना पूरे ५ हाथ की होती है।

---

१. प्रज्ञापना मलयवृत्ति, पत्र ४१८ से ४२० तक

महाशुक्र और सहस्रार में जिन देवों की स्थिति महाशुक्रकल्प में १४ सागरोपम की है, उनकी उत्कृष्ट भवधारणीय-शरीरावगाहना पूरे ५ हाथ की होती है, जिनकी स्थिति १५ सागरोपम की है, उनकी उ. भ. शरीरावगाहना ४ हाथ और ३/११ हाथ की होती है, जिनकी स्थिति १६ सागरोपम की है, उनकी अवगाहना ४ हाथ और २/११ हाथ की होती है, जिनकी स्थिति १७ सागरोपम की है, उनकी अवगाहना ४ हाथ और १/११ हाथ की होती है। सहस्रारकल्प में भी १७ सागरोपम वाले देवों की उत्कृष्ट भ. अवगाहना इतनी ही होती है। जिनकी स्थिति पूरे १८ सागरोपम की है, उनकी अवगाहना पूरे ४ हाथ की होती है।

आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्प के देवों की अवगाहना—आनतकल्प में जिनकी स्थिति पूरे १८ सागरोपम की है, उनकी भ. उ. शरीरावगाहना पूरे ४ हाथ की होती है, जिनकी स्थिति १९ सागरोपम की है, उनकी अवगाहना ३ हाथ और ३/११ हाथ की होती है। प्राणतकल्प में जिनकी स्थिति २० सागरोपम की है, उनकी अवगाहना ३ हाथ और २/११ हाथ की होती है। आरणकल्प में जिन देवों की स्थिति २० सागरोपम की है उनकी अवगाहना ३ हाथ और २/११ भाग की होती है, जिनकी स्थिति २१ सागरोपम की है, उनकी ३ हाथ और १/११ हाथ की होती है। अच्युतकल्प में जिनकी स्थिति २१ सागरोपम की है, उनकी भी भ. शरीरावगाहना ३ हाथ १/११ हाथ की होती है, जिन देवों की अच्युतकल्प में २२ सागरोपम की स्थिति है, उनकी उत्कृष्ट शरीरावगाहना ३ हाथ की होती है। प्रथम ग्रैवेयक में जिनकी स्थिति २३ सागरोपम की है, उनकी अवगाहना ३ हाथ की होती है। द्वितीय ग्रैवेयक में जिनकी स्थिति २३ सागरोपम की है, उनकी उ. अवगाहना २ हाथ और ८/११ हाथ की होती है। द्वितीय ग्रैवेयक में जिनकी स्थिति २४ सागरोपम की है, उनकी उ. अवगाहना २ हाथ ७/११ हाथ की होती है। तृतीय ग्रैवेयक में जिनकी स्थिति २४ सागरोपम की है, उनकी उत्कृष्ट शरीरावगाहना २ हाथ और ७/११ हाथ की होती है। तृतीय ग्रैवेयक में २५ सागरोपम की स्थिति वाले देवों की उ. शरीरावगाहना २ हाथ ६/११ हाथ की होती है। चौथे ग्रैवेयक में जिन देवों की स्थिति २५ सागरोपम की है, उनकी भी भ. शरीरावगाहना पूर्ववत् होती है। चौथे ग्रैवेयक में २६ सागरोपम की स्थिति वाले देवों की भ. शरीरावगाहना २ हाथ व ५/११ हाथ की होती है। पांचवें ग्रैवेयक में जिन देवों की स्थिति २६ सागरोपम की है, उनकी भी उ. शरीरावगाहना पूर्ववत् ही है। पांचवें ग्रैवेयक में जिन देवों की स्थिति २७ सागरोपम की है, उनकी उ. भ. शरीरावगाहना २ हाथ और २/११ हाथ की होती है। छठे ग्रैवेयक में जिन देवों की स्थिति २७ सागरोपम की होती है, उ. भव. शरीरावगाहना भी पूर्ववत् होती है। छठे ग्रैवेयक में जिन देवों की स्थिति २८ सागरोपम की है, उनकी उ. भव. शरीरावगाहना २ हाथ और ३/११ हाथ की होती है। सातवें ग्रैवेयक में जिन देवों की स्थिति २८ सागरोपम की है, उनकी भी शरीरावगाहना पूर्ववत् होती है। सातवें ग्रैवेयक में भी जिनकी स्थिति २९ सागरोपम होती है, उनकी उ. शरीरावगाहना २ हाथ और २/११ हाथ की होती है। आठवें ग्रैवेयक में भी जिनकी स्थिति २९ सागरोपम की है, उनकी भ. उ. शरीरावगाहना पूर्ववत् होती है। आठवें ग्रैवेयक में जिनकी स्थिति ३० सागरोपम की है, उनकी भ. उ. शरीरावगाहना २ हाथ व $\frac{1}{11}$ हाथ की होती है। नौवें ग्रैवेयक में जिन देवों की स्थिति ३० सागरोपम की होती है, उनकी भ. उ. शरीरावगाहना भी पूर्ववत् होती है। नौवें ग्रैवेयक में जिन देवों की स्थिति ३१ सागरोपम की है, उनकी भवधारणीय शरीरावगाहना पूरे २ हाथ की होती है।

विजयादि चार अनुत्तर विमानवासी—जिन देवों की स्थिति ३१ सागरोपम की है, उनकी भ. उ. अवगाहना २ हाथ की होती है । विजयादि चार अनुत्तरविमानवासी जिन देवों की मध्यम स्थिति ३१ सागरोपम की होती है उनकी भ. उ. अवगाहना १ हाथ और १/११ हाथ की होती है तथा सर्वार्थसिद्ध विमान में देवों की स्थिति ३३ सागरोपम की होती है, उनकी अवगाहना १ हाथ की होती है ।[1]

१५३३. [१] **आहारगसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?**

गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते ।

[१५३३-१ प्र.] भंते ! आहारकशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! वह एक ही प्रकार का कहा गया है ।

[२] जदि एगागारे पण्णत्ते किं मणूसआहारगसरीरे अमणूसआहारगसरीरे ?

गोयमा ! मणूसआहारगसरीरे, णो अमणूसआहारगसरीरे ।

[१५३३-२ प्र.] (भगवन् !) यदि आहारकशरीर एक ही प्रकार का कहा गया है तो वह आहारकशरीर मनुष्य के होता है अथवा अमनुष्य के होता है ?

[उ.] गौतम ! मनुष्य के आहारकशरीर होता है, किन्तु मनुष्येतर के आहारकशरीर नहीं होता है ।

[३] जदि मणूसआहारगसरीरे किं सम्मुच्छिममणूसआहारगसरीरे गब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?

गोयमा ! णो सम्मुच्छिममणूसआहारगसरीरे गब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ।

[१५३३-३ प्र.] (भगवन् !) यदि मनुष्यों के आहारकशरीर होता है तो क्या सम्मूर्च्छिम मनुष्य के होता है, या गर्भज-मनुष्य के होता है ?

[उ.] गौतम ! सम्मूर्च्छिम-मनुष्य के आहारकशरीर नहीं होता, (अपितु) गर्भज-मनुष्य के आहारकशरीर होता है ।

[४] जदि गब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे किं कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे अकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?

गोयमा ! कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, णो अकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, णो अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ।

[१५३३-४ प्र.] (भगवन् !) यदि गर्भज-मनुष्य के आहारकशरीर होता है तो क्या कर्म-भूमिक-गर्भज-मनुष्य के आहारकशरीर होता है, अकर्म-भूमिक-गर्भज-मनुष्य के होता है, अथवा अन्तरद्वीपक मनुष्य के होता है ?

[१५३३-४ उ.] गौतम ! कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य के आहारकशरीर होता है, किन्तु न तो अकर्म-भूमिक-गर्भज-मनुष्य के होता है और न अन्तरद्वीपक-गर्भज-मनुष्य के होता है ।

---

१. प्रज्ञापना, मलय-वृत्ति, पत्र ४२१ से ४२३ तक

[५] जदि कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे किं संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे असंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?

गोयमा ! संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, णो असंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ।

[१५३३-५ प्र.] (भगवन् !) यदि कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य के आहारकशरीर होता है, तो क्या संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य के होता है या असंख्यात-वर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य के होता है ?

[उ.] गौतम ! संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य के आहारकशरीर होता है, किन्तु असंख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य के नहीं होता है ।

[६] जदि संखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे किं पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे अपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?

गोयमा ! पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, णो अपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ।

[१५३३-६ प्र.] (भगवन् !) यदि संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के आहारक शरीर होता है, (तो) क्या पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य के होता है (अथवा) अपर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य के होता है ?

[उ.] गौतम ! पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के आहारकशरीर होता है किन्तु अपर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के नहीं होता है ।

[७] जदि पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे किं सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे मिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे सम्मामिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?

गोयमा ! सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, णो मिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, णो सम्मामिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ।

[१५३३-७] (भगवन् !) यदि पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के आहारकशरीर होता है तो क्या सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के आहारकशरीर होता है, मिथ्यादृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के होता है, अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज मनुष्य के होता है ?

[उ.] गौतम ! सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के आहारक-

शरीर होता है, (किन्तु) न तो मिथ्यादृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के होता है और न ही सम्यग्मिथ्यादृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के होता है।

[८] जदि सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे किं संजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे असंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे संजयासंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?

गोयमा ! संजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, णो असंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे णो संजयासंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे।

[१५३३-८ प्र.] (भगवन् !) यदि सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के आहारकशरीर होता है तो क्या संयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के होता है, या असंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्य के होता है, अथवा संयतासंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के होता है ?

[उ.] गौतम ! संयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के आहारकशरीर होता है, (किन्तु) न (तो) असंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के होता है और न ही संयतासंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज मनुष्यों के होता है।

[९] जदि संजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे किं पमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे अपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे ?

गोयमा ! पमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे, णो अपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे।

[१५३३-९ प्र.] (भगवन् !) यदि संयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के आहारकशरीर होता है तो क्या प्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के होता है, अथवा अप्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के होता है ?

[उ.] गौतम ! प्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के आहारकशरीर होता है, अप्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के नहीं होता है।

[१०] जदि पमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे किं इड्ढिपत्तपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूस-

आहारगसरीरे अणिड्ढिपत्तपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूस-आहारगसरीरे ?

गोयमा ! इड्ढिपत्तपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूस-आहारगसरीरे, णो अणिड्ढिपत्तपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतिय-मणूसआहारगसरीरे ।

[१५३३-१० प्र.] (भगवन् !) यदि प्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्म-भूमिक-गर्भज-मनुष्यों के आहारकशरीर होता है तो क्या ऋद्धिप्राप्त-प्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के होता है, अथवा अनृद्धिप्राप्त-प्रमत्तसंयत-सम्यग्यदृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के होता है ?

[उ.] गौतम ! ऋद्धिप्राप्त-प्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यातवर्षायुष्क-कर्मभूमिक-गर्भज-मनुष्यों के आहारशरीर होता है (किन्तु) अनृद्धिप्राप्त—प्रमत्तसंयत-सम्यग्दृष्टि-पर्याप्तक-संख्यात-वर्षायुष्क-गर्भज-मनुष्य के नहीं होता है ।

विवेचन—आहारकशरीर का अधिकारी प्रस्तुत सूत्र (सू. १५३३) के दस भागों में एकविध आहारकशरीर किसको प्राप्त होता है, किसको नहीं ? इसकी चर्चा की गई है ।

निष्कर्ष—आहारकशरीर एक ही प्रकार का होता है और वह कर्मभूमि के गर्भज-सम्यग्दृष्टि-ऋद्धिप्राप्त-प्रमत्तसंयमी-मनुष्य को होता है ।[1]

संजत आदि शब्दों के विशेषार्थ—प्रमत्त जो प्रमाद करते हैं, मोहनीयादि कर्मोदयवश तथा संज्वलनकषाय-निद्रादि में से किसी भी प्रमाद के योग से संयमप्रवृत्तियों (योगों) में कष्ट पाते हैं। वे प्रायः गच्छवासी (स्थविरकल्पी) होते हैं, क्योंकि वे कहीं-कहीं उपयोगशून्य होते हैं ।

अप्रमत्त—इनसे विपरीत जो प्रमादरहित हों, वे प्रायः जिनकल्पी, परिहारविशुद्धिक, यथालन्दकल्पिक एवं प्रतिमाप्रतिपन्न साधु होते हैं । वे सदा उपयोगयुक्त रहते हैं ।[2]

एक स्पष्टीकरण—जैनसिद्धान्तानुसार जिनकल्पी आदि लब्धि-उपजीवी नहीं होते । क्योंकि उनका वैसा ही कल्प है । जो गच्छवासी आहारकशरीर का निर्माण करते हैं, वे उस समय लब्ध्युप-जीवी एवं उत्सुकता के कारण प्रमत्त होते हैं । आहारकशरीर को छोड़ने में भी वे प्रमत्त होते हैं । औदारिकशरीर में आत्मप्रदेशों का सर्वात्मना (चारों ओर से) उपसंहरण करने से व्याकुलता आती है । आहारकशरीर में वह अन्तर्मुहूर्त तक रहते हैं । अतः यद्यपि उसके बीच के काल में थोड़ी देर के लिए जरा-सा विशुद्धिभाव आ जाता है । कर्मग्रन्थकार इस स्थिति को अप्रमत्तता कहते हैं, किन्तु वास्तव में देखा जाए तो लब्ध्युपजीविता के कारण वे प्रमत्त हैं ।[3]

इड्ढिपत्त—ऋद्धिप्राप्त— आमर्षौषधि इत्यादि ऋद्धियाँ—लब्धियाँ जिन्हें प्राप्त हों ।[4]

---

१. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ) ३४२-३४३

२. प्रज्ञापना; मलय. वृत्ति, पत्र ४२४-४२५

३. वही, पत्र ४२४-४२५ ४. वही, पत्र ४२४-४२५

आहारकशरीर में संस्थानद्वार

१५३४. आहारगसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! समचउरंससंठाणसंठिए पण्णत्ते ।

[१५३४ प्र.] भगवन् ! आहारकशरीर किस संस्थान (आकार) का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) समचतुरस्रसंस्थान वाला कहा गया है।

विवेचन—आहारकशरीर का आकार—आहारकशरीर एक ही प्रकार का होता है और उसका संस्थान एक ही प्रकार का—'समचतुरस्र' कहा गया है।

आहारकशरीर में प्रमाणद्वार

१५३५. आहारगसरीरस्स णं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं देसूणा रयणी, उक्कोसेणं पडिपुण्णा रयणी ।

[१५३५ प्र.] भगवन् ! आहारकशरीर की अवगाहना कितनी कही गई है ?

[उ. गौतम ! (उसकी अवगाहना) जघन्य देशोन (कुछ कम) एक हाथ की, उत्कृष्ट पूर्ण एक हाथ की होती है।

विवेचन आहारकशरीर की अवगाहना—प्रस्तुत सूत्र में आहारकशरीर की ऊँचाई का प्रमाण (अवगाहना) बताया गया है।

आहारकशरीर का प्रमाण—उसकी कम से कम अवगाहना, कुछ कम एक रत्नि प्रमाण (एक हाथ) बतायी गयी है। प्रारम्भ समय में उसकी इतनी ही अवगाहना होती है, उसका कारण तथाविध प्रयत्न है। आहारकशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना पूर्ण रत्नि प्रमाण बताई गई है।[1]

तैजसशरीर में विधिद्वार

१५३६. तेयगसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा—एगिंदियतेयगसरीरे जाव पंचेंदियतेयगसरीरे ।

[१५३६ प्र.] भगवन् ! तैजसशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार– एकेन्द्रियतैजसशरीर यावत् पंचेन्द्रियतैजसशरीर ।

१५३७. एगिंदियतेयगसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा—पुढविक्काइया जाव वणस्सइकाइयएगिंदियतेयगसरीरे ।

[१५३७ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रियतैजसशरीर कितने प्रकार का कहा गया है।

[उ.] गौतम ! (वह) पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—पृथ्वीकायिक-तैजसशरीर यावत् वनस्पतिकायिक-तैजसशरीर ।

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४२५-४२६

१५३८. एवं जहा ओरालियसरीरस्स भेदो भणियो (सु.१४७७-८१) तहा तेयगस्स वि जाव चउरिंदियाणं ।

[१५३८ प्र.] इस प्रकार जैसे औदारिकशरीर के भेद (सूत्र १४७७ से १४८१ तक में) कहे हैं, उसी प्रकार तैजसशरीर के भी (भेद) चतुरिन्द्रिय तक के (कहने चाहिए ।)

१५३९. [१] पंचेंदियतेयगसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—णेरइयतेयगसरीरे जाव देवतेयगसरीरे ।

[१५३९-१ प्र.] भगवन् ! पंचेंद्रियतैजसशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) चार प्रकार का कहा गया है, यथा—नैरयिकतैजसशरीर यावत् देवतैजसशरीर ।

[२] णेरइयाणं दुगतो भेदो भाणियव्वो जहा वेउव्वियसरीरे (सु. १५१७-२) ।

[१५३९-२] जैसे नारकों के वैक्रियशरीर के (सू.१५१७-२) में पर्याप्तक और अपर्याप्तक, ये दो भेद कहे गये हैं, उसी प्रकार यहाँ नारकों के तैजसशरीर के भी भेद (कहने चाहिए ।)

[३] पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं मणूसाण य जहा ओरालियसरीरे भेदो भणिओ (सु. १४८२-८७) तहा भाणियव्वो ।

[१५३९-३] जैसे (सू. १४८२ से १४८७ तक में) पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और मनुष्यों के औदारिकशरीर के भेदों का कथन किया है, उसी प्रकार (यहाँ भी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और मनुष्यों के तैजसशरीर के भेदों का) कथन करना चाहिए ।

[४] देवाणं जहा वेउव्वियसरीरे भेओ भणिओ (सु.१५२०) तहा (तेयगस्स वि) भाणियव्वो जाव सव्वट्ठसिद्धदेवे त्ति ।

[१५३९-४] जैसे (चारों प्रकार के) देवों के (सू. १५२० में) वैक्रियशरीर के भेद कहे गए हैं, वैसे ही (यहाँ भी) यावत् सर्वार्थसिद्ध देवों (तक) के (तैजसशरीर के भेदों) का कथन करना चाहिए ।

विवेचन—तैजसशरीर के भेद-प्रभेदों का निरूपण—प्रस्तुत ४ सूत्रों (१५३६ से १५३९ तक में समस्त संसारी जीवों के तैजसशरीर के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है ।

फलितार्थ—तैजसशरीर एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के समस्त जीवों के अवश्यमेव होता है । इसलिए जीवों के जितने भेद हैं, उतने ही तैजसशरीर के भेद हैं । यथा एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियगत औदारिक शरीर तक के जितने भेद कहे गए हैं, उतने ही भेद इनके तैजसशरीर के कहने चाहिए । पंचेन्द्रिय तैजसशरीर के नारक आदि चार भेद बताए हैं । उनमें से नारकों के वैक्रियशरीर के पर्याप्तक-अपर्याप्तक ये दो भेद कहे गए हैं, वैसे ही इनके तैजसशरीर के भी दो भेद कहने चाहिए । तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों और मनुष्यों के औदारिकशरीर के जितने भेद कहे हैं, उतने ही उनके तैजसशरीर के भेद कहने चाहिए । चारों प्रकार के देवों के (सर्वार्थसिद्ध तक के) वैक्रियशरीर के जितने भेद कहे

हैं, उतने ही इनके तैजसशरीरगत भेद कहने चाहिए।[1]

तैजसशरीर में संस्थानद्वार

१५४०. तेयगसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते।

[१५४० प्र.] भगवन् ! तैजसशरीर का संस्थान किस प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) नाना संस्थान वाला कहा गया है।

१५४१. एगिंदियतेयगसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते।

[१५४१ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रियतैजसशरीर किस संस्थान का होता है ?

[उ.] गौतम ! (वह) नाना प्रकार के संस्थान वाला होता है।

१५४२. पुढविक्काइयएगिंदियतेयगसरीरे णं भंते ! किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! मसूरचंदसंठाणसंठिए पण्णत्ते।

[१५४२ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक-एकेन्द्रियतैजसशरीर किस संस्थान वाला कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) मसूरचन्द्र (मसूर की दाल) के आकार का कहा गया है।

१५४३. एवं ओरालियसंठाणाणुसारेणं भाणियव्वं (सु. १४९०-९६) जाव चउरिंदियाणं ति।

[१५४३] इसी प्रकार (अन्य एकेन्द्रियों से लेकर) यावत् चतुरिन्द्रियों के तैजसशरीर-संस्थान का कथन (सू. १४९० से १४९६ तक में उक्त) इनके औदारिकशरीर-संस्थानों के अनुसार करना चाहिए।

१५४४. [१] णेरइयाणं भंते ! तेयगसरीरे किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! जहा वेउव्वियसरीरे (सु. १५२३)।

[१५४४-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों का तैजसशरीर किस संस्थान का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! जैसे (सू. १५२३ में) (इनके) वैक्रियशरीर (के संस्थान) का (कथन किया है) (उसी प्रकार इनके तैजसशरीर के संस्थान का कथन करना चाहिए।)

[२] पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं मणूसाण य जहा एतेसिं चेव ओरालिय त्ति (सु. १५२४-२५)।

[१५४४-२] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों और मनुष्यों के तैजसशरीर के संस्थान का कथन उसी प्रकार करना चाहिए, जिस प्रकार (सू. १५२४-१५२५ में) इनके औदारिकशरीरगत संस्थानों का कथन किया गया है।

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं (प्रस्तावनादि) भा. २, पृ. ११८
(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४२७

[३] देवाणं भंते ! तेयगसरीरे किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! जहा वेउव्वियस्स (सु. १५२६) जाव अणुत्तरोववाइय त्ति ।

[१५४४-३ प्र.] भगवन् ! देवों के तैजसशरीर का संस्थान किस प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! जैसे (सू. १५२६ में असुरकुमार से लेकर) यावत् अनुत्तरौपपातिक देवों के वैक्रियशरीर के संस्थान का कथन किया है, उसी प्रकार इनके तैजसशरीर के संस्थान का कथन करना चाहिए ।

विवेचन— एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के तैजसशरीर का संस्थान -एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के तैजसशरीरों के संस्थान की चर्चा प्रस्तुत ५ सूत्रों (१५४० से १५४४ तक) में की गई है ।

तैजसशरीर का संस्थान औदारिक-वैक्रियशरीरानुसारी क्यों ?—तैजसशरीर जीव के प्रदेशों के अनुसार होता है । अतएव जिस भव में जिस जीव के औदारिक अथवा वैक्रिय शरीर के अनुसार आत्मप्रदेशों का जैसा आकार होता है, वैसा ही उन जीवों के तैजसशरीर का आकार होता है ।[1]

तैजसशरीर में प्रमाणद्वार

१५४५. जीवस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ता विक्खंभ-बाहल्लेणं; आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागो, उक्कोसेणं लोगंताओ लोगंतो ।

[१५४५ प्र.] भगवन् ! मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत (समुद्घात किये हुए) जीव के तैजसशरीर की अवगाहना कितनी होती है ?

[उ.] गौतम ! विष्कम्भ, अर्थात्—उदर आदि के विस्तार और बाहल्य, अर्थात्- छाती और पृष्ठ की मोटाई के अनुसार शरीरप्रमाणमात्र ही अवगाहना होती है । लम्बाई की अपेक्षा तैजसशरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की होती है और उत्कृष्ट अवगाहना लोकान्त से लोकान्त तक होती है ।

१५४६. एगिंदियस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! एवं चेव, जाव पुढवि-आउ-तेउ-वाउ-वणस्सइकाइयस्स ।

[१५४६ प्र.] भगवन् ! मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत एकेन्द्रिय के तैजसशरीर की अवगाहना कितनी कही गई है ?

[उ.] गौतम ! इसी प्रकार (समुच्चय जीव के समान मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत एकेन्द्रिय के तैजसशरीर की अवगाहना भी) विष्कम्भ और बाहल्य की अपेक्षा से शरीरप्रमाण और

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४२७

लम्बाई की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना) पृथ्वी-अप्-तेजो-वायु-वनस्पतिकायिक तक पूर्ववत् समझनी चाहिए।

१५४७. [१] बेइंदियस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ता विक्खंभ-बाहल्लेणं; आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं तिरियलोगाओ लोगंतो।

[१५४७-१ प्र.] भगवन् ! मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत द्वीन्द्रिय के तैजसशरीर की अवगाहना कितनी बड़ी कही गई है ?

[उ.] गौतम ! विष्कम्भ अर्थात् उदर आदि विस्तार एवं बाहल्य, अर्थात्—वक्षस्थल एवं पृष्ठ (पीठ) की मोटाई की अपेक्षा से शरीरप्रमाणमात्र होती है। तथा लम्बाई की अपेक्षा से जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट तिर्यक् (मध्य) लोक से (ऊर्ध्वलोकान्त या अधो-) लोकान्त तक अवगाहना समझनी चाहिए।

[२] एवं जाव चउरिंदियस्स।

[१५४७-२] इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रिय तक के (जीवों के तैजसशरीर की अवगाहना समझ लेना चाहिए।)

१५४८. णेरइयस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ता विक्खंभ-बाहल्लेणं; आयामेणं जहण्णेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं, उक्कोसेणं अहे जाव अहेसत्तमा पुढवी, तिरियं जाव सयंभूरमणे समुद्दे, उड्ढं जाव पंडगवणे पुक्खरिणीओ।

[१५४८ प्र.] भगवन् ! मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत नारक के तैजसशरीर की अवगाहना कितनी कही गई है ?

[उ.] गौतम ! विष्कम्भ और बाहल्य की अपेक्षा से शरीरप्रमाणमात्र तथा आयाम (लम्बाई) की अपेक्षा से जघन्य सातिरेक (कुछ अधिक) एक हजार योजन की और उत्कृष्ट नीचे की ओर अधःसप्तमनरकपृथ्वी तक, तिरछी यावत् स्वयम्भूरमणसमुद्र तक और ऊपर पण्डकवन में स्थित पुष्करिणी तक (की अवगाहना होती है।)

१५४९. पंचेंदियतिरिक्खजोणियस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहा बेइंदियसरीरस्स (सु. १५४७ [१])।

[१५४९ प्र.] भगवन् ! मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च के तैजसशरीर की अवगाहना कितनी कही गई है ?

[उ.] गौतम ! जैसे (सू. १५४७-१ में) द्वीन्द्रिय (के तैजसशरीर) की अवगाहना कही है, उसी प्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक की अवगाहना समझनी चाहिए।)

१५५०. मणूसस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! समयखेत्ताओ लोगंतो।

[१५५० प्र.] भगवन् ! मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत मनुष्य के तैजसशरीर की अवगाहना कितनी बड़ी कही गई है ?

[उ.] गौतम ! (मनुष्य के तैजसशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना) समयक्षेत्र (मनुष्यक्षेत्र) से लोकान्त (ऊर्ध्वलोक या अधोलोक के अन्त) तक (की होती है।)

१५५१. [१] असुरकुमारस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ता विक्खंभ-बाहल्लेणं, आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं अहे जाव तच्चाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते, तिरियं जाव सयंभुरमणसमुद्दस्स बाहिरिल्ले वेइयंते, उड्ढं जाव इसीपब्भारा पुढवी।

[१५५१-१ प्र.] भगवन् ! मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत असुरकुमार के तैजसशरीर की अवगाहना कितनी कही गई है ?

[उ.] गौतम ! विष्कम्भ और बाहल्य की अपेक्षा से शरीरप्रमाणमात्र (शरीर के बराबर) तथा आयाम की अपेक्षा से जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट नीचे की ओर तीसरी (नरक) पृथ्वी के अधस्तनचरमान्त तक, तिरछी स्वयम्भूरमणसमुद्र की बाहरी वेदिका तक एवं ऊपर ईषत्प्राग्भारपृथ्वी तक (असुरकुमार के तैजसशरीर की अवगाहना होती है।)

[२] एवं जाव थणियकुमारतेयगसरीरस्स।

[१५५१-२] इसी प्रकार (असुरकुमार के तैजसशरीर की अवगाहना के समान) नागकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक की (तैजसशरीरीय अवगाहना समझ लेनी चाहिए।)

[३] वाणमंतर-जोइसिया सोहम्मीसाणगा य एवं चेव।

[१५५१-४] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं सौधर्म ईशान (कल्प के देवों की तैजसशरीरीय अवगाहना भी इसी प्रकार (असुरकुमार के समान) समझनी चाहिए।

[४] सणंकुमारदेवस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ता विक्खंभ-बाहल्लेणं, आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं अहे जाव महापायालाणं दोच्चे तिभागे, तिरियं जाव सयंभुरमणसमुद्दे, उड्ढं जाव अच्चुओ कप्पो।

[१५५१-४ प्र.] भगवन् ! मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत सनत्कुमार-देव तैजसशरीर की अवगाहना कितनी बड़ी कही गई है ?

[उ.] गौतम ! विष्कम्भ एवं बाहल्य की अपेक्षा से शरीर-प्रमाणमात्र (होती है) और आयाम की अपेक्षा से जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की तथा उत्कृष्ट नीचे महापाताल (कलश) के द्वितीय त्रिभाग तक की, तिरछी स्वयम्भूरणसमुद्र तक की और ऊपर अच्युतकल्प तक की (इसकी तैजसशरीरावगाहना होती है।)

[५] एवं जाव सहस्सारदेवस्स ।

[१५५१-५] इसी प्रकार (सनत्कुमारदेव की तैजसशरीरावगाहना के समान) (माहेन्द्र-कल्प से लेकर) सहस्रारकल्प के देवों तक की (तैजसशरीरावगाहना समझ लेना चाहिए।)

[६] आणयदेवस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ता विक्खंभ-बाहल्लेणं; आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं अहे जाव अहेलोइयगामा, तिरियं जाव मणूसखेत्ते, उड्ढं जाव अच्चुओ कप्पो ।

[१५५१-६ प्र.] भगवन् ! मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत आनत (कल्प के) देव के तैजस-शरीर की अवगाहना कितनी बड़ी कही गई है ?

[उ.] गौतम ! (इसकी तैजसशरीरावगाहना) विष्कम्भ और बाहल्य की अपेक्षा से शरीर के प्रमाण के बराबर होती है और आयाम की अपेक्षा से जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की, उत्कृष्ट—नीचे की ओर अधोलौकिकग्राम तक की, तिरछी मनुष्यक्षेत्र तक की और ऊपर अच्युतकल्प तक की (होती है।)

[७] एवं जाव आरणदेवस्स ।

[१५५१-७] इसी प्रकार (आनतदेव की तैजसशरीरावगाहना के समान) प्राणत और आरण तक की (तैजसशरीरावगाहना समझ लेनी चाहिए।)

[८] अच्चुयदेवस्स वि एवं चेव । णवरं उड्ढं जाव सगाइं विमाणाइं ।

[१५५१-८] अच्युतदेव की (तैजसशरीरावगाहना) भी इन्हीं के समान होती है। विशेष इतना है कि ऊपर (उत्कृष्ट तैजसशरीरावगाहना) अपने-अपने विमानों तक की होती है।

[९] गेवेज्जगदेवस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ता विक्खंभ-बाहल्लेणं; आयामेणं जहण्णेणं विज्जाहरसेढीओ, उक्कोसेणं जाव अहेलोइयगामा, तिरियं जाव मणूसखेत्ते, उड्ढं जाव सगाइं विमाणाइं ।

[१५५१-९ प्र.] भगवन् ! मारणान्तिक समुद्घात से समवहत ग्रैवेयकदेव के तैजसशरीर की अवगाहना कितनी कही गई है ?

[उ.] गौतम ! विष्कम्भ और बाहल्य की अपेक्षा से शरीरप्रमाणमात्र होती है तथा

आयाम की अपेक्षा से जघन्य विद्याधरश्रेणियों तक की और उत्कृष्ट नीचे की ओर अधोलौकिकग्राम तक की, तिरछी मनुष्यक्षेत्र तक की और ऊपर अपने विमानों तक की (होती है।)

[१०] अणुत्तरोववाइयस्स वि एवं चेव।

[१५५१-१०] अनुत्तरौपपातिकदेव की तैजसशरीरावगाहना भी इसी प्रकार (ग्रैवेयकदेव की तैजसशरीरावगाहना के समान) समझनी चाहिए।

विवेचन—सभी जीवों की तैजसशरीरावगाहना—प्रस्तुत ७ सूत्रों (सू. १५४५ से १५५१ तक) में विभिन्न सांसारिक जीवों के तैजसशरीर की अवगाहना जब वह मारणान्तिकसमुद्घात किया हुआ हो, उस समय की अपेक्षा से प्रतिपादित की गई है।

मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत जीव की तैजसशरीरावगाहना की तालिका इस प्रकार है—

तैजसशरीरी जीव के नाम	विष्कम्भ-बाहल्य की अपेक्षा से	आयाम की अपेक्षा से जघन्य-उत्कृष्ट
१. समुच्चय जीवों की तै. श.अ.	शरीरप्रमाणमात्र	ज.—अंगुल के असंख्यातवें भाग की, उ.—लोकान्त से लोकान्त तक
२. एकेन्द्रियों की तै. श. अ.	,,	,, ,, ,, ,,
३. विकलेन्द्रिय की तै. श. अ.	,,	,, उ.—तिर्यक्लोकान्त तक
४. नारकों की ,, ,, ,,	,,	ज.—सातिरेक सहस्रयोजन की उ.—अधःसप्तमनरक तक, तिर्यक्-स्वयंभूरमण समुद्र तक और ऊपर पंडकवन की पुष्करिणी तक की
५. तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों की	,,	ज.—अंगुल के असं. भाग, उ.- तिर्यक्लोकान्त तक
६. मनुष्यों की तै. श. अ.	,,	ज. ,, ,, उ.—मनुष्यक्षेत्र तक
७. भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म, ईशान देव	,,	ज.— ,, ,, उ.—नीचे तीसरी नरक के अधस्तनचरमान्त तक, तिरछी स्वयंभूरमण तक, ऊपर ईषत्प्राग्भारा पृथिवी तक
८ सनत्कुमार से सहस्रार देव तक	,,	ज.—अंगुल के असं. भाग, उ.—नीचे अधोलौकिकग्राम तक, तिरछी स्वयम्भूरमण तक, ऊपर अच्युतकल्प तक
९. आनत-प्राणत-आरण देव की	,,	ज.—अंगुल के असं. भाग, उ.- नीचे अधोलौकिकग्राम तक, तिरछी मनुष्यक्षेत्र तक, ऊपर अच्युतकल्प तक
१०. अच्युतदेव की	,,	,, ऊपर स्वकीयविमान तक
११. ग्रैवेयक एवं अनुत्तर विमान देव की	,,	ज.—विद्याधरश्रेणी तक, उत्कृष्ट - नीचे अधोलौकिकग्राम तक, तिरछी मनुष्यक्षेत्र तक, ऊपर स्वविमान तक।[1]

१. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ३४५-३४६

लोगंताओ लोगंतो—लोकान्त से लोकान्त तक, अर्थात्—अधोलोक के चरमान्त से ऊर्ध्वलोक के चरमान्त तक, अथवा ऊर्ध्वलोक के चरमान्त से अधोलोक के चरमान्त तक। यह तैजसशरीरीय उत्कृष्ट अवगाहना सूक्ष्म या बादर एकेन्द्रिय के तैजसशरीर की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय ही यथायोग्य समस्त लोक में रहते हैं। अन्य जीव नहीं। इसलिए एकेन्द्रिय के सिवाय अन्य किसी जीव की इतनी अवगाहना नहीं हो सकती। प्रस्तुत में तैजसशरीरीय अवगाहना मृत्यु के समय जीव को मरकर जिस गति या योनि में जाना होता है, वहाँ तक की लक्ष्य में रख कर बताई गई है। अतएव जब कोई एकेन्द्रिय जीव (सूक्ष्म या बादर) मृत्यु के समय अधोलोक के अन्तिम छोर में स्थित हो और ऊर्ध्वलोक के अन्तिम छोर में उत्पन्न होने वाला हो, अथवा वह मरणसमय में ऊर्ध्वलोक के अन्तिम छोर में स्थित हो और अधोलोक के अन्तिम छोर में उत्पन्न होने वाला हो और जब वह मारणान्तिक समुद्घात करता है, तब उसकी उत्कृष्ट अवगाहना लोकान्त से लोकान्त तक होती है।

तिरियलोगाओलोगंतो—तिर्यक्लोक से लोकान्त तक अर्थात्—तिर्यग्लोक से अधोलोकान्त तक अथवा ऊर्ध्वलोकान्त तक। आशय यह है कि कोई तिर्यग्लोक में स्थित कोई द्वीन्द्रिय जीव ऊर्ध्वलोकान्त या अधोलोकान्त में एकेन्द्रिय के रूप में उत्पन्न होने वाला हो और मारणान्तिकसमुद्घात करे, उस समय तैजसशरीर की पूर्वोक्त अवगाहना होती है।

उड्ढं जाव पंडगवणे पुक्खरिणीओ—ऊपर—उ. अवगाहना पण्डकवन में स्थित पुष्करिणी तक की होती है। इसका आशय यह है कि सातवीं नरकपृथ्वी से लेकर तिरछी स्वयम्भूरमणसमुद्र-पर्यन्त और ऊपर पण्डकवन पुष्करिणी तक की अवगाहना तभी पाई जाती है जब सातवीं नरक का नारक स्वयम्भूरमणसमुद्र के पर्यन्त-भाग में मत्स्यरूप में या पण्डकवन की पुष्करणियों में उत्पन्न होता है। तब उस सप्तमपृथ्वी के नारक की तैजसशरीरीय अवगाहना इतनी होती है।

जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं—द्वीन्द्रिय के तैजसशरीर की अवगाहना आयाम की अपेक्षा से जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग की बताई गई है। इतनी अवगाहना द्वीन्द्रिय की तभी होती है, जब अंगुल के असंख्यातवें भाग वाला अपर्याप्त औदारिकशरीरी द्वीन्द्रिय अपने निकटवर्ती प्रदेश में एकेन्द्रिय रूप में उत्पन्न होता है अथवा जिस शरीर में स्थित होकर मरणान्तिकसमुद्घात करता है, उस शरीर से मरणान्तिकसमुद्घातवश बाहर निकले हुए तैजसशरीर के आयाम-विष्कम्भ एवं विस्तार की अपेक्षा से अवगाहना का विचार किया जाता है, उस शरीरसहित का नहीं, अन्यथा भवनपति आदि का जो जघन्यतः आयाम अंगुल का असंख्यातवें भाग का कहा गया है उससे विरोध आएगा। क्योंकि भवनपति आदि का शरीर सात आदि हस्तप्रमाण है। अतः यही उचित तथ्य है कि महाकाय द्वीन्द्रिय जीव भी जब अपने निकटवर्ती प्रदेश में एकेन्द्रिय रूप में उत्पन्न होता है, तब भी अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण उसकी तैजसशरीरावगाहना होगी, ऐसा समझना चाहिए।

सातिरेगं जोयणसहस्सं—नारक के तैजसशरीर की अवगाहना आयाम की दृष्टि से जघन्य सातिरेक सहस्रयोजन की कही गई है। वह इस प्रकार समझनी चाहिए—वलयामुख आदि चार पातालकलश लाख योजन के अवगाह वाले हैं। उनकी ठीकरी एक हजार योजन मोटी है। उन पातालकलशों के नीचे का त्रिभाग वायु से परिपूर्ण है, ऊपर का त्रिभाग जल से परिपूर्ण है तथा मध्य का त्रिभाग वायु तथा जल के अनुसरण और निःसरण का मार्ग है। जब कोई सीमन्तक आदि

नरकेन्द्रकों में विद्यमान पातालकलश का निकटवर्ती नारक अपनी आयु का क्षय होने से मर कर पातालकलश की एक हजार योजन मोटी दीवार का भेदन करके पातालकलश के भीतर दूसरे या तीसरे त्रिभाग में मत्स्यरूप में उत्पन्न होता है, तब मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत उस नारक की जघन्य तैजसशरीरावगाहना एक हजार योजन से कुछ अधिक होती है।

समयखेत्ताओ लोगंतो—मनुष्य के तैजसशरीर की अवगाहना उत्कृष्टतः समयक्षेत्र से लोकान्त तक की कही है, अर्थात्—मनुष्य की तैजसशरीरावगाहना मनुष्यक्षेत्र से अधोलोक के चरमान्त तक या ऊर्ध्वलोक के चरमान्त तक समझनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य का भी एकेन्द्रिय में उत्पन्न होना सम्भव है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य का जन्म या संहरण समयक्षेत्र से अन्यत्र सम्भव नहीं है। अतः इससे अधिक उसकी तैजसशरीरावगाहना नहीं हो सकती। इसे समयक्षेत्र इसलिए कहते हैं कि यह ढाईद्वीपप्रमाणक्षेत्र ही ऐसा है, जहाँ सूर्य आदि के संचार के कारण समय (काल) का व्यक्त व्यवहार होने से समयप्रधान क्षेत्र है।[1]

वाणव्यन्तर से सौधर्म-ईशान तक के देवों की तैजसशरीरावगाहना—लम्बाई की अपेक्षा से जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट नीचे तृतीय नरकपृथ्वी के अधस्तनचरमान्त तक की, तिरछी, स्वयम्भूरमणसमुद्र के बाह्य वेदिकान्त तक की और ऊपर ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक की कही गई है। इसका तात्पर्य यह है कि असुरकुमार आदि सभी भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म-ईशानदेव एकेन्द्रियों में भी उत्पन्न होते हैं। जब वे च्यवन के समय अपने केयूर आदि आभूषणों में, कुण्डल आदि में या पद्मराग आदि मणियों में लुब्ध—मूर्च्छित होकर, उसी के अध्यवसाय में मग्न होकर अपने शरीर के उन्हीं निकटवर्ती आभूषणों में पृथ्वीकायिक के रूप में उत्पन्न होते हैं, तब उन देवों के तैजसशरीर की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की होती है।

जब कोई भवनपति आदि देव प्रयोजनवश तृतीय नरकपृथ्वी के अधस्तन (नीचले) चरमान्त (अन्तिम छोर) प्रदेश में जाता है और आयु का क्षय होने से वहीं मर जाता है, तब तिरछे स्वयम्भूरमणसमुद्र के बाह्य वेदिकान्त में अथवा ईषत्प्राग्भारापृथ्वी के पर्यन्तभाग में पृथ्वीकायिक रूप में उत्पन्न होता है। उस समय उसकी तैजसशरीरावगाहना नीचे—तृतीय नरकपृथ्वी के चरमान्त तक, मध्य में स्वयम्भूरमण के बाह्य वेदिकान्त तक और ऊपर ईषत्प्राग्भारापृथ्वी के पर्यन्त भाग तक की होती है।[2]

सनत्कुमारादि देवों की तैजसशरीरावगाहना—सनत्कुमार आदि देव अपने भवस्वभाववश एकेन्द्रियों में या विकलेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होते। वे पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों अथवा मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं। अतएव मन्दरपर्वत की पुष्करिणी आदि में जलावगाहन करते समय आयु का क्षय होने पर उसी स्थान में निकटवर्ती प्रदेश में मत्स्यरूप में उत्पन्न हो जाते हैं, तब उनके तैजसशरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की होती है। यदि कोई सनत्कुमारादि देव दूसरे देव के निश्राय से अच्युतकल्प में चला जाए और वहीं उसकी आयु का क्षय हो जाए तो वह काल करके तिरछे—स्वयम्भूरमणसमुद्र के पर्यन्तभाग में अथवा नीचे पातालकलश के दूसरे त्रिभाग में,

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४२७ से ४२९ तक

२. वही, पत्र ४२९

मत्स्य आदि के रूप मे जन्म ले लेता है, तब उसकी ऊपर, नीचे और तिरछे, पूर्वोक्त तैजसशरीर-रावगाहना होती है, ऐसा समझना चाहिए।[1]

अच्युतदेवों की ऊर्ध्व तैजसशरीरावगाहना- अच्युतदेव ऊपर में अच्युतविमान तक ही रहता है। इसलिए उसकी तैजसशरीरावगाहना की प्ररूपणा करते समय ऊपर में अच्युतकल्प तक नहीं कहना चाहिए। यह देव अच्युतकल्प में रहता अवश्य है, किन्तु कदाचित् अपने विमान की ऊँचाई तक जाता है और वहीं आयुष्यक्षय हो जाता है तो च्यव कर अच्युतविमान के पर्यन्त में उत्पन्न होता है। तब उसकी इतनी तैजसशरीरावगाहना होती है।[2]

कार्मणशरीर में विधि-संस्थान-प्रमाणद्वार

१५५२. कम्मगसरीरे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—एगिंदियकम्मगसरीरे जाव पंचेंदिय०। एवं जहेव तेयगसरीरस्स भेदो संठाणं ओगाहणा य भणिया (सु. १५३६—५१) तहेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव अणुत्तरोववाइय त्ति।

[१५५२-प्र.] भगवन् ! कार्मणशरीर कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (वह) पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—एकेन्द्रियकार्मण-शरीर यावत् पंचेन्द्रिय कार्मण-शरीर। इस प्रकार जैसे तैजस-शरीर के भेद, संस्थान और अवगाहना का निरूपण (सू. १५३६ से १५५१ तक में) किया गया है, उसी प्रकार से सम्पूर्ण कथन (एकेन्द्रिय-कार्मणशरीर से लेकर) अनुत्तरौपपातिक (देवपंचेन्द्रिय कार्मणशरीर) तक करना चाहिए।

विवेचन—कार्मणशरीर : तैजसशरीर का सहचर- जहाँ तैजसशरीर होगा, वहाँ कार्मणशरीर अवश्य होगा और जहाँ कार्मणशरीर होगा, वहाँ तैजसशरीर अवश्य होगा। दोनों का अविनाभावी सम्बन्ध है। तैजस-कार्मण दोनों की अवगाहना का विचार विशेषतः मारणान्तिकसमुद्घात को लक्ष्य में लेकर किया गया है। कार्मणशरीर भी तैजसशरीर की तरह जीवप्रदेशों के अनुसार संस्थानवाला है। इसलिए जैसे तैजसशरीर के प्रकार, संस्थान और अवगाहना के विषय में कहा गया है, वैसे ही कार्मणशरीर के प्रकार, संस्थान एवं अवगाहना के विषय में कथन का निर्देश किया गया है।[3]

पुद्गल-चयन-द्वार

१५५३. ओरालियसरीरस्स णं भंते ! कतिदिसिं पोग्गला चिज्जंति ?

गोयमा ! णिव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघातं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं।

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्रांक ४३०

२. वही, पत्र ४३०

३. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र १३०

(ख) पण्णवणासुत्तं (प्रस्तावनादि) भा. २, पृ. ११८

[१५५३ प्र.] भगवन् ! औदारिकशरीर के लिए कितनी दिशाओं से (आकर) पुद्गलों का चय होता है ?

[उ.] गौतम ! निर्व्याघात की अपेक्षा से छह दिशाओं से, व्याघात की अपेक्षा से कदाचित् तीन दिशाओं से, कदाचित् चार दिशाओं से और कदाचित् पांच दिशाओं से (पुद्गलों का चय होता है।)

१५५४. वेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! कतिदिसिं पोग्गला चिज्जंति ?

गोयमा ! णियमा छद्दिसिं ।

[१५५४ प्र.] भगवन् ! वैक्रियशरीर के लिए कितनी दिशाओं से पुद्गलों का चय होता है ?

[उ.] गौतम ! नियम से छह दिशाओं से (पुद्गलों का चय होता है।)

१५५५. एवं आहारगसरीरस्स वि ।

[१५५५] इसी प्रकार (वैक्रियशरीर के समान) आहारकशरीर के पुद्गलों का चय भी नियम से छह दिशाओं से होता है।

१५५६. तेया-कम्मगाणं जहा ओरालियसरीरस्स (सु. १५५३) ।

[१५५६] तैजस और कार्मण (शरीर के पुद्गलों का चय) [सू. १५५३ में उक्त] औदारिक-शरीर के (पुद्गलों के चय के) समान (समझना चाहिये।)

१५५७. ओरालियसरीरस्स णं भंते ! कतिदिसिं पोग्गला उवचिज्जंति ?

गोयमा ! एवं चेव, जाव कम्मगसरीरस्स ।

[१५५७ प्र.] भगवन् ! औदारिकशरीर के पुद्गलों का उपचय कितनी दिशाओं से होता है ?

[उ.] गौतम ! (जैसे चय के विषय में कहा है,) इसी प्रकार (उपचय के विषय में भी औदारिकशरीर से लेकर) कार्मणशरीर (तक कहना चाहिए।)

१५५८. एवं उवचिज्जंति (?) अवचिज्जंति ।

[१५५८] (औदारिक आदि पांचों शरीरों के पुद्गलों का जिस प्रकार) उपचय होता है, उसी प्रकार (उनका) अपचय भी होता है।

विवेचन पांचों शरीरों के पुद्गलों के चय, उपचय-अपचय-सम्बन्धी विचारणा—प्रस्तुत चतुर्थ द्वार में ६ सूत्रों (१५५३ से १५५८ तक) में औदारिक आदि पांचों शरीरों के पुद्गलों के चय, उपचय एवं अपचय से सम्बन्धित विचारणा की गई है।

चय, उपचय और अपचय की परिभाषा—चय का अर्थ है - पुद्गलों का संचित होना—समुदित या एकत्रित होना। उपचय का अर्थ है--प्रभूतरूप से चय होना, बढ़ना, वृद्धिगत होना। अपचय का अर्थ है—पुद्गलों का ह्रास होना, घट जाना या हट जाना।

औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरों के निर्माण, वृद्धि और ह्रास के लिए पुद्गलों का स्वयं चय और उपचय किसी प्रकार का व्याघात (रुकावट या बाधा) न हो तो छहों दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधोदिशा) से आकर होता है और पुद्गल स्वयं अपचित होते हैं। आशय यह है कि त्रसनाडी के अन्दर या बाहर स्थित औदारिक, तैजस एवं कार्मण शरीर के धारक जीव जब एक भी दिशा अलोक, से व्याहत (रुकी हुई) नहीं होती तब नियम से छहों दिशाओं से पुद्गलों का आगमन या निर्गमन होता है। वैक्रियशरीर और आहारकशरीर त्रसनाडी में ही सम्भव होते हैं, अन्यत्र नहीं। वहाँ किसी प्रकार का अलोक का व्याघात नहीं होता, इस कारण उनके लिए पुद्गलों का चय-उपचय नियम से छहों दिशाओं से होता है।[1]

किन्तु औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर के पुद्गलों के आगमन में व्याघात हो, अर्थात् अलोक आ जाने से प्रतिस्खलन या रुकावट हो तो कदाचित् तीन, कदाचित् चार और कदाचित् पांच दिशाओं से उनके पुद्गलों का चय, उपचय होता है। तात्पर्य यह है कि यदि एक दिशा में अलोक आ जाए तो पांच दिशाओं से, दो दिशाओं में अलोक आ जाए तो चार दिशाओं से और यदि तीन दिशाओं में अलोक आ जाए तो तीन दिशाओं से पुद्गलों का चय-उपचय होता है। उदाहरणार्थ—कोई औदारिकशरीरधारी सूक्ष्मजीव हो और वह लोक के सर्वोच्च (सर्वोर्ध्व) प्रतर में आग्नेयकोणरूप लोकान्त में स्थित हो, जिसके ऊपर (लोकाकाश न हो, पूर्व तथा दक्षिण दिशा में भी लोक न हो, वह जीव अधोदिशा, पश्चिम और उत्तर दिशा, इन तीन दिशाओं से ही पुद्गलों का चय, उपचय करेगा क्योंकि शेष तीन दिशाएं अलोक से व्याप्त होती हैं। जब वही औदारिकशरीरी सूक्ष्म जीव पश्चिमदिशा में रहा हुआ हो, तब उसके लिए पूर्वदिशा अधिक हो जाती है, इस कारण चार दिशाओं से पुद्गलों का आगमन होगा। जब वह जीव अधोदिशा में द्वितीय आदि किसी प्रतर में रहा हुआ हो और पश्चिमदिशा का अवलम्बन लेकर स्थित हो, तब वहाँ ऊर्ध्वदिशा भी अधिक लब्ध हो तो केवल दक्षिणदिशा ही अलोक से व्याहत (रुकी हुई) होती है, इस कारण पांचों दिशाओं से वहां पुद्गलों का आगमन (चय) होता है।

तैजस-कार्मणशरीर तो समस्त संसारी जीवों के होते हैं, इसलिए औदारिकशरीर की तरह उनका भी चय-उपचय समझना चाहिए।

जिस प्रकार चय का कथन किया है, उसी प्रकार उपचय और अपचय का कथन करना चाहिए।[2]

शरीरसंयोगद्वार

१५५९. जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स णं वेउव्वियसरीरं ? जस्स वेउव्वियसरीरं तस्स ओरालियसरीरं ?

गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि, जस्स वेउव्वियसरीरं तस्स ओरालियसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि।

---

१. (क) प्रज्ञापना, मलयवृत्ति, पत्र ४३२
   (ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ४, पृ. ८०९
२. (क) प्रज्ञापना, मलयवृत्ति, पत्र ४३२
   (ख) पण्णवणासुत्तं, (प्रस्तावनादि) भा. २, पृ. ११८
   (ग) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ४, पृ. ८०५-८०६

[१५५९ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के औदारिकशरीर होता है, क्या उसके वैक्रियशरीर (भी) होता है ? (और) जिसके वैक्रियशरीर होता है, क्या उसके औदारिकशरीर (भी) होता है ?

[उ.] गौतम ! जिसके औदारिकशरीर होता है, उसके वैक्रियशरीर कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं होता है (और) जिसके वैक्रियशरीर होता है, उसके औदारिकशरीर कदाचित् होता है, (तथा) कदाचित् नहीं होता है ।

१५६०. जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स आहारगसरीरं ? जस्स आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं ?

गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स आहारगसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि, जस्स पुण आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं णियमा अत्थि ।

[१५६० प्र.] भगवन् ! जिसके औदारिकशरीर होता है, क्या उसके आहारकशरीर होता है ? तथा जिसके आहारकशरीर होता है उसके क्या औदारिकशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! जिसके औदारिकशरीर होता है, उसके आहारकशरीर कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता है । किन्तु जिस जीव के आहारकशरीर होता है, उसके नियम से औदारिकशरीर होता है ।

१५६१. जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स तेयगसरीरं ? जस्स तेयगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं ?

गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स तेयगसरीरं णियमा अत्थि, जस्स पुण तेयगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि ।

[१५६१ प्र.] भगवन् ! जिसके औदारिकशरीर होता है, क्या उसके तैजसशरीर होता है ? तथा जिसके तैजसशरीर होता है, क्या उसके औदारिकशरीर होता है ?

[उ.] गौतम ! जिसके औदारिकशरीर होता है, उसके नियम से तैजसशरीर होता है, और जिसके तैजसशरीर होता है, उसके औदारिकशरीर कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं (भी) होता है ।

१५६२. एवं कम्मगसरीरं पि ।

[१५६२] (औदारिकशरीर के साथ तैजसशरीर के संयोग के समान, औदारिकशरीर के साथ) कार्मणशरीर का संयोग भी समझ लेना चाहिए ।

१५६३. [१] जस्स णं भंते ! वेउव्वियसरीरं तस्स आहारगसरीरं ? तस्स आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं ?

गोयमा ! जस्स वेउव्वियसरीरं तस्साहारगसरीरं णत्थि, जस्स वि य आहारगसरीरं तस्स वि वेउव्वियसरीरं णत्थि ।

[१५६३-१ प्र.] भगवन् ! जिसके वैक्रियशरीर होता है, क्या उसके आहारकशरीर होता है ? तथा जिसके आहारकशरीर होता है, उसके क्या वैक्रियशरीर भी होता है ?

[उ.] गौतम ! जिस जीव के वैक्रियशरीर होता है, उसके आहारकशरीर नहीं होता, तथा जिसके आहारकशरीर होता है, उसके वैक्रिय शरीर नहीं होता है।

[२] तेया-कम्माइं जहा ओरालिएण समं (सु. १५६१-६२) तहेव आहारगसरीरेण वि समं तेया-कम्माइं चारेयव्वाणि।

[१५६३-२] जैसे (सू. १५६१-१५६२ में) औदारिक साथ तैजस एवं कार्मण (शरीर के संयोग) का कथन किया है, उसी प्रकार आहारकशरीर के साथ भी तैजस-कार्मणशरीर (के संयोग) का कथन करना चाहिए।

१५६४. जस्स णं भंते ! तेयगसरीरं तस्स कम्मगसरीरं ? जस्स कम्मगसरीरं तस्स तेयगसरीरं ?

गोयमा ! जस्स तेयगसरीरं तस्स कम्मगसरीरं नियमा अत्थि, जस्स वि कम्मगसरीरं तस्स वि तेयगसरीरं णियमा अत्थि।

[१५६४ प्र.] भगवन् ! जिसके तैजसशरीर होता है, क्या उसके कार्मणशरीर होता है ? (तथा) जिसके कार्मणशरीर होता है, क्या उसके तैजसशरीर भी होता है ?

[उ.] गौतम ! जिसके तैजसशरीर होता है, उसके कार्मणशरीर अवश्य ही (नियम से) होता है और जिसके कार्मणशरीर होता है, उसके तैजसशरीर अवश्य होता है।

विवेचन—शरीरों के परस्पर संयोग की विचारणा—संयोगद्वार के प्रस्तुत ६ सूत्रों (१५५९ से १५६४ तक) में एक जीव में औदारिक आदि पांच शरीरों में से कितने शरीर एक साथ संभव हैं ? इसका विचार किया गया है।

फलितार्थ—इन सब सूत्रों का फलितार्थ इस प्रकार है—

१. औदारिक के साथ वैक्रिय आहारक, तैजस, कार्मण संभव हैं।
२. वैक्रिय के साथ—औदारिक, तैजस, कार्मण शरीर संभव हैं।
३. आहारक के साथ—औदारिक, तैजस, कार्मण शरीर संभव हैं।
४. तैजस के साथ—औदारिक, वैक्रिय, आहारक कार्मण शरीर संभव हैं।
५. कार्मण के साथ—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस शरीर संभव हैं।[1]

स्पष्टीकरण—(१) जिसके औदारिकशरीर होता है, उसके वैक्रियशरीर विकल्प से होता है। क्योंकि वैक्रियलब्धिसम्पन्न कोई औदारिकशरीरी जीव यदि वैक्रियशरीर बनाता है, तो उसके वैक्रियशरीर होता है। जो जीव वैक्रियलब्धिसम्पन्न नहीं है, अथवा वैक्रियलब्धियुक्त होकर भी वैक्रियशरीर नहीं बनाता, उसके वैक्रियशरीर नहीं होता। देव और नारक वैक्रियशरीरधारी होते हैं, उनके औदारिकशरीर नहीं होता, किन्तु जो तिर्यञ्च या मनुष्य वैक्रियशरीर वाले होते हैं, उनके औदारिकशरीर होता है। (२) जिनके औदारिकशरीर होता है, उनके आहारकशरीर होता भी है, नहीं भी होता है। जो चतुर्दशपूर्वधारी आहारकलब्धिसम्पन्न मुनि हैं, उसके आहारकशरीर

१. पण्णवणासुत्तं (प्रस्तावनादि) भा. २, पृ. ११८

होता है, शेष औदारिकशरीरधारी मनुष्यों को नहीं होता। इसी प्रकार जिसके आहारकशरीर होता है उसके औदारिकशरीर अवश्य होता है, क्योंकि औदारिकशरीर के बिना आहारकलब्धि नहीं होती। वैक्रियशरीर के साथ आहारकशरीर या आहारकशरीर के साथ वैक्रियशरीर कदापि संभव नहीं है। (३) जिसके औदारिक होता है, उसके तैजस-कार्मणशरीरों का होना अवश्यम्भावी है, किन्तु जिसके तैजस-कार्मणशरीर होते हैं उसके औदारिकशरीर होता भी है, नहीं भी होता है, क्योंकि देवों और नारकों के तैजस-कार्मणशरीर होते हुए भी औदारिकशरीर नहीं होता। इसी प्रकार जिस जीव के वैक्रियशरीर होता है, उसके तैजस-कार्मणशरीर अवश्य होते हैं, किन्तु जिस जीव के तैजस-कार्मणशरीर होते हैं उसके वैक्रिय शरीर होता भी है, नहीं भी होता, क्योंकि देव-नारकों के तैजस कार्मणशरीर होते हैं और वैक्रियशरीर भी प्रत्येक देव का होता है किन्तु तिर्यञ्चों और मनुष्यों के वैक्रियशरीर जन्म से नहीं होता, मगर तैजस-कार्मणशरीर तो अवश्य होते हैं। (४) तैजसशरीर जिसके होता है उसके औदारिक होता भी है, नहीं भी होता, क्योंकि मनुष्य-तिर्यञ्च के औदारिकशरीर होता है, तैजसशरीर भी, जबकि वैक्रियशरीरी देवों नारकों के तैजसशरीर तो होता ही है, किन्तु औदारिक नहीं होता। इसी प्रकार जिसके औदारिकशरीर होता है, उसके तैजस-कार्मणशरीर अवश्यम्भावी होते हैं, क्योंकि तैजस-कार्मणशरीर के बिना औदारिकशरीर असम्भव है। इसी प्रकार तैजस और कार्मण दोनों परस्पर अविनाभावी हैं। जिसके तैजसशरीर होगा, उसके कार्मणशरीर अवश्य होगा। जिसके कार्मणशरीर होगा, उसके तैजस अवश्य होगा।'

द्रव्य-प्रदेश-अल्पबहुत्वद्वार

१५६५. एतेसि णं भंते ! ओरालिय-वेउव्विय-आहारग-तेया-कम्मगसरीराणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा आहारगसरीरा दव्वट्ठयाए, वेउव्वियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, तेया-कम्मगसरीरा दो वि तुल्ला दव्वट्ठयाए अणंतगुणा; पएसट्ठयाए-सव्वत्थोवा आहारगसरीरा पएसट्ठयाए, वेउव्वियसरीरा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, तेयगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, कम्मगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा; दव्वट्ठपदेसट्ठयाए-सव्वत्थोवा आहारगसरीरा दव्वट्ठयाए, वेउव्वियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरेहिंतो दव्वट्ठयाए आहारगसरीरा पएसट्ठयाए अणंतगुणा, वेउव्वियसरीरा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, तेया-कम्मगसरीरा दो वि तुल्ला दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, तेयगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, कम्मगसरीरा पदेसट्ठयाए अणंतगुणा।

[१५६५ प्र.] भगवन् ! औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण, इन पांच शरीरों में से, द्रव्य की अपेक्षा से, प्रदेशों की अपेक्षा से तथा द्रव्य और प्रदेशों की अपेक्षा से, कौन, किससे अल्प, बहुत तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४३२
(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनीटीका भा. ४, पृ. ८१२-८१३

[उ.] गौतम ! **द्रव्य की अपेक्षा से**—सबसे अल्प आहारकशरीर हैं। (उनसे) वैक्रिय-शरीर, द्रव्य की अपेक्षा से असंख्यातगुणा हैं। (उनसे) औदारिकशरीर द्रव्य की अपेक्षा से, असंख्यातगुणा हैं। तैजस और कार्मण शरीर दोनों तुल्य (बराबर) हैं, (किन्तु औदारिकशरीर से) द्रव्य की अपेक्षा से अनन्तगुणा हैं।

प्रदेशों की अपेक्षा से—सबसे कम प्रदेशों की अपेक्षा से आहारकशरीर हैं। (उनसे) प्रदेशों की अपेक्षा से वैक्रियशरीर असंख्यातगुणा हैं। (उनसे) प्रदेशों की अपेक्षा से औदारिकशरीर असंख्यातगुणा हैं। (उनसे) तैजसशरीर प्रदेशों की अपेक्षा से अनन्तगुणा हैं। (उनसे) कार्मणशरीर प्रदेशों की अपेक्षा से अनन्तगुणा हैं।

द्रव्य एवं प्रदेशों की अपेक्षा से—द्रव्य की अपेक्षा से, आहारकशरीर सबसे अल्प हैं—(उनसे) वैक्रियशरीर द्रव्यों की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं। (उनसे) औदारिकशरीर, द्रव्य की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं। औदारिकशरीरों से द्रव्य की दृष्टि से आहारकशरीर प्रदेशों की अपेक्षा से अनन्तगुणा हैं। (उनसे) वैक्रियशरीर प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुणा हैं (उनसे) औदारिक-शरीर प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुणा हैं। तैजस और कार्मण, दोनों शरीर द्रव्य की अपेक्षा से तुल्य (बराबर-बराबर) हैं। तथा द्रव्य की अपेक्षा से अनन्तगुणे हैं। (उनसे) तैजसशरीर प्रदेशों की अपेक्षा से अनन्तगुणा हैं। (उनसे) कार्मणशरीर प्रदेशों की अपेक्षा से अनन्तगुणा हैं।

विवेचन—शरीरों की अल्पबहुत्वविचारणा : द्रव्य, प्रदेश तथा द्रव्य और प्रदेश की दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र (१५६५) में पूर्वोक्त पांचों शरीरों के अल्पबहुत्व की विचारणा की गई है।

स्पष्टीकरण—द्रव्यापेक्षया अर्थात् शरीरमात्र द्रव्य की संख्या की दृष्टि से सबसे अल्प आहारकशरीर इसलिए है कि आहारकशरीर उत्कृष्ट संख्यात हों तो भी सहस्रपृथक्त्व (दो हजार से नौ हजार तक) ही होते हैं। समस्त आहारकशरीरों की अपेक्षा वैक्रियशरीर द्रव्यदृष्टि से असंख्यात-गुणा अधिक होते हैं, क्योंकि सभी नारकों, सभी देवों, कतिपय तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों, कतिपय मनुष्यों एवं बादर वायुकायिकों के वैक्रियशरीर होते हैं। समस्त वैक्रियशरीरों की अपेक्षा औदारिकशरीर द्रव्यदृष्टि से (शरीरों की संख्या की दृष्टि से) असंख्यातगुणा अधिक होते हैं, क्योंकि औदारिकशरीर समस्त पंच स्थावरों, तीन विकलेन्द्रियों, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों और मनुष्यों के होते हैं और फिर पृथ्वी-अप्-तेज-वायु-वनस्पतिकायिकों में से प्रत्येक असंख्यात लोकाकाश-प्रमाण हैं। तैजस और कार्मण दोनों शरीर संख्या में समान हैं, फिर भी वे औदारिकशरीरों की अपेक्षा से अनन्तगुणे हैं, क्योंकि औदारिकशरीरधारियों के उपरान्त वैक्रियशरीरधारियों के भी तैजस-कार्मणशरीर होते हैं तथा सूक्ष्म एवं बादर निगोद जीव अनान्तानन्त हैं, उनके औदारिकशरीर एक होता है किन्तु तैजस-कार्मण-शरीर पृथक्-पृथक् होते हैं।[1]

प्रदेशों (शरीर के प्रदेशों—परमाणुओं) की दृष्टि से विचार किया जाए तो सबसे कम आहारकशरीर हैं, क्योंकि सहस्रपृथक्त्व संख्या वाले आहारकशरीरों के प्रदेश अन्य सभी शरीरों के प्रदेशों की अपेक्षा कम ही होते हैं। यद्यपि वैक्रियवर्गणाओं की अपेक्षा आहारकवर्गणा परमाणुओं

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४३३-४३४
(ख) प्रज्ञापना, प्रमेयबोधिनी टीका भा. ४, पृ. ८२२-८२३

की अपेक्षा से अनन्तगुणी होती है, तथापि आहारकशरीरों से वैक्रियशरीरों के प्रदेश असंख्यातगुणा इसलिए कहे गए हैं कि एक तो आहारकशरीर केवल एक हाथ का ही होता है, जबकि बहुत वर्गणाओं से निर्मित वैक्रियशरीर उत्कृष्टतः एक लाख योजन से भी अधिक प्रमाण का हो सकता है। दूसरे, आहारकशरीर संख्या में भी कम, सिर्फ सहस्रपृथक्त्व होते हैं, जबकि वैक्रियशरीर असंख्यात-श्रेणीगत आकाशप्रदेशों के बराबर होते हैं। इस कारण आहारकशरीरों की अपेक्षा वैक्रियशरीर प्रदेशों की दृष्टि से असंख्यातगुणे कहे गए हैं। उनसे औदारिकशरीर प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यात-गुणे इसलिए कहे गए हैं कि वे असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों के बराबर पाए जाते हैं, इस कारण उनके प्रदेश अति प्रचुर होते हैं।

उनसे तैजसशरीर प्रदेशों की दृष्टि से अनन्तगुणा अधिक होते हैं, क्योंकि वे द्रव्यदृष्टि से औदारिकशरीरों से अनन्तगुणा हैं। तैजसशरीरों की अपेक्षा कार्मणशरीर प्रदेशों की दृष्टि से अनन्तगुणा हैं, क्योंकि कार्मणवर्गणाएँ तैजसवर्गणाओं की अपेक्षा परमाणुओं की दृष्टि से अनन्तगुणी होती है।[1]

द्रव्य और प्रदेश—दोनों की दृष्टि से विचार करने पर भी द्रव्यापेक्षया सबसे कम आहारक-शरीर हैं, वैक्रियशरीर द्रव्यापेक्षया असंख्यातगुणा अधिक हैं, उनसे भी औदारिकशरीर द्रव्यतः असंख्यातगुणे हैं, यहाँ भी वही पूर्वोक्त युक्ति है। द्रव्यतः औदारिकशरीरों की अपेक्षा प्रदेशतः आहारकशरीर अनन्तगुणे हैं, क्योंकि औदारिकशरीर सब मिल कर भी असंख्यात लोकाकाश प्रदेशों के बराबर है, जबकि प्रत्येक आहारकशरीरयोग्य वर्गणा में अभव्यों से अनन्तगुणा परमाणु होते हैं। उनकी अपेक्षा भी वैक्रियशरीर प्रदेशों की अपेक्षा से असंख्यातगुणे हैं। उनसे भी औदारिकशरीर प्रदेशतः असंख्यातगुणे हैं, इस विषय में युक्ति पूर्ववत् है। उनसे भी तैजसकार्मणशरीर द्रव्यापेक्षया अनन्तगुणे हैं, क्योंकि वे अतिप्रचुर अनन्त संख्या से युक्त हैं। उनसे भी तैजसशरीर प्रदेशतः अनन्त-गुणे अधिक हैं, क्योंकि अनन्त-परमाण्वात्मक अनन्तवर्गणाओं से प्रत्येक तैजसशरीर निष्पन्न होता है। उनसे भी कार्मणशरीर प्रदेशतः अनन्तगुणे हैं। इस विषय में युक्ति पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए।[2]

शरीरावगाहना-अल्पबहुत्व-द्वार

१५६९. एतेसि णं भंते ! ओरालिय-वेउव्विय-आहारग-तेया-कम्मगसरीराणं जहण्णियाए ओगाहणाए उक्कोसियाए ओगाहणाए अहण्णुक्कोसियाए ओगाहणाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा ओरालियसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा, तेया-कम्मगाणं दोण्ह वि तुल्ला जहण्णिया ओगाहणा विसेसाहिया, वेउव्वियसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा, आहारगसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा; उक्कोसियाए ओगाहणाए—सव्वत्थोवा आहारग-सरीरस्स उक्कोसिया ओगाहणा, ओरालियसरीरस्स उक्कोसिया ओगाहणा संखेज्जगुणा, वेउव्विय-सरीरस्स उक्कोसिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा, तेया-कम्मगाणं दोण्ह वि तुल्ला उक्कोसिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा; अहण्णुक्कोसियाए ओगाहणाए—सव्वत्थोवा ओरालियसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा,

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४३४

२. वही, पत्र ४३४

तेया-कम्मगाणं दोण्ह वि तुल्ला जहण्णिया ओगाहणा विसेसाहिय, वेउव्वियसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा, आहारगसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा, आहारगसरीरस्स जहण्णियाहिंतो ओगाहणाहिंतो तस्स चेव उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया, ओरालियसरीरस्स उक्कोसिया ओगाहणा संखेज्जगुणा, वेउव्वियसरीरस्स णं उक्कोसिया ओगाहणा संखेज्जगुणा, तेया-कम्मगाणं दोण्ह वि तुल्ला उक्कोसिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ।

॥ पण्णवणाए भगवतीए एगवीसइमं ओगाहणसंठाणपयं समत्तं ॥

[१५६६ प्र.] भगवन् ! औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण, इन पांच शरीरों में से, जघन्य-अवगाहना, उत्कृष्ट-अवगाहना एवं जघन्योत्कृष्ट-अवगाहना की दृष्टि से, कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[उ.] गौतम ! सबसे कम औदारिकशरीर की जघन्य अवगाहना है। तैजस और कार्मण, दोनों शरीरों की अवगाहना परस्पर तुल्य है, (किन्तु औदारिकशरीर की) जघन्य अवगाहना से विशेषाधिक है। (उससे) वैक्रियशरीर की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। (उससे) आहारकशरीर की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है।

उत्कृष्ट अवगाहना की दृष्टि से—सबसे कम आहारकशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना होती है। (उससे) औदारिकशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है। उसकी अपेक्षा वैक्रियशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना असंख्यातगुणी है। तैजस और कार्मण, दोनों की उत्कृष्ट अवगाहना परस्पर तुल्य है, (किन्तु वैक्रियशरीर की) उत्कृष्ट अवगाहना से असंख्यातगुणी है।

जघन्योत्कृष्ट अवगाहना की दृष्टि से—सबसे कम औदारिकशरीर की जघन्य अवगाहना है। तैजस और कार्मण, दोनों शरीरों की जघन्य अवगाहना एक समान है, किन्तु औदारिकशरीर की जघन्य अवगाहना की अपेक्षा विशेषाधिक है। (उससे) वैक्रियशरीर की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। (उससे) आहारकशरीर की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है। आहारकशरीर की जघन्य अवगाहना से उसी की उत्कृष्ट अवगाहना विशेषाधिक है। (उससे) औदारिकशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है। (उससे) वैक्रियशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यातगुणी है। तैजस और कार्मण दोनों शरीरों की उत्कृष्ट अवगाहना समान है, परन्तु वह वैक्रियशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना से असंख्यातगुणी है।

विवेचन - पांचों शरीरों की अवगाहनाओं का अल्पबहुत्व—प्रस्तुत सूत्र (१५६६) में सप्तम द्वार के सन्दर्भ में पांचों शरीरों की जघन्य-उत्कृष्ट अवगाहनाओं के अल्पबहुत्व की विचारणा की गई है।

अवगाहनाओं के अल्पबहुत्व का आशय—औदारिकशरीर की जघन्य अवगाहना सबसे कम है क्योंकि वह अंगुल के असंख्यातवें भागमात्रप्रमाण होती है। तैजस और कार्मण की जघन्यावगाहना परस्पर तुल्य होते हुए भी औदारिक की जघन्यावगाहना से विशेषाधिक इसलिए है कि मारणान्तिकसमुद्-

घात से समवहत जीव जब पूर्वशरीर से बाहर निकले हुए तैजसशरीर की अवगाहना को आयाम (ऊँचाई), बाहल्य (मोटाई) और विस्तार (चौड़ाई) से विचारणा की जाती है, ऐसी स्थिति में जिस प्रदेश में वे जीव उत्पन्न होंगे वह प्रदेश औदारिकशरीर की अवगाहना से प्रमित अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण, व्याप्त होता है और अतीव अल्प बीच का प्रदेश भी व्याप्त होता है। इसलिए औदारिक की जघन्य अवगाहना से तैजस-कार्मणशरीर की जघन्य अवगाहना विशेषाधिक हुई। आहारकशरीर की जघन्य अवगाहना देशोन हस्तप्रमाण और उत्कृष्ट अवगाहना भी एक हाथ की है। उससे औदारिकशरीर की उत्कृष्टावगाहना संख्यातगुणी है, क्योंकि वह सातिरेक सहस्रयोजन प्रमाण है। वैक्रियशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना सातिरेक लक्षयोजन होने से वह इससे संख्यातगुणी अधिक है। तैजस-कार्मणशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना समान होने पर भी वैक्रियशरीर की उत्कृष्ट अवगाहना से असंख्यातगुणी अधिक है, क्योंकि वह १४ रज्जूप्रमाण है। शेष स्पष्ट है।[1]

॥ प्रज्ञापना भगवती का इक्कीसवाँ अवगाहना-संस्थान-पद सम्पूर्ण ॥

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४३४-४३५

बावीसइमं : किरियापयं

बाईसवाँ क्रियापद

प्राथमिक

- यह प्रज्ञापनासूत्र का बाईसवाँ क्रियापद है। इसमें विविध दृष्टियों से क्रियाओं के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।
- क्रिया सम्बन्धी विचार भारत के प्राचीन दार्शनिकों में होता आया है। क्रियाविचारकों में ऐसे भी लोग थे, जो क्रिया से पृथक् किसी कर्मरूप आवरण को मानते ही नहीं थे।[1] उनके ज्ञान को विभंगज्ञान कहा गया है।
- भारतवर्ष में प्राचीनकाल से 'कर्म' अर्थात् वासना या संस्कार को माना जाता था, जिसके कारण पुनर्जन्म होता है। आत्मा के जन्म-जन्मान्तर की अथवा संसारचक्र-परिवर्तन की कल्पना के साथ कर्म की विचारणा अनिवार्य थी। किन्तु प्राचीन उपनिषदों में यह विचारणा क्वचित् ही पाई जाती है, जब कि जैन और बौद्ध साहित्य में, विशेषतः जैन-आगमों में 'कर्म' की विचारणा विस्तृत रूप से पाई जाती है।
- प्रस्तुत प्रज्ञापनासूत्र का क्रियाविचार क्रिया के सम्बन्ध में अनेक पहलुओं से हुई विचारणा का संग्रह है। यहाँ क्रियाविचार का क्रम इस प्रकार है--
- सर्वप्रथम क्रिया के कायिकी आदि पांच भेद और प्रभेद, सिर्फ हिंसा-अहिंसा के विचार को लक्ष्य में रख कर बताए गए हैं।[2]
- उसके पश्चात् क्रिया को कर्मबन्ध का कारण परिलक्षित करके जीवों की सक्रियता-अक्रियता के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है। अक्रिय अर्थात् क्रियाओं से सर्वथा रहित को ही कर्मों से सर्वथा मुक्त सिद्ध और सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[3]
- उसके बाद अठारह पापस्थानों से होने वाली क्रियाओं (प्रकारान्तर से कर्मों) तथा उनके विषयों का निरूपण किया गया है। इसीलिए प्राणातिपात आदि के अध्यवसाय से सात या आठ कर्मों के बन्ध का उल्लेख किया गया है।
- फिर जीव के ज्ञानावरणीयादि कर्मबन्ध करते समय कितनी क्रियाएँ होती हैं? इसका विचार प्रस्तुत किया गया है। यहाँ १८ पापस्थान की क्रियाओं को ध्यान में न लेकर सिर्फ पूर्वोक्त ५

---

१. देखिये स्थानांगसूत्र ५४२
२. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ३५०
३. वही, पृ. ३५०

क्रियाएँ ही ध्यान में रखी हैं। परन्तु वृत्तिकार ने स्पष्टीकरण किया है कि इन प्रश्नों का आशय यह है कि जीव जब प्राणातिपात द्वारा कर्म बाँधता हो, तब उस प्राणातिपात की समाप्ति कितनी क्रियाओं से होता है। वृत्तिकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि कायिकी आदि क्रम से तीन, चार या पांच क्रियाएँ समझनी चाहिए।[1]

- तत्पश्चात् एक जीव, एक या अनेक जीवों की अपेक्षा से तथा अनेक जीव, एक या अनेक जीवों की अपेक्षा से कायिकी आदि क्रियाओं में से कितनी क्रियाओं वाला होता है? दूसरे जीव की अपेक्षा से कायिकी आदि क्रियाएँ कैसे लग जाती हैं, इसका स्पष्टीकरण वृत्तिकार यों करते हैं कि केवल वर्तमान जन्म में होने वाली कायिकी आदि क्रियाएँ यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं, किन्तु अतीत जन्म के शरीरादि से अन्य जीवों द्वारा होने वाली क्रिया भी यहाँ विवक्षित है, क्योंकि जिस जीव ने भूतकालीन काया आदि की विरति नहीं स्वीकारी, अथवा शरीरादि का प्रत्याख्यान (व्युत्सर्ग या ममत्वत्याग) नहीं किया, उस शरीरादि से जो कुछ निर्माण होगा या उसके द्वारा अन्य जीव जो कुछ क्रिया करेंगे, उसके लिए वह जिम्मेवार होगा, क्योंकि उसने शरीरादि का ममत्व त्याग नहीं किया।[2]
- इसके बाद चौबीसदण्डकवर्ती जीवों में पांचों क्रियाओं की प्राप्ति बताई है।
- इसके पश्चात् २४ दण्डकों में कायिकी आदि पांचों क्रियाओं के सहभाव की चर्चा की गई है। साथ ही कायिकी आदि पांचों क्रियाओं को आयोजिका (संसारचक्र में जोड़ने वाली) के रूप में बताकर इनके सहभाव की चर्चा की गई है।[3]
- इसके पश्चात् एक जीव में एक जीव की अपेक्षा से पांचों क्रियाओं में से स्पृष्ट-अस्पृष्ट रहने की चर्चा की गई है।[4]
- इसके अनन्तर क्रियाओं के प्रकारान्तर से आरम्भिकी आदि ५ भेद बताकर किस जीव में कौन-सी क्रिया पाई जाती है? इसका उल्लेख किया है। इसके पश्चात् चौबीसदण्डकों में इन्हीं क्रियाओं की प्ररूपणा की गई है। फिर जीवों में इन्हीं पांच क्रियाओं के सहभाव की चर्चा की गई है। अन्त में समय, देश-प्रदेश को लेकर भी इनके सहभाव की चर्चा की गई है।[5]
- इसके पश्चात् प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक १८ पापस्थानों से कौन-सा जीव विरत हो सकता है? तथा प्राणातिपातादि से विरमण किस विषय में होता है? इत्यादि विचारणा की गई है।[6]

---

१. पण्णवणासुत्तं मूलपाठटिप्पण, पृ. ३५१-३५२
२. वही, पृ. ३५३-३५४
३. वही, पृ. ३५५-३५६
४. वही, पृ. ३५६-३५७
५. वही, पृ. ३५७, ३५८, ३५९
६. वही, पृ. ३५९

- इसके बाद यह विचारणा एकवचन और बहुवचन के रूप में की गई है कि प्राणातिपात आदि १८ पापस्थानों से विरत जीव कितनी-कितनी कर्मप्रकृतियों का बंध कर सकता है ? इसमें बंध के अनेक भंग (विकल्प) बताए हैं।[1]
- तत्पश्चात् यह चर्चा प्रस्तुत की गई है कि प्राणातिपात आदि पापस्थानों से विरत सामान्य जीव में या चौवीसदण्डक के किस जीव में ५ क्रियाओं में से कौन-कौन-सी क्रियाएँ होती हैं ?
- अन्त में, आरम्भिकी आदि पाँचों क्रियाओं के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है। इस अल्पबहुत्व का आधार यह है कि कौन-सी क्रिया कम अथवा अधिक प्राणियों के है ? मिथ्यादृष्टि के तो प्रथम मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया होती है जबकि अप्रत्याख्यानक्रिया अविरत सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि दोनों के होती है। इसी दृष्टि से आगे की क्रियाएँ उत्तरोत्तर अधिक बताई गई हैं।[2]
- इस समस्त क्रियाविवरण से इतना स्पष्ट है कि कायिकी आदि पांच, १८ पापस्थानों से निष्पन्न क्रियाएँ तथा आरम्भिकी आदि पांच क्रियाएँ प्रत्येक जीव के आत्मविकास में अवरोधरूप हैं, इनका त्याग आत्मा को मुक्त एवं स्वतन्त्र करने के लिए आवश्यक है। भगवतीसूत्र में स्पष्ट बताया गया है, श्रमण को भी जब तक प्रमाद और योग है, तब तक क्रिया लगती है। जहाँ तक क्रिया है, वहाँ तक मुक्ति नहीं है।[3]
- परन्तु इस समग्र क्रियाविवरण में ईर्यापथिक और साम्परायिक ये जो क्रिया के दो भेद बाद में प्रचलित हुए हैं, उन्हें स्थान नहीं मिला। यह क्रियाविचार की प्राचीनता सूचित करता है।
- इसके अतिरिक्त स्थानांगसूत्र में सूचित २५ क्रियाएँ अथवा सूत्रकृतांग में वर्णित १३ क्रियास्थानों का प्रज्ञापना के क्रियापद में उक्त प्राणातिपात आदि १८ पापस्थानजन्य क्रियाओं में समावेश हो जाता है। कुछ का समावेश कायिकी आदि ५ में तथा आरम्भिकी आदि ५ में हो जाता है।[4]

---

१. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ३६०
२. वही, पृ. ३६१-३६२
३. भगवती० ३।३, सू. १५१, १५२, १५३
४. (क) स्थानांग, स्थान ५, सू. ४१९ (ख) सूत्रकृतांग २।२

बावीसइमं : किरियापयं

बाईसवाँ क्रियापद

किरिया-भेद-प्रभेदप्ररूपणा

१५६७. कति णं भंते ! किरियाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा—काइया १ आहिगरणिया २ पाओसिया ३ पारियावणिया ४ पाणाइवातकिरिया ५ ।

[१५६७ प्र.] भगवन् ! क्रियाएँ कितनी कही गई हैं ?

[उ.] गौतम ! क्रियाएँ पांच कही गई हैं, यथा—(१) कायिकी, (२) आधिकरणिकी, (३) प्राद्वेषिकी, (४) पारितापनिकी और (५) प्राणातिपातक्रिया ।

१५६८. काइया णं भंते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—अणुवरयकाइया य दुप्पउत्तकाइया य ।

[१५६८ प्र.] भगवन् ! कायिकीक्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार की कही गई है । यथा—अनुपरतकायिकी और दुष्प्रयुक्त-कायिकी ।

१५६९. आहिगरणिया णं भंते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—संजोयणाहिकरणिया य निव्वत्तणाहिकरणिया य ।

[१५६९ प्र.] भगवन् ! आधिकरणिकीक्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[उ.] गौतम ! (वह) दो प्रकार की कही गई है, वह इस प्रकार संयोजनाधिकरणिकी और निर्वर्त्तनाधिकरणिकी ।

१५७०. पाओसिया णं भंते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—जेणं अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा असुभं मणं पहारेति । से त्तं पाओसिया किरिया ।

[१५७० प्र.] भगवन् ! प्राद्वेषिकीक्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[उ.] गौतम (वह) तीन प्रकार की कही गई है, वह इस प्रकार—जिससे स्व का, पर का अथवा स्व-पर दोनों का मन अशुभ कर दिया जाता है, वह (त्रिविध) प्राद्वेषिकी क्रिया है ।

१५७१. पारियावणिया णं भंते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा--जेणं अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा असायं वेदणं उदीरेति । से त्तं पारियावणिया किरिया ।

[१५७१ प्र.] भगवन् ! पारितापनिकीक्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[उ.] गौतम ! (वह) तीन प्रकार की कही गई है, जैसे—जिस प्रकार से स्व के लिए, पर के लिए या स्व-पर दोनों के लिए असाता (दुःखरूप) वेदना उत्पन्न की जाती है, वह है—(त्रिविध) पारितापनिकी क्रिया ।

१५७२. पाणातिवातकिरिया णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—जेणं अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा जीवियाओ ववरोवेइ । से त्तं पाणाइवायकिरिया ।

[१५७२ प्र.] भगवन् ! प्राणातिपातक्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[उ.] गौतम ! (वह) तीन प्रकार की कही गई है, यथा—(ऐसी क्रिया) जिससे स्वयं को दूसरे को, अथवा स्व-पर दोनों को जीवन से रहित कर दिया जाता है, वह (त्रिविध) प्राणातिपातक्रिया है ।

विवेचन—हिंसा की दृष्टि से क्रियाओं के भेद-प्रभेद प्रस्तुत ६ सूत्रों (१५६७ से १५७२ तक) में क्रियाओं के मूल ५ भेद और उनके उत्तरभेदों का निरूपण हिंसा-अहिंसा की दृष्टि से किया गया है ।

क्रियाओं का विशेषार्थ- **क्रिया** : दो अर्थ—(१) करना, (२) कर्मबन्ध की कारणभूत चेष्टा । **कायिकी**—काया से निष्पन्न होने वाली । **आधिकरणिकी**—जिससे आत्मा नरकादि दुर्गतियों में अधिकृत—स्थापित की जाए, वह अधिकरण—एक प्रकार का दूषित अनुष्ठानविशेष । अथवा तलवार, चक्र आदि बाह्य हिंसक उपकरण । अधिकरण से निष्पन्न होने वाली क्रिया आधिकरणिकी । **प्राद्वेषिकी**—प्रद्वेष—यानी मत्सर, कर्मबन्ध का कारण जीव का अकुशल परिणाम-विशेष । प्रद्वेष से होने वाली प्राद्वेषिकी । **पारितापनिकी** परितापना अर्थात् पीड़ा देना । परितापना से या परितापना में होने वाली क्रिया । **प्राणातिपातिकी**—इन्द्रियादि १० प्राणों में से किसी प्राण का अतिपात—विनाश, प्राणातिपात । प्राणातिपात-विषयक क्रिया । **अनुपरतकायिकी**—देशतः या सर्वतः सावद्ययोगों से जो विरत हो वह उपरत । जो उपरत--विरत न हो, वह अनुपरत । अर्थात् काया से प्राणातिपातादि से देशतः या सर्वतः विरत-निवृत्त न होना अनुपरतकायिकी । यह क्रिया अविरत को लगती है । **दुष्प्रयुक्तकायिकी**—काया आदि का दुष्ट प्रयोग करना । यह क्रिया, प्रमत्तसंयत को लगती है, क्योंकि प्रमत्त होने पर काया का दुष्प्रयोग सम्भव है । **संयोजनाधिकरणिकी**- पूर्व निष्पादित हल, मूसल, शस्त्र, विष आदि हिंसा के कारणभूत उपकरणों का संयोग मिलाना संयोजना है । वही संसार की कारणभूत होने से संयोजनाधिकरणिकी है । यह क्रिया पूर्व निर्मित हलादि हिंसोपकरणों के संयोग मिलाने वाले को लगती है । **निर्वर्तनाधिकरणिकी**—खड्ग, भाला आदि हिंसक शस्त्रों का मूल से निर्माण करना निर्वर्तना है । यह संसार की वृद्धिरूप होने से निर्वर्तनाधिकरणिकी कहलाती है ।

प्राणातिपातक्रिया --किसी प्रकार से आत्महत्या करना, अथवा प्रद्वेषादिवश दूसरों को या दोनों को प्राण से रहित करना, यह त्रिविध प्राणातिपातक्रिया है ।[1]

पारितापनिकी क्रिया : शंका-समाधान- जो तप या अन्य अनुष्ठान अशक्य हो, जिस तप के करने से मन में दुर्ध्यान पैदा होता हो, इन्द्रियों की हानि हो, मन-वचन-काया के योग उत्पथ पर चलें या एकदम क्षीण हो जाएँ, वह तपश्चरण या कायकष्ट पारितापनिकी क्रिया में है। परन्तु जिससे दुर्ध्यान न हो, जिसका परिणाम आत्महितकर हो, कर्मक्षय करने की उमंग हो, उन्नत भावना हो, वहाँ पारितापनिकीक्रिया नहीं होती ।[2]

जीवों के सक्रियत्व अक्रियत्व की प्ररूपणा

१५७३. जीवा णं भंते ! किं सकिरिया अकिरिया ?

गोयमा ! जीवा सकिरिया वि अकिरिया वि ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति जीवा सकिरिया वि अकिरिया वि ?

गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—संसारसमावण्णगा य असंसारसमावण्णगा य । तत्थ णं जे ते असंसारसमावण्णगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं अकिरिया । तत्थ णं जे ते संसारसमावण्णगा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सेलेसिपडिवण्णगा य असेलेसिपडिवण्णगा य ।

तत्थ णं जे ते सेलेसिपडिवण्णगा ते णं अकिरिया ।

तत्थ णं जे ते असेलेसिपडिवण्णगा ते णं सकिरिया । से एतेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति जीवा सकिरिया वि अकिरिया वि ।

[१५७३ प्र.] भगवन् ! जीव सक्रिय होते हैं, अथवा अक्रिय (क्रियारहित) होते हैं ?

[उ.] गौतम ! जीव सक्रिय (क्रिया-युक्त) भी होते हैं और अक्रिय (क्रियारहित) भी होते हैं ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि जीव सक्रिय भी होते हैं और अक्रिय भी होते हैं ?

[उ.] गौतम ! जीव दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—संसारसमापन्नक और असंसारसमापन्नक । उनमें से जो असंसारसमापन्नक हैं, वे सिद्ध जीव हैं । सिद्ध (मुक्त) अक्रिय (क्रियारहित) होते हैं और उनमें से जो संसारसमापन्नक हैं, वे भी दो प्रकार के हैं शैलेशीप्रतिपन्नक और अशैलेशी-प्रतिपन्नक । उनमें से जो शैलेशी-प्रतिपन्नक होते हैं, वे अक्रिय हैं और जो अशैलेशी-प्रतिपन्नक होते हैं, वे सक्रिय होते हैं । हे गौतम ! इसी कारण ऐसा कहा जाता है कि जीव सक्रिय भी हैं और अक्रिय भी हैं ।

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४३६.

२. वही, पत्र ४३६

विवेचन--जीवों की सक्रियता-अक्रियता का निर्धारण—प्रस्तुत सूत्र (१५७३) में जीवों को सक्रिय और अक्रिय दोनों प्रकार का बताकर उनका विश्लेषणपूर्वक निर्धारण किया गया है।

पारिभाषिक शब्दों के अर्थ--सक्रिय—पूर्वोक्त क्रियाओं से युक्त, या क्रियाओं में रत। अक्रिय—समस्त क्रियाओं से रहित।

संसारसमापन्नक—चतुर्गति भ्रमणरूप संसार को प्राप्त--युक्त। **असंसारसमापन्नक**—उससे विपरीत—मुक्त। **सिद्धों की अक्रियता**-सिद्ध देह एवं मनोवृत्ति आदि से रहित होने से पूर्वोक्त क्रिया से रहित हैं, इसलिए वे अक्रिय हैं। **शैलेशीप्रतिपन्नक**-अयोगी-अवस्था को प्राप्त। शैलेशीप्रतिपन्नकों के सूक्ष्म-बादर काय, वचन और मन के योगों का निरोध हो जाता है, इस कारण वे अक्रिय हैं। **अशैलेशीप्रतिपन्नक**--शैलेशी-अवस्था से रहित समस्त संसारी प्राणीगण, जिनके मन, वचन, काया के योगों का निरोध नहीं हुआ है। वे सक्रिय हैं।[1]

जीवों की प्राणातिपातादिक्रिया तथा विषय की प्ररूपणा

१५७४. अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जति ?

हंता गोयमा ! अत्थि।

कम्हि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जति ?

गोयमा ! छसु जीवणिकाएसु।

[१५७४ प्र.] भगवन् ! क्या जीवों को प्राणातिपात (के अध्यवसाय) से प्राणातिपात-क्रिया लगती है ?

[उ.] हाँ, गौतम ! (प्राणातिपातक्रिया संलग्न) होती है।

[प्र.] भगवन् ! किस (विषय) में जीवों को प्राणातिपात (के अध्यवसाय) से प्राणातिपात-क्रिया लगती है ?

[उ.] गौतम ! छह जीवनिकायों (के विषय) (में लगती है।)

१५७५. [१] अत्थि णं भंते ! णेरइयाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जति ?

गोयमा ! एवं चेव।

[१५७५-१ प्र.] भगवन् ! क्या नारकों को प्राणातिपात (के अध्यवसाय) से प्राणातिपात क्रिया लगती है ?

[उ.] (हाँ) गौतम ! ऐसा (पूर्ववत्) ही है।

[२] एवं जाव निरंतरं वेमाणियाणं।

[१५७५-२] इसी प्रकार (नारकों के आलाप के समान) (नारकों से लेकर) निरन्तर वैमानिकों तक का (आलाप कहना चाहिए।)

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४३७

१५७६. [१] अत्थि णं भंते ! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जति ?

हंता ! अत्थि ।

कम्हि णं भंते ! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जति ?

गोयमा ! सव्वदव्वेसु ।

[१५७६-१] भगवन् ! क्या जीवों को मृषावाद (के अध्यवसाय) से (मृषावाद-) क्रिया लगती है ?

[उ.] हाँ, गौतम ! मृषावादक्रिया संलग्न होती है ।

[प्र.] भगवन् ! किस विषय में मृषावाद के अध्यवसाय से मृषावाद-क्रिया लगती है ?

[उ.] गौतम ! सर्वद्रव्यों के (विषय) में (मृषा० क्रिया लगती है ।)

[२] एवं णिरंतरं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं ।

[१५७६-२] इसी प्रकार (पूर्वोक्त कथन के समान) नैरयिकों से लेकर लगातार वैमानिकों (तक) का (कथन करना चाहिए ।)

१५७७. [१] अत्थि णं भंते ! जीवाणं अदिण्णादाणेणं किरिया कज्जति ? हंता अत्थि ।

कम्हि णं भंते ! जीवाणं अदिण्णादाणेणं किरिया कज्जति ?

गोयमा ! गहण-धारणिज्जेसु दव्वेसु ।

[१५७७-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीवों को अदत्तादान (के अध्यवसाय) से अदत्तादान-(क्रिया) लगती है ?

[उ.] हाँ, गौतम ! (अदत्तादान-क्रिया संलग्न) होती है ।

[प्र.] भगवन् ! किस (विषय) में जीवों को अदत्तादान (के अध्यवसाय) से (अदत्तादान-) क्रिया लगती है ?

[उ.] गौतम ! ग्रहण और धारण करने योग्य द्रव्यों (के विषय) में (यह क्रिया होती है ।)

[२] एवं णेरइयाणं णिरंतरं जाव वेमाणियाणं ।

[१५७७-२] इसी प्रकार (समुच्चय जीवों के आलापक के समान) नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक को (अदत्तादानक्रिया का कथन करना चाहिए ।)

१५७८. [१] अत्थि णं भंते ! जीवाणं मेहुणेणं किरिया कज्जति ?

हंता ! अत्थि ।

कम्हि णं भंते ! जीवाणं मेहुणेणं किरिया कज्जति ?

गोयमा ! रूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दव्वेसु ।

[१५७८-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीवों को मैथुन (के अध्यवसाय) से (मैथुन-) क्रिया लगती है ?

[उ.] हाँ, (गौतम !) (मैथुनक्रिया संलग्न) होती है।

[प्र.] भगवन् ! किस (विषय) में जीवों के मैथुन (के अध्यवसाय) से (मैथुन-) क्रिया लगती है ?

[उ.] गौतम ! रूपों अथवा रूपसहगत (स्त्री आदि) द्रव्यों (के विषय) में (यह क्रिया लगती है।)

[२] एवं णेरइयाणं णिरंतरं जाव वेमाणियाणं।

[१५७८-२] इसी प्रकार (समुच्चय जीवों के मैथुनक्रियाविषयक आलापकों के समान) नैरयिकों से लेकर निरन्तर (लगातार) वैमानिकों तक (मैथुनक्रिया के आलापक कहने चाहिए।)

१५७९. [१] अत्थि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ?

हंता ! अत्थि।

कम्हि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जति ?

गोयमा ! सव्वदव्वेसु।

[१५७९-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीवों के परिग्रह (के अध्यवसाय) से (परिग्रह-) क्रिया लगती है ?

[उ.] हाँ, गौतम ! (परिग्रहक्रिया लगती) है।

[प्र.] भगवन् ! किस (विषय) में जीवों के परिग्रह (के अध्यवसाय) से (परिग्रह-) क्रिया लगती है ?

[उ.] गौतम ! समस्त द्रव्यों (के विषय) में (यह क्रिया लगती है।)

[२] एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

[१५७९-२] इसी तरह (समुच्चय जीवों के परिग्रह-क्रियाविषयक आलापकों के समान) नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक (परिग्रह-क्रिया-विषयक आलापक कहने चाहिए।)

१५८०. एवं कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं पेज्जेणं दोसेणं कलहेणं अब्भक्खाणेणं पेसुण्णेणं परपरिवाएणं अरतिरतीए मायामोसेणं मिच्छादंसणसल्लेणं सव्वेसु जीव-णेरइयभेदेसु भाणियव्वं णिरंतरं जाव वेमाणियाणं ति। एवं अट्ठारस एते दंडगा १८।

[१५८०] इसी प्रकार क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, राग (प्रेय) से, द्वेष से, कलह से, अभ्याख्यान से, पैशुन्य से, परपरिवाद से, अरति-रति से, मायामृषा से एवं मिथ्यादर्शनशल्य (के अध्यवसाय) से (लगने वाली क्रोधादि क्रियाओं के विषय में पूर्ववत्) समस्त (समुच्चय) जीवों तथा नारकों के भेदों से (ले कर) लगातार वैमानिकों तक के (क्रोधादिक्रियाविषयक आलापक) कहने चाहिए। इस प्रकार ये (अठारह पापस्थानों के अध्यवसाय से लगने वाली क्रियाओं के) अठारह दण्डक (आलापक) हुए।

विवेचन—अठारह पापस्थानों से जीवों को लगने वाली क्रियाओं की प्ररूपणा—प्रस्तुत सात

सूत्रों (१५७४ से १५८० तक) में प्राणातिपात से ले कर मिथ्यादर्शनशल्य तक के अध्यवसाय से समुच्चय जीवों तथा चौबीस दण्डकवर्ती जीवों को लगने वाली इन क्रियाओं तथा इन क्रियाओं के पृथक् पृथक् विषयों की प्ररूपणा की गई है।

प्राणातिपातक्रिया : कारण और विषय– सूत्र १५७४ गत प्रश्न का आशय यह है –जीवों के, प्राणातिपात से, अर्थात् प्राणातिपात के अध्यवसाय से प्राणातिपात क्रिया की जाती है, अर्थात्– होती है। इसका फलितार्थ यह है कि प्राणातिपात (हिंसा) की परिणति (अध्यवसाय—परिणाम) के काल में ही प्राणातिपात क्रिया हो जाती है, यह कथन ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से किया गया है। प्रत्येक क्रिया अध्यवसाय के अनुसार ही होती है। क्योंकि पुण्य और पाप कर्म का उपादान-अनुपादान अध्यवसाय पर ही निर्भर है; इसीलिए भगवान् ने भी इन सब प्रश्नों का उत्तर ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से दिया है कि प्राणातिपात के अध्यवसाय से प्राणातिपातक्रिया होती है। इसी प्रकार का आगमवचन है–"**परिणामियं पमाणं निच्छयमवलंबमाणाणं**" इसी वचन के आधार पर आवश्यकसूत्र में भी कहा गया है –'**आया चेव अहिंसा, आया हिंसत्ति निच्छओ एस**' (आत्मा ही अहिंसा है, आत्मा ही हिंसा है, इस प्रकार का यह निश्चयनय का कथन है।) निष्कर्ष यह है कि प्राणातिपातक्रिया प्राणातिपात के अध्यवसाय से होती है। इसी प्रकार शेष १७ पापस्थानकों के अध्यवसाय से मृषावादादि क्रियाएँ होती हैं, यह समझ लेना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र के अन्तर्गत दूसरा प्रश्न है—वह प्राणातिपातक्रिया किस विषय में होती है? अर्थात्—प्राणातिपातक्रिया का कारणभूत अध्यवसाय किसके विषय में होता है? उत्तर में प्राणातिपातक्रिया के कारणभूत अध्यवसाय का विषय षट्जीवनिकाय बताया गया है। क्योंकि मारने का अध्यवसाय जीवविषयक होता है, अजीवविषयक नहीं। रस्सी आदि में सर्पादि की बुद्धि से जो मारने का अध्यवसाय होता है, वह भी 'यह सांप है' इस बुद्धि से प्रवृत्ति होने से जीव-विषयक ही है। इसीलिए कहा गया कि प्राणातिपातक्रिया षट्जीवनिकायों में होती है। इसी प्रकार मृषावाद आदि शेष १७ पापस्थानों के अध्यवसाय से होने वाली मृषावादादि क्रिया विभिन्न विषयों को लेकर होती है, यह मूलपाठ से ही समझ लेना चाहिए।[1]

मृषावाद : स्वरूप और विषय– सत् का अपलाप और असत् का प्ररूपण करना मृषावाद है। मृषावाद का अध्यवसाय लोकगत और अलोकगत समस्त-वस्तु-विषयक होना सम्भव है। इसलिए कहा गया है—'सव्वदव्वेसु' सर्वद्रव्यों के विषय में मृषावादक्रिया का कारणभूत अध्यवसाय होता है। द्रव्य ग्रहण के उपलक्षण से 'सर्वपर्यायों' के विषय में भी समझ लेना चाहिए।[2]

अदत्तादान आदि क्रिया के विषय– अदत्तादान उसी वस्तु का हो सकता है, जो वस्तु ग्रहण या धारण की जा सकती है; इसलिए अदत्तादानक्रिया अन्य वस्तुविषयक नहीं होती, अतः कहा गया है—'गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु।' **मैथुनक्रिया** का कारणभूत मैथुनाध्यवसाय भी चित्र, काष्ठ, भित्ति, मूर्ति, पुतला आदि के रूपों या रूपसहगत स्त्री आदि विषयों में होता है। परिग्रह का अर्थ है–स्वत्व या स्वामित्व भाव से मूर्च्छा। वह प्राणियों के अन्तर में स्थित लोभवश समस्तवस्तुविषयक हो सकती है। इसीलिए कहा गया है—सव्वदव्वेसु।[3]

अभ्याख्यानादि के अर्थ एवं विषय· **अभ्याख्यान**—असद् दोषारोपण; यथा– अचोर को

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४३७-४३८
२. वही, मलयवृत्ति, पत्र ४३८
३. वही, मलयवृत्ति, पत्र ४३८

तू चोर है' कहना। **पैशुन्य**—किसी के परोक्ष में झूठे या सच्चे दोष प्रकट करना, चुगली खाना। **परपरिवाद**—अनेक लोगों के समक्ष दूसरे के दोषों का कथन करना। **मायामृषा**—मायासहित झूठ बोलना। यह महाकर्मबन्ध का हेतु है। **मिथ्यादर्शनशल्य**—मिथ्यात्वरूप तीक्ष्ण कांटा। अठारह पापस्थानकों में ५ महाव्रतों के अविरति रूप पांच पापस्थानक हैं। शेष पापस्थानों का इन्हीं पांचों में समावेश हो जाता है।[1]

अट्ठारस एए दंडगा ये (पूर्वोक्त पदों में उल्लिखित) दण्डक (आलापक) अठारह हैं। प्राणातिपातादि पापस्थान १८ होने से अठारह पापस्थानों को लेकर जीवों की क्रिया और उसके विषयों का यहां निर्देश किया गया है।[2]

क्रियाहेतुक कर्मप्रकृतिबन्ध की प्ररूपणा

१५८१. [१] जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा।

[१५८१-१ प्र.] भगवन् ! (एक) जीव (प्राणातिपातक्रिया के कारणभूत) प्राणातिपात (के अध्यवसाय) से कितनी कर्मप्रकृतियाँ बाँधता है ?

[उ.] गौतम ! सात अथवा आठ कर्मप्रकृतियाँ बाँधता है।

[२] एवं णेरइए जाव णिरंतरं वेमाणिए।

[१५८१-२] इसी प्रकार (सामान्य जीव के प्राणातिपात से बंधने वाली कर्मप्रकृतियों के निरूपण के समान) एक नैरयिक से लेकर एक वैमानिक देव तक के (प्राणातिपात के अध्यवसाय से होने वाली कर्मप्रकृतियों के बन्ध का कथन करना चाहिए।)

१५८२. जीवा णं भंते ! पाणाइवाएणं कति कम्मपगडीओ बंधंति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधगा वि अट्ठविहबंधगा वि।

[१५८२ प्र.] भगवन् ! (अनेक) जीव प्राणातिपात से कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं ?

[उ.] गौतम ! वे सप्तविध (कर्मप्रकृतियाँ) बांधते हैं या अष्टविध (कर्मप्रकृतियाँ) बांधते हैं।

१५८३. [१] णेरइया णं भंते ! पाणाइवाएणं कति कम्मपगडीओ बंधंति ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा, अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य, अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य।

[१५८३-१ प्र.] भगवन् ! (अनेक) नारक प्राणातिपात से कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं ?

[उ.] गौतम ! वे नारक सप्तविध (कर्मप्रकृतियां) बांधते हैं अथवा (अनेक नारक) सप्तविध (कर्मप्रकृतियों के) बन्धक होते हैं और (एक नारक) अष्टविध (कर्म-) बन्धक होता है, अथवा (अनेक नारक) सप्तविध कर्मबन्धक होते हैं और (अनेक) अष्टविध कर्मबन्धक भी।

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४३८

२. वही, मलयवृत्ति, पत्र ४३८

[२] एवं असुरकुमारा वि जाव थणियकुमारा।

[१५८३-२] इसी प्रकार (पूर्वोक्त सूत्र के कथन के अनुसार) असुरकुमारों से लेकर स्तनितकुमार तक (के प्राणातिपात के अध्यवसाय से होने वाले कर्म-प्रकृतिबन्ध के तीन-तीन भंग समझने चाहिए।)

[३] पुढवि-आउ-तेउ-वाउ-वणस्सइकाइया य, एते सव्वे वि जहा ओहिया जीवा (सु. १५८२)।

[१५८३-३] पृथ्वी-अप्-तेजो-वायु-वनस्पतिकायिक जीवों के (प्राणातिपात से होने वाले कर्मप्रकृतिबन्ध) के विषय में (सू. १५८२ में उक्त) औधिक (सामान्य-अनेक) जीवों के (कर्मप्रकृति-बन्ध के) समान (कहना चाहिए।)

[४] अवसेसा जहा णेरइया।

[१५८३-४] अवशिष्ट समस्त जीवों (वैमानिकों तक के, प्राणातिपात से होने वाले कर्म-प्रकृतिबन्ध के विषय में) नैरयिकों के समान (कहना चाहिए।)

१५८४. [१] एवं एते जीवेगिंदियवज्जा तिण्णि तिण्णि भंगा सव्वत्थ भाणियव्वा त्ति जाव मिच्छादंसणसल्लेणं।

[१५८४-१] इस प्रकार समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़कर (शेष दण्डकों के जीवों के प्रत्येक के) तीन-तीन भंग सर्वत्र कहने चाहिए तथा (मृषावाद से लेकर) मिथ्यादर्शनशल्य तक (के अध्यवसायों) से (होने वाले कर्मबन्ध का भी कथन करना चाहिए।)

[२] एवं एगत्त-पोहत्तिया छत्तीसं दंडगा होंति।

[१५८४-२] इस प्रकार एकत्व और पृथक्त्व को लेकर छत्तीस दण्डक होते हैं।

विवेचन—प्राणातिपातादि से होने वाले कर्मबन्ध की प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों (१५८१ से १५८४ तक) में प्राणातिपातादि क्रियाओं के कारणभूत प्राणातिपातादि के अध्यवसाय से होने वाले कर्मप्रकृतिबन्ध की प्ररूपणा की गई है।

सप्तविध बन्ध और अष्टविध बन्ध कब और क्यों?—एक जीव सप्तविधकर्मबन्ध करता है या अष्टविध कर्मबन्ध करता है। इसका कारण यह है कि जब आयुष्यकर्म-बन्ध नहीं होता तब सात कर्म-प्रकृतियों का और आयुष्यकर्मबन्धकाल में आठ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। यह एकत्व की दृष्टि से विचार किया गया है। पृथक्त्व की दृष्टि से विचार करने पर सामान्य बहुत-से जीव या तो सप्त-विधबन्धक पाए जाते हैं या अष्टविधबन्धक। ये दोनों जगह सदैव अधिक संख्या में मिलते हैं। नैरयिकसूत्र में सप्तविध बन्धक हैं ही; क्योंकि हिंसादि परिणामों से युक्त नारक सदैव बहुत संख्या में उपलब्ध होते हैं। इसलिए उनके सप्तविधबन्धकत्व में कोई सन्देह नहीं है। जब एक भी आयुष्य-बन्धक नहीं होता, तब सभी सप्तविधबन्धक होते हैं। जब एक आयुष्यबन्धक होता है, तब शेष सब सप्तविधबन्धक होते हैं। जब अष्टविधबन्धक बहुत-से मिलते हैं, तब दोनों में उभयगत बहुवचन का रूप होता है। अर्थात् अनेक सप्तविधबन्धक और अनेक अष्टविधबन्धक। इस प्रकार तीन भंगों से

असुरकुमार आदि दस प्रकार के भवनपति तक का कथन करना चाहिए। पृथ्वीकायिकादि पांच स्थावर प्रायः हिंसा के परिणामों में परिणत होते हैं, इसलिए सदैव अनेक पाए जाते हैं तथा वे सप्तविधबन्धक या अष्टविधबन्धक होते हैं। शेष द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय, तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय, मनुष्य, वाणव्यन्तर,ज्योतिष्क एवं वैमानिकों का कथन भंगत्रिक के साथ नैरयिकों की तरह करना चाहिए।[1]

एगत्तपोहत्तिया छत्तीस दंडगा०—प्राणातिपात से मिथ्यादर्शनशल्य तक १८ पापस्थानकों के एकत्व और पृथक्त्व के भेद से प्रत्येक के दो-दो दण्डक होने से १८ ही पापस्थानकों के कुल ३६ दण्डक होते हैं।[2]

जीवादि के कर्मबन्ध को लेकर क्रियाप्ररूपणा

१५८५. [१] जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए।

[१५८५-१ प्र.] भगवन् ! (एक जीव ज्ञानावरणीय कर्म को बांधता हुआ (कायिकी आदि पांच क्रियाओं में से) कितनी क्रियाओं वाला होता है ?

[उ.] गौतम ! (वह) कदाचित् तीन क्रियाओं वाला, कदाचित् चार क्रियाओं वाला और कदाचित् पांच क्रियाओं वाला होता है।

[२] एवं णेरइए जाव वेमाणिए।

[१५८५-२] इसी प्रकार एक नैरयिक से लेकर (एक) वैमानिक (तक के आलापक कहने चाहिए।)

१५८६. [१] जीवा णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणा कतिकिरिया ?

गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि।

[१५८६-१ प्र.] भगवन् ! (अनेक) जीव ज्ञानावरणीय कर्म को बांधते हुए, कितनी क्रियाओं वाले होते हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) कदाचित् तीन क्रियाओं वाले, कदाचित् चार क्रियाओं वाले और कदाचित् पांच क्रियाओं वाले भी होते हैं।

[२] एवं णेरइया निरंतरं जाव वेमाणिया।

[१५८६-२] इस प्रकार (सामान्य अनेक जीवों के आलापक के समान) नैरयिकों से (लेकर) लगातार वैमानिकों तक (के आलापक कहने चाहिए।)

१५८७. [१] एवं दरिसणावरणिज्जं वेयणिज्जं मोहणिज्जं आउयं णामं गोयं अंतराइयं च अट्ठविहकम्मपगडीओ भाणियव्वाओ।

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४०

२. वही, पत्र ४४०

[१५८७-१] इस प्रकार (ज्ञानावरणीय कर्म के समान) दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तरायिक, इन आठों प्रकार की कर्मप्रकृतियों को (बांधता हुआ एक जीव या एक नैरयिक से यावत् वैमानिक, अथवा बांधते हुए अनेक जीवों या अनेक नैरयिकों से यावत् वैमानिकों को लगने वाली क्रियाओं के आलापक कहने चाहिए।)

[२] एगत्त-पोहत्तिया सोलस दंडगा।

[१५८७-२] एकत्व और पृथक्त्व के (आश्रयी कुल) सोलह दण्डक होते हैं।

विवेचन—अष्टविध कर्मबन्धाश्रित क्रियाप्ररूपणा—प्रस्तुत त्रिसूत्री (सू. १५८५ से १५८७ तक) में जीवों के द्वारा प्राणातिपातादि के कारण ज्ञानावरणीयादि कर्म बांधते हुए क्रियाओं के लगने की संख्या की प्ररूपणा की गई है।

प्रस्तुत प्रश्न का आशय—इसी पद में पहले कहा गया था कि जीव प्राणातिपात आदि पाप-स्थानों के अध्यवसाय से सात या आठ कर्मों को बांधता है; प्रस्तुत में यह बताया गया है कि वह ज्ञानावरणीयादि कर्म बांधता हुआ कायिकी आदि कितनी क्रियाओं से प्राणातिपात को समाप्त करता है? तथा यहाँ ज्ञानावरणीय नामक कर्मरूप कार्य से प्राणातिपात नामक कारण का निवृत्तिभेद भी बताया गया है। उस भेद से बन्धविशेष भी प्रकट किया गया है।[1] कहा भी है तीन, चार या पांच क्रियाओं से क्रमशः हिंसा समाप्त (पूर्ण) की जाती है, किन्तु यदि योग और प्रद्वेष का साम्य हो तो इसका विशिष्ट बन्ध होता है।[2]

उत्तर का आशय—इसी प्राणातिपात का निवृत्तिभेद बताते हुए उत्तर में कहा गया है—कदाचित् वह तीन क्रियाओं वाला होता है, इत्यादि। जब तीन क्रियाओं वाला होता है, तब कायिकी आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी क्रियाओं से प्राणातिपात को समाप्त करता है। कायिकी से हाथ पैर आदि का प्रयोग (प्रवृत्ति या व्यापार) करता है, आधिकरणिकी से तलवार आदि को जुटाता है या तेज या ठीक करता है, तथा प्राद्वेषिकी से 'उसे मारू' इस प्रकार का मन में अशुभ सम्प्रधारण (विचार) करता है। जब वह चार क्रियाओं से युक्त होता है, तब कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी क्रियाओं के अपरान्त चौथी 'पारितापनिकी' क्रिया से युक्त भी हो जाता है, अर्थात् खड्ग आदि के प्रहार (घात) से पीड़ा पहुँचा कर पारितापनिकी क्रिया से भी युक्त हो जाता है। जब वह पांच क्रियाओं से युक्त होता है, तब पूर्वोक्त चार क्रियाओं के अतिरिक्त पांचवीं प्राणातिपातिकी क्रिया से भी युक्त हो जाता है। अर्थात् उसे जीवन से रहित करके प्राणातिपातक्रिया वाला भी हो जाता है।[3]

'तिकिरिए' आदि पदों का आशय—जीव ज्ञानावरणीय कर्म को बांधते हुए सदैव बहुत-से होते हैं, इस कारण तीन क्रियाओं वाले भी होते हैं, चार क्रियाओं वाले भी और पांच क्रियाओं वाले भी होते हैं। इस प्रकार एक जीव, एक नैरयिकादि, तथा अनेक जीव या अनेक नैरयिकादि चौवीस दण्डककर्ता जीवों को लेकर क्रियाओं की चर्चा की गई है।[4]

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४०

२. तिसृभिश्चतसृभिरथ पञ्चभिश्च (क्रियाभिः) हिंसा समाप्यते क्रमशः। बन्धोऽस्य विशिष्टः स्याद्, योग-प्रद्वेषसाम्यं चेत्॥ —प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पं. ४४०

३. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४०

४. वही, मलयवृत्ति पत्र ४४०

सोलह दण्डक—ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों (कर्मप्रकृतियों) के बन्ध को लेकर प्रत्येक कर्म के आश्रयी एकत्व और पृथक्त्व के भेद से दो-दो दण्डक कहने चाहिए। इस प्रकार सब दण्डकों की संख्या १६ होती हैं।[1]

जीवादि में एकत्व और पृथक्त्व से क्रियाप्ररूपणा

१५८८. जीवे णं भंते ! जीवाओ कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए सिय अकिरिए।

[१५८८ प्र.] भगवन् ! (एक) जीव, (एक) जीव की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाला होता है ?

[उ.] गौतम ! (वह) कदाचित् तीन क्रियाओं वाला, कदाचित् चार क्रियाओं वाला, कदाचित् पांच क्रियाओं वाला और कदाचित् अक्रिय (क्रियारहित) होता है।

१५८९. [१] जीवे णं भंते ! णेरइयाओ कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय अकिरिए।

[१५८९-१ प्र.] भगवन् ! (एक) जीव, (एक) नारक की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाला होता है ?

[उ.] गौतम ! (वह) कदाचित् तीन क्रियाओं वाला, कदाचित् चार क्रियाओं वाला और कदाचित् अक्रिय होता है।

[२] एवं जाव थणियकुमाराओ।

[१५८९-२] इसी प्रकार (पूर्वोक्त एक जीव की एक नारक की अपेक्षा से क्रिया सम्बन्धी आलापक के समान) एक जीव की, एक असुरकुमार से लेकर (एक) स्तनितकुमार की अपेक्षा से (क्रिया सम्बन्धी आलापक कहने चाहिए।)

[३] पुढविक्काइय-आउक्काइय-तेउक्काइय-वाउक्काइय-वणस्सइकाइय-बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदियतिरिक्खजोणिय-मणूसाओ जहा जीवाओ (सु. १५८८)।

[१५८९-३] (एक जीव का एक पृथ्वीकायिक, अप्कायिक तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक एवं एक मनुष्य की अपेक्षा से (क्रियासम्बन्धी आलापक सू. १५८८ में उक्त एक जीव की अपेक्षा से क्रियासम्बन्धी आलापक के समान कहने चाहिए।)

[४] वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणियाओ जहा णेरइयाओ (सु. १५८९)।

[१५८९-४] (इसी तरह एक जीव का एक वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक की अपेक्षा क्रियासम्बन्धी आलापक (सू. १५८९-१ में उक्त) (एक) नैरयिक की अपेक्षा से क्रिया-सम्बन्धी आलापक के समान कहने चाहिए।

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४१

१५९०. जीवे णं भंते ! जीवेहिंतो कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए सिय अकिरिए ।

[१५९० प्र.] भगवन् ! (एक) जीव, (अनेक) जीवों की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाला होता है ?

[उ.] गौतम ! (वह) कदाचित् तीन क्रियाओं वाला, कदाचित् चार क्रियाओं वाला, कदाचित् पांच क्रियाओं वाला और कदाचित् अक्रिय होता है ।

१५९१. जीवे णं भंते ! णेरइएहिंतो कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय अकिरिए । एवं जहेव पढमो दंडओ तहा एसो वि बितिओ भाणियव्वो ।

[१५९१ प्र.] भगवन् ! (एक) जीव, (अनेक) नैरयिकों की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाला होता है ?

[उ.] गौतम ! कदाचित् तीन क्रियाओं वाला, कदाचित् चार क्रियाओं वाला और कदाचित् अक्रिय होता है । इस प्रकार जैसा प्रथम दंडक है वैसे ही यह द्वितीय दंडक भी कहना चाहिये ।

१५९२. जीवा णं भंते ! जीवाओ कतिकिरिया ?

गोयमा ! सिय तिकिरिया वि सिय चउकिरिया वि सिय पंचकिरिया वि सिय अकिरिया वि ।

[१५९२ प्र.] भगवन् ! (अनेक) जीव, (एक) जीव की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाले होते हैं ?

[उ.] गौतम ! कदाचित् तीन क्रियाओं वाले, कदाचित चार क्रियाओं वाले, कदाचित् पांच क्रियाओं वाले भी और कदाचित् अक्रिय होते हैं ।

१५९३. जीवा णं भंते ! णेरइयाओ कतिकिरिया ?

गोयमा ! जहेव आइल्लदंडओ तहेव भाणियव्वो जाव वेमाणिय त्ति ।

[१५९३ प्र.] भगवन् ! (अनेक) जीव, (एक) नैरयिक की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाले होते हैं ?

[उ.] गौतम ! जिस प्रकार प्रारम्भिक दण्डक (सू. १५८९-१) में (कहा गया था,) उसी प्रकार से, (यह दण्डक भी) वैमानिक तक कहना चाहिए ।

१५९४. जीवा णं भंते ! जीवेहिंतो कतिकिरिया ?

गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि अकिरिया वि ।

[१५९४ प्र.] भगवन् ! (अनेक) जीव, (अनेक) जीवों की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाले होते हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) तीन क्रियाओं वाले भी होते हैं, चार क्रियाओं वाले भी, पांच क्रियाओं वाले भी और अक्रिय भी होते हैं ।

१५९५ [१] जीवा णं भंते ! णेरइएहिंतो कतिकिरिया ?

गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि अकिरिया वि ।

[१५९५-१ प्र.] भगवन् ! (अनेक) जीव, (अनेक) नारकों की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाले होते हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) तीन क्रियाओं वाले भी होते हैं, चार क्रियाओं वाले भी और अक्रिय भी होते हैं ।

[२] असुरकुमारेहिंतो वि एवं चेव जाव वेमाणिएहिंतो । [णवरं] ओरालियसरीरेहिंतो जहा जीवेहिंतो (सु. १५९४) ।

[१५९५-२ प्र.] इसी प्रकार (पूर्वोक्त आलापक के समान) अनेक जीवों के अनेक असुरकुमारों से (ले कर) यावत् (अनेक) वैमानिकों की अपेक्षा से (क्रियासम्बन्धी आलापक कहने चाहिए ।) विशेष यह है कि (अनेक) औदारिकशरीरधारकों (पृथ्वीकायिकादि पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय एवं मनुष्यों) की अपेक्षा से (जब क्रियासम्बन्धी आलापक कहने हों, तब सू. १५९४ में उक्त अनेक) जीवों की अपेक्षा से क्रियासम्बन्धी आलापक के समान (कहने चाहिए ।)

१५९६. णेरइए णं भंते ! जीवाओ कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ।

[१५९६ प्र.] भगवन् ! (एक) नैरयिक, (एक) जीव की अपेक्षा से कितनी क्रिया वाला होता है ?

[उ.] गौतम ! (वह) कदाचित् तीन क्रियाओं वाला, कदाचित् चार क्रियाओं वाला और कदाचित् पांच क्रियाओं वाला होता है ।

१५९७. [१] णेरइए णं भंते ! णेरइयाओ कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए ।

[१५९७-१ प्र.] भगवन् ! (एक) नैरयिक (एक) नैरयिक की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाला होता है ?

[उ.] गौतम ! (वह) कदाचित् तीन क्रियाओं वाला और कदाचित् चार क्रियाओं वाला होता है ।

[२] एवं जाव वेमाणियाओ ! णवरं ओरालियसरीराओ जहा जीवाओ (सु. १५९६) ।

[१५९७-२] इसी प्रकार (पूर्वोक्त आलापक के समान एक असुरकुमार से लेकर) यावत् एक वैमानिक की अपेक्षा से (क्रियासम्बन्धी आलापक कहने चाहिए ।) विशेष यह है कि (एक) औदारिकशरीरधारक जीव की अपेक्षा से (जब क्रियासम्बन्धी आलापक कहने हों, तब सू. १५९६ में कथित एक) जीव की अपेक्षा से (क्रियासम्बन्धी आलापक) के समान (कहने चाहिए ।)

१५९८. णेरइए णं भंते ! जीवेहिंतो कइकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ।

[१५९८ प्र.] भगवन् ! (एक) नारक, (अनेक) जीवों की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाला होता है ?

[उ.] गौतम ! (वह) कदाचित् तीन क्रियाओं वाला, कदाचित् चार क्रियाओं वाला और कदाचित् पांच क्रियाओं वाला होता है ।

१५९९. [१] णेरइए णं भंते ! णेरइएहिंतो कइकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए । एवं जहेव पढमो दंडओ तहा एसो वि बितिओ भाणियव्वो ।

[१५९९-१ प्र.] भगवन् ! एक नैरयिक, अनेक नैरयिकों की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाला होता है ?

[उ.] गौतम ! (वह) कदाचित् तीन क्रियाओं वाला और कदाचित् चार क्रियाओं वाला होता है । इस प्रकार जैसे प्रथम दण्डक कहा है उसी प्रकार यह द्वितीय दण्डक भी कहना चाहिए ।

[२] एवं जाव वेमाणिएहिंतो । णवरं णेरइयस्स णेरइएहिंतो देवेहिंतो य पंचमा किरिया णत्थि ।

[१५९९-२] इसी प्रकार (पूर्वोक्त आलापक के समान) यावत् अनेक वैमानिकों की अपेक्षा से (क्रियासम्बन्धी आलापक कहने चाहिए ।) विशेष यह है कि (एक) नैरयिक के (अनेक) नैरयिकों की अपेक्षा से (क्रिया सम्बन्धी आलापक में) पंचम क्रिया नहीं होती है ।

१६००. णेरइया णं भंते ! जीवाओ कतिकिरिया ?

गोयमा ! सिय तिकिरिया सिय चउकिरिया सिय पंचकिरिया ।

[१६०० प्र.] भगवन् ! (अनेक) नैरयिक, (एक) जीव की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाले होते हैं ?

[उ.] गौतम ! कदाचित् तीन क्रियाओं वाले, कदाचित् चार क्रियाओं वाले और कदाचित् पांच क्रियाओं वाले होते हैं ।

१६०१. एवं जाव वेमाणियाओ । णवरं णेरइयाओ देवाओ य पंचमा किरिया णत्थि ।

[१६०१] इसी प्रकार (पूर्वोक्त आलापक के समान एक असुरकुमार से ले कर) यावत् एक वैमानिक की अपेक्षा से (क्रियासम्बन्धी आलापक कहने चाहिए ।) विशेष यह है कि (एक) नैरयिक या (एक) देव की अपेक्षा से (क्रियासम्बन्धी आलापक में) पंचम क्रिया नहीं होती ।

१६०२. णेरइया णं भंते ! जीवेहिंतो कतिकिरिया ?

गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि ।

[१६०२ प्र.] भगवन् ! (अनेक) नारक, (अनेक) जीवों की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाले होते हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) तीन क्रियाओं वाले भी होते हैं, चार क्रियाओं वाले भी और पांच क्रियाओं वाले भी होते हैं।

१६०३. [१] नेरइया णं भंते ! नेरइएहिंतो कतिकिरिया ?

गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि।

[१६०३-१ प्र.] भगवन् ! (अनेक) नैरयिक, (अनेक) नैरयिकों की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाले होते हैं ?

[उ.] गौतम ! (वे) तीन क्रियाओं वाले भी होते हैं और चार क्रियाओं वाले भी होते हैं।

[२] एवं जाव वेमाणिएहिंतो। णवरं ओरालियसरीरेहिंतो जहा जीवेहिंतो (सु. १६०२)।

[१६०३-२] इसी प्रकार (अनेक असुरकुमारों से लेकर) अनेक वैमानिकों की अपेक्षा से, क्रियासम्बन्धी आलापक कहने चाहिए। विशेष यह है कि अनेक औदारिकशरीरधारी जीवों की अपेक्षा से, (क्रियासम्बन्धी आलापक सू. १६०२ में कथित अनेक) जीवों के क्रियासम्बन्धी आलापक के समान (कहने चाहिए।)

१६०४. [१] असुरकुमारे णं भंते ! जीवातो कतिकिरिए ?

गोयमा ! जहेव नेरइएणं चत्तारि दंडगा (सु. १५९६-९९) **तहेव असुरकुमारेण वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा। एवं उवउज्जिऊण** भावियव्वं ति—जीवे मणुसे य अकिरिए वुच्चति, सेसा **अकिरिया णं वुच्चंति, सव्वे जीवा ओरालियसरीरेहिंतो पंचकिरिया, नेरइय-देवेहिंतो य पंचकिरिया ण वुच्चंति।**

[१६०४-१ प्र.] भगवन् ! (एक) असुरकुमार, एक जीव की अपेक्षा से कितनी क्रियाओं वाला होता है ?

[उ.] गौतम ! जैसे (सू. १५९६ से १५९९ तक में एक) नारक की अपेक्षा से क्रियासम्बन्धी) चार दण्डक (कहे गए) हैं, वैसे ही (एक) असुरकुमार की अपेक्षा से भी (क्रियासम्बन्धी) चार दण्डक कहने चाहिए।

इस प्रकार का उपयोग लगाकर विचार कर लेना चाहिए कि एक जीव और एक मनुष्य ही अक्रिय कहा जाता है, शेष सभी जीव अक्रिय नहीं कहे जाते। सर्व जीव, औदारिक शरीरधारी अनेक जीवों की अपेक्षा से—पांच क्रिया वाले होते हैं। नारकों और देवों की अपेक्षा से पांच क्रियाओं वाले नहीं कहे जाते।

[२] एवं एक्केक्कजीवपए चत्तारि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा। एवं एयं दंडगसयं। सव्वे वि य जीवादीया दंडगा।

[१६०४-२] इस प्रकार एक-एक जीव के पद में चार-चार दण्डक कहने चाहिए। यों कुल मिलाकर सौ दण्डक होते हैं। ये सब एक जीव आदि से सम्बन्धित दण्डक हैं।

विवेचन—जीवों को दूसरे जीवों की अपेक्षा से लगने वाली क्रियाओं की प्ररूपणा—प्रस्तुत १७ सूत्रों (१५८८ से १६०४) में जीवों के, दूसरे जीवों की अपेक्षा से लगने वाली क्रियाओं की प्ररूपणा की गई है।

प्रस्तुत सूत्रावली में पूर्वोक्त कायिकी आदि पांच क्रियाओं का ही विचार किया गया है। वृत्तिकार के अनुसार—यहाँ केवल वर्तमान भव में होने वाली कायिकी आदि क्रियाएँ अभिप्रेत नहीं, किन्तु अतीतजन्म के काय-शरीरादि से अन्य जीवों द्वारा होने वाली क्रियाएँ भी यहाँ अभिप्रेत हैं; क्योंकि अतीतजन्म के शरीरादि का उसके स्वामी ने प्रत्याख्यान (व्युत्सर्ग) नहीं किया। इसलिए उन शरीरादि में से जो कुछ भी निर्माण हो अथवा उससे शास्त्रादि बनाकर किसी को परितापना दी गई या किसी की हिंसा की गई हो अर्थात्—उक्त भूतकाल के शरीरादि से अन्यजीव जो कुछ भी क्रिया करे, उन सबके लिए उस शरीरादि का भूतपूर्व स्वामी जिम्मेदार है, क्योंकि उस जीव ने अपने स्वामित्व के शरीरादि का व्युत्सर्ग (परित्याग) नहीं किया; उसके प्रति जो ममत्व था, उसका विसर्जन (त्याग) नहीं किया। जब तक उस भूतपूर्व शरीरादि का व्युत्सर्ग जीव नहीं करता, तब तक उससे सम्बन्धित क्रियाएँ लगती रहती हैं। हाँ, अगर पूर्वजन्म के शरीर का ममत्व विसर्जन कर देता है, तो उससे कोई क्रिया नहीं लगती, क्योंकि वह उससे सर्वथा निवृत्त हो चुका है।[1]

व्याख्या—एक जीव की अपेक्षा से एक जीव को जो क्रियाएँ (३, ४ या ५) लगती हैं, वे वर्तमान जन्म को लेकर लगती हैं। अतीतभव को लेकर कायिकी आदि तीन, चार या पांच क्रियाएँ एक जीव को इस प्रकार लगती हैं—कायिकी तब लगती है जब उसके पूर्वजन्म से सम्बन्धित अविसर्जित शरीर या शरीर के एक देश का प्रयोग किया जाता है। आधिकरणिकी तब लगती है, जब उसके पूर्वजन्म के शरीर से संयोजित हल, मूसल, खड्ग आदि अधिकरणों का दूसरों के घात के लिए उपयोग किया जाता है। प्राद्वेषिकी तब लगती है, जब पूर्वजन्मगत शरीरादि का ममत्व विसर्जन (प्रत्याख्यान) न किया हो और तद्विषयक बुरे परिणाम में कोई प्रवृत्त हो रहा हो। पारितापनिकी तब होती है, जब अव्युत्सृष्ट काया से या काया के एकदेश से कोई व्यक्ति दूसरों को परिताप (संताप) दे रहा हो और प्राणातिपातक्रिया तब होती है, जब उस अव्युत्सृष्ट काय से दूसरे का घात कर दिया जाए। अक्रिय तब होता है, जब कोई व्यक्ति पूर्वजन्म के शरीर या शरीर से सम्बद्ध साधन का तीन करण तीन योग से व्युत्सर्ग कर देता है। तब उस जन्मभावी शरीर से कुछ भी क्रिया नहीं करता या की जाती। यह अक्रियता मनुष्य की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि मनुष्य ही सर्वविरत हो सकता है। देवों और नारकों के जीवन का घात असम्भव है, क्योंकि देव और नारक अनपवर्त्य (निरुपक्रम) आयुवाले होते हैं। उनकी अकालमृत्यु कदापि नहीं होती। अतएव उनके विषय में पंचम क्रिया नहीं हो सकती।[2]

द्वीन्द्रियादि की अपेक्षा से नारक को कायिकी आदि क्रियाएँ—जिस नारक ने पूर्वभव के शरीर का जब तक विसर्जन नहीं किया, उस नारक का शरीर तब तक पूर्वभावप्रज्ञापना से रिक्त घी के घड़े की तरह 'उसका' कहलाता है। उस शरीर के हड्डी आदि एक देश से भी कोई दूसरा किसी का प्राणातिपात (घात) करता है तो पूर्वजन्मगत उस शरीर का स्वामी जीव भी कायिकी आदि क्रियाओं से संलग्न हो जाता है, क्योंकि उसने उस शरीर का व्युत्सर्ग नहीं किया था। जब उस जीव के शरीर के एकदेश को अभिघात (प्रहार) आदि में समर्थ जान कर कोई व्यक्ति

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४२
(ख) पण्णवणासुत्तं (प्रस्तावनादि) भा. २, पृ. १२३

२. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४२

प्राणातिपात के लिए उद्यत हो, उसे देख कर द्वीन्द्रियादि घात्य जीव पर क्रोधादि उत्पन्न होने से मारने के लिए यह शस्त्र शक्तिशाली है, ऐसा चिन्तन करता हुआ अत्यन्त क्रोध आदि का परिणाम करता है, पीड़ा पहुँचाता है, प्राणनाश करता है, तो प्राद्वेषिकी आदि तीनों क्रियाएँ होती हैं।[1]

सौ दण्डक सामान्यतया जीवपद में एक दण्डक और नैरयिक आदि के २४ दण्डक, ये दोनों मिलाकर २५ दण्डक हुए। फिर एक-एक पद के चार-चार—(एक जीव, अनेक जीव, एक नारक, अनेक नारक) दण्डक हुए। इस प्रकार २५ × ४ = १०० दण्डक हुए।[2]

चौवीस दण्डकों में क्रियाप्ररूपणा

१६०५. कति णं भंते ! किरियाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—काइया जाव पाणाइवायकिरिया।

[१६०५ प्र.] भगवन् ! क्रियाएँ कितनी कही गई हैं ?

[उ.] गौतम ! क्रियाएँ पांच कही गई हैं, वे इस प्रकार—कायिकी यावत् प्राणातिपात-क्रिया।

१६०६. [१] णेरइयाणं भंते ! कति किरियाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—काइया जाव पाणाइवायकिरिया।

[१६०६-१ प्र.] भगवन् ! नारकों के कितनी क्रियाएँ कही गई हैं ?

[उ.] गौतम ! (उनके) पांच क्रियाएँ कही गई हैं, यथा—कायिकी यावत् प्राणतिपातक्रिया।

[२] एवं जाव वेमाणियाणं।

[१६०६-२] इसी प्रकार (का क्रियासम्बन्धी कथन असुरकुमार से लेकर) वैमानिकों के (सम्बन्ध में करना चाहिए।)

विवेचन क्रिया : प्रकार और चौवीस दण्डकव्याप्ति—प्रस्तुत दो सूत्रों (१६०५-१६०६) में क्रिया के पूर्वोक्त पांच प्रकार बताकर उनकी चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में व्याप्ति की प्ररूपणा की गई है।

जीवादि में क्रियाओं के सहभाव की प्ररूपणा

१६०७. जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स आहिगरणिया किरिया कज्जति ? जस्स आहिगरणिया किरिया कज्जति तस्स काइया किरिया कज्जति ?

गोयमा ! जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जति तस्स आहिगरणी णियमा कज्जति, जस्स आहिगरणी किरिया कज्जति तस्स वि काइया किरिया णियमा कज्जति।

[१६०७ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के कायिकीक्रिया होती है, क्या उसके आधिकरणिकीक्रिया होती है ? (तथा) जिस जीव के आधिकरणिकीक्रिया होती है, क्या उसके कायिकीक्रिया होती है ?

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४३

२. वही, पत्र ४४३

[उ.] गौतम ! जिस जीव के कायिकीक्रिया होती है, उसके नियम से आधिकरणिकीक्रिया होती है और जिसके आधिकरणिकीक्रिया होती है, उसके भी नियम से कायिकीक्रिया होती है।

१६०८. जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जति तस्स पाओसिया किरिया कज्जति ? जस्स पाओसिया किरिया कज्जति तस्स काइया किरिया कज्जति ?

गोयमा ! एवं चेव।

[१६०८ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के कायिकीक्रिया होती है क्या उसके प्राद्वेषिकीक्रिया होती है ? और जिसके प्राद्वेषिकीक्रिया होती है, क्या उसके कायिकीक्रिया होती है ?

[उ.] गौतम ! इसी प्रकार (पूर्ववत् दोनों परस्पर नियम से समझना चाहिए।)

१६०९. जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जति तस्स पारियावणिया किरिया कज्जति, जस्स पारियावणिया किरिया कज्जति तस्स काइया किरिया कज्जति ?

गोयमा ! जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जति तस्स पारियावणिया किरिया सिय कज्जति सिय णो कज्जति, जस्स पुण पारियावणिया किरिया कज्जति तस्स काइया नियमा कज्जति।

[१६०९ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के कायिकीक्रिया होती है, क्या उसके पारितापनिकी क्रिया होती है ? तथा जिसके पारितापनिकी क्रिया होती है, क्या उसके कायिकीक्रिया होती है ?

[उ.] गौतम ! जिस जीव के कायिकीक्रिया होती है, उसके पारितापनिकीक्रिया कदाचित् होती है और कदाचित् नहीं होती है, किन्तु जिसके पारितापनिकीक्रिया होती है, उसके कायिकी-क्रिया नियम से होती है।

१६१०. एवं पाणाइवायकिरिया वि।

[१६१०] इसी प्रकार (पारितापनिकी और कायिकी क्रिया के परस्पर सहभाव-कथन के समान) प्राणातिपातक्रिया (और कायिकीक्रिया) का (परस्पर सहभाव-कथन भी करना चाहिए।)

१६११. एवं आदिल्लाओ परोप्परं नियमा तिण्णि कज्जंति। जस्स आदिल्लाओ तिण्णि कज्जंति तस्स उवरिल्लाओ दोण्णि सिय कज्जंति सिय णो कज्जंति। जस्स उवरिल्लाओ दोण्णि कज्जंति तस्स आइल्लाओ तिण्णि नियमा कज्जंति।

[१६११] इस प्रकार प्रारम्भ की तीन क्रियाओं का परस्पर सहभाव नियम से होता है। जिसके प्रारम्भ की तीन क्रियाएँ होती हैं, उसके आगे की दो क्रियाएँ (पारितापनिकी और प्राणाति-पात क्रिया) कदाचित् होती हैं, कदाचित् नहीं होती हैं (परन्तु) जिसके आगे की दो क्रियाएँ होती हैं, उसके प्रारम्भ की तीन क्रियाएँ (कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी) नियम से होती हैं।

१६१२. तस्स णं भंते ! जीवस्स पारियावणिया किरिया कज्जति तस्स पाणाइवायकिरिया कज्जति ? जस्स पाणाइवायकिरिया कज्जति तस्स पारियावणिया किरिया कज्जति ?

गोयमा ! जस्स णं जीवस्स पारियावणिया किरिया कज्जति तस्स पाणाइवायकिरिया सिय

कज्जति सिय णो कज्जति, जस्स पुण पाणाइवायकिरिया कज्जति तस्स पारियावणिया किरिया नियमा कज्जति ।

[१६१२ प्र.] भगवन् ! जिसके पारितापनिकीक्रिया होती है, क्या उसके प्राणातिपातक्रिया होती है ? (तथा) जिसके प्राणातिपातक्रिया होती है, क्या उसके पारितापनिकीक्रिया होती है ?

[उ.] गौतम ! जिस जीव के पारितापनिकीक्रिया होती है, उसके प्राणातिपातक्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं भी होती है; किन्तु जिस जीव के प्राणातिपातक्रिया होती है, उसके पारितापनिकीक्रिया नियम से होती है ।

१६१३. [१] जस्स णं भंते ! णेरइयस्स काइया किरिया कज्जति तस्स आहिगरणिया किरिया कज्जति ?

गोयमा ! जहेव जीवस्स (सु. १६०७—१२) तहेव णेरइयस्स वि ।

[१६१३-१ प्र.] भगवन् ! जिस नैरयिक के कायिकीक्रिया होती है क्या उसके आधिकरणिकीक्रिया होती है ?

[उ.] गौतम ! जिस प्रकार (सू. १६०७ से १६१२ तक में) जीव (सामान्य) में (कायिकी आदि क्रियाओं के परस्पर सहभाव की चर्चा की है) उसी प्रकार नैरयिक के सम्बन्ध में भी (समझ लेनी चाहिए ।)

[२] एवं निरंतरं जाव वेमाणियस्स ।

[१६१३-२] इसी प्रकार (नारक के समान) वैमानिक तक (क्रियाओं के परस्पर सहभाव का कथन करना चाहिए ।)

१६१४. जं समयं णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जति तं समयं आहिगरणिया किरिया कज्जति ? जं समयं आहिगरणिया किरिया कज्जति तं समयं काइया किरिया कज्जति ?

एवं जहेव आइल्लओ दंडओ भणिओ (सु. १६०७--१३) तहेव भाणियव्वो जाव वेमाणियस्स ।

[१६१४ प्र.] भगवन् ! जिस समय जीव के कायिकीक्रिया होती है, क्या उस समय उसके आधिकरणिकीक्रिया होती है ? (तथा) जिस समय उसके आधिकरणिकीक्रिया होती है, क्या उस समय कायिकीक्रिया होती है ?

[उ.] (गौतम !) जिस प्रकार (सू. १६०७ से १६१३ तक में) क्रियाओं के परस्पर सहभाव के सम्बन्ध में प्रारम्भिक दण्डक कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी वैमानिक तक कहना चाहिए ।

१६१५. जं देसं णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जति तं देसं णं आहिगरणिया किरिया कज्जति ?

तहेव जाव वेमाणियस्स ।

[१६१५ प्र.] (भगवन् !) जिस देश में जीव के कायिकीक्रिया होती है, क्या उस देश में आधिकरणिकीक्रिया होती है ?

[उ.] (यहाँ भी) उसी (पूर्वोक्त सूत्रों की) तरह वैमानिक तक (कहना चाहिए।)

१६१६. [१] जं पएसं णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जति तं पएसं आहिगरणिया किरिया कज्जति ?

एवं तहेव जाव वेमाणियस्स।

[१६१६-१ प्र.] (भगवन् !) जिस प्रदेश में जीव के कायिकीक्रिया होती है, क्या उस प्रदेश में आधिकरणिकीक्रिया होती है ?

[उ.] (गौतम !) (यहाँ भी) उसी (पूर्वोक्त सूत्रों की) तरह वैमानिक तक (कहना चाहिए।)

[२] एवं एते जस्स १, जं समयं २, जं देसं ३, जं पएसं णं ४ चत्तारि दंडगा होंति।

[१६१६-२] इस प्रकार (१) जिस जीव के (२) जिस समय में (३) जिस देश में और (४) जिस प्रदेश में ये चार दण्डक होते हैं।

विवेचन—क्रियाओं के परस्पर सहभाव की विचारणा—प्रस्तुत १० सूत्रों (सू. १६०७ से १६१६ तक) में पूर्वोक्त पांच क्रियाओं के १. जीव, २. समय, ३. देश और ४. प्रदेश की दृष्टि से, परस्पर सहभाव की विचारणा की गई है।

निष्कर्ष—प्रारम्भ की तीन क्रियाएँ जीव में नियम से, परस्पर सहभाव के रूप में रहती हैं, किन्तु इन प्रारम्भिक तीन क्रियाओं के साथ आगे की दो क्रियाएँ कदाचित् रहती हैं, कदाचित् नहीं रहती हैं। मगर जिस जीव में आगे की दो क्रियाएँ होती हैं, उसमें प्रारम्भ की तीन क्रियाएँ अवश्य होती हैं। प्राणातिपात और पारितापनिकी क्रिया एक जीव में कदाचित् एक साथ होती हैं, कदाचित् नहीं भी होती हैं। सामान्य जीव की तरह चौबीस दण्डकवर्ती जीवों में इन क्रियाओं के सहभाव के ये ही नियम हैं। जीव में क्रिया-सहभाव सम्बन्धी आलापक के समान देश और प्रदेश में क्रिया-सहभाव सम्बन्धी आलापक कहने चाहिए।[1]

कायिकी आदि का परस्पर सहभाव : नियम से या विकल्प से ?—काय एक प्रकार का अधिकरण भी हो जाता है, इसलिए कायिकीक्रिया होने पर आधिकरणिकी अवश्यमेव होती है और आधिकरणिकी होने पर कायिकी भी अवश्य होती है और वह विशिष्ट कायिकीक्रिया प्रद्वेष के बिना नहीं होती, इसलिए प्राद्वेषिकीक्रिया के साथ भी कायिकी का अविनाभावसम्बन्ध है। वैसी क्रिया के समय शरीर पर प्रद्वेष के चिह्न (वक्रता, रूक्षता, कठोरता आदि) स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए कायिकी के साथ प्राद्वेषिकी प्रत्यक्षतः उपलब्ध होती है।[2]

प्रारम्भ की तीन क्रियाओं का सहभाव होने पर भी परितापन और प्राणातिपात इन दोनों के सहभाव का कोई नियम नहीं होता; क्योंकि जब कोई घातक वध्य मृगादि को धनुष खींच कर बाणादि

---

१. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ३५५-३५६

२. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४४-४४५

से बींध देता है, उसके पश्चात् उसका परितापन या मरण होता है, अन्यथा नहीं। अतः इन दोनों का सहभाव नियम से नहीं होता। अर्थात् पारितापनिकी क्रिया के होने पर भी प्राणातिपातक्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती। जब बाण आदि के प्रहार से जीव को प्राणरहित कर दिया जाता है, तब प्राणातिपातक्रिया होती है, शेष समय में नहीं होती, किन्तु जिसके प्राणातिपातक्रिया होती है, उसके नियम से पारितापनिकीक्रिया होती है, क्योंकि परितापना के बिना प्राणघात असम्भव है।[1]

जीव आदि में आयोजिताक्रिया की प्ररूपणा

१६१७. कति णं भंते ! आजोजिताओ किरियाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! पंच आजोजिताओ किरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—काइया जाव पाणाइवाय किरिया।

[१६१७ प्र.] भगवन् ! आयोजिता (जीव को संसार में आयोजित करने—जोड़ने—वाली) क्रियाएँ कितनी कही गई हैं ?

[उ.] गौतम ! आयोजिताक्रियाएँ पांच कही गई हैं, यथा—कायिकी यावत् प्राणातिपात क्रिया।

१६१८. एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

[१६१८] नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक (इन पांचों आयोजिताक्रियाओं का) इसी प्रकार (कथन करना चाहिए।)

१६१९. जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया आओजिया किरिया अत्थि तस्स आहिरकरणिया आओजिया किरिया अत्थि ? जस्स आहिगरणिया आओजिया किरिया अत्थि तस्स काइया आओजिया किरिया अत्थि ?

एवं एतेणं अभिलावेणं ते चेव चत्तारि दंडगा भाणियव्वा जस्स १ जं समयं २ जं देसं ३ जं पदेसं ४ जाव वेमाणियाणं।

[१६१९ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के कायिकी-आयोजिताक्रिया होती है, क्या उसके आधिकरणिकी-आयोजिताक्रिया होती है ? (और) जिसके आधिकरणिकी-आयोजिताक्रिया होती है, क्या उसके कायिकी-आयोजिताक्रिया होती है ?

[उ.] इस प्रकार (सू. १६०७ से १६१६ में उक्त आलापकों के समान यहाँ भी) इस (तथा अन्य अभिलाप के साथ (१) जिस जीव में, (२) जिस समय में, (३) जिस देश में और (४) जिस प्रदेश में—ये चारों दण्डक यावत् वैमानिकों तक कहने चाहिए।

विवेचन—आयोजिताक्रियाएँ और उनका सहभाव—प्रस्तुत त्रिसूत्री (१६१७ से १६१९ तक) में पांच आयोजिताक्रियाओं का तथा जीव, समय, देश, प्रदेश के उसके परस्पर सहभाव का कथन अतिदेशपूर्वक किया गया है।

---

१. प्रज्ञापना, मलयवृत्ति, पत्र ४४५

आयोजिताक्रिया : विशेषार्थ—जो क्रियाएँ जीव को संसार में आयोजित करने—जोड़ने वाली हैं अर्थात्—जो संसारपरिभ्रमण की कारणभूत हैं, वे आयोजिताक्रियाएँ कहलाती हैं। यद्यपि क्रियाएँ साक्षात् कर्मबन्धन की हेतु हैं, किन्तु परम्परा से वे संसार की कारण भी हैं। क्योंकि ज्ञानावरणीयादि कर्मबन्ध संसार का कारण है। इसीलिए उपचार से या परम्परा से ये क्रियाएँ भी संसार की कारण कही गई हैं।[1]

जीव में क्रियाओं के स्पृष्ट-अस्पृष्ट की चर्चा

१६२०. जीवे णं भंते ! जं समयं काइयाए आहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए किरियाए पुट्ठे ? पाणाइवायकिरियाए पुट्ठे ?

गोयमा ! अत्थेगइए जीव एगइयाओ जीवाओ जं समयं काइयाए आहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए किरियाए पुट्ठे पाणाइवायकिरियाए पुट्ठे १, अत्थेगइए जीवे एगइयाओ जीवाओ जं समयं काइयाए आहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए किरियाए पुट्ठे पाणाइवायकिरियाए अपुट्ठे २, अत्थेगइए जीवे एगइयाओ जीवाओ जं समयं काइयाए आहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए किरियाए अपुट्ठे पाणाइवायकिरियाए अपुट्ठे ३, अत्थेगइए जीवे एगइयाओ जीवाओ जं समयं काइयाए आहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए अपुट्ठे तं समयं पारियावणियाए किरियाए अपुट्ठे पाणाइवायकिरियाए अपुट्ठे ४।

[१६२०] भगवन् ! जिस समय जीव कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी क्रिया से स्पृष्ट होता है, क्या उस समय पारितापनिकी क्रिया से स्पृष्ट होता है अथवा प्राणातिपातिकी क्रिया से स्पृष्ट होता है।

[उ.] गौतम ! (१) कोई जीव, एक जीव की अपेक्षा से जिस समय कायिकी, अधिकारणिकी और प्राद्वेषिकी क्रिया से स्पृष्ट होता है, उस समय पारितापनिकीक्रिया से स्पृष्ट होता है और प्राणातिपातक्रिया से (भी) स्पृष्ट होता है, (२) कोई जीव, एक जीव की अपेक्षा से जिस समय कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी क्रिया से स्पृष्ट नहीं होता, उस समय पारितापनिकीक्रिया से स्पृष्ट होता है, किन्तु प्राणातिपातक्रिया से स्पृष्ट नहीं होता, (३) कोई जीव, एक जीव की अपेक्षा से जिस समय कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी क्रिया से स्पृष्ट होता है, उस समय पारितापनिकीक्रिया से अस्पृष्ट होता है और प्राणातिपातक्रिया से (भी) अस्पृष्ट होता है तथा (४) कोई जीव, एक जीव की अपेक्षा से जिस समय कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी क्रिया से अस्पृष्ट होता है, उस समय पारितापनिकीक्रिया से भी अस्पृष्ट होता है और प्राणातिपातक्रिया से भी अस्पृष्ट होता है।

विवेचन—क्रियाओं से स्पृष्ट-अस्पृष्ट की चतुर्भंगी—प्रस्तुत में पांच क्रियाओं में से एक जीव में एक ही समय कितनी क्रियाएँ स्पृष्ट और कितनी क्रियाएँ अस्पृष्ट होती हैं, इसका विचार किया गया है।[2]

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४५

२. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४६

प्रकारान्तर से क्रियाओं के भेद और उनके स्वामित्व की प्ररूपणा

१६२१. कइ णं भंते ! किरियाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा—आरंभिया १ पारिग्गहिया २ मायावत्तिया ३ अपच्चक्खाणकिरिया ४ मिच्छादंसणवत्तिया ५ ।

[१६२१ प्र.] भगवन् ! क्रियाएँ कितनी कही गई हैं ?

[उ.] गौतम ! क्रियाएँ पांच कही गई हैं, वे इस प्रकार—(१) आरम्भिकी, (२) पारिग्रहिकी, (३) मायाप्रत्यया, (४) अप्रत्याख्यानक्रिया और (५) मिथ्यादर्शनप्रत्यया ।

१६२२. आरंभिया णं भंते ! किरिया कस्स कज्जति ?

गोयमा ! अण्णयरस्सावि पमत्तसंजयस्स ।

[१६२२ प्र.] भगवन् ! आरम्भिकीक्रिया किसके होती है ?

[उ.] गौतम ! किसी प्रमत्तसंयत के होती है ।

१६२३. पारिग्गहिया णं भंते ! किरिया कस्स कज्जति ?

गोयमा ! अण्णयरस्सावि संजयासंजयस्स ।

[१६२३ प्र.] भगवन् ! पारिग्रहिकीक्रिया किसके होती है ?

[उ.] गौतम ! किसी संयतासंयत के होती है ।

१६२४. मायावत्तिया णं भंते ! किरिया कस्स कज्जति ?

गोयमा ! अण्णयरस्सावि अपमत्तसंजयस्स ।

[१६२४ प्र.] भगवन् ! मायाप्रत्ययाक्रिया किसके होती है ?

[उ.] गौतम ! किसी अप्रमत्तसंयत के होती है ।

१६२५. अपच्चक्खाणकिरिया णं भंते ! कस्स कज्जति ?

गोयमा ! अण्णयरस्सावि अपच्चक्खाणिस्स ।

[१६२५ प्र.] भगवन् ! अप्रत्याख्यानक्रिया किसके होती है ?

[उ.] गौतम ! किसी अप्रत्याख्यानी के होती है ।

१६२६. मिच्छादंसणवत्तिया णं भंते ! किरिया कस्स कज्जति ?

गोयमा ! अण्णयरस्सावि मिच्छादंसणिस्स ।

[१६२६ प्र.] भगवन् ! मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया किसके होती है ?

[उ.] गौतम ! किसी मिथ्यादर्शनी के होती है ।

विवेचन—प्रकारान्तर से पंचविध क्रियाएँ और उनके अधिकारी—प्रस्तुत ६ सूत्रों (सू. १६२१ से १६२६) में प्रकारान्तर से ५ प्रकार की क्रियाओं का नामोल्लेख तथा उनके अधिकारी का निरूपण किया गया है ।

आरम्भिकी आदि पांच क्रियाओं की परिभाषा—सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि आदि का उपमर्दन करना आरम्भ कहलाता है। आरम्भ से पहले दो क्रम होते हैं—संरम्भ और समारम्भ का। संरम्भ कहते हैं—संकल्प को, समारम्भ कहते हैं—परिताप क्रिया को। जिसका प्रयोजन या कारण आरम्भ हो, वह **आरम्भिकीक्रिया** कहलाती है। **पारिग्रहिकी**—धर्मोपकरण को छोड़ कर वस्तुओं को स्वीकार और उन पर मूर्च्छा परिग्रह है। परिग्रह से निष्पन्न पारिग्रहिकी। **मायाप्रत्यया**—माया—कपट-अनार्जव। माया जिसका प्रत्यय कारण हो, वह मायाप्रत्यया। **अप्रत्याख्यान**—प्रत्याख्यान कहते हैं त्याग, नियम या हिंसादि आस्रवों से विरति को। विरति या त्याग के परिणामों का अभाव—अप्रत्याख्यान है। अप्रत्याख्यानजनित क्रिया—**अप्रत्याख्यानक्रिया** है। **मिथ्यादर्शनप्रत्यया**—मिथ्यादर्शन—विपरीत श्रद्धान जिसका कारण हो, उसे मिथ्यादर्शनप्रत्यया कहते हैं।[1]

इन क्रियाओं में से किस क्रिया का कौन स्वामी या अधिकारी होता है, यह सू. १६२२ से १६२६ तक में बताया गया है। आरम्भिकीक्रिया प्रमत्तसंयतों में से किसी को उस समय होती है जब वह प्रमाद होने से कायदुष्प्रयोगवश पृथ्वी आदि का उपमर्दन करता है। पारिग्रहिकीक्रिया देशविरत को होती है, क्योंकि वह परिग्रह धारण करके रखता है। अप्रत्याख्यानीक्रिया सब को नहीं, उस व्यक्ति को होती है, जो कुछ भी प्रत्याख्यान नहीं करता। मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया उस को होती है, जो देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के प्रति अश्रद्धा, अभक्ति, अविनय करता है।[2]

चौबीस दण्डकों में क्रियाओं की प्ररूपणा

१६२७. [१] णेरइयाणं भंते ! कति किरियाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—आरंभिया जाव मिच्छादंसणवत्तिया।

[१६२७-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों को कितनी क्रियाएँ कही गई हैं ?

[उ.] गौतम ! (उनके) पांच क्रियाएँ कही गई हैं, वे इस प्रकार—आरम्भिकी यावत् मिथ्यादर्शनप्रत्यया।

[२] एवं जाव वेमाणियाणं।

[१६२७-२] इसी प्रकार (नैरयिकों के समान) वैमानिकों तक (प्रत्येक में पांच क्रियाएँ समझनी चाहिए।)

विवेचन—समस्त संसारी जीवों में पांच क्रियाओं की प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र (१६२७) में चौबीस दण्डकवर्ती जीवों में आरम्भिकी आदि पांचों क्रियाओं की प्ररूपणा की गई है।

जीवों में क्रियाओं के सहभाव की प्ररूपणा

१६२८. जस्स णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जति तस्स पारिग्गहिया किरिया कज्जति ? जस्स पारिग्गहिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया कज्जति ?

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४७

२. वही, म. वृत्ति, पत्र ४४७

गोयमा ! जस्स णं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जति तस्स पारिग्गहिया किरिया सिय कज्जति सिय णो कज्जति, जस्स पुण पारिग्गहिया किरिया कज्जति तस्स आरंभिया किरिया नियमा कज्जति ।

[१६२८ प्र.] भगवन् ! जिस जीव के आरम्भिकीक्रिया होती है क्या उसके पारिग्रहिकीक्रिया होती है ? (तथा) जिसके पारिग्रहिकीक्रिया होती है, क्या उसके आरम्भिकीक्रिया होती है ?

[उ.] गौतम ! जिस जीव के आरम्भिकीक्रिया होती है, उसके पारिग्रहिकी क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती; जिसके पारिग्रहिकी क्रिया होती है, उसके आरम्भिकी क्रिया नियम से होती है ।

१६२९. जस्स णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जति तस्स मायावत्तिया किरिया कज्जति ? ० पुच्छा ।

गोयमा ! जस्स णं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जति तस्स मायावत्तिया किरिया नियमा कज्जति, जस्स पुण मायावत्तिया किरिया कज्जति तस्स आरंभिया किरिया सिय कज्जति सिय णो कज्जति ।

[१६२९ प्र.] भगवन् ! जिस जीव को आरम्भिकीक्रिया होती है, क्या उसको मायाप्रत्यया क्रिया होती है ? (तथा) जिसके मायाप्रत्ययाक्रिया होती है क्या उसके आरम्भिकीक्रिया होती है ?

[उ.] गौतम ! जिस जीव के आरम्भिकीक्रिया होती है, उसके नियम से मायाप्रत्ययाक्रिया होती है (और) जिसको मायाप्रत्ययाक्रिया होती है, उसके आरम्भिकीक्रिया कदाचित् होती है और कदाचित् नहीं होती है ।

१६३०. जस्स णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जति तस्स अपच्चक्खाणकिरिया कज्जति ? ० पुच्छा ।

गोयमा ! जस्स णं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जति तस्स अप्पच्चक्खाणकिरिया सिय कज्जति सिय णो कज्जति, जस्स पुण अपच्चक्खाणकिरिया कज्जति तस्स आरंभिया किरिया नियमा कज्जति ।

[१६३० प्र.] भगवन् ! जिस जीव को आरम्भिकीक्रिया होती है, क्या उसको अप्रत्याख्यानिकीक्रिया होती है, (तथा) जिसको अप्रत्याख्यानिकीक्रिया होती है, क्या उसको आरम्भिकीक्रिया होती है ?

[उ.] गौतम ! जिस जीव को आरम्भिकीक्रिया होती है, उसको अप्रत्याख्यानिकीक्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है, किन्तु जिस जीव को अप्रत्याख्यानिकीक्रिया होती है, उसके आरम्भिकीक्रिया नियम से होती है ।

१६३१. एवं मिच्छादंसणवत्तियाए वि समं ।

[१६३१] इसी प्रकार (आरम्भिकीक्रिया के साथ अप्रत्याख्यानीक्रिया के सहभाव के कथन के समान आरम्भिकीक्रिया के साथ) मिथ्यादर्शनप्रत्यया (के सहभाव का) (कथन करना चाहिए ।)

१६३२. एवं पारिग्गहिया वि तिहिं उवरिल्लाहिं समं चारेयव्वा ।

[१६३२] इसी प्रकार (आरम्भिकीक्रिया के साथ जैसे पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया और अप्रत्याख्यानी क्रिया के सहभाव का प्रश्नोत्तर है, उसी प्रकार) आगे की तीन क्रियाओं (मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानी एवं मिथ्यादर्शनप्रत्यया) के साथ सहभाव-सम्बन्धी-प्रश्नोत्तर समझ लेना चाहिए ।

१६३३. जस्स मायावत्तिया किरिया कज्जति तस्स उवरिल्लाओ दो वि सिय कज्जंति सिय णो कज्जंति, जस्स उवरिल्लाओ दो कज्जंति तस्स मायावत्तिया णियमा कज्जति ।

[१६३३] जिसके मायाप्रत्ययाक्रिया होती है, उसके आगे की दो क्रियाएँ (अप्रत्याख्यानिकी और मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया) कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती हैं, (किन्तु) जिसके आगे की दो क्रियाएँ (अप्रत्याख्यानिकी एवं मिथ्यादर्शनप्रत्यया) होती हैं, उसके मायाप्रत्ययाक्रिया नियम से होती है ।

१६३४. जस्स अपच्चक्खाणकिरिया कज्जति तस्स मिच्छादंसणवत्तिया किरिया सिय कज्जति सिय णो कज्जति, जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जति तस्स अपच्चक्खाणकिरिया णियमा कज्जति ।

[१६३४] जिसको अप्रत्याख्यानक्रिया होती है, उसको मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती, (किन्तु) जिसको मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया होती है, उसके अप्रत्याख्यानक्रिया नियम से होती है ।

१६३५. [१] णेरइयस्स आइल्लियाओ चत्तारि परोप्परं णियमा कज्जंति, जस्स एताओ चत्तारि कज्जंति तस्स मिच्छादंसणवत्तिया किरिया भइज्जति, जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जति तस्स एयाओ चत्तारि णियमा कज्जंति ।

[१६३५-१] नारक को प्रारम्भ की चार क्रियाएँ (आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया और अप्रत्याख्यान क्रिया) नियम से होती है । जिसके ये चार क्रियाएँ होती हैं, उसको मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया भजना (विकल्प) से होती है, (किन्तु) जिसके मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया होती है, उसके ये चारों क्रियाएँ नियम से होती हैं ।

[२] एवं जाव थणियकुमारस्स ।

[१६३५-२] इसी प्रकार (नैरयिकों में क्रियाओं के परस्पर सहभाव के कथन के समान असुरकुमार से) स्तनितकुमार तक (दसों भवनवासी देवों) में क्रियाओं के सहभाव का कथन करना चाहिए ।

[३] पुढविक्काइयस्स जाव चउरिंदियस्स पंच वि परोप्परं णियमा कज्जंति ।

[१६३५-३] पृथ्वीकायिक से लेकर चतुरिन्द्रिय तक (के जीवों के) पांचों ही (क्रियाएँ) परस्पर नियम से होती हैं ।

[४] पंचेंदियतिरिक्खजोणियस्स आइल्लियाओ तिण्णि वि परोप्परं णियमा कज्जंति, जस्स एयाओ कज्जंति तस्स उवरिल्लाओ दो भइज्जंति, जस्स उवरिल्लाओ दोण्णि कज्जंति तस्स एयाओ तिण्णि वि णियमा कज्जंति, जस्स अपच्चक्खाणकिरिया तस्स मिच्छादंसणवत्तिया सिय कज्जति सिय णो कज्जति, जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जति तस्स अपच्चक्खाणकिरिया णियमा कज्जति।

[१६३५-४] पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक को प्रारम्भ की तीन क्रियाएँ परस्पर नियम से होती हैं। जिसको ये (तीनों क्रियाएँ) होती हैं, उसको आगे की दो क्रियाएँ (अप्रत्याख्यानिकी एवं मिथ्यादर्शनप्रत्यया) विकल्प (भजना) से होती हैं। जिसको, आगे की दोनों क्रियाएँ होती हैं, उसको ये (प्रारम्भ की) तीनों (क्रियाएँ) नियम से होती हैं। जिसको अप्रत्याख्यानक्रिया होती है, उसको मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है। (किन्तु) जिसको मिथ्यादर्शन-प्रत्ययाक्रिया होती है, उसको अप्रत्याख्यानक्रिया अवश्यमेव (नियम से) होती है।

[५] मणूसस्स जहा जीवस्स।

[१६३५-५] मनुष्य में (पूर्वोक्त क्रियाओं के सहभाव का कथन) सामान्य जीव में (क्रियाओं के सहभाव के कथन की) तरह समझना चाहिए।

[६] वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियस्स जहा णेरइयस्स।

[१६३५-६] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव में (क्रियाओं के परस्पर सहभाव का कथन) नैरयिक (में क्रियाओं के सहभाव-कथन) के समान समझना चाहिए।

१६३६. जं समयं णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जति तं समयं पारिग्गहिया किरिया कज्जति ?

एवं एते जस्स १ जं समयं २ जं देसं ३ जं पदेसं णं ४ चत्तारि दंडगा णेयव्वा। णेरइयाणं तहा सव्वदेवाणं णेयव्वं जाव वेमाणियाणं।

[१६३६ प्र.] भगवन् ! जिस समय जीव के आरम्भिकीक्रिया होती है, (क्या) उस समय पारिग्रहिकीक्रिया होती है ?

[उ.] क्रियाओं के परस्पर सहभाव के (सम्बन्ध में)।

इस प्रकार—(१) जिस जीव के, (२) जिस समय में, (३) जिस देश में और (४) जिस प्रदेश में—यों चार दण्डकों के आलापक कहने चाहिए। जैसे नैरयिकों के विषय में ये चारों दण्डक कहे उसी प्रकार वैमानिकों तक समस्त देवों के विषय में कहने चाहिए।

विवेचन - जीव आदि में आरम्भिकी आदि क्रियाओं का सहभाव—प्रस्तुत ९ सूत्रों (सू. १६२८ से १६३६ तक) में समुच्चय जीव में तथा नारकादि चौवीस दण्डकों में आरम्भिकी आदि ५ क्रियाओं के परस्पर सहभाव की चर्चा की गई है।

क्रियाओं का सहभाव : क्यों अथवा क्यों नहीं ? जिसके आरम्भिकी क्रिया होती है, उसके पारिग्रहिकी विकल्प से होती है, क्योंकि पारिग्रहिकी प्रमत्तसंयत के नहीं होती, शेष के होती है।

जिसके आरम्भिकी होती है, उसके मायाप्रत्यया नियम से होती है (किन्तु जिसके मायाप्रत्यया होती है, उसके आरम्भिकी कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है। अप्रमत्तसंयत के नहीं होती, शेष के होती है तथा जिसके आरम्भिकीक्रिया होती है, उसके अप्रत्याख्यानीक्रिया विकल्प से होती है। प्रमत्तसंयत और देशविरत के यह क्रिया नहीं होती, किन्तु अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के होती है। जिसके अप्रत्याख्यानक्रिया होती है, उसके आरम्भिकीक्रिया का होना अवश्यम्भावी है। जिसके आरम्भिकी है, उसके मिथ्यादर्शनक्रिया विकल्प से होती है। अर्थात् मिथ्यादृष्टि को होती है, शेष के नहीं होती। जिसके मिथ्यादर्शनक्रिया होती है, उसके आरम्भिकी अवश्य होती है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि अवश्य ही अविरत होता है। पारिग्रहिकी का आगे की तीन क्रियाओं के साथ, मायाप्रत्यया का आगे की दो क्रियाओं के साथ तथा अप्रत्याख्यानक्रिया का एक मिथ्यादर्शनप्रत्यया के साथ सहभाव होता है। पांच स्थावर और तीन विकलेन्द्रियों में पांचों क्रियाएँ होती हैं क्योंकि पृथ्वीकायिकादि में मिथ्यादर्शनप्रत्यया अवश्य होती है। अप्रत्याख्यानक्रिया अवतरित-सम्यग्दृष्टि के, मिथ्यादर्शनप्रत्यया मिथ्यादृष्टि के और प्रारम्भ की चारों क्रियाएँ देशविरत के होती हैं।[1]

जीव आदि में पापस्थानों से विरति की प्ररूपणा

१६३७. अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे कज्जति ?
हंता ! अत्थि।
कम्हि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे कज्जति ?
गोयमा ! छसु जीवणिकाएसु।

[१६३७ प्र.] भगवन् ! क्या जीवों का प्राणातिपात से विरमण होता है ?
[उ.] हाँ, होता है।
[प्र.] भगवन् ! किस (विषय) में प्राणातिपातविरमण होता है ?
[उ.] गौतम ! (वह) षड् जीवनिकायों (के विषय) में होता है।

१६३८. [१] अत्थि णं भंते ! णेरइयाणं पाणाइवायवेरमणे कज्जति ?
गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१६३८-१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिकों का प्राणातिपात से विरमण होता है ?
[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।
[२] एवं जाव वेमाणियाणं। णवरं मणूसाणं जहा जीवाणं (सु. १६३७)।

[१६३८-२] इसी प्रकार का कथन वैमानिकों तक के प्राणातिपात से विरमण के विषय में समझना चाहिए। विशेष यह कि मनुष्यों का प्राणातिपातविरमण (सामान्य) जीवों के समान (सू. १६३७ के अनुसार कहना चाहिए।)

१६३९. एवं मुसावाएणं जाव मायामोसेणं जीवस्स य मणूसस्स य, सेसाणं णो इणट्ठे समट्ठे। णवरं अदिण्णादाणे गहण-धारणिज्जेसु दव्वेसु, मेहुणे रूवेसु वा रूवसहगएसु वा दव्वेसु, सेसाणं सव्वदव्वेसु।

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४८

[१६३९] इसी प्रकार मृषावाद से लेकर मायामृषा (पापस्थान तक से विरमण सामान्य जीवों का और मनुष्य का होता है, शेष में यह नहीं होता। विशेष यह है कि अदत्तादानविरमण ग्रहण-धारण करने योग्य द्रव्यों में, मैथुनविरमण रूपों में अथवा रूपसहगत (स्त्री आदि) द्रव्यों में होता है। शेष पापस्थानों से विरमण सर्वद्रव्यों के विषय में होता है।

१६४०. अत्थि णं भंते ! जीवाणं मिच्छादंसणसल्लवेरमणे कज्जति ?

हंता ! अत्थि।

कम्हि णं भंते ! जीवाणं मिच्छादंसणसल्लवेरमणे कज्जइ ?

गोयमा ! सव्वदव्वेसु।

[१६४० प्र.] भगवन् ! क्या जीवों का मिथ्यादर्शनशल्य से विरमण होता है ?

[उ.] हाँ, होता है।

[प्र.] भगवन् ! किस (विषय) में जीवों का मिथ्यादर्शनशल्य से विरमण होता है ?

[उ.] गौतम ! (वह) सर्वद्रव्यों (के विषय) में होता है।

१६४१. एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। णवरं एगिंदिय-विगलिंदियाणं णो इणट्ठे समट्ठे।

[१६४१] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक के मिथ्यादर्शनशल्य से विरमण का कथन करना चाहिए। विशेष यह है कि एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में यह नहीं होता।

विवेचन अठारह पापस्थानों से विरमण की चर्चा— प्रस्तुत पंचसूत्री में (१६३७ से १६४१ तक में) क्रियाओं के सन्दर्भ में सामान्य जीवों की और चौबीस दण्डकवर्ती जीवों की प्राणातिपात आदि १८ पापस्थानों से विरति तथा उनके विषयों की चर्चा की गई है।

निष्कर्ष—मनुष्य के अतिरिक्त किसी भी जीव में प्राणातिपात आदि १७ पापस्थानों से उसके भवस्वभाव के कारण विरति नहीं हो सकती। समुच्चय जीवों में विरति बताई है, वह मनुष्य की अपेक्षा से बताई है तथा मिथ्यादर्शनविरमण एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में नहीं हो सकता, यद्यपि किन्हीं द्वीन्द्रियादि को करण की अपर्याप्तावस्था में सास्वादनसम्यक्त्व होता है, तथापि मिथ्यात्व अभिमुख द्वीन्द्रियादि को होता है। इसलिए मिथ्यात्वविरमण उनमें सम्भव नहीं है। शेष सर्व-जीवों में सम्भव है।[1] इसके अतिरिक्त प्राणातिपातविरमण षट्जीवनिकायों के विषय में, अदत्तादानविरमण ग्रहण-धारण-योग्य द्रव्यों के विषय में, मैथुनविरमण रूपों या रूपसहगत द्रव्यों के विषय में होता है। शेष पापस्थानों से विरमण सर्वद्रव्यों के विषय में होता है।[2]

पापस्थानविरत जीवों के कर्मप्रकृतिबन्ध की प्ररूपणा

१६४२. पाणाइवायविरए णं भंते ! जीवे कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधगे वा अट्ठविहबंधगे वा छव्विहबंधगे वा एगविहबंधगे वा अबंधगे वा। एवं मणूसे वि भाणियव्वे।

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्रांक ४५०
(ख) पण्णवणासुत्तं (परिशिष्ट आदि) भा. २, पृ. १२४
२. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ३५९

[१६४२ प्र.] भगवन् ! प्राणातिपात से विरत (एक) जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है ?

[उ.] गौतम ! वह सप्तविध (कर्म) बन्धक होता है, अथवा अष्टविध (कर्म) बन्धक होता है, अथवा षट्विधबन्धक, एकविधबन्धक या अबन्धक होता है । इसी प्रकार मनुष्य के (द्वारा कर्मप्रकृतियों के बन्ध के) विषय में भी कथन करना चाहिए ।

१६४३. पाणाइवायविरया णं भंते ! जीवा कति कम्मपगडीओ बंधंति ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य १ ।

अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य १ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य २ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगे य ३ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ४ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अबंधगे य ५ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अबंधगा य ६ ।

अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधगे य १ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधगा य २ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगे य ३ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ४, अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य अबंधए य १ अहवा सत्तवियबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य अबंधगा य २ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य अबंधगे य ३ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य अबंधगा य ४, अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगे य अबंधगे य १ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगे य अबंधगा य २ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य अबंधए य ३ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य अबंधगा य ४ ।

अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधगे य अबंधगे य १ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधगे य अबंधगा य २ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य अबंधगे य ३ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधगा य अबंधगा य ४ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगे य अबंधगे य ५ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य अबंधगा य ६ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य अबंधगे य ७ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य अबंधगा य ८ एते अट्ठ भंगा । सव्वे वि मिलिया सत्तावीसं भंगा भवंति ।

[१६४३ प्र.] भगवन् ! प्राणातिपात से विरत (अनेक) जीव कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं ?

[उ.] गौतम ! (१) समस्त जीव सप्तविधबन्धक और एकविधबन्धक होते हैं ।

(१) अथवा अनेक सप्तविध-बन्धक अनेक एकविधबन्धक होते हैं और एक अष्टविधबन्धक होता है। (२) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक, अनेक एकविधबन्धक और अनेक अष्टविधबन्धक होते हैं। (३) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक और एकविधबन्धक होते हैं और एक षड्विधबन्धक होता है। (४) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक, एकविधबन्धक तथा षड्विधबन्धक होते हैं। (५) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक और एकविधबन्धक होते हैं और एक अबन्धक होता है, (६) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक, एकविधबन्धक और अबन्धक होते हैं।

(१) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक अनेक एकविधबन्धक और एक अष्टविधबन्धक और एक षड्विधबन्धक होता है। (२) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक और एकविधबन्धक तथा एक अष्ट-विधबन्धक और अनेक षड्विधबन्धक होते हैं। (३) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक, एकविधबन्धक, और अष्टविधबन्धक होते हैं और एक षड्विधबन्धक होता है। (४) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक, एकविधबन्धक, अष्टविधबन्धक और षड्विधबन्धक होते हैं। (१) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक और एकविधबन्धक होते हैं तथा एक अष्टविधबन्धक और एक अबन्धक होता है। (२) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक और एकविधबन्धक होते हैं, तथा एक अष्टविधबन्धक एवं अनेक अबन्धक होते हैं। (३) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक, एकविधबन्धक और अष्टविधबन्धक होते हैं और एक अबन्धक होता है (४) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक, एकविधबन्धक, अष्टविधबन्धक और अबन्धक होते हैं। (१) अथवा अनेक सप्तविध-बन्धक और एकविधबन्धक होते हैं तथा एक षड्विधबन्धक एवं अबन्धक होता है। (२) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक और एकविधबन्धक होते हैं तथा एक षड्विधबन्धक एवं अनेक अबन्धक होते हैं। (३) अनेक सप्तविधबन्धक, एकविधबन्धक और षड्विधबन्धक होते हैं और एक अबन्धक होता है। (४) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक, एकविधबन्धक, षड्विधबन्धक और अबन्धक होते हैं।

(१) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक और एकविधबन्धक होते हैं तथा एक अष्टविधबन्धक, षड्विधबन्धक और अबन्धक होता है। (२) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक और एकविधबन्धक होते हैं तथा एक अष्टविधबन्धक और षड्विधबन्धक होता है एवं अनेक अबन्धक होते हैं। (३) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक और एकविधबन्धक होते हैं तथा एक अष्टविधबन्धक, अनेक षड्विधबन्धक और एक अबन्धक होता है। (४) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक एवं एकविधबन्धक होते हैं तथा एक अष्टविधबन्धक होता है, और अनेक षड्विधबन्धक एवं अबन्धक होते हैं। (५) अथवा अनेक सप्तविध-बन्धक, एकविधबन्धक और अष्टविधबन्धक होते हैं तथा एक षड्विधबन्धक और अबन्धक होता है। (६) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक, एकविधबन्धक और अष्टविधबन्धक होते हैं तथा एक षड्विधबन्धक एवं अनेक अबन्धक होते हैं। (७) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक, एकविधबन्धक, अष्टविधबन्धक और षड्विधबन्धक होते हैं तथा एक अबन्धक होता है। (८) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक, एकविध-बन्धक, अष्टविधबन्धक, षड्विधबन्धक और अबन्धक होते हैं। ये कुल आठ भंग हुए। सब मिलाकर कुल २७ भंग होते हैं।

१६४४. एवं मणूसाण वि एते चेव सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा।

[१६४४] इसी प्रकार (उपर्युक्त प्रकार से) (प्राणातिपातविरत) मनुष्यों के भी (कर्मप्रकृति-बन्धसम्बन्धी) यही २७ भंग कहने चाहिए।

१६४५. एवं मुसावायविरयस्स जाव मायामोसविरयस्स जीवस्स य मणूसस्स य ।

[१६४५] इसी प्रकार (प्राणातिपातविरत एक जीव और एक मनुष्य के समान) मृषावाद-विरत यावत् मायामृषाविरत एक जीव तथा एक मनुष्य के भी कर्मप्रकृतिबन्ध का कथन करना चाहिए ।

१६४६. मिच्छादंसणसल्लविरए णं भंते ! जीवे कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा अबंधए वा ।

[१६४६ प्र.] भगवन् ! मिथ्यादर्शनशल्यविरत (एक) जीव कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधता है ?

[उ.] गौतम ! (वह) सप्तविधबन्धक, अष्टविधबन्धक, षड्विधबन्धक, एकविधबन्धक अथवा अबन्धक होता है ।

१६४७. [१] मिच्छादंसणसल्लविरए णं भंते ! णेरइए कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा, जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणिए ।

[१६४७-१ प्र.] भगवन् ! मिथ्यादर्शनशल्य से विरत (एक) नैरयिक कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधता है ?

[उ.] गौतम ! (वह) सप्तविधबन्धक अथवा अष्टविधबन्धक होता है; (यह कथन) पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक तक (समझना चाहिए ।)

[२] मणूसे जहा जीवे (सु. १६४६) ।

[१६४७-२] (एक) मनुष्य के सम्बन्ध में (कर्मप्रकृतिबन्ध का आलापक सू. १६४६ में उक्त) सामान्य जीव के (आलापक के) समान (कहना चाहिए ।)

[३] वाणमंतर-जोइसिए-वेमाणिए जहा णेरइए ।

[१६४७-३] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक (के सम्बन्ध में कर्मप्रकृतिबन्ध का आलापक) एक नैरयिक (के कर्मप्रतिबन्ध सम्बन्धी सू. १६४७-१ में उक्त आलापक) के समान कहना चाहिए ।

१६४८. मिच्छादंसणसल्लविरया णं भंते ! जीवा कति कम्मपगडीओ बंधंति ?

गोयमा ! ते चेव सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा (सु. १६४३) ।

[१६४८ प्र.] भगवन् ! मिथ्यादर्शनशल्य से विरत (अनेक) जीव कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं ?

[उ.] गौतम ! (सू. १६४३ में उक्त) वे (पूर्वोक्त) ही २७ भंग (यहाँ) कहने चाहिए ।

१६४९. [१] मिच्छादंसणसल्लविरया णं भंते ! णेरइया कति कम्मपगडीओ बंधंति ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज सत्तविहबंधगा १ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य २ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य ३ ।

[१६४९-१ प्र.] भगवन् ! मिथ्यादर्शनशल्य से विरत (अनेक) नारक कितनी कर्मप्रकृतियां बांधते हैं ?

[उ.] गौतम ! सभी (भंग इस प्रकार) होते हैं—(१) (अनेक) सप्तविधबन्धक होते हैं, (२) अथवा (अनेक) सप्तविधबन्धक होते हैं और (एक) अष्टविधबन्धक होता है, (३) अथवा अनेक सप्तविधबन्धक और अष्टविधबन्धक होते हैं।

[२] एवं जाव वेमाणिया। णवरं मणूसाणं जहा जीवाणं (सु. १६४८)।

[१६४९-२] इसी प्रकार (नैरयिकों के कर्मप्रकृतिबन्ध के आलापक के समान) यावत् (अनेक) वैमानिकों के (कर्मप्रकृतिबन्ध के आलापक कहने चाहिए।) विशेष यह है कि (अनेक) मनुष्यों के (कर्मप्रकृतिसम्बन्धी आलापक सू. १६४८ में उक्त समुच्चय अनेक) जीवों के (कर्मप्रकृति सम्बन्धी आलापक के) समान कहना चाहिए।

विवेचन—अठारह पापस्थानविरत जीवों के कर्मप्रकृतिबन्ध का विचार— प्रस्तुत ८ सूत्रों (सू. १६४२ से १६४९ तक) में एक जीव, अनेक जीव, एक नैरयिक आदि और अनेक नैरयिक आदि की अपेक्षा से कर्मप्रकृतिबन्ध का विचार अनेक भंगों द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

अनेक जीवों की अपेक्षा से २७ भंग—कर्मप्रकृतिबन्ध के एकवचन और बहुवचन के कुल २७ भंग होते हैं, वे इस प्रकार हैं -द्विकसंयोगी भंग—१, त्रिकसंयोगी भंग—६, चतुःसंयोगी भंग—१२, और पंचसंयोगी भंग ८, यों कुल मिलाकर २७ भंग हुए।

मनुष्यों के भी कर्मप्रकृतिबन्ध के इसी प्रकार २७ भंग होते हैं। ये सभी सूत्र क्रियाओं से सम्बन्धित हैं, क्योंकि क्रियाओं से ही कर्मबन्ध होता है।[1]

पापस्थानविरत जीवादि में क्रियाभेदनिरूपण

१६५०. पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स किं आरंभिया किरिया कज्जति[2] [जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ] ?

गोयमा ! पाणाइवायविरयस्स जीवस्स आरंभिया किरिया सिय कज्जइ सिय णो कज्जइ।

[१६५० प्र.] भगवन् ! प्राणातिपात से विरत जीव के क्या आरम्भिकीक्रिया होती है ? [यावत् क्या मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया होती है ?]

[उ.] गौतम ! प्राणातिपातविरत जीव के आरम्भिकीक्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है।

१६५१. पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स पारिग्गहिया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४५१

२. [जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ?], यह पाठ यहाँ असंगत है, क्योंकि आगे १६५४ सू. में इसके सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है जिसका उत्तर भगवान् ने 'णो इणट्ठे समट्ठे' दिया है, जबकि यहाँ उत्तर है—'आ. कि. सिय कज्जइ, सिय णो कज्जइ।'

[१६५१ प्र.] भगवन् ! प्राणातिपातविरत जीव के क्या पारिग्रहिकीक्रिया होती है ?
[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१६५२. पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ ?
गोयमा ! सिय कज्जति सिय णो कज्जति।

[१६५२ प्र.] भंते ! प्राणातिपातविरत जीव के मायाप्रत्ययाक्रिया होती है ?
[उ.] गौतम ! कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती।

१६५३. पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स अपच्चक्खाणवत्तिया किरिया कज्जति ?
गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१६५३ प्र.] भगवन् ! प्राणातिपातविरत जीव के क्या अप्रत्याख्यानप्रत्ययाक्रिया होती है ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१६५४. मिच्छादंसणवत्तियाए पुच्छा।
गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१६५४] (इसी प्रकार की) पृच्छा मिथ्यादर्शनप्रत्यया के सम्बन्ध में करनी चाहिए।
[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

१६५५. एवं पाणाइवायविरयस्स मणूसस्स वि।

[१६५५] इसी प्रकार प्राणातिपातविरत मनुष्य का भी (आलापक कहना चाहिए।)

१६५६. एवं जाव मायामोसविरयस्स जीवस्स मणूसस्स य।

[१६५६] इसी प्रकार मायामृषाविरत जीव और मनुष्य के सम्बन्ध में भी पूर्ववत् कहना चाहिए।

१६५७. मिच्छादंसणसल्लविरयस्स णं भंते ! जीवस्स किं आरंभिया किरिया कज्जति जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जति ?

गोयमा ! मिच्छादंसणसल्लविरयस्स जीवस्स आरंभिया किरिया सिय कज्जति सिय नो कज्जति। एवं जाव अपच्चक्खाणकिरिया। मिच्छादंसणवत्तिया किरिया नो कज्जति।

[१६५७ प्र.] भगवन् ! मिथ्यादर्शनशल्य से विरत जीव के क्या आरम्भिकीक्रिया होती है, यावत् मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया होती है ?

[उ.] गौतम ! मिथ्यादर्शनशल्य से विरत जीव के आरम्भिकीक्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानक्रिया तक (कदाचित् होती है और कदाचित् नहीं होती है। किन्तु) मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया नहीं होती।

१६५८. मिच्छादंसणसल्लविरयस्स णं भंते ! णेरइयस्स किं आरंभिया किरिया कज्जति जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! आरंभिया वि किरिया कज्जति जाव अपच्चक्खाणकिरिया वि कज्जति, मिच्छादंसणवत्तिया किरिया णो कज्जइ ।

[१६५८ प्र.] भगवन् ! मिथ्यादर्शनशल्यविरत नैरयिक के क्या आरम्भिकीक्रिया होती है, यावत् मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया होती है ?

[उ.] गौतम ! (उसके) आरम्भिकीक्रिया भी होती है, यावत् अप्रत्याख्यानक्रिया भी होती है, (किन्तु) मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया नहीं होती ।

१६५९. एवं जाव थणियकुमारस्स ।

[१६५९] इसी प्रकार (मिथ्यादर्शनविरत नैरयिक के क्रिया सम्बन्धी आलापक के समान) असुरकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक (के क्रियासम्बन्धी आलापक कहने चाहिए ।)

१६६०. मिच्छादंसणसल्लविरयस्स णं भंते ! पंचेंदियतिरिक्खजोणियस्स एवमेव पुच्छा ।

गोयमा ! आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मायावत्तिया किरिया कज्जइ, अपच्चक्खाणकिरिया सिय कज्जइ सिय णो कज्जइ, मिच्छादंसणवत्तिया किरिया णो कज्जति ।

[१६६० प्र.] इसी प्रकार की पृच्छा मिथ्यादर्शनशल्यविरत पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक की (क्रियासम्बन्धी है ।)

[उ.] गौतम ! (उसके) आरम्भिकीक्रिया होती है, यावत् मायाप्रत्ययाक्रिया होती है । अप्रत्याख्यानक्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती है, (किन्तु) मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया नहीं होती है ।

१६६१. मणुसस्स जहा जीवस्स (सु. १६५७) ।

[१६६१] (मिथ्यादर्शनशल्यविरत) मनुष्य का क्रियासम्बन्धी प्ररूपण (सू. १६५७ में उक्त सामान्य) जीव (के क्रियासम्बन्धी प्ररूपण) के समान (समझना चाहिए ।)

१६६२. वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणियाणं जहा णेरइयस्स (सु. १६५८) ।

[१६६२] (मिथ्यादर्शनशल्यविरत) वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों का (क्रियासम्बन्धी कथन सू. १६५८ में उक्त) नैरयिक (के क्रियासम्बन्धी कथन) के समान (समझना चाहिए ।)

विवेचन –अष्टादशपापस्थानविरत जीवादि में क्रियासम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत १३ सूत्रों (१६५० से १६६२ तक) में प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य से विरत सामान्य जीव तथा चौवीसदण्डकवर्ती जीवों को लगने वाली आरम्भिकी आदि क्रियाओं की प्ररूपणा की गई है ।

स्पष्टीकरण—प्राणातिपात से लेकर मायामृषा से विरत (औधिक) जीव तथा मनुष्य के आरम्भिकी और मायाप्रत्यया क्रिया विकल्प से लगती है, शेष तीन—पारिग्रहिकी, अप्रत्याख्यानप्रत्यया

एवं मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया नहीं लगती, क्योंकि जो जीव या मनुष्य प्राणातिपात से विरत होता है, वह सर्वविरत होता है, इसलिए सम्यक्त्वपूर्वक ही महाव्रत ग्रहण करता है, हिंसादि का प्रत्याख्यान करता है तथा अपरिग्रहमहाव्रत को भी ग्रहण करता है, इसलिए मिथ्यादर्शनप्रत्यया, अप्रत्याख्यानप्रत्यया और पारिग्रहिकी क्रिया उसे नहीं लगती। प्राणातिपातविरत प्रमत्तसंयत के आरम्भिकी क्रिया होती है, शेष सर्वविरत को नहीं होती। अप्रमत्तसंयत को मायाप्रत्यया क्रिया कदाचित् प्रवचनमालिन्य के रक्षणार्थ (उस अवसर पर) लगती है, शेष समय में नहीं।

उसी मिथ्यादर्शनशल्यविरत जीव को आरम्भिकीक्रिया लगती है, जो प्रमत्तसंयत हो, पारिग्रहिकीक्रिया देशविरत तक होती है, आगे नहीं। मायाप्रत्यया भी अनिवृत्तबादरसम्पराय तक होती है, आगे नहीं होती। अप्रत्याख्यानक्रिया भी अविरतसम्यग्दृष्टि तक होती है, आगे नहीं। इसलिए मिथ्यादर्शनशल्यविरत के लिए इन क्रियाओं के सम्बन्ध में विकल्पसूचक प्ररूपणा है। मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया मिथ्यादर्शनविरत में सर्वथा असम्भव है। आगे चौवीसदण्डक को लेकर विचार किया गया है। मिथ्यादर्शनविरत नैरयिक से लेकर स्तनितकुमार पर्यन्त चार क्रियाएँ होती हैं, मिथ्यादर्शनप्रत्यया नहीं होती। तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय में प्रारम्भ की तीन क्रियाएँ नियम से होती है, अप्रत्याख्यानक्रिया विकल्प से होती है, जो देशविरत होता है, उसके नहीं होती, शेष के होती है। मिथ्यादर्शनप्रत्यया नहीं होती। मनुष्य में सामान्य जीव के समान तथा व्यन्तरादि देवों में नारक के समान क्रियाएँ समझनी चाहिए।[1]

आरम्भिकी आदि क्रियाओं का अल्पबहुत्व

१६६३. एयासि णं भंते ! आरंभियाणं जाव मिच्छादंसणवत्तियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा[2] ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवाओ मिच्छादंसणवत्तियाओ किरियाओ, अपच्चक्खाणकिरियाओ विसेसाहियाओ, पारिग्गहियाओ विसेसाहियाओ, आरंभियाओ किरियाओ विसेसाहियाओ, मायावत्तियाओ विसेसाहियाओ।

॥ पण्णवणाए भगवईए बावीसइमं किरियापयं समत्तं ॥

[१६६३ प्र.] भगवन् ! इन आरम्भिकी से लेकर मिथ्यादर्शनप्रत्यया तक की क्रियाओं में कौन किससे अल्प है, बहुत है, तुल्य है अथवा विशेषाधिक है ?

[उ.] गौतम ! सबसे कम मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रियाएँ हैं। (उनसे) अप्रत्याख्यानक्रियाएँ विशेषाधिक हैं। (उनसे) पारिग्रहिकीक्रियाएँ विशेषाधिक हैं। (उनसे) आरम्भिकीक्रियाएँ विशेषाधिक हैं, (और इन सबसे) मायाप्रत्ययाक्रियाएँ विशेषाधिक हैं।

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४५२

२. 'अप्पा' के आगे अंकित ४ का अंक शेष **"बहू वा तुल्ला वा, विसेसाहिया वा"** इन तीन पदों का सूचक है।

विवेचन—क्रियाओं का अल्पबहुत्व : क्यों और कैसे ?—सबसे कम मिथ्यादर्शनप्रत्यया-क्रियाएँ हैं, क्योंकि वे मिथ्यादृष्टियों के ही होती हैं। उनसे अप्रत्याख्यानक्रिया विशेषाधिक इसलिए हैं कि वे अविरत सम्यग्दृष्टियों एवं मिथ्यादृष्टियों के होती हैं, उनसे पारिग्रहिकीक्रियाएँ विशेषाधिक हैं, क्योंकि वे देशविरतों तथा उनसे पूर्व श्रेणी के प्राणियों के भी होती हैं, आरम्भिकीक्रियाएँ उनसे विशेषाधिक हैं, क्योंकि वे प्रमत्तसंयतों तथा इनसे पूर्व के गुणस्थानों में होती हैं। उनसे भी माया-प्रत्यया विशेषाधिक हैं, क्योंकि अन्य सब संसारी जीवों के उपरान्त अप्रमत्तसंयतों में भी पाई जाती हैं।[1]

॥ प्रज्ञापना भगवती का बाईसवाँ क्रियापद सम्पूर्ण ॥

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४५२

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तअपाडिवए सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपर्युक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं, जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. **उल्कापात-तारापतन**—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. **दिग्दाह**—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. **गर्जित**—बादलों के गर्जन पर दो प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. **विद्युत**—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास में नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत् प्रायः ऋतु-स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. **निर्घात**—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. **यूपक**—शुक्लपक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. **यक्षादीप्त**—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े-थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. **धूमिका-कृष्ण**—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. **महिकाश्वेत**—शीतकाल में श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध महिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. **रज-उद्घात**—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिकशरीर सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. **हड्डी, मांस और रुधिर**—पंचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस-पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. **अशुचि**—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. **श्मशान**—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. **चन्द्रग्रहण**—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. **सूर्यग्रहण**—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो, तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिकशरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

□□

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया , मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बेताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी, सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता सिटी
४. श्री धा० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचन्दजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुंवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचन्दजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K. G. F.) जाड़न
११. श्री धानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरुदानजी लाभचन्दजी सुराणा, नागोर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचन्दजी बैद, राजनांदगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९. श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचन्दजी भागचन्दजी बोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचदजी दलीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचन्दजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बेंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री धेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जबरचन्दजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचन्दजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी मेहता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेड़तासिटी
२. श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचन्दजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चोपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सेलम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचंदजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचन्दजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री धेवरचन्दजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री धेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बेंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गांदिया, बंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जोवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कलां
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बेंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगाँव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठन
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, मेड़ता
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकन्दचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी, बेंगलौर
९५. श्रीमती कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री असेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगाँव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, भरतपुर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचन्दजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराजजी कोठारी, मांगलियावास
१०३. सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी चोरड़िया, भैरूंदा
१११. श्री मांगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुलीचंदजी बोकड़िया, मेड़तासिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढा, बम्बई
११७. श्री मांगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बैंगलोर
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीकमचन्दजी गणेशमलजी खाटिया, (कुडालोर), मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संचेती, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीकमचन्दजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, बगड़ीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बैंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़ □□